जिनवाणी हिन्दी-मासिक

मंगल-मूल धर्म की जननी, शाश्वत, सुखदा, कल्याणी।
द्रोह, मोह, छल, मान-मर्दिनी, फिर प्रगटी यह 'जिनवाणी'।।

प्रतिक्रमण विशेषांक

सम्पादक
डॉ. धर्मचन्द जैन

प्रकाशक
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार, जयपुर

जिनवाणी

प्रतिक्रमण विशेषाङ्क

अक्टूबर-नवम्बर २००६

वीर निर्वाण सम्वत् २५३३

कार्तिक-मार्गशीर्ष, सम्वत् २०६३

वर्ष-६३ अंक- १०, ११

प्रकाशक

प्रेमचन्द जैन

मंत्री-सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

दुकान नम्बर १८२-१८३ के ऊपर, बापू बाजार

जयपुर-३०२००३(राज.), फोन नं. ०१४१-२५७५९९७, फैक्स ०१४१-२५७०७५३

संरक्षक

अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ

घोड़ों का चौक, जोधपुर (राज.), फोन नं. ०२९१-२६३६७६३

संस्थापक

श्री जैन रत्न विद्यालय, भोपालगढ़

सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र

३ K २४-२५, कुड़ी भगतासनी हाउसिंग बोर्ड

जोधपुर-३४२००५(राज.), फोन नं. ०२९१-२७३००८१

भारत सरकार द्वारा प्रदत्त

रजिस्ट्रेशन नं. 3653/57

डाक पंजीयन सं. RJ/JPC/M-018/2006-08

सदस्यता

स्तम्भ सदस्यता	११,००० रु.	संरक्षक सदस्यता	५,००० रु.
आजीवन सदस्यता देश में	५०० रु.	आजीवन सदस्यता विदेश में	१०० $ (डॉलर)
त्रिवर्षीय सदस्यता	१२० रु.	वार्षिक सदस्यता	५० रु.
इस विशेषाङ्क का मूल्य	५० रु.		

ड्राफ्ट 'जिनवाणी' जयपुर के नाम बनवाकर प्रकाशक के उपर्युक्त पते पर प्रेषित किया जा सकता है।

मुद्रक : दी डायमण्ड प्रिन्टिंग प्रेस, मोतीसिंह भोमियों का रास्ता, जयपुर, फोन नं. २५६२९२९

नोट: यह आवश्यक नहीं कि लेखकों के विचारों से सम्पादक या मण्डल की सहमति हो।

प्रकाशकीय

धर्म, दर्शन, अध्यात्म, नैतिकता, इतिहास एवं जीवन-मूल्यों की संवाहक जिनवाणी मासिक पत्रिका का शुभारम्भ जनवरी १९४३ में हुआ था। ६३ वर्षों की यात्रा में जिनवाणी पत्रिका के माध्यम से अब तक १५ विशेषाङ्क प्रकाशित हो चुके हैं-'स्वाध्याय' (१९६४), 'सामायिक' (१९६५), 'तप' (१९६६), 'श्रावक धर्म'(१९७०), 'साधना'(१९७१), 'ध्यान' (१९७२), 'जैन संस्कृति और राजस्थान' (१९७५), 'कर्म-सिद्धान्त' (१९८४), 'अपरिग्रह'(१९८६), 'आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. श्रद्धांजलि अंक'(१९९१), 'आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. : व्यक्तित्व एवं कृतित्व'(१९९२), 'अहिंसा'(१९९३), 'सम्यग्दर्शन'(१९९६), 'क्रियोद्धार : एक चेतना'(१९९७), 'जैनागम'(२००२)।

जिनवाणी का यह १६वाँ विशेषाङ्क प्रतिक्रमण विषय पर प्रकाशित करते हुए हमें प्रमोद का अनुभव हो रहा है। इस विशेषाङ्क के प्रकाशन का निर्णय गत वर्ष चेन्नई में आयोजित सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल की कार्यकारिणी बैठक में लिया गया था।

प्रतिक्रमण की पुस्तकें तो अर्थ-सहित पृथक् से प्रकाशित होती रहती हैं। कभी ये पुस्तकें प्रश्नोत्तरों के साथ भी प्रकाशित होती हैं, किन्तु प्रतिक्रमण एक महत्त्वपूर्ण विषय है जिस पर जितना चिन्तन किया जाय उतना ही आत्मशुद्धि का मार्ग प्रशस्त होता है। विशेषाङ्क में अनेक विशिष्ट विचारपूर्ण लेख हैं जो प्रतिक्रमण विषयक भ्रान्तियों को दूर करने के साथ प्रतिक्रमण के सही स्वरूप का बोध कराने में सहायक हैं। साथ ही प्रतिक्रमण के प्रति रुचि एवं आस्था उत्पन्न कर उसे दृढ़ीभूत करने में भी निमित्त बन सकते हैं।

विशेषाङ्क में जिन आचार्यों, संतों, साध्वियों एवं विद्वान-लेखकों के अमूल्य विचारों से सम्पृक्त लेख हमें प्राप्त हुए हैं, उनका हम हृदय से आभार ज्ञापित करते हैं। प्रतिक्रमण के स्वरूप, उद्देश्य, परिपाटी एवं लक्ष्य के संबंध में यह विशेषाङ्क अवश्य प्रकाश डालेगा एवं पाठकों का मार्गदर्शन कर सकेगा।

विशेषाङ्क में प्रश्नोत्तर-खण्ड अलग से दिया गया है जो प्रतिक्रमण की तात्त्विक जानकारी के लिये उपयोगी है।

इस विशेषाङ्क के प्रकाशन में जिन श्रद्धालु महानुभावों से हमें विज्ञापन प्राप्त हुए हैं, उनकी इस धर्मभावना का आदर करते हैं तथा हृदय से धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

सुशीला बोहरा	पी.एस. सुराणा	प्रेमचन्द जैन
निवर्तमान अध्यक्ष	अध्यक्ष	मंत्री

विषयानुक्रमणिका

प्रतिक्रमण : प्रश्नोत्तर खण्ड

सम्पादकीय

जीव का स्वभाव से विभाव में जाना अतिक्रमण है तथा पुनः स्वभाव में स्थित होना प्रतिक्रमण है। जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं अशुभयोग के कारण स्वभाव से विभाव में गमन करता रहता है, उसे पुनः सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, कषायविजय एवं शुभयोग में लाना प्रतिक्रमण कहा जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो जीव का औदयिक भाव से पुनः क्षायोपशमिक भाव में आना प्रतिक्रमण है। यह प्रतिक्रमण का पारमार्थिक स्वरूप है। इसके अनुसार जब तक आत्मा पूर्ण शुद्ध नहीं होती तब तक प्रतिक्रमण की आवश्यकता बनी रहती है।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के तृतीय प्रकाश की स्वोपज्ञवृत्ति में प्रतिक्रमण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है-शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात् प्रतीपं क्रमणम् (प्रतिक्रमणम्) अर्थात् शुभयोग से अशुभयोग में गए हुए जीव के पुनः शुभ योग में आना प्रतिक्रमण है। बिना शुभभावों के शुभ योग में आना अशक्य है, अतः भावशुद्धि ही प्रतिक्रमण का प्रयोजन है। औदयिक भाव से क्षायोपशमिक भाव में आना अथवा विभाव से स्वभाव में आना इसलिए वास्तविक या भाव-प्रतिक्रमण है। इस भाव-प्रतिक्रमण के लिए प्रतिक्रमण के पाठों का निर्धारण किया गया है। व्यावहारिक दृष्टि से इन पाठों को भावपूर्वक बोलकर आत्मशुद्धि एवं व्रतशुद्धि की जाती है।

प्रतिक्रमण के इस व्यावहारिक स्वरूप के अनुसार गृहीत व्रतों में अतिचार लगने पर आलोचन, निन्दना एवं गर्हा से उन अतिचारों या दोषों को दूर कर व्रतों को शुद्ध कर लेना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण की महत्ता निर्विवाद है। व्रतों में अतिचार लगने पर साधु और श्रावक को तो उनकी शुद्धि के लिए यथाकाल प्रतिक्रमण करना ही चाहिये। किन्तु साधारण व्यक्ति (अव्रती) भी अपनी भूलों का प्रतिक्रमण करने लगे तो आत्मशुद्धि का मार्ग उसके लिए भी सरल हो जाता है। व्रतों के अतिचारों का प्रतिक्रमण इस बात की भी प्रेरणा देता है कि व्यवहार में हमसे कोई भी भूल ऐसी हुई हो जो हमारे प्रमाद की वृद्धि करती हो, क्रोधादि कषायों को उद्दीप्त करती हो, दूसरों के प्रति मलिन व्यवहार को जन्म देती हो, अपने भीतर जिससे अशान्ति और क्षोभ उत्पन्न होता हो, वे सब भूलें प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा त्याज्य हैं। प्रतिक्रमण हमें आत्मानुशासित करता है और अपने ही द्वारा आत्मशुद्धि का मार्ग प्रशस्त करता है। अपनी भूल को भूल समझना ही आज कठिन हो गया है, उसकी शुद्धि तो दूर की बात है। नियमित रूप से द्रव्य प्रतिक्रमण करने वाले साधु और श्रावक भी जब तक अपनी भूलों, दोषों या अतिचारों का अवलोकन (आलोचन) नहीं करेंगे तब तक उनको भी निर्मलता, शान्ति और आनन्द का स्वारस्य प्राप्त नहीं हो सकेगा।

द्रव्य प्रतिक्रमण का समय निर्धारित है, किन्तु भाव प्रतिक्रमण कभी भी किया जा सकता है। द्रव्य प्रतिक्रमण भाव प्रतिक्रमण का स्मरण दिलाने और उसे पुष्ट करने के लिए होता है। पाठों का शुद्ध उच्चारण द्रव्य प्रतिक्रमण है, किन्तु उसके साथ जब भाव भी जुड़ जाते हैं तो वह द्रव्य प्रतिक्रमण भाव प्रतिक्रमण का

रूप ले लेता है। सजग साधक तो अपनी की हुई भूल को पुनः न दोहराने का संकल्प ले लेता है। किन्तु प्रमादी साधक बार-बार भूलें दोहराता रहता है और न दोहराने के संकल्प के प्रति सजग नहीं होता है। एक व्यापारी भी यदि अपनी भूल का सुधार नहीं करता है बार-बार उस भूल की पुनरावृत्ति करता रहता है तो वह कभी भी एक सफल व्यापारी नहीं हो सकता। इसी प्रकार कोई डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, प्रोफेसर अपनी व्यवसायगत भूलों की समीक्षा कर उनको नहीं सुधारता है तो वह भी अपने क्षेत्र में विकास नहीं कर पाता है। इसी तरह अध्यात्म के क्षेत्र में भी विकास तभी सम्भव है जब अपने द्वारा हुए दोष युक्त अतिक्रमण का तत्काल प्रतिक्रमण होने लगे। तत्काल प्रतिक्रमण न कर सके तो सायंकाल प्रतिक्रमण करके आत्मसुधार कर ही लेना चाहिए।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर ग्रन्थों में प्रतिक्रमण के लिए तीन चरण प्राप्त होते हैं- १. आलोचन २. निन्दना ३. गर्हा। सर्वप्रथम तो अपने दोष हमें दिखाई दें यह आवश्यक है। अपने दोष देखना ही आलोचन है, दोष दृष्टिगत होने पर उसे बुरा समझना उसकी 'निन्दना' है तथा जब वह दोष गुरु के समक्ष प्रकट किया जाता है तो उसे 'गर्हा' कहा जाता है। इसके लिए योग्य गुरु की आवश्यकता होती है। जो शिष्य के द्वारा प्रकट दोष का प्रचार न करे तथा प्रायश्चित्तादि से उसकी शुद्धि कर दे वह योग्य गुरु होता है। प्रायश्चित्त के द्वारा व्यक्ति दोष रहित बन सकता है तथा पुनः दोष न करने का संकल्प भी प्रायश्चित्त के द्वारा दृढ़ होता है।

प्रतिक्रमण सीखने-सिखाने पर स्थानकवासी परम्परा में विशेष बल दिया जाता है। शिक्षण बोर्ड, धार्मिक पाठशाला, स्वाध्याय शिविर आदि के माध्यम से स्थानकवासी समाज धार्मिक ज्ञान-वृद्धि के क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ रहा है। समाज में सामायिक और स्वाध्याय की सतत प्रेरणा का ही यह सुफल है कि अनेक युवक-युवतियाँ, किशोर-किशोरियाँ, बालक-बालिकाएँ सामायिक, प्रतिक्रमण, २५ बोल आदि सीख रहे हैं। समाज में अनेक धार्मिक प्रतियोगी परीक्षाएँ भी ज्ञान-वृद्धि में सहायक हुई हैं। यह ज्ञान कहीं भार न बन जाये इसके लिए आवश्यक है उसका जीवन में आचरणपरक प्रभाव। आचरण भी दो प्रकार का हो सकता है- १. द्रव्य क्रियाओं के रूप में २. अपने दोष दूर करने के रूप में। प्रतिक्रमण अपने दोष दूर करने की शिक्षा देता है। द्रव्य क्रियाएँ भी संवर के साथ निर्जरा में सहायक हों, इस लक्ष्य से भावपूर्वक करने पर ही विशेष फलदायिनी होती हैं, किन्तु उन्हें औपचारिकतावश करने पर अपेक्षित लाभ नहीं मिलता।

प्रतिक्रमण एक आवश्यक है। आत्मशुद्धि के लिए जो अवश्य करणीय है, उसे आवश्यक कहा गया है। आवश्यक छह माने गये हैं- १. सामायिक (सावद्ययोग विरति) २. चतुर्विंशतिस्तव (उत्कीर्तन) ३. वन्दना (गुणवत्प्रतिपत्ति) ४. प्रतिक्रमण (स्खलित निन्दना, कायोत्सर्ग, व्रण चिकित्सा) ६. प्रत्याख्यान (गुणधारणा)। इन छह आवश्यकों में प्रतिक्रमण का प्राधान्य होने से षडावश्यकों को 'प्रतिक्रमण' शब्द से अभिहित किया जाता है। अतः प्रतिक्रमण में इन छहों आवश्यकों का समावेश अभीष्ट है।

सामायिक आवश्यक में सावद्ययोग का त्याग किया जाता है तथा आत्मा को उत्कृष्ट बनाने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, विशेष आत्मशुद्धि के लिए, शल्यरहित बनने के लिए, पाप-कर्मों का क्षय करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है। इस कायोत्सर्ग में देहाभिमान का उत्सर्ग करते हुए आत्म-दोषों का आलोचन

किया जाता है। इसके अन्तर्गत श्रावक प्रतिक्रमण में सम्यक्त्व, ज्ञान, बारह व्रत, कर्मादान, संलेखना आदि के ९९ अतिचारों का आलोचन किया जाता है। श्रमण प्रतिक्रमण में कुल १२५ अतिचारों का आलोचन होता है। देहादि से आसक्ति रहते हुए आत्मदोषों का अवलोकन इतना सरल नहीं होता, इसलिए देह के प्रति ममत्व अथवा देहाध्यास का त्याग करके निष्पक्ष व तटस्थ होकर आत्मकृत अतिचारों का आलोचन किया जाता है। सभी अतिचारों के पाठ पर ध्यान दिये जाने से यह ज्ञात हो जाता है कि मेरे व्रतों में कौनसा अतिचार लगा और कौनसा नहीं। यह आलोचन सूक्ष्मस्तर पर शान्तभाव से होना चाहिए ताकि अपना दोष पकड़ में आ सके।

दूसरे आवश्यक में 'लोगस्स' पाठ के द्वारा २४ तीर्थंकरों की स्तुति की जाती है। ये तीर्थंकर दोषमुक्त हैं। अतः अपने दोष ध्यान में आने के पश्चात् दोष-मुक्त का उत्कीर्तन करने से अपने दोषों को दूर करने की भावना बलवती बनती है और यह आत्मविश्वास जागता है कि जिस प्रकार तीर्थंकर दोषमुक्त बने हैं उस प्रकार मैं भी दोषमुक्त बन सकता हूँ।

तीसरे वन्दना आवश्यक में 'इच्छामि खमासमणो' के पाठ से मूल गुण एवं उत्तरगुणों के धारक, संयमी गुरुदेव से संयम यात्रा की कुशल क्षेम पूछी जाती है तथा उन्हें द्वादश आवर्तनों के माध्यम से भावपूर्ण वन्दन किया जाता है। गुरु की शरण को साधक दोष-मुक्त बनने का उत्तम साधन समझता है। वह अपने द्वारा क्रोधादि के कारण हुई आशातना के लिए क्षमायाचना करता है। इसे अनुयोगद्वारसूत्र में 'गुणवत्प्रतिपत्ति' आवश्यक कहा गया है। गुणवत्प्रतिपत्ति का अर्थ है गुणवानों के प्रति आदरभाव।

चतुर्थ प्रतिक्रमण आवश्यक के पूर्व साधक की दोष-निवारण हेतु भूमिका तैयार हो जाती है। उसका मन अपने दोषों के निवारण हेतु अथवा कहें प्रतिक्रमण हेतु व्याकुल हो जाता है और वह फिर अपने एक-एक अतिचार के लिए कहता है- मिच्छा मि दुक्कडं अर्थात् मेरा दुष्कृत निष्फल हो। मैं पुनः विभाव से स्वभाव में, दोष से निर्दोषता में, अतिक्रमण से प्रतिक्रमण में आना चाहता हूँ।

प्रतिक्रमणकर्ता को यह ज्ञात होता है कि संसार में चार ही मंगल हैं- १. अरिहंत २. सिद्ध ३. साधु और ४. केवलिप्रज्ञप्ति धर्म। इन चार के अतिरिक्त धन-सम्पदा-परिजन आदि [illegible] हैं। इनके प्रति ममत्व त्याज्य है। इसलिए प्रतिक्रमण का साधक १८ प्रकार के पापस्थानों से विरत होता है और आजीविका के भी १५ कर्मादानों को छोड़ने का संकल्प करता है। वह हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह से अपने सामर्थ्यानुसार विरति अथवा परिमाण करता है। जीवन चलाने के लिए वह [illegible] और दिशा का भी परिमाण करता है। अपध्यान के निरर्थक आचरण, प्रमादपूर्वक आचरण, हिंसा को बढ़ावा, पाप कर्म के उपदेश आदि से अपने को पृथक् रखता है। वह मन, वचन और काया के [illegible] को त्यागने का संकल्प [illegible] समभाव का आचरण करता है। वह विभिन्न दिशाओं में [illegible] आस्रव-सेवन [illegible] करता है। अपना सामर्थ्य बढ़ाने के लिए आत्मपोषण हेतु [illegible] ब्रह्मचर्य [illegible] की आराधना करता है। माला आदि सुगन्धित द्रव्यों [illegible] से अपने को पृथक् [illegible] भाँति प्रतिलेखना एवं प्रमार्जन पूर्वक उच्चार [illegible] करता है। [illegible] उसके पास है उसमें से अनासक्ति पूर्वक [illegible]

देने के लिए भावना भाता है एवं सदैव उत्सुक रहता है। शरीर छूटने के समय संलेखना-संथारापूर्वक समाधिमरण का वरण करता है।

पंचम आवश्यक कायोत्सर्ग में काया के उत्सर्ग अर्थात् काया के प्रति ममत्व का त्याग और देहाभिमान का त्याग मुख्य है। अपने दोषों का प्रतिक्रमण कर लेने के पश्चात् भी साधक देह से अपने को पृथक् समझने का अभ्यास करता है। प्राचीन ग्रन्थों में कायोत्सर्ग की विधि दी गई है। पहले कायोत्सर्ग में श्वासोच्छ्वास पर ध्यान केन्द्रित किया जाता था और अब उसके स्थान पर लोगस्स के पाठ पर ध्यान किया जाता है। श्वासोच्छ्वास में लक्ष्य संभवतः श्वास के आने या जाने को तटस्थता से देखने का रहा होगा। किन्तु कालान्तर में यह विधि छूट गई। कायोत्सर्ग खड़े होकर, बैठकर और लेटकर भी किया जा सकता है। लेकिन श्रेष्ठ विधि खड़े रहकर कायोत्सर्ग करना है क्योंकि इसमें निद्रा आदि दोष की कम संभावना रहती है। इस विशेषांक में कायोत्सर्ग से सम्बद्ध तीन-चार लेख समाविष्ट हैं जो कायोत्सर्ग की महत्ता, विधि आदि पर प्रकाश डालते हैं।

छठे प्रत्याख्यान आवश्यक में अपनी वृत्तियों को नियन्त्रित करने के लिए आहार आदि का निश्चित समय तक त्याग रखकर तप का आराधन किया जाता है। इसका लक्ष्य होता है आत्म-दोषों का निराकरण, उन्हें पुनः न करने का संकल्प तथा ज्ञानादि सद्गुणों की प्राप्ति। प्रत्याख्यान के माध्यम से ही क्रोधादि कषायों पर विजय पायी जाती है। कोई भी प्रत्याख्यान है, वह ज्ञानपूर्वक करने पर सुप्रत्याख्यान होता है तथा अज्ञानपूर्वक प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान कहलाता है।

इन षडावश्यकों का आचरण व्यक्ति को मिथ्यात्वी से सम्यक्त्वी, अव्रती से व्रती, प्रमत्त से अप्रमत्त, सकषाय से निष्कषाय और अशुभ योगी से शुभ योगी बना सकता है।

आवश्यक अथवा प्रतिक्रमण के पाठों एवं विधि में यथावश्यक विकास होता रहा है। आवश्यक सूत्र का अवलोकन करने पर विदित होता है कि यह संक्षिप्त एवं सारगर्भित है तथा इसमें श्रमण आवश्यक का ही प्रतिपादन है, श्रावक प्रतिक्रमण का नहीं। आवश्यक सूत्र के ६ अध्ययनों में क्रमशः निम्नांकित पाठ प्राप्त होते हैं-

सामायिक- करेमि भंते, इच्छामि ठामि काउस्सग्गं, इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए का पाठ, तस्सउत्तरीकरणेणं का पाठ, ज्ञान के अतिचार (आगमे तिविहे का पाठ) आदि।

चतुर्विंशतिस्तव- लोगस्स का पाठ। इस पाठ में लोगस्स उज्जोयगरे से लेकर 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु' तक सातों पद्य हैं।

वन्दन- इच्छामि खमासमणो का पाठ।

प्रतिक्रमण- चत्तारि मंगलं, इच्छामि पडिक्कमिउं, इरियावहियाए, शय्यासूत्र (शयन सबंधी दोष-निवृत्ति का पाठ), भिक्षादोष निवृत्ति सूत्र (पडिक्कमामि गोयरग्गचरियाए), स्वाध्याय तथा प्रतिलेखना सूत्र, तैतीस बोल का पाठ (एक से लेकर तैंतीस की संख्या में विभिन्न दोषों का प्रतिक्रमण), निर्ग्रन्थ प्रवचन का पाठ (नमो चउवीसाए तित्थयराणं आदि)।

कायोत्सर्ग- कायोत्सर्ग पाठ

प्रत्याख्यान- दशविध प्रत्याख्यान का पाठ

प्रतिक्रमण में पाँच समिति, तीन गुप्ति, पंच महाव्रत, रात्रि भोजन त्याग, अठारह पापस्थान, पृथ्वीकाय, अपूकाय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय की विराधना सहित- सबके मिच्छा मि दुक्कडं के पाठ दशवैकालिक सूत्र आदि आगमों के आधार से श्रमण प्रतिक्रमण में जोड़े गए हैं। इसी प्रकार बड़ी संलेखना का पाठ, दर्शन सम्यक्त्व का पाठ, आयरिय उवज्झाए आदि दोहे, खामेमि सव्वे जीवा, चौरासी लाख जीवयोनि का पाठ, नमोत्थुणं आदि भी आवश्यक सूत्र में योजित किए गए हैं। इन सब पाठों के योजित होने एवं निश्चित विधि का निर्धारण होने से श्रमण प्रतिक्रमण समग्रता से युक्त है।

प्रतिक्रमण का जैन परम्परा में शाश्वत महत्त्व होते हुए भी इसके पाठों को लेकर थोड़ा-थोड़ा भेद रहा है। श्वेताम्बर श्रमण प्रतिक्रमण का आधार आवश्यक सूत्र है तथा श्रावक प्रतिक्रमण में बारह व्रतों के अतिचारों का आधार उपासकदशांग सूत्र रहा है। श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक तपागच्छ, खरतरगच्छ आदि परम्पराओं में बारह व्रतों की आलोचना के लिए 'वंदित्तु सूत्र' का महत्त्वपूर्ण स्थान है जो आचार्यों द्वारा प्राकृत के ५० पद्यों में निबद्ध है। इसके अतिरिक्त सकलार्हत् स्तोत्र, अजित-शांति स्तवन आदि भक्तिपरक स्तुतियाँ बोली जाती हैं। इनसे पूर्व खरतरगच्छ के महान् आचार्य जिनप्रभसूरि (१३वीं १४वीं शती)द्वारा रचित विधिमार्गप्रपा नामक ग्रन्थ में दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के स्वरूप, विधि आदि का निरूपण किया गया है। विस्तार के लिए द्रष्टव्य है इसी विशेषांक में लेख ''खरतरगच्छ और तपागच्छ में प्रतिक्रमण सूत्र की परम्परा।'' इस लेख के पाद टिप्पणों में खरतरगच्छ और तपागच्छ परम्पराओं के वर्तमान में प्रचलित अन्तर को भी रेखांकित किया गया है। तपागच्छ के वर्तमान प्रतिक्रमण सूत्र के तीन पाठों वंदितु सूत्र, सकलार्हत् स्तोत्र और अजित-शांति स्तवन का परिचय श्री छगनलाल जैन के लेख में दिया गया है।

उल्लेखनीय है कि श्वेताम्बर स्थानकवासी, मूर्तिपूजक और तेरांपथ के प्रतिक्रमण में करेमि भंते, इच्छामि खमासमणो, तस्सउत्तरी, लोगस्स, नमोत्थुणं आदि अनेक पाठ समान हैं। प्रतिक्रमण को उपयोगी एवं रोचक बनाने की दृष्टि से समय-समय पर प्रयास होते रहे हैं। स्थानकवासी प्रतिक्रमण में भाव वन्दना और उसके तिलोकऋषि जी के सवैया इसी के उदाहरण हैं। तेरापंथ सम्प्रदाय के प्रतिक्रमण पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि इस परम्परा के श्रावक प्रतिक्रमण में व्रतों के अतिचारों के पाठ आचार्य श्री तुलसी जी के द्वारा रचित गेय हिन्दी पद्यों में निबद्ध किए गये हैं और प्राकृत पाठ हटा दिये गये हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय में भी प्रतिक्रमण किये जाने की परम्परा है। मूलाचार आदि ग्रन्थों में षडावश्यकों का विस्तार से निरूपण भी है, किन्तु वर्तमान में प्रतिक्रमण करने की परम्परा मुनियों तक सीमित है। विरले ही ऐसे दिगम्बर श्रावक होंगे जो नियमित रूप से प्रतिक्रमण करते होंगे। इस परम्परा में भी प्रतिक्रमण के अन्तर्गत वर्तमान में भक्ति पाठों का अधिक सन्निवेश हो गया है।

परम्पराएँ सदैव अमूर्त भावों पर कम एवं मूर्त क्रियाओं पर अपना आग्रह रखती आई हैं। इसलिए कुछ

बिन्दुओं पर विवाद उठते रहते हैं। स्थानकवासी परम्परा में प्रतिक्रमण संबंधी विवाद को दूर कर एक श्रावक प्रतिक्रमण तय करने हेतु 'प्रतिक्रमण निर्णय समिति' का गठन किया गया। पूज्य (आचार्य) श्री हस्तीमल जी म.सा. के संयोजन में श्रावक प्रतिक्रमण 'सार्थ सामायिक प्रतिक्रमण सूत्र' प्रकाशित हुआ। सम्मेलन में यह भी निर्णय हुआ कि दैवसिय प्रतिक्रमण में ४, पक्खी को ८, चातुर्मासिक को १२ एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में २० लोगस्स का ध्यान किया जाएगा। किन्तु अभी भी इसके सहित कुछ बिन्दुओं पर मतभेद है, यथा- श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र में श्रमण प्रतिक्रमण की पाँच पाटियों का समावेश किया जाये या नहीं। चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण एक किया जाये या दो? इन विवादों में सबके अपने-अपने तर्क है। जो जैसा मानता है वह उसके अनुसार तर्क ढूँढ लेता है। किन्तु सत्य का अन्वेषण करने वाले को एवं उसको स्वीकार करने वाले को किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं होती। श्रावक प्रतिक्रमण में श्रमण प्रतिक्रमण की पाँच पाटियों का समावेश आवश्यक नहीं है, इस संबंध में इस विशेषांक में तीन स्थानों पर चर्चा हुई है। एक आलेख श्री धर्मचन्द जी जैन का है, जिसमें इन पाठों की अप्रासंगिकता स्वीकार की गई है। प्रतिक्रमण के विशिष्ट प्रश्नोत्तरों में भी इसकी तर्कपुरस्सर सार्थक चर्चा हुई है तथा विस्तार से इसका विश्लेषण श्री मदनलाल कटारिया के द्वारा प्रश्नोत्तर शैली में निबद्ध आलेख में किया गया है।

दो प्रतिक्रमण की मान्यता मूर्तिपूजक समाज का प्रभाव है। ज्ञातासूत्र में पंथकजी द्वारा दो प्रतिक्रमण किये जाने को सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र के इस उल्लेख के अतिरिक्त कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि साधु और श्रावक को दो प्रतिक्रमण करने चाहिए। जिस प्रकार पाक्षिक प्रतिक्रमण में देवसिय प्रतिक्रमण सम्मिलित माना जाता है उसी प्रकार चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में देवसिय प्रतिक्रमण को सम्मिलित मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। फिर यों तो दो ही प्रतिक्रमण क्यों पर्याप्त मान लिये गये, तीन और चार भी कर लेने चाहिए।

आवश्यकता इस बात की है कि प्रतिक्रमण करते समय मन, वाणी और काया तीनों का योग तथा आत्मभावों का उपयोग प्रतिक्रमण में रहें। यदि ऐसा हुआ तो प्रतिक्रमण सम्बन्धी ये विवाद बौने नजर आयेंगे और प्रतिक्रमण की साधना का डंका जगत् में चहुँ और स्वतः निनादित होता रहेगा।

इस विशेषाङ्क में सभी जैन सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व है। स्थानकवासी परम्परा में आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा., (स्व.) आचार्य श्री नानेश, (स्व.) आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी आदि का प्रतिनिधित्व है तो तेरापंथ सम्प्रदाय में आचार्य श्री महाप्रज्ञ एवं दिगम्बर परम्परा में आचार्य श्री कनकनन्दी जी के लेख भी सन्निविष्ट हैं। खरतरगच्छ, तपागच्छ के प्रतिक्रमण से सम्बन्धित लेख भी इस विशेषाङ्क को व्यापक बना रहे हैं।

विशेषाङ्क को जिन-जिन श्रद्धेय सन्तप्रवरों, आचार्यों एवं विद्वज्जनों का वैचारिक योगदान मिला है, उन सबके प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ तथा विनम्रतापूर्वक इसे पाठकों के कर-कमलों में समर्पित करता हूँ।

-डॉ. धर्मचन्द जैन

प्रतिक्रमण : आत्मविशुद्धि का अमोघ उपाय

आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा.

प्रतिक्रमण की साधना आत्म-विशुद्धि की अमोघ साधना है। आज व्यक्ति बाह्यशुद्धि के प्रति जितना सजग है उतना ही आन्तरिक शुद्धि के प्रति असजग। स्थानकवासी रत्नसंघ के अष्टम पट्टधर आचार्यप्रवर पूज्य श्री हीराचन्द्र जी म.सा. ने प्रतिक्रमण विषयक अपने इस प्रवचन में व्यक्ति को आन्तरिक शुद्धि के प्रति सजग बनने की महती प्रेरणा की है। १७ सितम्बर २००६ को बंगारपेट में फरमाये गए इस प्रवचन में प्रतिक्रमण का सर्वांग विवेचन हुआ है। प्रवचन का संकलन श्रावकरत्न श्री जगदीश जी जैन के द्वारा किया गया है। -सम्पादक

तीर्थंकर भगवान् महावीर ने आचारांग से लेकर दृष्टिवाद तक अंगशास्त्र में जितने भी उपदेश दिये, जितनी वागरणाएँ की, वे सब आत्मधर्म को लेकर की, आत्मविशुद्धि के लिये की। उनका कथन है- आत्मा के अन्दर जो वासनाएँ-विकार, जो कर्म-मैल हमारे अपने अज्ञान और असावधानी से अथवा प्रमाद से प्रविष्ट हो गये हैं, उन्हें शुद्ध कर भीतर सोये हुए ईश्वरत्व को जगाने की साधना 'सामायिक' और 'प्रतिक्रमण' है। वीतराग वाणी कहती है- मानव तेरे भीतर पशुत्व, असुरत्व, दानवत्व की जो वृत्ति आ गई है, वह तेरी अपनी स्वभावजन्य नहीं, इधर-उधर बाहर से आई है, यह तेरा मूल स्वरूप नहीं है। आध्यात्मिक दर्शन कहता है- हे साधक! तू घनघोर घटाओं से घिरे हुए, बादलों में छुपे हुए सूर्य के समान है। तुझे बाहर से भले ही बादलों ने घेर रखा हो, पर तू अन्दर से तेजस्वी सूर्य है, सहस्ररश्मि ही नहीं, अनन्त रश्मि है, पहले था और अनन्त काल तक सूर्य ही रहेगा। ये जो तेरे ऊपर कर्मों के बादल छा गये हैं, वासनाओं की काली घटाएँ आ गई हैं, उसी के कारण तेरा अनिवर्चनीय तेज, परम प्रकाश लुप्त हो गया है, तुझे उन घटाओं को छिन्न-भिन्न करना होगा। ऐसा करने से तेरा सहज स्वाभाविक तेज और प्रकाश जगमगा उठेगा। अतः ''उट्ठिए नो पमायए'' उठ! प्रमाद मत कर और अपने आपको हीन, दीन, दुराचारी मत समझ। हर अशुद्धि को दूर करने का उपाय है।

व्यवहार जगत् में मैले कपड़े सोड़े और साबुन से धोकर, रूई की धुनाई कर, बर्तन को मांजकर, सोने-चाँदी आदि धातु को तपाकर, गटर के पानी को फिल्टर कर, कमरे को झाड़-बुहार कर, धान को हवा में बरसा कर, रस्सी (मवाद) को औषधि से सुखाकर, घी को गर्म कर, पेट को जुलाब लेकर जैसे शुद्ध किया जाता है, इसी तरह पाप कर्मों से मलिन बनी हुई आत्मा को, आलोचना और प्रतिक्रमण के पश्चात्ताप में तपाकर शुद्ध किया जा सकता है। जितना अधिक पश्चात्ताप और खेद होगा, उतनी ही अधिक अशुद्धि दूर होगी।

अतः आज प्रतिक्रमण को लेकर कुछ विचारणा करते हैं, क्रमण शब्द का अर्थ है- चलना और प्रतिक्रमण का अर्थ है लौटना। शास्त्र में इसे आवश्यक के नाम से कहा गया है 'अवश्यं कर्त्तव्यम् आवश्यकम्'। साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका रूप चारों संघ को दोनों समय अवश्य करना चाहिये, अतः इसे आवश्यक कहा गया है। आर्यक्षेत्र भारतवर्ष की विभिन्न धर्म-परम्पराओं में आत्मशुद्धि हेतु संध्या कर्म, प्रतिक्रमण, पश्चात्ताप, तोबा के रूप में यह साधना मिलती है। वीतराग वाणी में प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ है- वापस लौटना, विभाव से स्वभाव में आना, बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बनना, प्रमाद की स्वीकृति अर्थात् पापाचरण की आलोचना कर मर्यादा में वापस आना। सरल शब्दों में- 'अपने गुणों में जो अतिक्रमण हुआ है, उससे प्रतिक्रमण करना, वापस लौटना। यति वृषभाचार्यकृत तिलोयपन्नत्ति और हारिभद्रीय आवश्यक सूत्र वृत्ति अध्ययन ४ गाथा १२३३-१२४२ में प्रतिक्रमण के ८ पर्यायवाची नाम दिये गये हैं- १. प्रतिक्रमण- आत्मशुद्धि के क्षेत्र में लौटना २. प्रतिसरण- संयम-साधना में अग्रसर होना ३. प्रतिहरण- अशुभ योगों का त्याग करना ४. धारणा- शुभ भावनाओं को धारण करना ५. निवृत्ति- अशुभ भावों से निवृत्त होना ६. निंदा- अपने पापों की आत्मसाक्षी से निन्दा करना ७. गर्हा- गुरु साक्षी से पापों को प्रकट करना ८. शुद्धि-व्रतों में लगे दोषों की शुद्धि करना।

वैदिक परम्परा में इसे संध्या कर्म के नाम से कहा गया है। यजुर्वेद में उच्चरित मंत्र का अर्थ करते हुए कहा है- मैं आचरित पापों के क्षय के लिये यह उपासना सम्पन्न करता हूँ; मेरे मन, वाणी और शरीर से जो भी दुराचरण हुआ, उसका मैं विसर्जन करता हूँ। तो पारसी धर्म के प्राचीनतम ग्रन्थ 'खोरदेअवस्ता' में कहा गया है- मैंने मन से जो बुरे विचार, वाणी से तुच्छ भाषण और शरीर से जो घृणित कार्य किया, उन सबके लिए पश्चात्ताप करता हूँ, अपराध से अलग होकर पवित्र होता हूँ। इसी प्रतिक्रमण को ईसाई धर्म में 'कन्फेशन' अर्थात् पाप की स्वीकृति कर, आचरित पापों को धर्मगुरु, पोप या पादरी से कहकर प्रायश्चित्त करने का विधान है। बौद्ध धर्म में- प्रतिक्रमण के प्रतिकर्म, प्रवारणा और पापदेशना ये नाम मिलते हैं। प्रवारणा की तिथि पर भिक्षु-भिक्षुणी व संघ के सदस्य सभी इकट्ठे होते हैं और आचार के नियमों का पाठ बोलते हैं, फिर भिक्षु से पृच्छा की जाती है, नहीं बोलने पर संघ से पृच्छा की जाती है- इस आचार का किसी ने भंग तो नहीं किया? किसी की सूचना नहीं मिलने पर शिकायत करने की पृच्छा की जाती है, वह नहीं मिलने पर 'निर्दोष कहकर' आगे का नियम पढ़ा जाता है- यदि किसी ने भंग किया हो तो उसे यथोचित प्रायश्चित्त दण्ड दिया जाता है। इस्लाम धर्म में महात्मा अबूबकर ने कहा है- तौबा, खेद, पछतावा (प्रायश्चित्त) आदि छः बातों से पूरा होता है- १. पिछले पापों पर लज्जित होने से २. फिर पाप न करने का प्रयत्न (प्रतिज्ञा) करने से ३. मालिक की जो सेवा छूट गई हो, उसे पूरा करने से ४. अपने द्वारा हुई हानि का घाटा भर देने से ५. हराम के खाने से- जो लोहू और चर्बी बढ़ी है, उसे तप से धुला डालने से ६. शरीर ने पापों से जितना सुख उठाया है, सत्य धर्म में उसे उतना ही दुःख देने से तौबा होता है। प्रतिक्रमण का आंग्ल भाषा में साम्य रखने वाला एक

शब्द है About Turn (अबाउट टर्न) अर्थात् ''जिस स्वभाव से बाहर निकल गये थे, वापस लौटकर वहीं आ जाइये'', ''जहाँ से चले थे, लौट आइये'' यही प्रतिक्रमण है।

बाहरी संसार असीम है, अनंत है। जब हमें किसी लक्ष्य का ज्ञान हो जाता है तो हम उस ओर क्रमण अर्थात् पहुँचने का प्रयास करते हैं। लक्ष्य लेकर चलते हुए भी शक्ति, सामर्थ्य, पुरुषार्थ पूरा नहीं करने के कारण भटक जाते हैं और कभी मार्ग की दुरूहता, आने वाले कष्ट और परीषह से कृत्य के साथ अकरणीय भी कर लेते हैं और ये अकरणीय अतिक्रमण हमें अशान्ति, अस्थिरता देते हैं। अशान्त मन पाप में प्रवृत्ति करता है, वहाँ से वापस लौटना प्रतिक्रमण है। हम अनेक भवों के यात्री हैं, कई जन्मों से यात्रा करते आ रहे हैं, कितने ही सावधान होकर चलने पर भी कहीं वासना-विकार की, तो कहीं क्रोध-लोभ की, तो कहीं मोह-माया की, भूल की धूल लग ही जाती है और हमारी चारित्र एवं नियम रूपी चदरिया मैली हो जाती है। भले ही हम कितने ही संभल कर चलें, संसार की कहावत है-

काजल की कोटड़ी में लाख हुँ सयानो जाय।
काजल की एक रेख, लागे पुनि लागे है।।

इसी भूल की धूल का आत्मनिरीक्षण कर, विभाव से स्वभाव में आने को प्रतिक्रमण कहते हैं।

ये भूल से लगे साता-सुख के शल्य रूप काँटे, हमें साधना पथ पर तेज दौड़ने नहीं देते। कहावत है-

ड़ाढाँ खटके कांकरो, फूस जो खटके नैन।
कह्यो खटके आकरो, बिछड्यो खटके सेन।।

जैसे दाँत के बीच में कंकर आ जाने पर, आँख में फूस या तिनका पड़ जाने पर, कठोर वचन कहने पर, वियोग में निशानी साथ रहने पर खटकती है, इसी तरह आत्मा में पाप का शल्य चुभता रहता है। भूल की धूल आत्मा को मलिन बनाती है। एक कहावत है- भूल होना छद्मस्थ मानव की प्रकृति है, भूल को स्वीकार नहीं करना जीवन की विकृति है, भूल को मान लेना संस्कृति है और उसे सुधारना प्रगति है। किसी ने कहा है-

कभी नहीं फिसलने वाला भगवान है, फिसलन को समझने वाला मतिवान है।
फिसलकर संभलने वाला इंसान है, फिसलने को अच्छा मानने वाला शैतान है।।

संक्षेप में भूल या गलती कुछ भी कहा जाय, जीवन की एक विकृति है। छद्मस्थ अवस्था में जाने-अनजाने, चाहे-अनचाहे यह हो जाती है। बाहरी भूलों के तीन रूप आपके सामने रखे जा रहे हैं। विभाग करने पर वे जल्दी समझ में आते हैं और उन्हें पकड़कर सुधार भी किया जा सकता है। तीन रूप हैं- अज्ञानजन्य, आवेशजन्य और योजनाबद्ध।

(१) अज्ञानजन्य भूल- समझ कम है, बुद्धि विकसित नहीं है, उम्र से नादान है और इस नादानी में वह हँसी करने लायक भूल कर बैठता है। उसके मन में अपमानित करना, बदला लेना अथवा स्वार्थ-साधना जैसी कोई

मनोवृत्ति नहीं है। नासमझी के कारण वह ऐसा करता है- जैसे नादान बालक पिता की मूँछें खींच लेता है, माता के मुख पर तमाचा मार देता है, नादानी में लात भी मार देता है, ये भूलें वैसे साधारण नहीं हैं, यदि समझदार व्यक्ति करे तो उसे प्रतिकार स्वरूप दण्ड भी दिया जा सकता है। लेकिन नादान शिशु के लिये ऐसा कुछ भी नहीं है। यहाँ तक कि वह गोद में लेने वाले के कीमती वस्त्रों को मलमूत्र से गंदा भी कर देता है, फिर भी वह रोष करने लायक नहीं, क्षमा के योग्य है। उसे पीटने की बजाय दुलारते देखा जा सकता है। कभी अतिवृद्ध, स्थविर और रोग से घिरे हुए लोगों की भूलों पर ध्यान भी नहीं दिया जाता है, कारण है उनके मन में बुराई करना, बदला लेना जैसा कुछ भी नहीं है। समाज में प्रायः ये भूलें क्षम्य मानी गई हैं। धर्म के क्षेत्र में भी इनका कोई महत्त्व नहीं है।

(२) आवेशजन्य भूल- दूसरा विभाग आवेग या आवेश अथवा क्षणिक उत्तेजना का परिणाम है। विपरीत व्यवहार, अघटित घटना एवं संकट के प्रसंग पर कभी सहसा व्यक्ति को कुछ आवेश आ जाता है। स्वाभिमान पर ठेस पहुँचने पर वह कभी भान भूल जाता है, कुछ का कुछ कह बैठता है, कर देता है। गाली देना, मारना, पीटना आदि आवेश में हो जाता है, "यह भूल नोट करने जैसी है।" सामाजिक क्षेत्र में इसका अधिक मूल्य तो नहीं है और समझदार प्रायः इस पर ध्यान भी नहीं देते हैं, फिर भी आध्यात्मिक क्षेत्र में यह भूल, क्षमा माँगने, दूसरे का खेद मिटाने और पश्चात्ताप करने योग्य है। जैसे आँख में गिरा हुआ छोटा सा तिनका या रजकण भी खटकता है। पैर में लगा छोटा काँटा भी निकाले बिना गति नहीं मिलती, इसी तरह विवेकवान, समझदार व्यक्तियों को इस आवेग या आवेशजन्य भूल की भी तत्काल क्षमायाचना कर हार्दिक पश्चात्ताप कर लेना चाहिये, जिससे ये भूलें आगे नहीं बढ़ें।

(३) योजनाबद्ध भूल- तीसरा विभाग है योजनाबद्ध संकल्पपूर्वक की जाने वाली भूलों का। ये भूलें करने के साथ दण्ड के क्षेत्र में आती हैं। सामाजिक दृष्टि से हत्या करना, धोखा देना, जालसाजी करना, व्यभिचार, देशद्रोह, आतंक, रिश्वतखोरी, सत्ता का दुरुपयोग, लांछन, कलंक आदि के रूप में यह भूलें क्षम्य नहीं हैं। समाज अथवा व्यवहार क्षेत्र में ऐसा करने वाला कठोर दण्ड का अधिकारी होता है और साधना के क्षेत्र में उग्र प्रायश्चित्त का। कषायजनित ये भूलें भयंकर द्वेष बढ़ाने वाली हैं। एक जन्म नहीं, जन्म-जन्म तक दुःख देने वाली हैं। तन के कैंसर की गाँठ एक जन्म (जीवन) समाप्त करती है, मन के कषाय की गाँठ जन्म-जन्म तक दुःख देती है। राजा-महाराजा, चक्रवर्ती ही नहीं, तीर्थंकर को भी नहीं छोड़ती। गहरा पश्चात्ताप, तीव्र तप और दीर्घकाल का संयम भी कभी-कभी इन भूलों के परिमार्जन में पर्याप्त नहीं होता। बिना भोगे इनसे छुटकारा नहीं है, अतः ऐसी भूलें सम्यग्दृष्टि श्रावक और साधक के जीवन में होती नहीं हैं अथवा इन भूलों के होने पर श्रावकत्व और साधुत्व के भाव नहीं रहते हैं। अनार्यों के जीवन की इन घटनाओं को देखकर सम्यग्दृष्टि श्रावकों, साधुओं से ऐसी भूलें नहीं हो, यही सावधानी 'विवेक' है और 'प्रतिक्रमण' की भूमिका है। मानसिक विचारों में राजर्षि प्रसन्नचन्द्र के ऐसे भाव आने पर कथाभाग में विवरण मिलता है- "वे नरकों के

दलिक इकट्ठे करने लग गये, ये विचार मानसिक थे, इसलिये गहरे पश्चात्ताप से उन्होंने शुद्धीकरण कर केवलज्ञान उपार्जित कर लिया।'' सामान्य से लेकर विशेष प्रसंगों तक के स्थानांग सूत्र के छठे ठाणे में भगवान् महावीर ने साधु-साध्वी के लिए छः प्रकार के प्रतिक्रमण कहे हैं- ''छव्विहे पडिक्कमणे पण्णत्ते तंजहा''-

१. **उच्चारपडिक्कमणे-** मल विसर्जन के पश्चात् वापस आने पर ईर्यापथिकी सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण करना।
२. **पासवणपडिक्कमणे-** मूत्र विसर्जन के पश्चात् वापस आने पर ईर्यापथिकी सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण करना।
३. **इत्तरिए पडिक्कमणे-** देवसिय, राइय आदि प्रतिक्रमण करना अथवा भूल हो जाने पर तत्काल मिथ्यादुष्कृत कहकर प्रतिक्रमण करना।
४. **आवकहिए पडिक्कमणे-** मारणान्तिकी संलेखना के समय किया जाने वाला प्रतिक्रमण।
५. **जंकिंचि मिच्छा पडिक्कमणे-** साधारण दोष लगने पर उसकी शुद्धि के लिये 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहकर पश्चात्ताप प्रकट करना।
६. **सोमणंतिए पडिक्कमणे-** दुःस्वप्नादि देखने पर किया जाने वाला प्रतिक्रमण।

कर्म आने के पाँच स्थान हैं, अतः प्रतिक्रमण भी पाँच प्रकार का बताया गया है, जिन्हें रूपकों से समझें-

१. **मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण-** इसे समझने के लिए रूपक है- लोहे की ताड़ियों का दरवाजा, जिससे आतंककारी, चोर, पशु, पक्षी, दुश्मनों का प्रवेश बंद हो जाये।
२. **अव्रत का प्रतिक्रमण-** छोटी बड़ी तार की जाली, जिससे मक्खी मच्छर का प्रवेश बंद हो जाये।
३. **प्रमाद का प्रतिक्रमण-** काँच का दरवाजा, जिससे हवा, धूलि, बाहरी शोरगुल बंद हो जाय।
४. **कषाय का प्रतिक्रमण-** लकड़ी का दरवाजा- जिससे बाहर की शक्ल सूरत भी दिखाई नहीं दे।
५. **अशुभयोग का प्रतिक्रमण-** छिद्र रहित सपाट दरवाजा, जिससे अति बारीक रज-धूलि भी प्रविष्ट न हो।

अनुयोगद्वार सूत्र में प्रतिक्रमण के दो भेद किये गये हैं- द्रव्य आवश्यक एवं भाव आवश्यक। यदि आपने याद किया हो तो वे सूत्र इस प्रकार हैं-

''तं आवस्सयमितिपदं सिक्खियं, थियं, जियं, मियं, परिमियं, नामसमं, घोससमं, अहीणक्खरं, अणच्चक्खरं, अविद्धक्खरं, अक्खलियं, अमिलियं, अवच्चामेलियं, पडिपुण्णं, पडिपुण्णघोसं, कण्ठोट्ठविमुक्कं, वायणोवगयं दव्वावस्सयं। अणुवओगं।''

द्रव्यावश्यक के विविध रूप हैं, यथा- १. **शिक्षित-** सम्यक् उच्चरित २. **स्थित-**न भूलने से जो मन में याद रहे ३. **जित-** दूसरे के पूछने पर शीघ्र उत्तर दे सके ४. **मित पद-** जो अक्षरों से मर्यादित है ५. **परिमित-** क्रम-विरुद्ध क्रम से आवृत्ति ६. **नामसम-** शिक्षित आदि पाँचों से युक्त, स्वप्न में भी कह दे ७. **घोषसम-** ह्रस्व, दीर्घ रूप से शुद्ध उच्चारण ८. **अहीनाक्षर-** एक अक्षर भी कम नहीं ९. **अनत्यक्षर-** एक अक्षर

अधिक नहीं १०. **अव्याविद्धाक्षर-** उलटे-सुलटे अक्षरों का प्रयोग नहीं। बिखरे रत्नों की तरह नहीं, माला के समान ११. **अस्खलित-** पत्थर आने पर हलवत् रुकता-रुकता नहीं बोले, १२. **अमिलित-** दूसरे समान पदों को, दूसरे शास्त्र के पदों से मिलाना नहीं १३. **अव्यत्यामेडित-** अस्थान में विराम रहित १४. **प्रतिपूर्ण-** अधिक अक्षर, हीनाक्षर न होने से प्रतिपूर्ण १५. **प्रतिपूर्ण घोष-** गुरुवत् उदात्त आदि घोषों से सहित १६. **कण्ठोट्ठ विमुक्कं-** कण्ठ और होठ से बाहर निकला हुआ १७. **वाचनोपगत-** वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, धर्मकथा से पाया हुआ।

इतना होते हुए भी बिना उपयोग के भावशून्य होने के कारण द्रव्य प्रतिक्रमण कहा जाता है।

तो क्या बिना उपयोग के प्रतिक्रमण करने पर लाभ नहीं होता? होता है, बिना पथ्य की औषधि के समान, कम होता है। लेकिन जितनी देर प्रतिक्रमण करेगा, उतने समय तक पापों से विरति रहेगी। इसके साथ द्रव्य भाव का कारण है। पता नहीं कब भावना जग जाय, विरति आ जाय और वैराग्य जगाकर क्षण-पल में पापमल नष्ट कर दे। अतः भावना का प्रयास करें, किन्तु द्रव्य से करना भी छोड़ें नहीं। भावना का अर्थ करते हुए कहा गया है-

"जण्णं इमे समणे वा समणी वा सावओ वा साविया वा तच्चिते तम्मणे तल्लेस्से तदज्झवसिए तत्तिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पियकरणे तब्भावणाभाविए अण्णत्थ कत्थइ मणं अकरेमाणे उभओ कालं आवस्सयं करेंति से तं लोगुत्तरियं भावावस्सयं।" -अनुयोगद्वार सूत्र

'तत् चित्त' से यहाँ चित्त शब्द सामान्य उपयोग के अर्थ में है- अंग्रेजी में इसे Attention (अटेंशन- उसका उपयोग उसमें लगाना) कहा जा सकता है। 'तन्मन' से यहाँ मन शब्द विशेष उपयोग के अर्थ में है, अंग्रेजी में इसे Interest (इन्ट्रेस्ट- रुचि) कहा जा सकता है। 'तल्लेश्या' से यहाँ लेश्या शब्द उपयोग बिशुद्धि के अर्थ में है, अंग्रेजी में इसे Desire (डिजायर-इच्छा) कहा जा सकता है। तदध्यवसाय से यहाँ विशुद्धि का चिह्न भाषित स्वर है अर्थात् जैसा भाव वैसा ही भाषित स्वर है। यह उपयोग की विशुद्धि का सूचक है। जैसा स्वर वैसा ही ध्यान जब होने लगता है, तब उसे तदध्यवसाय कहा जाता है। अंग्रेजी में इसे Will (विल- आत्मबल/अंतरंगशक्ति या लगन) कहा जा सकता है। वही ध्यान जब तीव्र बन जाता है तब उसे 'तत्तिव्वज्झवसाणे' कहा जाता है, अंग्रेजी शब्द Power of imagination (पावर ऑफ इमेजिनेशन- कल्पना शक्ति) को समकक्ष कहा जा सकता है। 'तदट्ठोवउत्ते' अर्थात् उसी के अर्थ में प्रयुक्त। इसे अंग्रेजी में Visualisation (विजुएलाइजेशन-दृष्टिकोण/दूरदृष्टि) कहा जा सकता है। तत्पश्चात् 'तदप्पियकरणे' अर्थात् जिसमें सभी करण उसी के विषय में अर्पित कर दिये हैं। अंग्रेजी में इसे Identification (आइडेन्टीफिकेशन- उससे साक्षात्कार करना) कहा जा सकता है। अन्त में 'तब्भावणभाविए' अर्थात् उसी की ही भावना से भावित होना जिसे अंग्रेजी में Complete Absorption (कम्पलीट एब्जोर्पशन- सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करना) कहा जा सकता है।

प्रायश्चित्त भी तप है। आत्मशुद्धि का एक साधन है। जिसे भाई/बहिन कर रहे हैं। आज तीन भाई/बहिनों के २८ की तपस्या है। सबसे मासखमण नहीं किया जा सकता। क्या किया जा सकता है? हरपल जागृत रहकर गलती का पश्चात्ताप। पश्चात्ताप चालू हो जायेगा तो गलती होना बंद हो जायेगा। पाप की स्वीकृति ही प्रतिक्रमण है। मैं गलती कर रहा हूँ, इसे स्वीकार कर लोगे तो यह प्रतिक्रमण है। जब तक मन में ये भाव रहेंगे- मैं बड़ा हूँ, मैं क्यों जाऊँ खमाने, खमायेगा तो वह। जब तक हमने गलती मानी ही नहीं तो वह छूटेगी कैसे? और छूटी ही नहीं तो वही ८४ का चक्कर मौजूद है।

पश्चात्ताप कीजिये और वह हर समय किया जा सकता है। प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के समय उभयकाल प्रतिक्रमण और बीच के २२ तीर्थंकरों के समय जब दोष, तभी प्रतिक्रमण। व्यवहार जगत में अभी बाह्य शुद्धि तत्काल की जाती है, भीतरी शुद्धि का कोई लक्ष्य नहीं है। कँवर साहब का वस्त्र पान से खराब हो जाए तो तुरन्त वस्त्र बदलते हैं। शुद्धि हेतु मानो- बहनों के यहाँ की बिन्दी वहाँ लग जाए तो दर्पण में देखकर सही स्थान पर करती हैं। किसी पक्षी की बींट आदि कपड़े पर, बालों पर गिर गई तो पहले घर जाकर वस्त्र परिवर्तन एवं सफाई। बाहर में कहीं अशुद्धि रह जाय तो तत्काल शुद्धि। जब भी बाहरी गंदगी तभी शुद्धि और अन्तरंग कषाय संबंधी गलती होने पर सोचते हैं- सायंकाल प्रतिक्रमण के बाद क्षमायाचना कर लेंगे। अभी क्या जल्दी है, पाक्षिक प्रतिक्रमण में क्षमायाचना कर लेंगे। वह भी टाल देंगे फिर चातुर्मासिक प्रतिक्रमण की बात करेंगे। फिर सोचेंगे साल भर में एक बार संवत्सरी आती है उस दिन साथ-साथ क्षमायाचना कर लेंगे, उस दिन भी खमतखामणा करते समय हाथ सामने एवं मुँह बगल में करके अनमनेपन से क्षमायाचना करते हैं। लेकिन भाई क्षमायाचना करना शूली की वेदना शूल में समाप्त करना है। कितनी ही बड़ी गलती हो, प्रायश्चित्त से समाप्त एवं पश्चात्ताप से शुद्ध हो सकती है। पर होवे कैसे? वह भाव से हो तब।

दृढ़प्रहरी ४ मोटी हत्या करके आए- गौ, ब्राह्मण, प्रमदा एवं बालक की हत्याएँ करके आये, परन्तु पश्चात्ताप की आग में जलने लगे। उपशम, संवर, विवेक के द्वारा अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त कर लिया-

गौ, ब्राह्मण, प्रमदा, बालक की, मोटी हत्या चारों।
तेहणो करणहार प्रभु भजने, होत हत्या सूँ न्यारो।।
पद्म प्रभु पावन नाम तिहारो, पतित उद्धारण हारो.....

इसलिये तीर्थंकर भगवान् महावीर ने दोनों समय प्रतिक्रमण की बात कही। प्रतिक्रमण में भाई जोर-जोर से 'तस्स मिच्छामि दुक्कड़' देते हैं, पर भीतर में जूँ भी नहीं रेंगती। प्रकृति में अन्तर नहीं आया है, पर बाहर में जोर-जोर से मिच्छामि दुक्कड़। मेरा कहने का तात्पर्य है- खमतखामणा मात्र बोलने तक सीमित न हो।

पश्चात्ताप के रूप में प्रतिक्रमण किया जाए तो आत्मशुद्धि होते देर नहीं लगेगी। यदि भावना की प्रकृष्टता में प्रतिक्रमण कर रहा है और उत्कृष्ट रसायन आ जावे तो जीव तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन

है, इससे बढ़कर और कौनसा पद है? वह कैसे मिल सकता है- अनशन तप नहीं कर सकते तो प्रतिक्रमण रूप सरल रास्ता तीर्थंकर भगवान् ने बताया। यदि फिर भी थे नहीं तिरो, तो थांकी मरजी। फिर भी अगर पत्थर की नाव में बैठकर डूबना चाहते हो तो भगवान् के पास भी कोई उपाय नहीं।

संसार की तरणी में मोहमाया में डूबना चाहते हो तो भगवान के पास कोई....।

जब विभाव में जाओ, स्वभाव में आओ, तत्काल प्रायश्चित्त करो, प्रतिक्रमण करो ...

आगे का मार्ग प्रशस्त कर आत्मा से परमात्मा...

नर से नारायण.......बन सकोगे.....

व्यवहार जगत में प्रचलित भूल, दूसरों को कष्ट या पीड़ा देना, हानि पहुँचाना, अपमानित करना या जीवन रहित करना, माना जा रहा है और इसी भूल की धूल का मिच्छा मि दुक्कडं, क्षमायाचना, पश्चात्ताप किया जाता है, जबकि शास्त्र में ५ प्रकार का प्रतिक्रमण बताया गया है- मिथ्यात्व से हटकर वास्तविक सही श्रद्धा में दृढ़ आस्था होना, यदि इसमें कोई अतिक्रम, व्यतिक्रम लगा हो तो मिथ्या दुष्कृत देकर श्रद्धा दृढ़ बनाना। अव्रत-मर्यादा रहित जीवन से हटकर अप्रत्याख्यानावरण कषाय को छोड़कर एक से लेकर बारह व्रत स्वीकार करना। देशविरति एवं सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर सर्वविरति रूप चारित्र स्वीकार करना। मैं क्यों नहीं कर रहा? कितना कर सकता हूँ? कहाँ अटक रहे हैं? कहाँ भटक रहे हैं? नौ दिन चले अढाई कोस! वाली कहावत तो चरितार्थ नहीं हो रही है; चिन्तन करना, पुरुषार्थ करना। पाँच प्रकार के प्रमाद छोड़कर अप्रमत्त बनना। काषायिक मलिन भावों से ऊपर उठकर राग-द्वेष रहित वीतराग बनना तथा सम्पूर्ण योगों का निरोध कर अयोगी बनना।

इस भाव प्रतिक्रमण की ओर किन्हीं महापुरुषों का ही ध्यान जाता है। आचार्य आषाढ़भूति ने अन्तिम समय में अपने शिष्यों को संलेखना संथारा करवाया और कहा- देव बनने पर यहाँ आकर कहना। नहीं आने पर श्रद्धा डावांडोल हुई। बच्चों की विराधना कर, आभूषण लेकर, गृहस्थ में जाने की भावना बना ली, देव के आकर कहने पर संभले और फिर से श्रद्धा में मजबूती की। मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण हुआ।

राजकुमार मेघ तीर्थंकर भगवान् महावीर की देशना से दीक्षित हुए। शयन का स्थान दरवाजे पर मिला। पूर्व के राजकुमार के रूप के सम्मान का खयाल आया और निद्रा नहीं आने पर विचार बदला और प्रातःकाल रजोहरण आदि उपकरण भगवान् महावीर को संभलाने गये। पूर्व जन्म का दृष्टान्त सुनने के बाद व्रतों में स्थिरता आई और अपने को संतों के चरणों में समर्पित कर दिया, फिर से महाव्रत स्वीकार किये। अव्रत का प्रतिक्रमण हुआ।

गणधर गौतम के चरणों में श्रावक आनन्द ने वंदन नमस्कार के बाद पृच्छा की। क्या भगवन्! श्रावक को अवधिज्ञान हो सकता है? हाँ- आनन्द! हो सकता है। भगवन् मुझे भी इतना अवधिज्ञान हुआ है। आनन्द- इतना अवधिज्ञान नहीं हो सकता। उपयोग नहीं लगाने से गणधर गौतम स्वामी ने ऐसा कह दिया। पर

भगवान् महावीर के समक्ष आलोचना करने पर श्रावक को इतना अवधिज्ञान हो सकता है- ऐसा कहने पर बेले का पारणा करने के बजाय अपने अनुपयोग का प्रायश्चित्त करने हेतु वे आनन्द से क्षमायाचना करने पहुँचे और प्रमाद की शुद्धि के बाद पारणा किया।

पूर्व स्नेह के कारण गुफा में महासती राजीमती को यथाजात (नग्न) देखकर महाश्रमण रथनेमि ने भोगों का निमंत्रण किया, पर राजीमती के सुभाषित वचन सुनकर अपने विकार दूर कर केवलज्ञानी बन गये। मैं बड़ा हूँ, पूर्व में दीक्षित हूँ, लघु भ्राताओं को वन्दन करने कैसे जाऊँ? इस अहंकार में बाहुबली एक वर्ष तक कठोर साधना करते रहे। आखिर महासती ब्राह्मी, सुन्दरी से हाथी से उतरने की बात सुनकर अहम् हटाकर विनम्र भाव से ज्यों ही कदम बढ़ाया, कषाय का प्रतिक्रमण होने से केवलज्ञान हो गया।

इसी तरह इतनी ऋद्धि के साथ मेरी तरह ठाट-बाट से भगवान् को वन्दन करने कौन गया होगा, ऐसा दशार्णभद्र को अहम् भाव आया। किन्तु देवेन्द्र की ऋद्धि देखकर, आत्म-विकास में बाधक, अहम् हटा और महाराज दशार्णभद्र ने दीक्षा ग्रहण कर ली।

इस तरह स्व-आत्म विकास में बाधक मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय से हटकर अपनी आत्मा को इन विभावों से हटाकर, स्वभाव में लाना, बाहर से हटकर अन्तर्मुखी बनना भाव प्रतिक्रमण है और यही प्रतिक्रमण कर्मों की धूल को झाड़कर आत्मा को परमात्मा बनाता है, इसी को करने की आवश्यकता है। जो करेंगे, वे तिरेंगे, इन्हीं भावनाओं के साथ.....

प्रतिक्रमण : जीवन-शुद्धि का उपाय

आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म.सा.

अध्यात्मयोगी, युगमनीषी आचार्यप्रवर पूज्य श्री हस्तीमल जी म.सा. अपने प्रवचनों में समय-समय पर प्रतिक्रमण एवं व्रत-ग्रहण से जीवन शुद्धि विषयक विचार अभिव्यक्त करते रहते थे। यहाँ पर पूज्य आचार्यप्रवर के प्रवचन-साहित्य से कतिपय विचार जिनवाणी के सह-सम्पादक श्री नौरतन मेहता ने संकलित किए हैं। *-सम्पादक*

- प्रतिक्रमण करने वाले भाई-बहन को चाहिए कि वे अपने जीवन में लगे दोषों का संशोधन करके आत्मा को उज्ज्वल करें। इसीलिए आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान का विधान भगवान् ने श्रावक और साधु सभी के लिए किया है। *-नमो पुरिसवरगंधहत्थीणं, पृष्ठ ४१८*
- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग से जो कचरा आया है, उसे चिन्तन द्वारा बाहर निकालना, पीछे हटाना, इसका नाम है 'प्रतिक्रमण'। *-नमो पुरिसवरगंधहत्थीणं, पृष्ठ ४१९*
- आज के युग की यह विशेषता और विचित्र प्रकृति है कि आदमी भूल करने पर भी अपनी उस भूल अथवा गलती को मानने के लिए तैयार नहीं होता। बहुत से लोग तो दोष स्वीकार करना मानसिक दुर्बलता मानते हैं। शास्त्र कहते हैं कि जो जातिमान्, कुलमान्, ज्ञानवान् और विनयवान् होगा वही अपना दोष स्वीकार करेगा। आध्यात्मिक क्षेत्र में दोषी स्वयं अपने दोष प्रकट कर पश्चात्ताप करता है। जीवन-शुद्धि के लिए यह आवश्यक है कि साधक सूक्ष्म-दृष्टि से प्रतिदिन अपना स्वयं का निरीक्षण करता रहे। नीतिकार ने कहा है कि "प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।" कल्याणार्थी को प्रतिदिन अपने चरित्र का सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करना चाहिए। *-नमो पुरिसवरगंधहत्थीणं, पृष्ठ ४१९*
- प्रतिक्रमण केवल पाटियाँ बोलने से ही पूरा नहीं होता है। यह तो एक साधना है जिससे दोष सरलता से याद आ जावें। इसलिए आचार्यों ने, शास्त्रकारों ने प्रतिक्रमण की पाटियाँ आपके सामने रखी हैं। पाठ तोते की तरह बोल गये, मिच्छा मि दुक्कडं जहाँ आया वहाँ मुँह से कह दिया, लेकिन किस बात का 'मिच्छा मि दुक्कडं' इसका पता नहीं। दैनिक व्यवहार करते यदि झूठ बोला गया, माप-तोल में ऊँचा-नीचा हो गया, किसी से कोई बात मंजूर की, लेकिन बाद में वचन का पालन नहीं किया, कभी चोरी का माल ले लिया, चोरों की मदद की या तस्करी करने में हाथ रहा हो तो उसके लिए अपनी आत्मा से पश्चात्ताप करने का खयाल होना चाहिये। प्रतिक्रमण करने वाले भाई-बहिन जीवन में दोष का

संशोधन करके उसको उज्ज्वल करें। *-नमो पुरिसवरगंधहत्थीणं, पृष्ठ ४१९*

- जो लोग कहते हैं कि सूत्रों का और प्रतिक्रमण का हिन्दी अनुवाद कर देना चाहिए, उनको समझना चाहिए कि हिन्दी का अनुवाद करके मूल को हटा देंगे तो आपको उन सूत्रों की मूल प्राकृत भाषा का ज्ञान नहीं रहेगा, मूल सूत्र का वाचन बन्द हो जाएगा। इसके अतिरिक्त भाषा में अनुवाद करते समय यह समस्या भी आयेगी कि किस भाषा में अनुवाद किया जाए? भारत में तो राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी, बंगला, मराठी, कन्नड़, तमिल, तेलगु, पंजाबी, सिन्धी, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाएँ हैं। यदि कोई कहे कि सभी भाषाओं में अनुवाद कर दिया जाय तो भी दिक्कत आयेगी। कल्पना करिए एक ही स्थानक में बैठे विभिन्न भाषा-भाषी लोग अपनी-अपनी भाषा में सामायिक के पाठ बोलेंगे तो कैसी हास्यास्पद स्थिति हो जाएगी। एकरसता भी नहीं रहेगी और सबसे बड़ी बात तो यह है कि मूल पाठों में जो उदात्त और गुरु गंभीर भाव भरे हैं वे अनुवाद में कभी नहीं आ सकते। इसलिए पाठों का मूल भाषा में रहना सर्वथा उचित और लाभकारी है। इसी से हमारी प्राचीन धार्मिक परम्परा और धर्मशास्त्रों की भाषा अविच्छिन्न रह सकती है। साथ ही आज जो सामायिक करते समय या शास्त्र पढ़ते समय हम इस गौरव का अनुभव करते हैं कि वीतराग प्रभु के मुख से निसृत वाणी का पाठ कर रहे हैं, वह भी अक्षुण्ण रह सकता है। *-नमो पुरिसवरगंधहत्थीणं, पृष्ठ ४१९*
- श्रावक ऐसा कोई कर्म नहीं करेगा, जिससे उसके व्रतों में मलिनता उत्पन्न हो। वह व्रतबाधक व्यवसाय से दूर ही रहेगा और अपने कार्य से दूसरों के सामने सुन्दर आदर्श उपस्थित करेगा। व्रत-ग्रहण करने वाले को अड़ोसी-पड़ौसी चारचक्षु से देखने लगते हैं, अतएव श्रावक ऐसा धंधा न करे जिससे लोकनिन्दा होती हो, शासन का अपवाद या अपयश होता हो और उसके व्रतों में बाधा उपस्थित होती हो। *-आध्यात्मिक आलोक, पृष्ठ ४०२*
- साधु-सन्त कितना ही सुन्दर उपदेश दें, धर्म की महिमा का बखान करें और वीतराग प्रणीत धर्म की उत्कृष्टता का प्रतिपादन करें, मगर जब तक गृहस्थों का एवं उसके अनुयायियों का व्यवहार अच्छा न होगा तब तक सर्वसाधारण को वीतराग धर्म की उत्कृष्टता का खयाल नहीं आ सकता। अतएव अपने आचरण को श्रेष्ठ बनाना भी धर्म प्रभावना का एक अंग है। *-आध्यात्मिक आलोक, पृष्ठ ४०३*
- प्रत्येक गृहस्थ को यह अनुभव करना चाहिए कि वह जिनधर्म का प्रतिनिधि है और उसके व्यवहार से धर्म को मापा जाता है, अतएव ऐसा कोई कार्य उसके द्वारा न हो, जिससे लोगों को उसकी और उसके द्वारा धर्म की आलोचना करने का अवसर प्राप्त हो। *-आध्यात्मिक आलोक, पृष्ठ ४०३*
- चिकित्सक के पास जाकर कोई रोगी यदि उससे बात छिपाता है, अपने रोग को साफ-साफ प्रकट नहीं करता तो वह अपना ही अनिष्ट करता है। इसी प्रकार जो साधक गुरु के निकट अपने दोष को ज्यों का

त्यों प्रकाशित नहीं करता तो वह भी अपनी आत्मा का अनिष्ट करता है। उसकी आत्मा निर्मल नहीं हो पाती। उसे सच्चा साधक नहीं कहा जा सकता। *-आध्यात्मिक आलोक, पृ. ३९८*

- जैसे पैर में काँटा चुभ जाने पर मनुष्य को चैन नहीं पड़ता, वेदना का अनुभव करता है और शीघ्र से शीघ्र उस काँटे को निकाल देना चाहता है। इसी प्रकार व्रत में अतिचार लग जाने पर सच्चा साधक तब तक चैन नहीं लेता जब तक अपने गुरु के समक्ष निवेदन कर प्रायश्चित्त न कर ले। वह अतिचार रूपी शल्य को निकाल कर ही शान्ति पाता है। ऐसा करने वाला साधक ही निर्मल चारित्र का परिपालन कर सकता है। *-आध्यात्मिक आलोक, पृष्ठ ३९८*

- मनुष्य के मन की निर्बलता जब उसे नीचे गिराने लगती है तब व्रत की शक्ति ही उसे बचाने में समर्थ होती है। व्रत अंगीकार नहीं करने वाला किसी भी समय गिर सकता है। उसका जीवन बिना पाल की तलाई जैसा है, किन्तु व्रती का जीवन उज्ज्वल होता है। उसमें एक प्रकार की दृढ़ता आ जाती है, जिससे अपावन विचार उस पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। अतएव किसी पाप या कुकृत्य को न करना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् न करने का व्रत ले लेना भी आवश्यक है।

  -आध्यात्मिक आलोक, पृष्ठ २६९

- गुणवान् और संस्कार सम्पन्न व्यक्ति ही निष्कपट भाव से अपनी आलोचना कर सकता है। जिसके मन में संयमी होने का प्रदर्शन करने की भावना नहीं है, वरन् जो आत्मा के उत्थान के लिए संयम का पालन करता है, वह संयम में आयी हुई मलिनता को क्षणभर भी सहन नहीं करेगा।

  -आध्यात्मिक आलोक, पृष्ठ ३९८

- मन को सर्वथा निर्व्यापार बना लेना संभव नहीं है। उसका कुछ न कुछ व्यापार होता ही रहता है। तन का व्यापार भी चलेगा और वचन के व्यापार का विसर्जन कर देना भी पौषध व्रत के पालन के लिये अनिवार्य नहीं है। ध्यान यह रखना चाहिये कि ये सब व्यापार व्रत के उद्देश्य में बाधक न बन जाएँ। विष भी शोधन कर लेने पर औषध बन जाता है। इसी प्रकार मन, वचन और काया के व्यापार में आध्यात्मिक गुणों का घात करने की जो शक्ति है उसे नष्ट कर दिया जाय तो वह भी अमृत बन सकता है। तेरहवें गुणस्थान में पहुँचे हुए सर्वज्ञ सर्वदर्शी अरिहन्त भगवान् के भी तीनों योग विद्यमान रहते हैं, किन्तु वे उनकी परमात्म दशा में बाधक नहीं होते। इसी प्रकार सामान्य साधक का यौगिक व्यापार यदि चालू रहे, किन्तु वह पापमय न हो तो व्रत की साधना में बाधक नहीं होता। *-नमो पुरिसवरगंधहत्थीणं, पृष्ठ ४१६*

- राज्य-शासन में तो दोषी के दोष दूसरे कहते हैं, पर धर्म-शासन में दोषी स्वयं अपने दोष गुरु-चरणों में निश्छल भाव से निवेदन कर प्रायश्चित्त से आत्म-शद्धि करता है। धर्मशासन में प्रायश्चित्त को भार नहीं माना जाता। आत्मार्थी शिष्य प्रायश्चित्त के द्वारा आत्मशुद्धि करने वाले गुरु को उपकारी मानता है और सहर्ष प्रायश्चित्त का अनुपालन करता है। *-नमो पुरिसवरगंधहत्थीणं, पृष्ठ ४२३*

☼ कायोत्सर्ग का सीधा सादा अर्थ होता है- काया का त्याग, किन्तु यह बात नहीं है, यहाँ पर वास्तविक अर्थ है काया के अभिमान का- काया की अनवरत ममता का त्याग। इससे हमारी पाप प्रवृत्ति रुकती है और सच्चे चिरस्थायी चिदानन्द की ओर आत्मा झुकती है। सुख का मूल साधन त्याग है।

-सामायिक-प्रतिक्रमण सूत्र, पृष्ठ २९

☼ कायोत्सर्ग खड़े होकर करना चाहिए। दोनों पैरों को पंजों की तरफ से ४ अंगुली के अंतर से और एडी की तरफ ३ अंगुली के अन्तर से रखना चाहिए। दोनों हाथ नीचे की ओर शरीर से संलग्न रखें, ऐसे ही निश्चल होकर १९ दोषों से रहित, किए हुए आगारों के सिवा निश्चेष्ट रह कर कायोत्सर्ग सम्पन्न करना चाहिये। यदि खड़े रहकर न कर सकें तो किसी भी स्थिर आसन से कर सकते हैं।

-सामायिक-प्रतिक्रमण सूत्र, पृष्ठ ३०

☼ प्रत्याख्यान का पर्याय गुणधारणा है। इसका अभिप्राय यह है कि कायोत्सर्ग से आत्मा की निर्मलता हो जाने पर शक्ति बढ़ाने के लिये जो नमुक्कारसी आदि त्यागरूप उत्तर गुणों को स्वीकार करना उसी को प्रत्याख्यान कहा जाता है। पच्चक्खाण से आत्मा में कर्मसंचय का हेतु रुक जाता है, उसके रुकने से इच्छा का निरोध होता है। इच्छा-निरोध से सब वस्तुओं की लालसा (तृष्णा) जाती रहती है, फिर जीव शान्तिमय जीवन बिता सकता है। *-सामायिक-प्रतिक्रमण सूत्र, पृष्ठ ३१*

प्रतिक्रमण अपनाएँ

मधुरव्याख्यानी श्री गौतममुनि जी म.सा.

(तर्ज-बच्चे मन के सच्चे)

देखो, खुद को देखो, क्यों बाहर मन भटकाएँ।
आत्मशुद्धि का सच्चा साधन, प्रतिक्रमण अपनाएँ।।
देखो, खुद को....

भूल से जो होती घटना, पापों से पीछे हटना,
प्रतिक्रमण का अर्थ यही, उच्चारण हो सही सही
भाव सहित जो क्रिया करे, आराधकता वही वरे।
इसीलिए जिनवाणी कहती, आज्ञा धर्म निभाएँ।।१।।
देखो, खुद को....

भूल से मानो कभी अगर, खाने में आ जाए जहर,
शीघ्र विरेचन यदि होता, असर नहीं रहने पाता।
पाप जहर ना बढ़ पाए, प्रतिक्रमण यदि हो जाए,
गुरु साक्षी से कर आलोचन, दोषमुक्त बन जाएँ।।२।।
देखो, खुद को....

शुद्ध समकित हो रग-रग में, चाहे संकट हो मग में,
गहरी हो निष्ठा व्रत में, नहीं प्रमाद हो सत्पथ में।
चार कषाय से टलना है, अशुभ योग से बचना है,
इन पाँचों के प्रतिक्रमण से, आराधक बन जाएँ।।३।।
देखो, खुद को....

क्या पाया और क्या खोया, कितना आगे बढ़ पाया,
अन्तर में हो अवलोकन, दूर करें जो हो दुर्गुण।
शल्य मुक्त हो जाना है, वीतरागता पाना है,
'गौतम' से प्रभु फरमाते हैं, शुद्ध दशा को पाएँ।।४।।
देखो, खुद को....

संकलन : सुमतिचन्द मेहता, पीपाड़ शहर

(दिनांक १८.९.२००६ को प्रतिक्रमण विषय पर प्रदत्त प्रवचन में उच्चरित कविता)

आवश्यकों की महिमा

तत्त्वचिन्तक श्री प्रमोदमुनि जी म.सा.

षडावश्यकों में एक-एक आवश्यक महिमाशाली है। ये आवश्यक आत्मा को समभावी, गुणियों के प्रति श्रद्धालु, अहंकाररहित, दोषरहित, आसक्ति रहित एवं गुणसम्पन्न बनाने में समर्थ हैं। आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा. के आज्ञानुवर्ती सन्त तत्त्वचिन्तक श्री प्रमोदमुनि जी म.सा. ने सन् २००२ के मुम्बई चातुर्मास में अक्टूबर माह में प्रतिक्रमण विषयक जो प्रवचन फरमाया था वह इस दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। मुनिश्री के प्रवचन में उनके स्वरचित भजन के अन्तरे भी गुम्फित हैं, जो अर्थगाम्भीर्य से युक्त हैं। *-सम्पादक*

प्रतिक्रमण यद्यपि आवश्यक सूत्र का चतुर्थ आवश्यक है, तथापि प्रधान व प्रमुख होने से व्यवहार में, बोलचाल में 'प्रतिक्रमण' शब्द का इतना प्रयोग होता है कि शायद ही कोई बोलता हो कि मैं आवश्यक करने जा रहा हूँ। शायद ही संत भगवन्त या उद्घोषक प्रवचन सभा में कहते हों कि आवश्यक में पधारना, आज पक्खी है, चौमासी है या संवत्सरी है- आज तो हमें आवश्यक करना ही है- सभी जगह प्रायः 'प्रतिक्रमण' शब्द ही प्रयोग में आता है। अतः हम अभी आवश्यक सूत्र के छः आवश्यकों को देखने का प्रयास करते हुए भी प्रतिक्रमण की ही प्रधानता रख रहे हैं।

'दूसरों पर आक्रमण करना अतिक्रमण है और स्वयं पर आक्रमण करना प्रतिक्रमण है।' नगरपालिका अतिक्रमण हटाओ अभियान चलाती है। आजकल माफिया के सहकार से होने वाले अतिक्रमण के किस्से आपसे अपरिचित नहीं हैं। किन्तु स्वयं का जीव अनादिकाल से अतिक्रमण कर रहा है- इससे कितने परिचित हैं? अतिक्रमण के पाँच प्रमुख कारण हैं- मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग। हम इन्हें १, २, ३, ४, ५ की संख्या देकर लिखें तो १२३४५ बनता है। सबसे ज्यादा ताकत एक की अर्थात् मिथ्यात्व की है- उसके हटते ही मात्र २३४५ रह जाते हैं और अव्रत के छूटने पर ३४५- आत्म साधना का प्रतिक्रमण व्रती के लिये ही है पर स्वाध्याय के रूप में अव्रती को भी लाभकारी है। अपना प्रसंग चल रहा है- सर्वाधिक अतिक्रमण मिथ्यात्व से होता है। जब शरीर को ही अपना माना जाता है, धन सम्पत्ति को ही अपना माना जाता है तो किसी भी प्रकार से शरीर के सुख के लिये, धन-सम्पदा जुटाने के लिए जीवों का स्वाहा करते, खुले आम कत्लेआम करते, अणुबम के द्वारा नागरिकों को धराशायी करते कोई हिचक नहीं होती। बाप को जेल में डालते, बेटे को कत्ल कराते, बहू को स्टोव में जलाते व्यक्ति को हिचक नहीं होती। इस अतिक्रमण को समाप्त करने के लिये प्रतिक्रमण है। दूसरे को जो भी दिया जाता है, प्राकृतिक कर्म-विज्ञान के अ

अपने प्रति हो जाता है; कई गुणा होकर भोगना पड़ता है। निज विवेक के प्रकाश में जब जीव इस रहस्य को हृदयंगम करता है तब वह काँप उठता है, सिहर जाता है, प्रतिक्रमण करता है- अपने पर आक्रमण करता है, अपने दोषों से पीड़ित होता है और दोष-समाप्ति के लिये व्याकुल हो जाता है। दोष से, पाप से, व्याकुल बने जीव की उसमें रति समाप्त हो जाती है, वह विरत होता है। उसको आत्मरस की अनुभूति होती है, अब उसमें भीतर के रसवर्द्धन की भावना जागती है और वह उल्लासपूर्वक मर्यादा की पाल बाँधकर अपनी दृढ़ता बढ़ाता है। व्रत मनोबल (Will Power) बढ़ाने का सुन्दर साधन है। व्रती जीव संवर-निर्जरा करता है, कदाचित् अनाभोग, प्रमाद, अपरिहार्यता से स्खलना हो जाती है तो उसकी शुद्धि के लिये आवश्यक करता है, प्रतिक्रमण करता है। प्रथम आवश्यक 'सामायिक' है-

१. पाया है मानव का तन, यतना में करना यतन, लक्ष्य को पहचान।
पालना प्रभु के वचन, यति धर्म लवलीन मन, लक्ष्य मोक्ष महान्।।
पाप का परिहार कर, मौनव्रत स्वीकार कर।
वासना पर वार कर, योग दुष्ट निवार कर।।
दृष्टि निज नासाग्र हो, शान्त चित्त एकाग्र हो....लक्ष्य को पहचान।।

सामायिक अर्थात् सावद्य योग का त्याग, पापकारी योगों को छोड़ना। परन्तु प्रतिक्रमण में प्रथम आवश्यक में कायोत्सर्ग करना होता है, शान्त होना होता है। विशिष्ट साधक नासाग्र दृष्टि रख सकते हैं- अन्यथा आँखें मूँदकर अपने दोष देखने होते हैं, कृत अतिचारों का आलोचन- 'आ-मर्यादया समन्तात् लोचनम्' चारों ओर से, मर्यादापूर्वक देखना हम कितना कर पाते हैं? विचार करना है। प्रायः केवल पाठ और अधिक से अधिक शुद्ध पाठ तक ही सीमित रह जाते हैं। चिन्तन करें- क्या कहता है अनुयोगद्वार सूत्र? भाव-आवश्यक कब? बदलना आत्म-साधना है, प्रतिक्रमण का पाठ उच्चारण मात्र नहीं। अतिक्रमण की खोज करना है तभी प्रतिक्रमण संभव हो सकेगा-

प्रथम आवश्यक में ध्यान के समय प्रत्येक पाठ में 'तस्स आलोउं' में अपने दोष या अतिचार देखने का ही उल्लेख है। श्रावक की भूमिका में सोचना है क्या आज 'रोषवश गाढ़ा बंधन बाँधा' इसकी अपने द्वारा खोज हुई? भीतर में स्खलना, दोष, अतिक्रमण में व्यथा पैदा हुई? वासना पर वार हुआ? दुष्ट योग का वर्तमान में निवारण हुआ ? एक-एक करके श्रमण के १२५ तथा श्रावक के ९९ अतिचारों का अन्वेषण हुआ ? शायद आप कहेंगे तब तो बहुत अधिक समय लग जायेगा। इसीलिये पूज्य गुरुदेव फरमाते थे- प्रतिक्रमण के पूर्व १०-१५ मिनिट आँख मूँदकर खोज कर लें- अपने दिन को, पक्ष को, यावत् वर्ष को देख लें, एक-एक स्खलना ध्यान में आने पर प्रथम आवश्यक में उसकी भलीभाँति निवृत्ति की प्रेरणा प्राप्त हो सकती है।

अतीतकाल काल के दोष वर्तमान की निर्दोषता होने पर ही नजर आ सकते हैं। इसीलिये सामायिक (वर्तमान की) में निर्दोषता के क्षण में दोषों का अन्वेषण करना है।

२. ममता से मुख मोड़ के, सकल आस्रव छोड़ के।

कर्म बंधन तोड़ के, समता नाता जोड़ के ।।
वर्णना है ज्येष्ठ की, कीर्तना प्रभु श्रेष्ठ की...लक्ष्य को पहचान

दोष दिखे, पर संसार है, कहाँ संभव है दोष निकालना। जब तक जीना, तब तक सीना। यह तो ऐसे ही चलेगा। विकल्प के अभाव में दोषमुक्ति-हित सार्थक पुरुषार्थ संभव नहीं है। इसीलिये उत्तराध्ययन के २९वें अध्ययन में कहा- चतुर्विंशतिस्तव से दर्शन-विशुद्धि होती है, आस्था जमती है, विश्वास जगता है। अरे! इन्होंने भी अतीतकाल में हम जैसा ही भवभ्रमण किया था, ये भी इन सभी गलतियों को कर चुके हैं, फिर कैसे छुटकारा पाया? हाँ, इन्होंने ममता से मुख मोड़ा, आस्रव से नाता तोड़ा, फिर समता रस में निमग्न बने, विहूयरयमला बने। भाव विभोर हो जाता है- भक्तिरस से आप्लावित बन जाता है। 'लोगस्स सूत्र' पद्यमय स्तुति है, अधिकतर गद्य में बोल जाते हैं। दोषमुक्त को देखकर आत्म- उल्लास-आत्म-उत्साह जगा, प्रतिक्रमण का दूसरा आवश्यक पूर्ण हुआ।

३. चुंगी तन की चुकावना, बीते दिन शुभ भावना।
विषय विष की निवारना, संयमी मन पावना ।।
दुःख भरा संसार है, क्षमाश्रमण आधार है...लक्ष्य को पहचान ।।

पर वह तो चौथे आरे की बात है, महाविदेह क्षेत्र की बात है। भरत क्षेत्र में वर्तमान में ऐसा पुरुषार्थ कहाँ संभव है, आरा कितना खराब है, दुःखम ही तो इसका नाम है। जब चारों ओर एक ही बात है-

तस्कर चोर जबाड़ जुँआरी, बन गया इज्जतदार,
लाठी जाँ की भैंस न्याय सूँ, फैल्यो भिष्टाचार।
आपां धापी लूट कबड्डी, मच रही भर्‍या बाजार में....
धर्म-कर्म गयो भाड़ में, राम रहीमा राड़ में।
ए जीवन में करकल रड़गी, पेटा रा बौपार में।।

मारवाड़ी (राजस्थानी) कविता के भाव तो आपके ध्यान में आ ही गये होंगे। दूरदर्शन, रेडियो, समाचार पत्र, बाजार और प्रायः अनेक स्थलों से आप परिचित हैं। तब आज के युग का आश्चर्य सामने आता है- 'अप्पकिलंताणं बहुसुभेण' वाह-वाह! जो संचय नहीं करता, जिसका बैंक बैलेन्स नहीं, केवल तन की चुंगी चुकाता है और सर्वहितकारी प्रवृत्ति सहित आत्म-साधना में लीन रहता है- 'जत्ता भे जवणिज्जं च भे' इन्द्रिय और मन जिसके नियंत्रण में हैं, संयम की यात्रा में जो लीन है। विषय-विप का निवारण करके पावन पवित्र मन से आज की विषम परिस्थिति में जो समत्व-साधना में लीन है, क्षमा में श्रम करता है- क्षमाश्रमण है- इस दुःख भरे संसार में सच्चा आधार है। वन्दना आवश्यक में श्रावक नत होता है प्रणत होता है- गुरु चरणों में अवनत होता है। विनय आया, मद गला, अहंकार छूटा, नीच गोत्र का क्षय और उच्च गोत्र का उपार्जन। वीर प्रभु अन्तिम देशना में कह रहे हैं। अहंकृति दोषों का मूल है- उससे छुटकारा होगा तभी तो दोषों से छुटकारा संभव है। इस तरह तीसरा आवश्यक अहंकार छोड़ने का सूचक है।

४. पर पदारथ रंजना, कीन्हीं व्रत की भंजना।
आत्मभाव उल्लंघना, करनी उसकी निंदना।।
स्खलना की हो निवारना, यम की निर्मल पालना....लक्ष्य को पहचान

दुःख क्यों आता है? दोषों के कारण। दोषों का मूल क्या? निज विवेक का अनादर। आत्मभाव छोड़ विभाव में जाना। आत्मरंजन छोड़ मनोरंजन में जाना। आत्मसुख छोड़ सातावेदनीय जनित सुख में लीन होना। साता का सारा सुख बाहर से ही तो मिलता है, मनोज्ञ शब्दादि में बाहर से शब्द, रूप आदि की प्राप्ति आवश्यक होती है- अतः पराधीन बनाती है। उससे विरत होना व्रत है- उस अतिक्रमण से पीछे लौटना प्रतिक्रमण है। यूं तो सारा प्रयास उसी के लिये किया, औदयिक भाव से क्षायोपशमिक भाव में आने के लिये किया, उदय के प्रभाव से प्रभावित नहीं होने के लिये किया, अशान्ति से शान्ति में आने के लिये किया, पर अबकी बार गहराई से देख, शान्त आत्मा की स्तुति कर, प्रशान्त बनने में पुरुषार्थ करने वालों की शरण लेकर, जीव अपने कृत्य-दुष्कृत्य के लिये आलोचना में ध्यान केन्द्रित कर दोषों की निन्दा कर रहा है। मोहनीय कर्म को तोड़ने का प्रयास कर रहा है। **तीन भागों में विभक्त है चौथा आवश्यक। स्खलना का मिथ्या दुष्कृत देना, भावी सुरक्षा के लिये व्रत के स्वरूप सहित अतिचारों को ध्यान में लेकर जागृति बढ़ाना और पंच परमेष्ठी की स्तुति सहित उनकी, व्रतियों की, जीवमात्र की अविनय के लिये क्षमायाचना करना।** यह आवश्यक सूत्र का मूल भाग है। किसी वीतराग पथिक के रसिक साधक ने भी कुछ नियम बताए, मानव जीवन के उत्थान के लिए-

१. प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।
२. की हुई भूल को न दोहराने का व्रत लेकर सरलतापूर्वक प्रार्थना करना।
३. न्याय अपने पर करना, क्षमा अन्य को करना।

आश्चर्य है यह साधक लघुवय में आँख चले जाने से, शान्त निर्विकार रूप से ध्यान-मौन की साधना में लीन रहा। बिना किसी ग्रन्थ को पढ़े, वही सत्य उद्घाटित किया- जो अनन्त ज्ञानियों ने फरमाया- और क्या कहूँ मैं आपको, शब्द समझ नहीं पा रहा। हम वीतराग भगवन्तों के सपूत कहलाने के हकदार हैं क्या? श्रेष्ठतम साधना पथ को प्राप्त करके भी हमें क्यों भटकना पड़ रहा है किसी ध्यान केन्द्र में? क्यों जाना पड़ रहा है Art of living में? क्यों पढ़ना पड़ रहा है You can win आदि को। पहला दोष हमारा है, साधु संस्था का है। आत्मोत्थान, मन की-समाधि, हृदय की पवित्रता, तन का स्वास्थ्य सभी कुछ तो समाया है जैन दर्शन में।

एक गाँव गये। अपनी-अपनी विधि से प्रतिक्रमण करने वाले दो पक्ष- हाल के दो छोरों में इतनी जोर-जोर से पाठ बोल रहे थे कि किसी का प्रतिक्रमण हो पाना....? पूरा का पूरा अतिक्रमण...और कर रहे प्रतिक्रमण। विधि को लेकर विवाद है, कायोत्सर्ग को लेकर विवाद है- संवाद करने का भरसक प्रयास हुआ- हमारे पूर्वाचार्य सफल नहीं-हो पाए। अपनी अपनी परम्परा से भले ही करो, किन्तु दूसरों को गलत नहीं

कहना। अनुयोगद्वार सूत्र के हार्द को समझकर भावपूर्वक दोष टटोलना, दोष निकालना है, मात्र विनम्र अनुरोध कर रहा हूँ। नाम को समाप्त कर निर्नाम बनना है ना?

५. भूख लगी निज नाम की, भूल नहीं है काम की।
वृण चिकित्सा चाम की, भावना बस राम की।।
काय का उत्सर्ग है, श्रेष्ठ यह व्युत्सर्ग है... लक्ष्य को पहचान

'सव्वदुक्खविमोक्खणं' सर्व दुःखों से छुटकारा दिलाने वाला व्युत्सर्ग। पर पदार्थ के आकर्षण से लगे घावों को, जड़ द्वारा आत्मा पर किये व्रणों को भरने वाला। निज नाम की भूल से भयंकर स्खलना होती है। खंधक की खाल छिलने का कारण, काचरा छीलना नहीं, अहंकृति ही तो था। त्रिपृष्ठ वासुदेव द्वारा शय्यापालक के कानों में शीशा डलवाने का कारण भी अहंकार रहा।

असंख्यात काल- लगभग १ कोटाकोटि सागर में ४२००० वर्ष कम तक भगवान् महावीर के जीव को नीच गोत्र में जाने का कारण? आप परिचित हैं- बस इसी अहंकृति से छुटकारा करते हुए अब तो नाम ही नहीं काया की ममता के त्याग की बारी है। कायोत्सर्ग के रूप बदलते गए। आगम के पश्चात् श्वास का उल्लेख आया और फिर श्वास-गणनापूर्ति के लिये लोगस्स की संख्या का निर्धारण हुआ। उसी क्रम में अजमेर सम्मेलन में पूर्वाचार्यों ने एकरूपता का प्रयास किया। हम करें- पर उस समय काया की ममता को त्याग कर प्रभु में लवलीन हो जायें, आत्मभाव में लवलीन हो जायें, पुरानी भूल अपने आप छूट जायेगी और भविष्य की उज्ज्वलता के लिये-

६. वीर का व्याख्यान है, करना आतम ध्यान है।
सद्गुणों की खान है, पाप प्रत्याख्यान है।
प्रतिक्रमण (आवश्यक) शुद्ध करना है, मुदित मुक्ति वरना है...लक्ष्य को पहचान

वर्तमान की सामायिक प्रथम आवश्यक हुआ, अतीत का प्रतिक्रमण चौथा आवश्यक हुआ, अब बारी आई भविष्य के प्रत्याख्यान की- गुणधारणा। पढ़ा मैंने "प्रायश्चित्त द्वारा चित्त की शुद्धि हो जाने पर व्रती का जीवन प्रारम्भ होता है।" हम देख लें- 'पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि' के पश्चात् ही महाव्रत आरोपण का पाठ बोला जाता है। दशवैकालिक का चौथा अध्याय कहता है- 'पढमे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि..। अर्थात् भूत के गर्हित जीवन से छुटकारे के पश्चात् ही इच्छित श्रेष्ठ जीवन में प्रवेश संभव है। प्रायः उत्तर गुण के रूप में प्रत्याख्यान धारण किये जाते हैं। आत्मोत्थान की प्रक्रिया का सूचक है प्रतिक्रमण।

गुरुकृपा से रात्रि में ही भजन बना और आज बैंगलोर का भंसाली परिवार गुरु भगवन्तों की सेवा में आगे प्रेरणा लेने के साथ बैंगलोर की विनति करने उपस्थित हुआ। अनेक साधक स्वाध्यायी हैं इस परिवार में- वे भी और शेष सब भी आत्म विकास करने वाली शुद्ध साधना में आगे बढ़ें, इसी भावना से कुछ चिन्तन करने का मौका मिला। आचार्य भगवन्त की कृपा से उनके सान्निध्य में आगे बढ़ें। इसी मंगल भावना के साथ....

प्रतिक्रमण आवश्यक : स्वरूप और चिन्तन

उपाध्याय श्री रमेशमुनि जी शास्त्री

प्रतिक्रमण के स्वरूप, उसके आठ पर्यायवाची शब्द, आस्रवद्वार आदि पंचविध प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त तप के भेदरूप में प्रतिक्रमण की महत्ता आदि विषयों पर प्रस्तुत आलेख में विशद विचार किया गया है। *-सम्पादक*

इस असार संसार रूपी महासागर से सर्वथारूपेण पार पाना, न केवल दुर्गम है, अपितु एक अति दुष्कर कार्य है। तथापि इसी दुर्गम, दुष्कर और दुष्प्राप्य को अध्यात्म-साधना के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जिस प्रकार सहस्रकिरण दिनकर और अग्नि भी अपने ताप से मलों की विशुद्धि करते हैं, उसी प्रकार साधना के प्रखर तेज से मानव की अन्तश्चेतना पर अनादि काल से जमा हुआ मल शनैः-शनैः पिघल कर बह जाता है। इसे आत्मा के साथ प्रगाढ़ रूप से चिपके हुए कर्मों के संबंध का आत्यन्तिक रूपेण विच्छेद हो जाना स्वीकार किया जाता है।

'आवश्यक' जैन-साधना का प्राण तत्त्व है। वह जीवन-विशुद्धि एवं दोष-परिष्कार का ज्वलन्त-जीवन्त महाभाष्य है और साधक को अपनी आत्मा को परखने एवं निरखने का एक परम विशिष्ट उपाय है। आवश्यक के संदर्भ में स्पष्टतः उल्लेख है कि श्रमण और श्रावक दिन-रात के भीतर जिस विधि को अवश्यकरणीय समझ कर किया करते हैं, उसका नाम 'आवश्यक'[1] है। जो अवश्य किया जाय वह आवश्यक[2] है। जो आत्मा को दुर्गुणों से हटा कर सद्गुणों की ओर प्रवृत्त करता है, वह आवश्यक है। कर्मों से आवृत्त आत्मा को जो गुणों से वासित या पूरित करता है, गुणों से संयुक्त कर देता है, उसका नाम 'आवश्यक' है। जो गुणों की आधार भूमि है, उसे 'आपाश्रय' कहते हैं। आवश्यक आध्यात्मिक-समभाव, विनम्रता, सरलता, निर्लोभता आदि विविध सद्गुणों का प्रधान आधार है, इसलिये वह 'आपाश्रय' भी है।

साधक का लक्ष्य बाह्य पदार्थ नहीं होता है। आत्मशोधन ही उसका मूलभूत लक्ष्य होता है। जिस साधना से आत्मा शाश्वत एवं अक्षय सुख का अनुभव करती है, कर्म-मल को विनष्ट कर अजर-अमर पद प्राप्त करती है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की अध्यात्म-ज्योति प्रज्वलित होती है, वह आवश्यक है। आवश्यक वास्तव में अध्यात्म-साधना रूपी सुरम्य प्रासाद की सुदृढ़ भूमिका है।

यह सत्य है कि 'आवश्यक' दुर्विचारों एवं कुसंस्कारों के परिमार्जन की एक अध्यात्म-प्रधान साधना है। यही वास्तविक अध्यात्मयोग है। आवश्यक के छह भेद हैं। उनके नाम इस प्रकार से प्रतिपादित हैं:- १.

सामायिक- समभाव की साधना। २. चतुर्विंशतिस्तव- तीर्थंकर देव की स्तुति। ३. वन्दन- सद्गुरुओं को नमस्कार। ४. प्रतिक्रमण- दोषों की आलोचना। ५. कायोत्सर्ग- शरीर के प्रति ममत्व का त्याग। ६. प्रत्याख्यान- आहार आदि का परित्याग।

आत्मा की जो वृत्ति अशुभ हो चुकी है, उस वृत्ति को शुभस्थिति और शुद्ध दशा में लाना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची शब्द[3] हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है-

१.प्रतिक्रमण- इसका शाब्दिक अर्थ है- पुनः लौटना। हम अपनी मर्यादाओं का अतिक्रमण करके अपनी स्वभाव दशा में से निकल कर विभाव दशा में चले गये थे तो पुनः स्वभाव रूप सीमाओं में प्रत्यागमन करना प्रतिक्रमण है। जो पापकर्म मन, वचन और काया से स्वयं किये जाते हैं, दूसरों से करवाये जाते हैं और दूसरों के द्वारा किये हुए पापों का अनुमोदन किया जाता है, उन सभी पापों की निवृत्ति हेतु कृत पापों की आलोचना करना, निन्दा एवं गर्हा करना प्रतिक्रमण कहलाता है।

२. प्रतिचरणा- पाप से निवृत्त न होना असंयम है। असंयम क्षेत्र से अलग-थलग रहकर अत्यन्त ही जागरूक होकर विशुद्धता के साथ संयम का पालन करना प्रतिचरणा है। संयम मुक्ति-प्राप्ति का अनन्य कारण है। दशविध श्रमण धर्म में 'संयम' भी एक धर्म[4] हैं। वह उत्कृष्ट मंगल स्वरूप[5] धर्म है। केवल बाह्य प्रवृत्तियों का परित्याग करना ही संयम नहीं है, अपितु आन्तरिक प्रवृत्तियों की पवित्रता का नाम 'संयम' है। संयम-साधना में दृढ़ता के साथ अग्रसर होना प्रतिचरणा है।

४. परिहरणा- साधक को साधना के प्रशस्त पथ पर बढ़ते हुए अनेक बाधाओं को सहन करना होता है। असंयम का आकर्षण उसे साधना से विचलित करना चाहता है। बाईस प्रकार के परीषह[6] आते हैं। [illegible] साधक परिहरणा न रखे तो वह पथ-भ्रष्ट हो सकता है। इसलिये वह प्रतिपल-प्रतिक्षण अशुभ [illegible] ध्यान और दुराचरणों का परित्याग करता है, यही परिहरणा है।

४. वारणा- इसका शाब्दिक अर्थ है- निषेध। साधक विषय-भोग के दलदल में न फँसे. [illegible] को प्रतिपल-प्रतिक्षण जागरूक रहना नितान्त आवश्यक है। साधक राग और द्वेष के [illegible] संयम-साधना में दृढ़ता के साथ बढ़ता हुआ ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसलिये [illegible] सर्वथा निवृत्त होने के लिये प्रतिक्रमण के अर्थ में 'वारणा' शब्द का प्रयोग हुआ है।

५. निवृत्ति- जैन साधना-पद्धति में 'निवृत्ति' का महत्त्व रहा है। साधक [illegible] रहता है, तथापि प्रमादवश अशुभ कार्यों में उसकी प्रवृत्ति हो जाय तो उसे अतिशीघ्र ही [illegible] चाहिये। अशुभ से निवृत्त होकर शुभ में प्रवृत्ति करना चाहिये। अशुभ से निवृत्त होने के [illegible] का पर्यायवाची [illegible] 'निवृत्ति' प्रयुक्त है।

६. निन्दा- साधक को प्रतिक्रमण के समय अन्तर्निरीक्षण [illegible]

प्रवृत्ति हुई है, शुद्ध मन से उसे उन पापों की निन्दा करनी चाहिये। यथार्थ और अयथार्थ दोषों के प्रकट कर की जो इच्छा होती है उसे निन्दा कहा जाता है। स्व-निन्दा जीवन को मांजने के लिये है। पापकर्मों की नि करने के लिये प्रतिक्रमण के अर्थ में- 'निन्दा' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

७. गर्हा- निन्दा अपने आप की जाती है। जबकि गर्हा गुरुजनों के समक्ष की जाती है। गुरुओं के सम निःशल्य होकर अपने पापों को प्रकट कर देना अत्यधिक कठिन कार्य है। जिस साधक का आत्मबल प्रब नहीं होता है वह कदापि गर्हा नहीं कर सकता। दूसरे के समक्ष जो आत्म-निन्दा की जाती है वह गर्हा[८] है। ग में पापों के प्रति तीव्र रूप से पश्चात्ताप होता है। गर्हा पाप रूपी विष को उतारने वाला वह गारुड़ी मंत्र है जिसके प्रयोग से साधक पाप के विष से मुक्त हो जाता है। इसलिये प्रतिक्रमण का पर्यायवाची शब्द 'गर्हा' है।

८. शुद्धि - शुद्धि का अर्थ है-निर्मलता। जैसे सोने पर लगे हुए मैल को अग्नि में तपाकर विशुद्ध किया जाता है, वैसे ही हृदय के मैल को प्रतिक्रमण कर के दूर किया जाता है। इसलिये उसे 'शुद्धि' कहते हैं।

प्रतिक्रमण के ये पर्यायवाची शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों को अभिव्यक्त करते हैं। यद्यपि इन सबका भाव एक है, उनमें कुछ भी अन्तर नहीं है, पर विस्तार की दृष्टि से समझने के लिये पर्यायवाची शब्द नितान्त उपयोगी हैं।

यह पूर्णतः स्पष्ट है कि शुभ योगों से अशुभ योगों में गये हुए अपने आप को पुनः शुभ योगों में लौटा लाना 'प्रतिक्रमण' है। संसार अभिवृद्धि का कारण राग-द्वेष प्रभृति औदयिक भाव हैं और मोक्ष-प्राप्ति का मूलभूत कारण क्षायिक भाव है। साधक क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में जाता है, जो निजभाव नहीं है। तदुपरान्त वह पुनः क्षायोपशमिक भाव में आता है। इस प्रतिकूल गमन को प्रतिक्रमण कहा जाता है। इसके पाँच भेद हैं- पंचविहे पडिक्कमणे पण्णत्ते, तंजहा- आसवदारपडिक्कमणे, मिच्छत्तपडिक्कमणे, कसायपडिक्कमणे, जोगपडिक्कमणे, भावपडिक्कमणे।[९]

१. आस्रवद्वार प्रतिक्रमण　　२. मिथ्यात्व प्रतिक्रमण
३. कषाय प्रतिक्रमण　　४. योग प्रतिक्रमण　　५. भाव प्रतिक्रमण

संक्षेप में इन पंचविध प्रतिक्रमण का स्वरूप वर्णन इस प्रकार से सप्रमाण निरूपित है:-

१. आस्रवद्वार प्रतिक्रमण- जीव परम-शुद्ध स्वरूपी है, परन्तु अज्ञान के कारण कर्मों का परिसंचय कर रहा है। अतः वह कर्मों का कर्ता है। कर्मों के आगमन का जो मार्ग है, वह आस्रव[१०] है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो काय, वचन और मन के क्रिया रूप योग आस्रव[११] है। जैसे घट के निर्माण में मिट्टी कारण है, वृक्ष के लिये बीज निमित्त है, वैसे आत्मा के साथ कर्मों का संयोग होने में कारण 'आस्रव' है। आस्रव के द्वारा ही शुभाशुभ कर्म आत्मा में प्रविष्ट होते हैं। जिस प्रकार तालाब में नाली के द्वारा जल आता है, वैसे ही आस्रव के द्वारा कर्मरूपी पानी आता है। आस्रव कारण है और कर्मबंध कार्य है। आस्रव के द्वार प्राणातिपात,

मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से निवृत्त होना, पुनः इनका सेवन न करना आस्रव द्वार प्रतिक्रमण है।

२. मिथ्यात्व प्रतिक्रमण- जो तत्त्व में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होने देता है और विपरीत श्रद्धा उत्पन्न करता है, वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व-मोह के उदय के कारण जीव को तत्त्व एवं अतत्त्व का भेद विज्ञान नहीं हो पाता है। वह संसार के विकारों में उलझा रहता[१२] है। जैसे मदिरापान के कारण बुद्धि मूर्च्छित हो जाती है। वैसे ही मिथ्यात्व के उदय से आत्मा का विवेक भी विलुप्त हो जाता है। वह अनात्मीय पदार्थों को आत्मीय समझता[१३] है। मिथ्यात्व मोहनीय सर्वघाती[१४] है। इस मिथ्यात्व के कारण ही पदार्थ के स्वरूप में भ्रान्ति बनी रहती है। वास्तव में मिथ्यात्व संसार-वृद्धि का मूलभूत कारण है।

यह स्पष्ट है कि मिथ्यात्व के भेद-प्रभेद के संबंध में भिन्न-भिन्न मत हैं। एक मत के अनुसार मिथ्यात्व के दो भेद[१५] हैं-१. अभिगृहीत, २. अनाभिगृहीत। द्वितीय मत के अनुसार मिथ्यात्व के तीन भेद[१६] हैं-१. संशयित, २. आभिग्राहिक, ३. अनाभिग्राहिक। तृतीय अभिमत के अनुसार मिथ्यात्व के पाँच भेद[१७] हैं- १. आभिग्राहिक २. अनाभिग्राहिक ३. सांशयिक ४. आभिनिवेशिक और ५. अनाभोगिक। मिथ्यात्व के जितने भी भेद हैं, वे अपेक्षा-दृष्टि से प्रतिपादित हुए हैं। उपयोग, अनुपयोग या सहसा कारणवश आत्मा के मिथ्यात्व परिणाम में प्राप्त होने पर उससे निवृत्त होना मिथ्यात्व प्रतिक्रमण है।

३. कषाय प्रतिक्रमण- 'कषाय' शब्द की निष्पत्ति 'कष' और 'आय' से हुई है। कष का अर्थ है- संसार और आय का अभिप्राय है- लाभ। जिससे संसार अर्थात् भव-भ्रमण की अभिवृद्धि होती है, वह कषाय है। कषाय वास्तव में संसार की अभिवृद्धि करता है।[१८] कषाय का वेग विशेष रूप से प्रबल होता है और वह पुनर्भव के मूल को परिसिंचित करता है।[१९] उसे शुष्क नहीं होने देता है। यदि कषाय का अभाव हो तो जन्म-मृत्यु की परम्परा का विष-वृक्ष स्वयं ही सूख कर नष्ट हो जाता है। कषाय चार प्रकार का है[२०], उनके नाम इस प्रकार हैं-१. क्रोध २. मान ३. माया ४. लोभ

संक्षेप में कषाय के दो भेद हैं[२१]- राग और द्वेष। इन दोनों में भी उन चारों का समन्वय हो जाता है। राग में माया और लोभ इन दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है तथा द्वेष में क्रोध एवं मान का समावेश होता है।[२२]

राग और द्वेष के कारण ही अष्टविध कर्म का बंध होता है। अतएव राग और द्वेष को भाव कर्म कहा गया है।[२३] इन दोनों का मूल 'मोह' है। उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि केवल संक्षेप-विस्तार के विवक्षा-भेद से जो प्रतिपादन हुआ है, वह समझाने के लिये है। सभी का सार एक ही है कि कषाय वास्तव में आत्मा को मलिन कर देता है, कर्म रंग से जीव को रंग देता है। कषाय-परिणाम से आत्मा को निवृत्त करना 'कषाय-प्रतिक्रमण' है।

४. योग प्रतिक्रमण- मन, वचन और काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्दन होता है, वह योग है। योग आस्रव है। इससे कर्मों का आगमन होता है। शुभयोग से पुण्य का आस्रव होता है और

अशुभ योग से पाप का आस्रव होता है। मन, वचन और काया के अशुभ व्यापार होने पर उनसे आत्मा को पृथक् करना 'योग प्रतिक्रमण' कहलाता है।

५. भाव प्रतिक्रमण- आस्रव द्वार, मिथ्यात्व, कषाय और योग इनमें तीन करण एवं तीन योग से प्रवृत्ति न करना 'भाव-प्रतिक्रमण' है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग के भेद से भी प्रतिक्रमण पाँच प्रकार का कहा जाता है, किन्तु वास्तव में ये पाँचों भेद एक ही हैं। अविरति और प्रमाद इन दोनों का समावेश 'आस्रवद्वार' में हो जाता है। ये पाँचों ही भयंकर दोष माने गये हैं। साधक प्रातः और संध्या के समय में अपने जीवन का अन्तर्निरीक्षण करता है। उस समय वह गहराई से चिन्तन करता रहता है कि वह कहीं सम्यग्दर्शन के पावन-पथ से विमुख होकर मिथ्यात्व की कंटीली-झाड़ियों में तो नहीं उलझा है। व्रत के वास्तविक स्वरूप को विस्मृत कर उसने अव्रत को तो ग्रहण नहीं किया है? अप्रमत्तता के नन्दनवन में विहरण के स्थान पर प्रमाद की झुलसती मरुभूमि में तो विचरण नहीं किया है? अकषाय के सुगन्धित सरसब्ज-उपवन को छोड़कर वह कषाय के धधकते हुए पथ पर तो नहीं चला है? मन, वचन और काय की प्रवृत्ति जो शुभयोग में लगनी चाहिये, वह अशुभ योग में तो नहीं लगी है? यदि मैं मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग में गया हूँ तो मुझे पुनः सम्यक्त्व, व्रत, अकषाय, अप्रमाद और शुभयोग में आना चाहिये। इसी दृष्टि से इन पाँचों का प्रतिक्रमण किया जाता हैं।[२४] ये पाँचों कर्मबंध के मुख्य हेतु है।[२५] इनका प्रतिक्रमण करने वाला साधक अपने जीवन को निर्मल बना देता है। पाप-कर्म के महारोग को विनष्ट करने के लिये प्रतिक्रमण वास्तव में सबसे बड़ी अमोघ औषधि है। इस औषधि के सेवन से हमारी आत्मा स्वस्थ बनती है।

साधक प्रतिक्रमण में प्रमुख रूप से चार विषयों पर गहराई से अनुचिन्तन करता है। इस दृष्टि से प्रतिक्रमण के चार भेद बनते हैं।[२६] उनका स्वरूप इस प्रकार है -

१. श्रमण और श्रावक के लिये क्रमशः महाव्रत और अणुव्रत का विधान है। उनमें दोष न लगे, इसके लिये निरन्तर जागरूकता नितान्त अपेक्षित है। यद्यपि श्रमण और श्रावक जागृत एवं सावधान रहता है, तथापि कभी असावधानी से यदि हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह आदि के कारण स्खलना हो गई हो तो श्रमण एवं श्रावक को उसकी विशुद्धि हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिये।

२. श्रमण और श्रावक के लिये एक आचार-संहिता निर्धारित है। श्रमण के लिये स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिक्रमण आदि अनेक विधान हैं। श्रावक के लिये भी दैनन्दिन-साधना के विधान हैं। यदि उन विधि-विधानों के अनुपालन में स्खलना हो जाए, समय पर स्वाध्याय, ध्यान आदि न किया जाय तो उस संबंध में प्रतिक्रमण करना चाहिये।

३. आत्मा अविनाशी है, अजर और अमर है। ज्ञान-दर्शन स्वरूप आत्मा शाश्वत है[२७] और वह अमूर्त है। उस अमूर्त आत्मा के विषय में, मन में यह सोचना है कि आत्मा है या नहीं है। यदि इस प्रकार मन में

अश्रद्धा उत्पन्न हुई हो तो उसकी शुद्धि के लिये साधक को प्रतिक्रमण करना चाहिये।

४. हिंसा, असत्य आदि दुष्कृत्य जिनका निषेध किया गया है, साधकों को उनका प्रतिपादन कदापि नहीं करना चाहिये। कभी असावधानी से यदि निरूपण किया हो तो उसका प्रतिक्रमण करना चाहिये।

यह स्पष्ट है कि उक्त चार भेद अपेक्षा दृष्टि से प्रतिपादित हुए हैं। उन सभी का अभिप्राय यही है कि जो भी पापपूर्ण प्रवृत्तियाँ हुई हैं, उनका शुद्ध-हृदय से प्रायश्चित्त करना चाहिये।

प्रतिक्रमण एक ऐसी अध्यात्म प्रधान साधना है। जिसके द्वारा साधक कृत पापों का प्रक्षालन करता है। प्रतिक्रमण केवल अतीत काल में लगे दोषों की शुद्धि ही नहीं करता है, अपितु वह वर्तमान और भविष्यकाल के दोषों की भी शुद्धि करता है। अतीत काल में लगे हुए दोषों की आलोचना तो प्रतिक्रमण में ही की जाती है। वर्तमान-काल में साधक संवर-साधना में लगे रहने से पाप-कर्मों से निवृत्त रहता है। साथ ही प्रतिक्रमण में वह प्रत्याख्यान ग्रहण करता है, जिससे भावी दोषों से बच जाता है। निष्कर्ष यह है कि भूतकाल के अशुभयोग से निवृत्ति, वर्तमानकाल में अशुभयोग से निवृत्त होकर शुभ योग में प्रवृत्ति और भविष्यकालीन अशुभयोग से हटकर शुभयोग में प्रवृत्ति करूँगा- यह संकल्प होता है। इस तरह वास्तव में प्रतिक्रमण एक विशिष्ट साधना है।

'प्रतिक्रमण' साधना का महत्त्व अनेक दृष्टियों से रहा है। श्रमण के विविध कल्प हैं। कल्प का अर्थ है जो कार्य ज्ञान, शील, तप आदि का उपग्रह करता है और दोषों का निग्रह करता है वह निश्चय दृष्टि से कल्प है और शेष अकल्प है।[२८] कल्प शब्द का अर्थ 'काल'[२९] भी हैं, किन्तु यहाँ पर इसका अर्थ 'मर्यादा' है, 'नीति' है और 'आचार' भी है। यह भी समझना होगा कि कल्प के संदर्भ में श्रमणों की 'समाचारी' भी विशेष रूप से प्रतिपादित है।

'कल्प' के संबंध में विविध दृष्टियों से विचारणा हुई है। इसके दश भेद भी प्रतिपादित हुए हैं।[३०] उनके नाम ये हैं-

१. आचेलक्य	२. औद्देशिक
३. शय्यातर	४. राजपिण्ड
५. कृतिकर्म	६. व्रत
७. ज्येष्ठ	८. प्रतिक्रमण
९. मासकल्प	१०.पर्युषणा कल्प

इन दशविध कल्पों में प्रतिक्रमण भी एक कल्प है और यह कल्प दोष परिहार का महत्त्वपूर्ण उपक्रम है। श्रमण अपने अपराध का निराकरण करने के लिये जो अनुष्ठान करता है, उसको 'प्रतिक्रमण' नाम का कल्प कहा गया है।

साधक गुरुदेव की साक्षी से अपनी आत्मा की मलिनता को दूर करता है। अपनी भूलों को ध्यान में

लाता है। मन, वाणी और कर्म को पश्चात्ताप की आग में डाल कर निखारता है। एक-एक दाग को सूक्ष्मतम निरीक्षण-शक्ति से देखता है और उन्हें धो डालता है। यह महान् साधना मन, वाणी और कर्म के सन्तुलन को कदापि अव्यवस्थित नहीं होने देता है और निर्मल जीवन का एक नवीन अध्याय भी खोल देता है। प्रतिक्रमण भी एक प्रकार का प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त आभ्यन्तर तप है[३१] और इस शब्द में दो शब्द मिले हुए हैं। ये हैं- 'प्रायस्' और चित्त। 'प्रायस्' का शाब्दिक अर्थ है- पाप अथवा अपराध और चित्त का अर्थ होता है उसका संशोधन करना। यानी पाप का, अपराध का संशोधन।[३२] इस अर्थ के आधार पर प्रायश्चित्त का यही अर्थ होगा- वह प्रक्रिया जिसके द्वारा पाप अर्थात् अपराध की शुद्धि होती है।[३३] दूसरे शब्दों में प्रायश्चित्त उसको कहा जायेगा, जिससे पाप का छेदन हो।[३४] मुनि पूर्ण विवेक के साथ अपना धर्माचरण करता है। फिर भी इसके व्रत या आचरण में यदि कोई दोष लग जाता है तो वह जिस कार्य के करने से अपने इन दोषों से निर्दोषता को प्राप्त कर लेता है, उस कार्य को 'प्रायश्चित्त तप' कर्म कहा गया है।[३५] प्रमादवश धर्म की साधना और आराधना में यदि किसी प्रकार का कोई दोष आ जाये तो उसका परिहार करना 'प्रायश्चित्त' नामक तप कहलाता है।

इस विवेचन से यह फलित होता है कि एक साधक मुनि को अपने मन, वाणी और शरीर की हलचलों से जाने-अनजाने में कुछ न कुछ बहिरंग एवं अन्तरंग दोष लगते ही रहते हैं। उन दोषों की निवृत्ति के लिये और अपने अन्तर्शोधन के लिये किया गया पश्चात्ताप अथवा दण्डस्वरूप स्वीकार किया गया उपवास आदि का ग्रहण 'प्रायश्चित्त' कहा जाएगा।

यह स्पष्ट है कि हमारी मलिन हुई आत्मा जिस अनुष्ठान से निर्मल हो, पवित्र हो, उसे प्रायश्चित्त कहते है। प्रायश्चित्त के दस भेद भी हैं।[३६] उनकेनाम ये हैं-

१. आलोचना योग्य	२. प्रतिक्रमण योग्य
३. तदुभय योग्य	४. विवेक योग्य
५. व्युत्सर्ग योग्य	६. तप योग्य
७. छेद योग्य	८. मूल योग्य
९. अनवस्थापना योग्य	१०.पारांचिक योग्य

प्रायश्चित्त के इन दस भेदों में 'प्रतिक्रमण' द्वितीय भेद है। प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त का अभिप्राय हम इस प्रकार कह सकते हैं कि अध्यात्म-जगत् में दोष अर्थात् अपराध को 'रोग' कहा जा सकता है और प्रायश्चित्त-विधान को उसकी 'चिकित्सा' माना जा सकता है। चिकित्सा का उद्देश्य रोगी को कष्ट देना नहीं होता है, अपितु उसके रोग का निवारण करना होता है। उसी तरह दोषयुक्त श्रमण को प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त करने का उद्देश्य कष्ट या क्लेश प्राप्त कराना नहीं होता है, अपितु दोष-मुक्त होना होता है।

इसी संदर्भ में यह स्पष्टतः ज्ञातव्य है कि 'मिच्छा मि दुक्कड़' कहना प्रतिक्रमण रूप प्रायश्चित्त है।[३७] यह प्रायश्चित्त अध्यात्म-साधना को पवित्र, निर्मल तथा विशुद्ध बनाता है। जिज्ञासु के मन में प्रश्न उठ सकता है कि 'मिच्छा मि दुक्कड़' क्या कोई मंत्र है, जो 'मिच्छा मि दुक्कड़' कहा और सब पाप विनष्ट हो गए। इस प्रश्न का समाधान यह है कि केवल कथन मात्र से ही पाप दूर हो जाते हों, यह बात नहीं है। शब्द में स्वयं कोई पवित्र अथवा अपवित्र करने की शक्ति नहीं है। वे जड़ हैं, पुद्गल का एक भेद हैं।[३८] पुद्गल जड़ हैं, चैतन्य नहीं। इसलिये वह किसी को पवित्र नहीं बनाएगा। परन्तु शब्द के पीछे रहा हुआ मन का भाव ही सबसे बड़ी शक्ति है। वाणी को मन का प्रतीक कहा जा सकता है। अतएव 'मिच्छा मि दुक्कड़' महावाक्य के पीछे जो आन्तरिक पश्चात्ताप का भव्य-भाव रहा हुआ होता है, उसी में शक्ति निहित है और वह बहुत बड़ी अचिन्त्य शक्ति है। पश्चात्ताप का परम दिव्य निर्झर आत्मा पर लगे हुए पाप-मल को बहाकर साफ कर देता है। यदि साधक सच्चे मन से पापाचार के प्रति घृणा व्यक्त करे, पश्चात्ताप करे, तो वह पाप-कालिमा को सहज ही धोकर साफ कर सकता है। अपराध के लिये दिया जाने वाला तपश्चरण या अन्य किसी तरह का दण्ड भी तो मूल में पश्चात्ताप ही है। यदि मन में पश्चात्ताप न हो और कठोर से कठोर प्रायश्चित्त ग्रहण कर भी लिया जाय तो क्या आत्मशुद्धि हो सकती है? कदापि नहीं। दण्ड का उद्देश्य देह-दण्ड नहीं है। अपितु मन का दण्ड है और मन का दण्ड क्या है? अपनी भूल स्वीकार कर लेना, पश्चात्ताप कर लेना। यही प्रमुख कारण है कि साधना के क्षेत्र में पाप के लिये प्रायश्चित्त का विधान है, दण्ड का नहीं। दण्ड प्रायः बाहर अटक कर रह जाता है, अन्तरंग में प्रवेश नहीं कर पाता है। पश्चात्ताप का झरना नहीं बहाता है। प्रायश्चित्त साधक की स्वयं अपनी तैयारी है। वह अन्तर्हृदय में अपने पाप का शोधन करने के लिये उत्साहित है। अतएव वह अपराधी को पश्चात्ताप के द्वारा विनीत बनाता है, सरल एवं निष्कपट बनाता है। 'मिच्छा मि दुक्कड़' भी एक प्रायश्चित्त है। इसके मूल में पश्चात्ताप की भावना है और हृदय की पवित्रता है।

ऊपर के लेखन में बार-बार सच्चे मन और पश्चात्ताप की भावना का उल्लेख किया गया है। उसका कारण यह है कि अज्ञानी व्यक्ति की साधना के लिये तैयारी तो होती नहीं है। प्रतिक्रमण का मूलभूत अभिप्राय समझा तो जाता नहीं है। वह प्रतिक्रमण तो अवश्य करता है। 'मिच्छा मि दुक्कड़' भी देता है, परन्तु फिर उसी पाप को करता रहता है। उससे निवृत्त नहीं होता है। पाप करना और 'मिच्छा मि दुक्कड़' देना, फिर पाप करना और 'मिच्छा मि दुक्कड़' देना, यह जीवन के अन्त तक चलता रहता है। परन्तु इससे आत्मशुद्धि के महामार्ग पर सामान्यतः प्रगति नहीं हो पाती है।

इस प्रकार की बाह्य साधना को 'द्रव्य-साधना' कहा जाता है। केवल वाणी से 'मिच्छा मि दुक्कड़' कहना और फिर उस पाप को करते रहना, उचित नहीं है। मन के मैल को साफ किए बिना और पुनः उस पाप को नहीं करने का दृढ़ निश्चय किए बिना खाली ऊपर से 'मिच्छा मि दुक्कड़' कहने का कुछ अर्थ नहीं है। एक ओर दूसरों का दिल दुःखाने का काम करते रहें, हिंसा करते रहें, झूठ बोलते रहें और [illegible]

मि दुक्कड़' देते रहें। इस प्रकार का यह 'मिच्छा मि दुक्कड़' आत्मा का शुद्ध नहीं अधिक अशुद्ध बना देता है। इस संबंध में स्पष्ट उल्लेख है कि पापकर्म करने के बाद जब प्रतिक्रमण अवश्य करणीय है, तब सरल मार्ग तो यह है कि पाप कर्म किया ही न जाय। आध्यात्मिक दृष्टि से वस्तुतः यही सच्चा प्रतिक्रमण है।[३९] जो साधक त्रिविध योग से प्रतिक्रमण करता है, जिस पाप के लिये 'मिच्छामि दुक्कड़' देता है। फिर भविष्य में उस पाप को नहीं करता है, वस्तुतः उसी का दुष्कृत्य निष्फल होता है।[४०] साधक एक बार मिच्छामि दुक्कड़ं देकर भी यदि फिर उस पापाचरण का सेवन करता है तो वह प्रत्यक्षतः झूठ बोलता है। दम्भ का जाल बुनता है।[४१] इस प्रकार के साधक के लिये बड़ी कठोर भाषा में भर्त्सना की गई है।[४२] जो व्यक्ति जैसा बोलता है, यदि भविष्य में वैसा नहीं करता है, तो उससे बढ़कर मिथ्यादृष्टि और कौन होगा? वह दूसरे भद्र-व्यक्तियों के मन में शंका पैदा करता है और इस रूप में मिथ्यात्व की वृद्धि करता है। उक्त कथन वास्तव में सर्वथारूपेण यथार्थ है।

इसी विवेचना के परिपार्श्व में यह ज्ञातव्य तथ्य है कि 'मिच्छा मि दुक्कड़ं' के एक-एक अक्षर पर कितना भावपूर्ण वर्णन है। यदि साधक मिच्छा मि दुक्कड़ं कहता हुआ उस पर गहराई से विचार कर ले तो फिर पापाचरण करने के लिये तत्पर न होगा। 'मिच्छा मि दुक्कड़ं' में 'मि' का अर्थ है- मृदुता या मार्दव। काय-नम्रता को मृदुता कहते हैं और भाव-नम्रता को मार्दव कहा जाता है। 'छ' का अर्थ असंयम योग रूप दोषों का छादन करना है, उन्हें रोक देना है। 'मि' का अर्थ मर्यादा भी है, अर्थात् मैं चारित्र रूप मर्यादा में अवस्थित हूँ। 'दु' का आशय है 'निन्दा'। मैं दुष्कृत करने वाले भूतपूर्व आत्म पर्याय की निन्दा करता हूँ। 'क' का भाव पापकर्म की स्वीकृति है। अर्थात् मैंने पाप किया है। पाप अशुभ कर्म है।[४३] 'ड' का अर्थ उपशम भाव है। आत्म में कारणवश कर्म की शक्ति का अनुद्भूत होना, सत्ता में रहते हुए भी उदय प्राप्त न होना इसका नाम 'उपशमभाव' है।[४४] उपशम भाव के द्वारा पापकर्म का प्रतिक्रमण करना है, पाप-क्षेत्र को लांघ जाना है। यह अतीव संक्षेप में 'मिच्छा मि दुक्कड़ं' का स्पष्ट रूपेण अक्षरार्थ है।

वास्तविकता यह है कि प्रतिक्रमण एक अन्तर्मुखी साधना है। यदि प्रमाद की स्थितिवश हमारी आत्मा संयम-क्षेत्र से असंयम क्षेत्र में चली गयी हो, तो उसे पुनः संयम क्षेत्र में लौटा लाना, यही प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण की साधना प्रमाद भाव को दूर करने के लिये है। साधक के जीवन में प्रमाद ही वह विष है, जो अन्दर ही अन्दर साधना को विनष्ट कर डालता है। अतएव श्रमण और श्रावक इन दोनों का परम कर्तव्य है कि प्रमाद से बचें और प्रतिक्रमण के द्वारा अपनी साधना को अप्रमत्त स्थिति प्रदान करें।

सारपूर्ण भाषा में यही कहा सकता है कि प्रतिक्रमण एक प्रकार का प्रायश्चित्त है। संयम-जीवन को विशेष रूपेण परिष्कृत करने के लिये, शुद्धतम करने के लिये, आत्मा को राग-द्वेष से रहित करने के लिये, पापकर्मों के निर्घात के लिये 'प्रतिक्रमण' किया जाता है और इस अध्यात्म-प्रधान साधना में निरत साधक

अपनी आत्मा में एक अप्रमत्त भाव की दिव्य ज्योति को प्रकाशमान कर देता है, जिससे उसका अज्ञान एवं अविवेक विनष्ट होता है। वास्तव में प्रतिक्रमण, अन्तर्मुखी-साधना है, जो भविष्य में आने वाले पापकर्मों को रोककर अन्दर में पूर्वबद्ध कर्मों से लड़ने की कला है। यह आध्यात्मिक युद्धकला ही वस्तुतः मुक्ति के साम्राज्य पर अधिकार करा सकती है।

संदर्भ

१. (क) अनुयोगद्वार सूत्र, सूत्र २८, गाथा २
   (ख) विशेषावश्यक भाष्य गाथा ८७६
   (ग) अनुयोगद्वार सूत्र वृत्ति २८, पृष्ठ ३१, मलधारकगच्छीय हेमचन्द्र
२. (क) अनुयोगद्वार चूर्णि, पृष्ठ १४
   (ख) अनुयोगद्वार वृत्ति, पृष्ठ ३
   (ग) आवश्यकसूत्र हरिभद्रीय वृत्ति, २१
   (घ) मूलाचार, ७-१४
३. (क) आवश्यक निर्युक्ति, १२३३
   (ख) हरिभद्रीयावश्यक सूत्र, अध्ययन ४, निर्युक्ति गाथा १२४२
४. (क) स्थानांग सूत्र, स्थान-१०-१६
   (ख) समवायांग सूत्र, समवाय १०
   (ग) नवतत्त्व, गाथा २३
५. दशवैकालिक सूत्र अध्ययन १, गाथा १
६. (क) उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २
   (ख) समवायांग सूत्र, समवाय २२
   (ग) तत्त्वार्थ सूत्र , ९.८
७. (क) सर्वार्थसिद्धि, ६.२५
   (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, ६.२५.१
   (ग) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ६.२५
८. (क) आवश्यकनिर्युक्ति-१०५०
   (ख) दशवैकालिकसूत्र वृत्ति-हरिभद्रसूरि, ४.२
   (ग) स्थानांगसूत्र वृत्ति-अभयदेवसूरि, ३, ३, १६८
   (घ) कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, ३२६
   (ङ) पंचाध्यायी-२.४७४
९. (क) स्थानांगसूत्र, ५.३.४६७
   (ख) हरिभद्रीयावश्यक सूत्र, प्रतिक्रमणाध्ययन, पृष्ठ ५६४
१०.समयसार, ९२

११. (क) सर्वार्थसिद्धि-६.२
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकाचार्य वृत्ति, २.५.१७, पृष्ठ १२८
(ग) अध्यात्मसार, १८.१३१
(घ) तत्त्वार्थ सूत्र , ६.१-२
(ङ) श्रावक प्रज्ञप्ति, ७९
(च) तत्त्वार्थ सार ४-२
(छ) चन्द्रप्रभ चरित्र-आचार्य वीरनन्दी, १८.८२
(ज) अमितगति श्रावकाचार, ३.३८
(झ) ज्ञानार्णव, १, पृष्ठ ४२
(ञ) धर्मशर्माभ्युदय-कवि हरिचन्द्र, २१.८४
(ट) मूलाचारवृत्ति-वसुनन्द्याचार्य, ५-६
(ठ) आराधना सार टीका- श्री रत्नकीर्तिदेव, ४
(ड) आवश्यक सूत्र हरिभद्रीया वृत्ति, पृष्ठ ८४
१२. (क) प्रथम कर्मग्रन्थ, गाथा १३
(ख) स्थानांग सूत्र २.४.१.५ टीका
(ग) गोम्मटसार, कर्मकाण्ड २१
१३. पंचाध्यायी- २.९८-६-७
१४. (क) गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, ३९
(ख) स्थानांग सूत्र २.४.१०५ टीका
१५.तत्त्वार्थ भाष्य ८.१
१६.(क) आवश्यकचूर्णि ६.१६५८
(ख) प्राकृत पंच संग्रह-१.७
१७.(क) गुणस्थान क्रमारोहण स्वोपज्ञ वृत्ति, गाथा ६
(ख) कर्मग्रन्थ, भाग-४, गाथा ५१
(ग) लोक प्रकाश सर्ग-३, गाथा ६८९
१८. (क) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, पृष्ठ ११६
(ख) विशेषावश्यक भाष्य १२२७
(ग) आवश्यक सूत्र हरिभद्रीय वृत्ति, १०९, पृष्ठ ७७
(घ) पंच संग्रह स्वोपज्ञ वृत्ति, ३-१२३, पृष्ठ ३५
(ङ) उत्तराध्ययन सूत्र निर्युक्ति-वृत्ति-शान्तिचन्द्रसूरि, १८०
(च) स्थानांग सूत्र, अभयदेव वृत्ति- ४, १
१९.(क) दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ८

(ख) तत्त्वार्थ वृत्ति-श्रुतसागर, ८-२

२०.(क) सूत्रकृतांग सूत्र ६.२६

(ख) स्थानांग सूत्र ४.१.२५१

(ग) प्रज्ञापना सूत्र २३.१.२९०

२१. उत्तराध्ययन सूत्र ३२.७

२२. (क) स्थानांग सूत्र २.३

(ख) प्रज्ञापना सूत्र २३

(ग) प्रवचनसार गाथा ९५

२३.(क) उत्तराध्ययन सूत्र ३२.७

(ख) स्थानांग सूत्र २.२

(ग) प्रवचन सार १.८४.८८

(घ) समयसार गाथा ९४, ९६, १०९, १७७

२४.आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १२५०

२५. (क) स्थानांग सूत्र ४१८

(ख) समवायांग सूत्र-समवाय ५

(ग) तत्त्वार्थ सूत्र ८.१

२६. आवश्यकनिर्युक्ति-आचार्य भद्रबाहु गाथा, १२६८

२७. (क) नियमसार, १०२

(ख) तत्त्वसार १७

(ग) ज्ञानसार वृत्ति, १३-३, पृष्ठ ४३

२८.प्रशमरति प्रकरण १४३

२९. तत्त्वार्थ सूत्र वृत्ति-श्रुतसागर सूरि, ३-२७

३०.(क) आवश्यक निर्युक्ति वृत्ति-आचार्य मलयगिरि, १२१

(ख) निशीथ भाष्य-आचार्य मलयगिरि, भाग-४, गाथा ५९३३

(ग) वृहत्कल्प भाष्य, गाथा ६३-६४

(घ) भगवती आराधना गाथा, ४२७

(ङ) कल्पसूत्र कल्पलता गाथा १, पृष्ठ २

३१. (क) उत्तराध्ययन सूत्र ३०.९

(ख) तत्त्वार्थसूत्र ९.२०

(ग) मूलाचार, गाथा ३६०

(घ) भगवती सूत्र २५.७

३२. धर्मसंग्रह, अधिकार ३

३३. राजवार्तिक ९.२२.१
३४. पंचाशक-सटीक विवरण १६.३
३५. मूलाचार, ३६१ व ३६३
३६. (क) औपपातिक सूत्र, सूत्र २०
(ख) भगवती सूत्र २५.७.१२५
(ग) स्थानांग सूत्र १०.७२
(घ) मूलाचार ३६२
(ङ) चारित्रसार १३७
(च) धवला-१३.५,४,२६
३७. राजवार्तिक ९.२२.३
३८. द्रव्यसंग्रह-आचार्य नेमिचन्द्र, गाथा १६
३९. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ६८३
४०. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ६८४
४१. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ६८५
४२. उपदेशमाला, ५०६
४३. (क) प्रशमरति प्रकरण-२१९
(ख) पंचास्तिकाय-अमृतचन्द्राचार्य वृत्ति, १०८
(ग) आप्तमीमांसा-आचार्य वसुनन्दी पदवृत्ति, ४०
(घ) समवायांग सूत्र, अभयदेवसूरि वृत्ति, १, पृष्ठ ६
४४. सर्वार्थसिद्धि, २.१

-तारक गुरु ग्रन्थालय, शास्त्री सर्किल, उदयपुर (राज.

प्रतिक्रमण का पहला चरण : आत्मनिरीक्षण

आचार्य श्री महाप्रज्ञ

व्रत जीवन को मर्यादित एवं संयमित बनाते हैं। व्रतविहीन व्यक्ति के मन में दोष शीघ्र प्रवेश कर जाते हैं। व्रतों के पालन में भी कहीं कोई छिद्र रह सकता है। अतः उसके निवारण हेतु प्रतिक्रमण आवश्यक है। प्रतिक्रमण का पहला चरण है- आत्मनिरीक्षण। आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने प्रस्तुत आलेख में आत्मनिरीक्षण का महत्त्व स्थापित किया है। *-सम्पादक*

आध्यात्मिक भूमिका पर व्यक्ति आत्मिक विकास के लिए नियमों में रहता है अर्थात् वह बिना व्रत-ग्रहण किए नहीं रहता, खुला नहीं रहता। क्योंकि खुले रहने में असुरक्षा है। आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नहीं संसार में भी खुली वस्तुएँ असुरक्षित हैं। जैसे- दूध का पात्र खुला पड़ा है तो भीतर मक्खी पड़ने की संभावना रहती है। इसीलिए उस पर ढक्कन दे देते हैं। घर की छत को कोई खुला नहीं रखता। प्रत्येक घर की छत बन्द होती है, इसलिए कि धूप से बचाव हो सके, सर्दी-गर्मी से बचाव हो सके, आँधी और वर्षा से बचाव हो सके। प्रत्येक घर में दरवाजे लगे हुए हैं, इसलिए कि हर कोई उसमें न घुस जाए। वांछित आए, किन्तु अवांछित न आए। प्रत्येक व्यक्ति ने हर दृष्टि से सुरक्षा की व्यवस्था कर रखी है। आध्यात्मिक व्यक्ति भी सुरक्षा की व्यवस्था रखता है।

भौतिकवाद : अध्यात्मवाद

आज की दुनिया दो वादों में बँटी हुई है-भौतिकवाद और अध्यात्मवाद। दार्शनिक भाषा को छोड़ दें, केवल अध्यात्मशास्त्रीय भाषा में बात करें तो कहा जा सकता है-जो व्यक्ति सर्वथा खुला है, मानना चाहिए कि वह पदार्थवादी आदमी है। जिस व्यक्ति ने अपनी खुलावट पर कोई ढक्कन रख छोड़ा है, छत बनाई है, किवाड़ लगाए हैं, उसका नाम है अध्यात्मवादी। अध्यात्मवादी बिल्कुल खुला नहीं रहता, कहीं न कहीं आवरण जरूर रखता है। इसलिए रखता है कि यह जगत् अनेक मलिनताओं का घर है। राग और द्वेष की मलिनता का निरंतर विकिरण हो रहा है।

संक्रामक है दुनिया

आजकल अणुधूलि का विकिरण बहुत हो रहा है। केवल उन राष्ट्रों में ही नहीं, जिन्होंने अणु विस्फोट किये हैं, किन्तु उनमें भी अणु-विकिरण हो रहा है, जहाँ अणु-परीक्षण नहीं हुए हैं। इसीलिए आज कहा जाता है कि दूध को बिना उबाले न पिया जाए। पहले यह कहा जाता था कि दूध को बिना उबाले पिया जाए। आज तो पानी भी बिना उबाले पीने लायक नहीं रह गया है। कहा जा रहा है कि सचित्त का त्याग हो या न हो, उबला हुआ पानी ही

पिया जाए। बडे शहरों में तो यह अनिवार्य-सा हो गया है। डाक्टर यह भी सुझाव देते हैं कि उबाले बिना फल भी न खाया जाए। सचित्त और अचित्त से भी मुख्य प्रश्न हो गया है स्वास्थ्य और बीमारी का। इसका कारण स्पष्ट है। कुछ न कुछ ऊपर से आ रहा है, ज़हर के रूप में बरस रहा है और नीचे से भी आ रहा है। उर्वरकों और रसायनों के रूप में धरती पर जो घोला जा रहा है, उसके परिणाम क्या लाभकारी होंगे? प्रत्येक आदमी के पेट में रोज अन्न-पानी के साथ निश्चित मात्रा में ज़हर प्रवेश कर रहा है। बचाव का कोई रास्ता नहीं है। ऐसा बचा ही क्या है, जिसके साथ में ज़हर न जाए? एक प्रकार से पूरी दुनिया ही संक्रामक हो गई है।

मानसिक स्तर पर

मानसिक स्तर पर देखें। मन पर कितना विकिरण हो रहा है? राग-द्वेष प्रायः हर व्यक्ति में हैं। अणु-विस्फोटों ने अणुधूलि का जितना विकिरण किया है और जितनी बीमारी की संभावनाएँ पैदा की हैं क्या मानसिक स्तर पर उससे कम विकिरण हो रहा है? पूरा वायुमंडल ही राग-द्वेष के परमाणुओं से भरा है। इस अवस्था में उस पर कोई ढक्कन न डालें तो वह कितना भारी और बोझिल बन जायेगा। मानसिक समस्याएँ इसीलिए बढ़ रही हैं। एक भाई ने अपनी समस्या प्रस्तुत की- ''मन इतना चंचल और बेचैन रहता है कि उस पर अब मेरा कोई नियंत्रण ही नहीं रह गया। अनेक दुष्कल्पनाएँ निरंतर आती रहती हैं, इसका कारण क्या है?'' मैंने कहा- ''कारण तो बहुत साफ है। जब तक मन पर कोई ढक्कन नहीं डालोगे, तब तक ऐसा चलता रहेगा।''

महत्त्व व्रत का

भारतीय चिंतन में व्रत का बहुत महत्त्व रहा है। इसका बहुत विकास भी हुआ है। इस शब्द का मूल अर्थ है आच्छादन या आवरण । संस्कृत की धातु है 'वृतु वरणे' अर्थात् आच्छादन कर देना। किसी चीज को ढाक देने का नाम है व्रत। छत बना ली, व्रत हो गया। मन पर एक छप्पर डाल दिया, व्रत हो गया। कुछ नहीं डाला, मन खुला रह गया तो हर चीज घुस जायेगी। खुले घर में चोर-उचक्के घुस सकते हैं और जंगली जानवर भी घुस सकते हैं।

एक पंडित यात्रा पर निकला। जंगल में उसे भूख लगी। एक जगह को साफ कर उसे लीपा और चूल्हा बनाया। फिर ईंधन इकट्ठा करने कुछ दूर निकल गया। वापस आया तो देखा, वहाँ एक गधा बैठा है। चौका खुला था, गधे को वहाँ बैठने से कौन रोक सकता था? पंडित हैरान रह गया। वह बोला- ''गर्दभराज ! कोई दूसरा इस तरह आकर बैठा होता तो उससे कहता- देखते नहीं, गधे हो क्या? जब आप स्वयं यहाँ आकर विराज गए हैं तो क्या कहूँ, आपको क्या उपमा दूँ।''

संस्कार व्रत का

घर खुला रहेगा तो उसमें गधा भी घुसेगा और कुत्ता भी। यह खुलावट एक बड़ी समस्या है। इसीलिए जीवन में व्रत का विधान किया गया है। पुराने संत लोगों को इस भाषा में समझाया करते थे- ''भाई! अधिक नहीं हो तो कम से कम एक व्रत ले लो कि कौए को नहीं मारूँगा, किसी चिड़िया को नहीं मारूँगा। कौए को मारने का कब कितना काम पड़ता है? लेकिन यह इसलिए कहा जाता था कि इससे एक संस्कार शुरू होता था। जीवन में कोई न

कोई छोटा सा व्रत या त्याग होना ही चाहिए, क्योंकि व्रत का बड़ा महत्त्व है। जिस व्यक्ति ने इसका मूल्यांकन किया है, उसने एक तरह से अपनी मानसिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया है। मन की गति बहुत तीव्र है। विज्ञान अभी तक ऐसा कोई यंत्र विकसित नहीं कर पाया है, जो इसकी रफ्तार को माप सके। जब इतनी तेज रफ्तार हो और उस पर कोई नियंत्रण न हो तो दुर्घटना अवश्यंभावी है। मन के अश्व की लगाम हाथ में होनी चाहिए। व्रत का मतलब है मन की लगाम को अपने हाथ में लेना, मन की डोर अपने हाथ में रखना।

आत्म-निरीक्षण

व्रत होने पर भी मन की चंचलता विद्यमान है। चंचलता एकदम समाप्त नहीं हुई है। छत में भी कभी-कभी कोई दरार या छेद रह जाता है। किवाड़ में भी सुराख रह जाता है, दरवाजे ढीले रह जाते हैं। इसके लिए क्या करना चाहिए? उपाय बताया गया - प्रतिक्रमण करो। प्रतिक्रमण का पहला कार्य है आत्मनिरीक्षण। अपने आपको देखना शुरू करें। बडा कठिन काम है अपने आपको देखना। हमारी इन्द्रियों की बनावट ही ऐसी है कि इनके द्वारा हम बाह्य जगत् से सम्पर्क स्थापित करते हैं। वहाँ दूसरा ही दूसरा नजर आता है, अपने नाम का कोई तत्त्व वहाँ नहीं है। आँख का काम है देखना। हम दूसरों को देखेंगे। कान का काम है सुनना। हम दूसरों की बात सुनेंगे। हमारी प्रकृति ही ऐसी बन गई है कि इन्द्रियाँ केवल बाहर ही केन्द्रित रहती हैं, स्व-दर्शन बिल्कुल विस्मृति में चला जाता है। आत्मनिरीक्षण का अर्थ है अपने आपको देखना। आँख खुली हो या बन्द, उससे अपने आपको देखें। अपने आचरण को देखें, अपने कर्तव्य को देखें, क्रियमाण को देखें और करिष्यमाण को भी देखें।

धार्मिक लक्षण

आत्मनिरीक्षण प्रतिक्रमण का पहला चरण है। जो आत्म-निरीक्षण करना नहीं जानता, वह शायद धार्मिक नहीं हो सकता और आध्यात्मिक तो हो ही नहीं सकता। धार्मिक होने का सबसे बड़ा सूत्र है अपने आपको देखना। किसी ने झगड़ा किया, गाली दी। उससे पूछा जाए कि ऐसा क्यों किया? वह यही कहेगा कि मैं क्या करूँ? उसने मुझे गाली दी तो मैंने भी दी। यह कभी नहीं कहेगा कि मैंने दी। सदा यही कहेगा कि पहले उसने दी इसलिए मैंने भी दी। व्यक्ति हर बात में दूसरे को सामने रखता है। किसी से पूछा जाए कि तुमने ऐसा क्यों किया? यही उत्तर मिलता है मुझे ऐसा करना पड़ रहा है। वह ऐसा कर रहा है तो मैं क्यों न करूँ? यह कभी स्वीकार नहीं करेगा कि मेरी भूल हुई है। मैंने जो किया या कर रहा हूँ, वह अच्छा नहीं है। दूसरे पक्ष का भी यही उत्तर होगा। दोनों ही अपने को निर्दोप वतायेंगे। दोष कहाँ है, इसका पता ही नहीं चल पाता। यह सब इसलिए हो रहा है कि आत्मनिरीक्षण नहीं है। आत्मनिरीक्षण की भावना जाग जाए तो व्यक्ति यही कहेगा कि हाँ, मेरी भूल हुई है।

आध्यात्मिक व्यक्ति वह होता है, जो प्रत्येक स्थान पर यह देखता है कि मेरी कमी कहाँ है? जहाँ दूसरा आता है, अध्यात्मवाद वहीं समाप्त हो जाता है। जो अपने आपको धार्मिक और आध्यात्मिक मानते हैं, क्या वे वैसा आचरण नहीं कर रहे हैं, जो एक भौतिकवादी करता है। यदि एक धार्मिक व्यक्ति ऐसा कहे कि दूसरे ने मेरे साथ ऐसा किया इसलिए हम भी वैसा कर रहे हैं तो मानना चाहिए कि वह धार्मिक बना ही नहीं है। निश्चय ही उसका मस्तिष्क

अभी भौतिकवादी बना हुआ है। इसलिए वह स्वयं की ओर से आँख मूँद कर दूसरों पर दोषारोपण करता है।

एक संन्यासी जा रहा था। रास्ते में देखा- एक स्त्री पेड़ के नीचे लेटी हुई है। पास में ही एक बोतल रखी है। एक पुरुष उस स्त्री के समीप बैठा उसके सिर पर हाथ फेर रहा है। संन्यासी की भृकुटि तन गई। वह कठोर वाणी बोला- "संध्या का समय है। धर्मध्यान करने के समय तुम ऐसा निकृष्ट आचरण क्यों कर रहे हो ?" अनेक दुर्व कहता हुआ वह संन्यासी आगे बढ गया। सामने कलकल नदी बह रही थी। उसी समय नदी में बहती हुई एक नौ तेज हवा में जोर से डगमगाई। कई आदमी लड़खड़ा कर नदी में गिर गए। पेड़ के नीचे बैठा आदमी यह दृश्य देख क्षण भर का विलंब किये बिना दौड़ता हुआ आया और पानी में कूद गया। स्वयं की परवाह न करते हुए उसने तैर एक-एक कर सब लोगों को पानी से निकाला और फिर चुपचाप पेड़ के नीचे उस स्त्री के पास चला गया। संन्या अपनी आँखों से यह सारा दृश्य देख अवाक् रह गया। वह पुनः पेड़ के पास गया और बोला- "भाई, तुमने तो ब उपकार का कार्य किया है, साधुवाद है तुम्हें। वह व्यक्ति बोला- "मुझे आपका साधुवाद नहीं चाहिये। अ संन्यासी जैसे दीखते जरूर हैं, किन्तु मैं आपको संन्यासी नहीं मानता। बिना कुछ ध्यान दिये आपने मुझ पर घृ आरोप लगा दिया और आप नहीं जानते हैं यह मेरी माँ है, जो बीमार है और यह शराब की नहीं दवा की बोतल है।

जहाँ व्यक्ति दूसरे को देखता है वहाँ आरोप की भाषा चलती है। प्रत्येक घटना में अपने आपको देख शुरू कर दें तो जीवन में एक अपूर्व परिवर्तन की अनुभूति होने लगेगी। प्रतिक्रमण का पहला चरण शुरू हो जाये जीवन की बहुत सारी समस्याएँ सुलझनी शुरू हो जायेंगी।

आत्म-निरीक्षण का प्रारूप

भगवान् महावीर ने आत्मनिरीक्षण की सुन्दर विधि प्रतिपादित की। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुशीलन करे-

किं मे कडं- आज मैंने क्या किया?

किं च मे किच्चसेसं - मेरे लिए क्या कार्य करना शेष है?

किं सक्किणिज्जं न समायरामि- वह कौन सा कार्य है जिसे मैं कर सकता हूँ, पर प्रमादवश नहीं कर रहा

किं मे परो पासइ किं व अप्पा- क्या मेरे प्रमाद को कोई दूसरा देखता है अथवा मैं अपनी भूल को स्वयं लेता हूँ।

किं वाहं खलियं न विवज्जयामि - वह कौनसी स्खलना है, जिसे मैं छोड़ नहीं रहा हूँ।

यह आत्मनिरीक्षण का एक प्रारूप है। जो व्यक्ति इसके अनुसार आत्मनिरीक्षण करता रहता है सचमुच प्रतिक्रमण की दहलीज पर पाँव रख देता है।

प्रतिक्रमण सूत्र : एक विवेचन

श्री सौभाग्यमल जैन

> प्रतिक्रमण के विभिन्न पक्षों का इस आलेख में सुन्दर विवेचन है। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका आदि के वाक्यों को भी उद्धृत करते हुए विवेच्य विषय का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है।
>
> *-सम्पादक*

इस क्षणिक देह पर हमारा कितना ममत्व, मूर्च्छा और आसक्ति है? यद्यपि यह शरीर हमें बार-बार मिला है, किन्तु एक बार भी हमारे साथ नहीं रहा है, फिर भी इस संयोगजन्य सम्बन्ध को तादात्म्य सम्बन्ध मानकर हमने इससे राग का सम्बन्ध जोड़ा है और मोह को दृढ़ता दी है। अनन्त काल से प्राप्त अनन्त शरीरों पर अनन्त आसक्तियों का लेप, निर्मल आत्मा पर चढ़ा है, जिससे शुद्ध चैतन्य आत्मा कर्म-लेपों से इतनी आच्छादित है कि वह स्व-स्वरूप से भी अनभिज्ञ है।

पाप कर्म-मल हटाने एवं आत्मा की निर्मलता हेतु प्रत्येक भव्यात्मा को ज्ञान-पिपासु बनकर स्वाध्याय-साधना का अवलम्बन लेकर ज्ञानार्जन एवं तदनुरूप आचरण का सतत प्रयास करना आवश्यक है। ज्ञान, आचरण में आने पर ही प्रायश्चित्त रूप प्रतिक्रमण का स्वरूप समझा जा सकता है, जो आवश्यक है। आवेश, आवेग और अज्ञानता के कारण जीव का स्वस्थान से पर-स्थान पर जाना हो सकता है, किन्तु प्रतिक्रमण द्वारा जीव अपने स्थान पर पुनः प्रतिष्ठित होता है। प्रतिक्रमण आत्म-साधना है। प्रतिक्रमण रूप आत्म-साधना से भीतर रहे हुए विकार दूर किये जा सकते हैं। सम्यक् ज्ञानी, सम्यग्दर्शी, देशविरति श्रावक एवं सर्वविरति साधु इन चारों को शास्त्रकारों ने एक ही रूप में कहा है। ये चारों आत्म-लक्ष्यी बन कर चलते हैं। इनकी श्रद्धा-प्ररूपणा एक होती है। ज्ञानी का ध्येय होता है कि वह व्रत-चारित्र में कदम बढ़ा कर विषय-वासनाओं से हटे और उत्तरोत्तर साधना में लीन रहे। ज्ञानीजन जहाँ तक बन पड़ता है भूल नहीं करते हैं कदाचित् छद्मस्थता के कारण भूल हो भी जाये तो उसी समय शुद्धीकरण कर लेते हैं, दोषों का परिमार्जन कर लेते हैं। वे शुद्ध भावों से पश्चात्ताप पूर्वक आगामी काल के लिए भूलों को न दोहराने का संकल्प कर लेते हैं। प्रतिक्रमण एक अनुष्ठान है, जिसे कालेकाल नियमपूर्वक साधक आत्माओं द्वारा संपादित किया जाता है।

आवश्यक सूत्र एवं प्रतिक्रमण सूत्र : परिचयात्मक स्वरूप

जीवन में अनेक आवश्यक कर्म हैं- किन्तु यहाँ आवश्यक से अभिप्रेत लौकिक क्रिया नहीं, अपितु लोकोत्तर क्रिया है। श्रमण या श्रावक के जीवन तथा आवश्यक सूत्र में निर्दिष्ट प्रकारों से यह परिलक्षित होता

है कि यह क्रिया आध्यात्मिक क्रिया है। आवश्यक सूत्र में वर्णित विषय-सामग्री नामकरण की सार्थकता को सिद्ध करती है। इसमें समाविष्ट छहों अध्ययन, साधक के लिए आवश्यक हैं और अवश्य करणीय हैं। आगमों में उल्लेख भी है- "दिवस तथा रात्रि के अंत में श्रमण और श्रावक द्वारा जो आवश्यक रूप से करने योग्य है उसका नाम आवश्यक है।" जैसाकि कथन उपलब्ध होता है- *"समणेणं सावएण य अवस्सं कायव्वयं हवइ जम्हा, अन्तो अहो निसस्स य तम्हा आवस्सयं नाम।"* इसी के साथ अनुयोग द्वार में *"अवश्यं करणात् आवश्यकम्"* का कथन कर इसी भाव को अभिव्यक्ति दी है। आचार्य मलयगिरि के अनुसार *"अवश्यं कर्त्तव्यमावश्यकम्। श्रमणादिभिरवश्यम् उभयं कालं क्रियते इति भावे।"* की अभिव्यंजना द्वारा आवश्यक का भाव स्पष्ट होता है। अतः आवश्यकसूत्र पूर्ण सार्थक एवं यथार्थता लिये हुए है। जीवित रहने के लिए जिस प्रकार श्वास लेना जरूरी है, उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में जीवन की पवित्रता के लिए क्रिया या साधना आवश्यक है, अनिवार्य है। आगम में इसी को 'आवश्यक' की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

अर्थ-विश्लेषण की दृष्टि से प्राकृत भाषा के 'आवस्सय' शब्द के संस्कृत भाषा में अनेक रूप बनते हैं, जिनमें कतिपय परिचय में आने वाले शब्द हैं-'आवश्यक', 'आपाश्रय' और 'आवासक'। इनमें से 'आवश्यक' शब्द ही सर्वाधिक प्रचलित एवं व्यवहृत है। अर्थ के परिचय हेतु पद विश्लेषित करने पर जो रूप स्पष्ट होता है, वह इस प्रकार है- 'आ' भली प्रकार, 'वश्यक' वश किया जाये अर्थात् ज्ञानादि गुण के लिए इन्द्रिय, क्रोधादि कषाय रूप भाव शत्रु जिसके द्वारा वश्य (वश में) किये जायें अथवा पराजित किये जायें, वह आवश्यक है। इस निर्वचन का तात्पर्य आत्मगुणों की अभिवृद्धि तथा आत्मावगुणों का ह्रास होना है।

यह आवश्यक क्रिया-भेद से आवश्यक सूत्र में ६ प्रकार का निर्देशित किया गया है, जो छः अध्ययनों में विभाजित है। १. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव ३. वन्दन ४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग और ६. प्रत्याख्यान। विशिष्ट ज्ञानी-ध्यानी आचार्य भगवंतों ने आवश्यक क्रिया का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कथन किया है कि आवश्यक क्रिया पूर्व से प्राप्त हुई भाव-विशुद्धि से आत्मा को पतित नहीं होने देती, प्राप्त आत्म-गुणों में स्खलना नहीं आने देती, जिससे आत्म-गुणों में अभिवृद्धि की सतत प्रक्रिया प्रवाहमान रहती है। आवश्यक क्रिया के आचरण से जीवन का उत्तरोत्तर विकास वृद्धिंगत होता है, फलस्वरूप साधक-आत्मा का जीवन सद्गुणों से ओत-प्रोत हो आनन्दमय बन जाता है।

आवश्यक सूत्र में साधना का क्रम

साधना के प्रशस्त मार्ग पर चरण बढ़ाने वाले साधक आत्माओं को अपने इष्ट साध्य की प्राप्ति हेतु तीर्थंकर भगवंतों की आज्ञा का अनुसरण करते हुए श्रुत केवली भगवंतों ने आत्मा की पूर्ण विशुद्धि के लिए आवश्यक सूत्र का छः अध्ययनों में निरूपण किया है। इसमें प्रतिक्रमण का क्रम चतुर्थ है। प्रकारान्तर से क्रम का यही रूप प्रतिक्रमण की साधना-क्रिया में ज्यों का त्यों रहा हुआ है। साधना का यह क्रम पूर्ण वैज्ञानिक है, जो कार्य-कारण भाव की शृंखला पर आधारित है। आत्म-साधना का यह क्रम कितनी सार्थकता लिये हुए

है- इस संदर्भ में प्रथम सामायिक आवश्यक से छठे प्रत्याख्यान आवश्यक तक का उल्लिखित स्वरूप-परिचय स्पष्ट रूप से संक्षिप्त जानकारी प्रदान कराने वाला है। विस्तार-भय से चौथे आवश्यक प्रतिक्रमण सूत्र को छोड़कर पाँचों आवश्यकों की विवेच्य सामग्री का अति संक्षेप में ही उल्लेख किया जा रहा है।

१. सामायिक सूत्र : प्रथम आवश्यक

छह आवश्यकों में सामायिक को प्रथम स्थान प्राप्त है। साधक को साधना की पूर्णता के लिए सर्वप्रथम समता की प्राप्ति आवश्यक है। अनुयोगद्वार सूत्र में इसका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा भी है- "जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं।" समता को जीवन में स्थान दिये बिना जीवन में सद्गुणों की उपलब्धि नहीं हो सकती। अवगुणों के रहते हुए एवं विषम-भावों की उपस्थिति में वीतराग देवों एवं महापुरुषों के गुणों का संकीर्तन नहीं हो सकता। उनके उदात्त गुणों को जीवन में उतारने के लिए समभावों की उपस्थिति प्रथम आवश्यकता है। सामायिक ही साधक की विशुद्ध साधना होती है। इसमें साधक की चित्तवृत्ति एकदम शांत होने से वह नवीन कर्मों का बंधन नहीं कर निर्जरा का अपूर्व लाभ प्राप्त करता है। सामायिक की महत्ता को आचार्य पूज्यपाद, आचार्य हरिभद्र, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, आचार्य मलयगिरि प्रभृति महापुरुषों ने अपने रचित दुर्लभ ग्रंथों में एवं आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य-वृत्ति एवं टीकाओं में यथास्थान, यथावश्यक विशद रूप से विवेचित किया है। आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में सामायिक को 'चौदह पूर्व का सार' कहा है। सामायिक में सावद्य योगों से निवृत्त रहने का निर्देश किया गया है। कहा भी है- 'समता सर्वभूतेषु, संयमः शुभभावना। आर्त्त-रौद्र परित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्॥' ऐसा होने पर ही साधक किसी आलम्बन का आश्रय ग्रहण करता है, ताकि समभाव में स्थिर होकर साधक, तीर्थंकर देवों की स्तुति कर सके। एतदर्थ षडावश्यक में सामायिक के पश्चात् चतुर्विंशतिस्तव का स्थान निश्चित किया है, जो आवश्यक सूत्र के द्वितीय अध्ययन एवं प्रतिक्रमण सूत्र के दूसरे आवश्यक के रूप में व्यवहार में प्रयुक्त होता है।

२. चतुर्विंशतिस्तव : दूसरा आवश्यक

तीर्थंकर भगवंत त्याग और वैराग्य की दृष्टि से एवं संयम-साधना की दृष्टि से महान् हैं। उनके गुणों का संकीर्तन करने से साधक के हृदय में आध्यात्मिक बल का संचार होता है। आलोचना के क्षेत्र में पहुँचने से पूर्व क्षेत्र विशुद्धि होना आवश्यक है। साधक की साधना के आदर्श तीर्थंकर देव होते हैं। जब उनके आदर्श की प्रतिमूर्ति साधक के चिन्तन में आती है तो उसका अहंकार भाव पलक झपकने के साथ ही विगलित होता दिखाई देता है। तीर्थंकरों के गुणों का संस्तवन करने से हृदय पवित्र होता है, वासनाएँ शांत होती हैं और संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। तीर्थंकर भगवंतों की स्तुति के समय उन महान् आत्माओं का उज्ज्वल आदर्श हमारे सामने रहता है। जैसे- भगवान् ऋषभदेव का स्मरण आते ही आदिमयुगीन चित्र हमारे मानस-पटल पर उभरने लगता है। भगवान् शांतिनाथ का जीवन शांति का विशिष्ट प्रतीक है। भगवान् मल्लिनाथ का जीवन

नारी-जीवन के अभ्युत्थान का उत्कृष्ट आदर्श है, भगवान् अरिष्टनेमि करुणा के साक्षात् अवतार के रूप में हमारे आदर्श हैं। भगवान् पार्श्वनाथ का स्मरण हमें तत्कालीन तप-परम्परा का जिसमें ज्ञान-ज्योति का अभाव था, का वीतराग रूप प्रकट करता है एवं भगवान् महावीर का जीवन आर्यों-अनार्यों, देव-दानवों, पशु-पक्षियों द्वारा दिये गये भयंकर उपसर्गों से तनिक भी विचलित नहीं होने देता। समभाव में रहने, जाति-पाँति का खण्डन कर गुणों की महत्ता स्वीकार करते हुए नारी जाति को प्रतिष्ठा प्रदान करने के उनके आदर्श हमारे हृदय-पटल पर उभर कर प्रभावी प्रेरणा प्रदान करते हैं। तीर्थंकर भगवंतों की स्तुति मानव-मन में अपने पौरुष को जागृत करने की प्रेरणा देती है। वे हमारे साधना-मार्ग के प्रकाश-स्तम्भ हैं। भगवान् महावीर से उत्तराध्ययनसूत्र में पृच्छा की गई- "चउवीसत्थए णं भंते! जीवे किं जणयइ?" अर्थात् हे भगवन्! चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करने से जीव को क्या फल मिलता है? भगवान् का प्रत्युत्तर था- "चउवीसत्थए णं दंसणविसोहिं जणयइ।" अर्थात् चुतुर्विंशतिस्तव करने से दर्शन की विशुद्धि होती है। साथ ही उससे श्रद्धा परिमार्जित होती है और सम्यक्त्व विशुद्ध होता है, उपसर्ग-परीषहों को समभावपूर्वक सहन करने की शक्ति का विकास होता है तथा तीर्थंकर बनने की पावन-प्रेरणा अंतस् में जागृत होती है।

३. वंदन सूत्र : तीसरा आवश्यक

साधना के क्षेत्र में तीर्थंकर भगवंतों के पश्चात् दूसरा स्थान गुरु का है। तीर्थंकर भगवंत देव होते हैं। देव के बाद गुरु का स्थान आता है। देव और गुरु हमारे लिए वंदनीय एवं पूजनीय हैं। गुरु हमारे अज्ञानांधकार को हटाकर ज्ञान-प्रकाश के प्रदाता हैं, मोक्ष मार्ग के पथ-प्रदर्शक हैं। अतः गुरु को वन्दन किया जाता है, उनका स्तवन और अभिवादन किया जाता है। गुरु सद्गुणी होते हैं, अतः उन्हीं के चरणों में साधक वन्दन करता है। वंदन के द्वारा साधक गुरु के प्रति भक्ति एवं बहुमान प्रकट करता है। वन्दनकर्ता में विनय का गुण होना अपेक्षित है। अविनीत का वंदन सार्थक नहीं होता। वह वन्दन, वन्दन नहीं-औपचारिकता अथवा प्रदर्शनमात्र होता है। जैन दृष्टि से साधक चारित्रवान होना चाहिए। वह द्रव्य-चारित्र और भाव-चारित्र से युक्त हो, यह आवश्यक है। दोनों में से एक का अभाव उसकी अपूर्णता का द्योतक है। साधक को ऐसे गुरु की आवश्यकता है जिसके द्रव्य और भाव दोनों ही चारित्र निर्मल हों। व्यवहार और निश्चय दोनों ही दृष्टियों से जिसके जीवन में पूर्णता हो वही सद्गुरु है और वही वन्दनीय है। ऐसे सद्गुरु से ही साधक प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। वन्दन करने से विनय-गुण की प्राप्ति होती है एवं अहंकार रूपी अवगुण नष्ट होता है। वंदन की उपादेयता के संबंध में प्रभु महावीर के अंतेवासी शिष्य पृच्छा करते हैं- "वंदणएणं भंते! जीवे किं जणयइ?" अर्थात् हे भगवन्! गुरु महाराज को वंदना करने से जीव को क्या लाभ मिलता है? प्रत्युत्तर में जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान् ने फरमाया- "वंदणएणं णीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं कम्मं णिबंधइ, सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं णिव्वत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ।" अर्थात् वंदना करने से नीच गोत्र-कर्म का क्षय करता है और उच्च गोत्र कर्म को बाँधता है और अप्रतिहत सौभाग्य तथा सफल आज्ञा के फल को प्राप्त करता है

साथ ही दाक्षिण्य भाव को प्राप्त करता है अर्थात् वह लोगों का प्रीति-पात्र और मान्य बन जाता है। वन्दन करने से वन्दनीय के प्रति श्रद्धा भाव प्रकट होता है और भक्ति का स्रोत प्रवाहित होता है। अतः साधक को यथासयम जागरूक रहकर वन्दना करना चाहिए। वन्दन करते समय मन में किसी प्रकार की स्वार्थ भावना, आकांक्षा, भय अथवा अनादर की भावना नहीं होनी चाहिए। वंदनीय को ससम्मान मन, वचन और काया के तीन योगों से वन्दन करने की प्रभु ने साधक को आज्ञा फरमाई है।

४. प्रतिक्रमण सूत्र : चौथा आवश्यक

उद्देश्य- प्रतिक्रमण की साधना का मूल उद्देश्य ज्ञान-दर्शन-चारित्र पर लगे अतिचारों का शुद्धीकरण करना है। रत्नत्रय का आराधक अपनी मर्यादाओं का अतिक्रमण कर जाता है, अपनी स्वभाव दशा से निकल कर विभाव दशा में चला जाता है, अतः पुनः स्वभाव रूप सीमा में प्रत्यागमन हेतु भगवान् ने प्रतिक्रमण की व्यवस्था दी है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है- ''शुभयोगेभ्योऽशुभ-योगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात्प्रतीपं क्रमणम्।'' अर्थात् शुभ योगों में से अशुभयोगों में गये हुए अपने आपको पुनः शुभ में लौटाने के लिए प्रतिक्रमण एक सशक्त माध्यम है।

नामकरण- षट् आवश्यकों में चतुर्थ आवश्यक सबसे बड़ा होने के कारण तथा इसका नाम 'प्रतिक्रमण' होने के कारण छहों आवश्यकों की संयुक्त प्रक्रिया को ही प्रतिक्रमण की संज्ञा दी गई है। फलस्वरूप इसे प्रतिक्रमण के नाम से अभिहित किया जाने लगा है। आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यक चूर्णि, आवश्यक हरिभद्रीयावृत्ति, आवश्यक मलयगिरि वृत्ति प्रभृति ग्रंथों में प्रतिक्रमण के ८ पर्यायवाची नामों का उल्लेख है, जो प्रतिक्रमण के विभिन्न अर्थो को व्यक्त करते हैं। वे नाम हैं- १. प्रतिक्रमण २. प्रतिचरणा ३. प्रतिहरणा ४. वारणा ५. निवृत्ति ६. निन्दा ७. गर्हा और ८. शुद्धि। इन आठों का भाव एक ही है। उपर्युक्त शब्द प्रतिक्रमण के सम्पूर्ण अर्थ को समझने में पूर्ण सहायक हैं।

स्वरूप- सैद्धान्तिक, व्यावहारिक एवं अन्य सभी दृष्टियों से हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों से निवृत्ति ही जीवन-धर्म है। यही संयम है और यही नियम है। उसमें मन, वचन और काया द्वारा स्वयं दोष लगाना, दूसरों से लगवाना तथा दूसरों द्वारा दोष लगाते हुए का अनुमोदन करना उसका (नियम का) अतिक्रमण है। वह अतिक्रमण नियम का दोष है। अतः प्रमाद आदि से हुए पाप की शुद्धि के लिए आलोचना, निंदा, पश्चात्ताप आदि क्रिया प्रतिक्रमण है। इसका स्वरूप व्यापक है- जिसका विवेचन आलेख के विभिन्न संदर्भों में प्रत्यक्ष/परोक्ष रूप में संपूर्ण लेख पर्यंत विस्तार से उपलब्ध है।

शाब्दिक अर्थ- उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९ के विवेचन में पूज्य आचार्य भगवन्त श्री हस्तीमल जी म.सा. ने प्रतिक्रमण का अर्थ विवेचित करते हुए फरमाया है- ''ज्ञान, दर्शन, चारित्र में प्रमादवश जो दोष (अतिचार) लगे हों उनके कारण जीव स्वस्थान से पर-स्थान में (संयम से असंयम में) गया हो, उससे प्रतिक्रमण करना (वापस लौटना) उन दोषों (या स्वकृत अशुभ योगों) से निवृत्त होना प्रतिक्रमण है।''

गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ३६७ में उल्लेख है- "प्रतिक्रम्यते-प्रमादकृतदेवसिकादिदोषो निराक्रियतेऽनेनेति प्रतिक्रमणम्।" अर्थात् प्रमाद के कारण देवसिक आदि दोषों को जिसमें निराकृत किया जाता है, वह प्रतिक्रमण है। भगवती आराधना (वि.६/३२/१९) में भी उल्लेख है- "स्वकृतादशुभयोगात् प्रतिनिवृत्तिः प्रतिक्रमणम्।"

सामान्य रूप में प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ 'पापों से निवृत्त होना' अथवा पापों से पीछे हटना के रूप में सर्वग्राह्य है। आत्मा की वृत्ति जो अशुभ हो चुकी है, उस वृत्ति को शुभ स्थिति में लाना अथवा अतीत के जीवन का प्रामाणिकता पूर्वक सूक्ष्म निरीक्षण कर भविष्य में उसकी पुनरावृत्ति न हो ऐसा संकल्प करना, प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण का शब्द विन्यास की दृष्टि से आचार्यो द्वारा अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, प्रति- प्रतिकूल, क्रम- पद निक्षेप; अर्थात् इसका फलित अर्थ हुआ- "जिन पदों से मर्यादा बाहर गया है, उन्हीं पदों से वापस लौट आना प्रतिक्रमण है।" जैसा कि कहा भी गया है- "स्वस्थानाद् यत्परस्थानं प्रमादस्यवशाद्गतः तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते।"

प्रतिक्रमण क्यों व किसलिए?

मन की छोटी बड़ी सभी विकृतियाँ जो किसी न किसी रूप में पाप की श्रेणी में आती हैं, उनके प्रतिकार के लिए जैन परम्परा में प्रतिक्रमण एक महौषधि स्वीकार की गई है। तन की विकृति जिस प्रकार रोग है, वैसे ही क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकृतियाँ मन एवं आत्मा के रोग हैं। रोग की चिकित्सा भी आवश्यक है- अन्यथा उसके दीर्घगामी दुष्परिणाम भोगने पड़ सकते हैं। अतः प्रतिक्रमण रूपी चिकित्सा के द्वारा मानसिक विकृतियों को तत्काल परिमार्जित कर लेना परमावश्यक कहा है।

प्रतिक्रमण प्रत्येक व्यक्ति के लिए अवश्य करणीय बताया है। जैसे जल स्नान से शरीर का मैल धुलकर शरीर निर्मल-स्वच्छ बन जाता है उसी प्रकार प्रतिक्रमण करने से आत्मा के साथ लगी हुई पाप-क्रियाओं का कर्म-मल धुल जाता है और आत्मा शुद्ध बन जाती है। विशेष बात यह है कि शरीर-मल तो क्षणिक शरीर-शोभा को विकृत करता है, किन्तु पाप-क्रिया रूप मैल आत्मा को अनंत संसार में भटकाता व दुःखी बनाता है। अतः प्रतिक्रमण इस मैल को धोने का अचूक साधन है, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है।

प्रतिक्रमण पाप के प्रक्षालन की क्रिया होने से यह प्रतिदिन किया जाना आवश्यक है, जिससे प्रतिदिन जीवन में लगे दोषों की शुद्धि उसी दिन हो जाय। प्रतिक्रमण की नियमित साधना करने से व्रत-पालन में तेजस्विता आती है। पापशल्य व्रत-पालन में अवरोध है। अतः पापशल्य को निकालने हेतु प्रतिक्रमण की साधना अत्यन्त आवश्यक है। साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग ये पाँचों भयंकर दोष हैं। साधक प्रातः सायं अपने जीवन का अंतर्निरीक्षण करता है और चिन्तन करता है कि वह सम्यक्त्व के प्रशस्त मार्ग को छोड़कर मिथ्यात्व के ऊबड़-खाबड़ अप्रशस्त-मार्ग में तो नहीं भटका है, व्रत को

विस्मृत कर अव्रत को ग्रहण करने में तो नहीं लगा है, अप्रमत्तता के स्थान पर प्रमाद का सेवन तो नहीं कर रहा है, अकषाय की शाश्वत आनंददायी स्थिति त्याग कर कषाय-सेवन के भयावह मार्ग को अपनाने में तो नहीं लगा है, योगों की प्रवृत्ति शुभ के स्थान पर अशुभ में तो नहीं चली गई है- और ऐसा हो गया है तो अशुभ को त्याग कर शुभ की ओर प्रवृत्ति करनी चाहिए। इसी भावना को मूर्तरूप प्रदान करने हेतु प्रतिक्रमण की साधना की जाती है।

चरम तीर्थंकर शासनेश प्रभु महावीर की अन्तिम देशना उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९ की पृच्छा संख्या ११ में भगवान् के अन्तेवासी शिष्य ने पृच्छा की- ''पडिक्कमणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?'' अर्थात् हे भगवन्! प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या लाभ होता है? प्रत्युत्तर में भगवान् ने फरमाया- ''पडिक्कमणेणं वयच्छिद्दाइं पिहेइ, पिहियवयच्छिद्दे पुण जीवे णिरुद्धासवे असबल-चरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ।'' अर्थात् प्रतिक्रमण करने से साधक व्रतों में बने हुए छिद्रों को बन्द करता है, फिर व्रतों के दोषों से निवृत्त बना हुआ शुद्ध व्रतधारी जीव आस्रवों को रोककर तथा शबलादि दोषों से रहित शुद्ध संयम वाला होकर, आठ प्रवचन माताओं में सावधान होता है और संयम में तल्लीन रहता हुआ समाधिपूर्वक एवं अपनी इन्द्रियों को असन्मार्ग से हटाकर संयम-मार्ग में विचरण करता है।'' प्रतिक्रमण करके साधक पापों से हलका बन कर उच्च गति को प्राप्त करता है। यहाँ तक कि उत्कृष्ट भावों से किया गया प्रतिक्रमण तीर्थंकर पद प्रदान कर मुक्ति में पहुँचा देता है।

प्रतिक्रमण एवं उसकी उपादेयता

प्रतिक्रमण जीवन को सुधारने का एक श्रेष्ठ उपाय है। आत्म-दोषों की आलोचना करने से पश्चात्ताप की भावना जागृत होने लगती है और उस पश्चात्ताप की अग्नि से सभी दोष जल कर नष्ट हो जाते हैं। पापाचरण शल्य के सदृश है- यदि उसे नहीं निकाला गया और मन में ही छिपाकर रखा गया तो उसका विष अंदर ही अंदर बढ़ता चला जायेगा और वह विष साधक के जीवन को बरबाद कर देगा। प्रतिक्रमण में पहले काय-योग की चंचलता रुकती है, इन्द्रियों पर निग्रह बढ़ता है। ध्यान-चिंतन से चित्त एकाग्र बनता है। अभ्यास द्वारा कुशल-साधक कायिक-वाचिक क्रिया को सही रूप में करके मन को स्थिर कर लेते हैं। फिर से पाप न हो, इस दृष्टि से पाप के कारण हटाने या छोड़ने का प्रयत्न करते हैं। एक से मन की एकाग्रता बढ़ेगी तो दूसरे से पाप से विरति होगी। अतिचार भी नहीं लगते, तथा अतिचार के कारणभूत, साधन, प्रमाद, कषायादि भी घटते हैं। जैसे प्रातः उठकर घर की सफाई करना, उसे साफ-सुथरा रखना सद्गृहस्थ के लिए आवश्यक है उसी तरह अतिचार, अनाचार, ज्ञात-अज्ञात दोषों को साफ करना ज्ञानीजनों का आवश्यक कार्य है। दोषों की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक है। अतः भगवान् ने उसे अवश्य करने की आज्ञा दी है। सांसारिक प्रवृत्ति करते समय दोष लगना अथवा भूलें होना स्वाभाविक है। इनके भी मुख्य कारणों का उल्लेख शास्त्रों में निरूपित किया गया है, वे हैं- १. अज्ञान जन्य-अज्ञात भूलें २. आवेश पूर्ण भूलें ३. योजनाबद्ध भूलें और ४

नहीं चाहते हुए भी होने वाली भूलें। इनमें से चौथे प्रकार की भूलें पूर्वधरों, छद्मस्थ संतों, श्रावकों अथवा किसी भी जीव से हो सकती हैं और होती हैं। भूल करने की भावना नहीं है, फिर भी भूल हो जाती है। उसका 'मिच्छा मि दुक्कडं' या सामान्य 'पश्चात्ताप' के रूप में दोष का परिमार्जन किया जा सकता है। अनजाने में या अज्ञानवश अथवा भोलेपन की भूलें क्षम्य हैं- जैसे बच्चे द्वारा पिताजी की मूँछे खींच लेना, पागल व्यक्ति द्वारा माता को बहिन और पत्नी को माता कह देना, ये अज्ञानजन्य भूलें हैं। कभी नहीं चाहते हुए भी जीव को कष्ट पहुँच सकता है, जीव का अंग-भंग हो सकता है अथवा अंत भी हो सकता है। अनजाने में इस तरह की होने वाली भूलें क्षम्य हैं, जिनका सामान्य पश्चात्ताप से शुद्धीकरण हो सकता है। किन्तु ऐसी भूलों के शुद्धीकरण के लिए भी देवसिक, राइय प्रतिक्रमण आवश्यक है तो फिर आवेग पूर्ण और योजनाबद्ध भूलों के परिमार्जन के लिए तो प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। जानने के लिए स्वाध्याय की साधना आवश्यक है और आत्मशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण।

प्रतिक्रमण कौन, किसका करे?

आचार्य भद्रबाहु ने साधक को उत्प्रेरित किया है कि वह प्रतिक्रमण में प्रमुख रूप से चार विषयों पर गहराई से अनुचिन्तन करे- १. श्रमण और श्रावक के लिए क्रमशः महाव्रतों और अणुव्रतों का विधान है। उसमें दोष न लगे, इसके लिए सतत सावधानी आवश्यक है। यद्यपि श्रमण और श्रावक सतत सावधान रहता है, फिर भी कभी-कभी असावधानीवश अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह में स्खलना हो गई हो तो श्रमण और श्रावक को उसकी शुद्धि हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिए। २. श्रमण और श्रावकों के लिए एक आचार-संहिता आगमसाहित्य में निरूपित की गई है। श्रमण के लिए स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिलेखन आदि अनेक विधान हैं तो श्रावक के लिए भी दैनन्दिन साधना का विधान है। यदि उन विधानों की पालना में स्खलना हो जाये तो उस संबंध में प्रतिक्रमण करना चाहिए। कर्त्तव्यों के प्रति जरा सी असावधानी भी साधक के लिए उचित नहीं है। ३. आत्मा आदि अमूर्त पदार्थों को प्रत्यक्ष-प्रमाण के द्वारा सिद्ध करना संभव नहीं है। वे तो आगम आदि प्रमाणों के द्वारा सिद्ध किये जा सकते हैं। उन अमूर्त तत्त्वों के संबंध में मन में यह सोचना कि वे हैं या नहीं, यदि इस प्रकार मन में अश्रद्धा उत्पन्न हुई हो तो उसकी शुद्धि के लिए साधक को प्रतिक्रमण करना चाहिए। ४. हिंसा आदि दुष्कृत्य जिनका महान् आत्माओं ने निषेध किया है, साधक उन दुष्कृत्यों का प्रतिपादन न करे। यदि असावधानी वश कभी प्रतिपादन कर दिया हो तो उसकी प्रतिक्रमण द्वारा शुद्धि करे और भविष्य में पुनरावर्तन न हो इसका संकल्प करे। जिनका प्रतिक्रमण करना आवश्यक है, उनका संक्षेप में वर्गीकरण निम्न प्रकार से परिचय हेतु प्रस्तुत है-

१. २५ मिथ्यात्व, १४ ज्ञानातिचार, १८ पापस्थानों का प्रतिक्रमण सभी साधकों के लिए आवश्यक है।

२. ५ महाव्रत, ३ योगों का असंयम, गमन, भाषण, याचना, ग्रहण-निक्षेप, मल-मूत्र विसर्जन श्रमण साधकों के लिए है।

३. ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रतों में लगने वाले अतिचारों का प्रतिक्रमण व्रती श्रावकों के लिए है।

सामान्यतया यह भ्रामक धारणा बनी हुई है कि प्रतिक्रमण अतीत काल में लगे हुए दोषों की परिशुद्धि के लिए है। पर आचार्य भद्रबाहु ने बताया कि प्रतिक्रमण केवल अतीतकाल में लगे दोषों की ही परिशुद्धि नहीं करता, अपितु वह वर्तमान और भविष्य के दोषों की भी शुद्धि करता है। अतीतकाल में लगे हुए दोषों की शुद्धि तो आलोचना प्रतिक्रमण में की जाती है, वर्तमान में भी साधक संवर साधना में लगे रहने से पापों से निवृत्त हो जाता है। साथ ही प्रतिक्रमण में साधक प्रत्याख्यान ग्रहण करता है, जिससे भावी दोषों से भी बच जाता है। अतः साधक के लिए प्रतिदिन उभयकाल का प्रतिक्रमण करना आत्मविशुद्धि की दृष्टि से परमावश्यक है।

प्रतिक्रमण के भेद-प्रभेद

(१) दो भेद- अनुयोगद्वार में आचरण की दृष्टि से प्रतिक्रमण के दो भेदों का उल्लेख है - १. द्रव्य प्रतिक्रमण २. भाव प्रतिक्रमण। द्रव्य प्रतिक्रमण उतना लाभकारी नहीं है जितना भाव प्रतिक्रमण है। पाठों का यंत्रवत् उच्चारण करना, उपयोगपूर्वक और चिन्तनपूर्वक न करना, कीर्ति आदि की कामना से करना, पुनः पुनः स्खलनाओं का पुनरावर्तन करते रहना द्रव्य-प्रतिक्रमण है। उपयोगशून्य होकर पापों की आलोचना करना, पापों के प्रति ग्लानि का अभाव होना केवल शारीरिक व्यापार है, जो विशेष लाभ का कारण नहीं है। क्योंकि वास्तविक दृष्टि से जैसी शुद्धि होनी चाहिए वह द्रव्य प्रतिक्रमण से नहीं हो पाती है।

इसके विपरीत एकांत कर्म-निर्जरा की भावना से संकल्पपूर्वक उपयोग एवं एकाग्रता के साथ किया जाने वाला प्रतिक्रमण भाव प्रतिक्रमण होता है, जो यथेष्ट साध्य की प्राप्ति में सहायक होता है। उपयोगपूर्वक, एकाग्रचित्त (मन), एकाग्र परिणाम से लोक-परलोक की वासना से रहित; कीर्ति, यश, सम्मान, कर्म-फल आदि की अभिलाषा से रहित तथा निश्चल शरीर से उभयकाल में आवश्यक पाठों का चिन्तन, उनके अर्थो का मनन तथा पूर्वकृत दोषों और आत्म-अवगुणों का अवलोकन करते हुए आलोचना द्वारा शुद्धीकरण की क्रिया भाव-प्रतिक्रमण है। भाव प्रतिक्रमण में साधक के अंतर्मन में पापों के प्रति तीव्र ग्लानि होती है। वह त्रिकरण, त्रियोग से मिथ्यात्व आदि दुर्भावों में गमन करने का त्यागी होता है।

(२) पाँच भेद- प्रतिक्रमण के मूलतः ५ भेद बताये गये हैं- १. मिथ्यात्व २. अव्रत ३. प्रमाद ४. कषाय और ५. अशुभ योग। यद्यपि साधक स्वयं ही साधना का दायित्व पूर्ण जागरूकता और निष्ठा के साथ निर्वहन करता हुआ चलता है तथापि उससे प्रमाद, कषायादि नियमों का अतिक्रमण संभव है, क्योंकि वह अपूर्ण है। अतः भूल हो जाना स्वाभाविक है। किन्तु उस भूल का स्वीकरण और परिहार भी आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं होगा तो दोषों का निष्क्रमण नहीं होगा और वे वृद्धिंगत होते रहेंगे। इसलिए प्रातःकाल और सायंकाल गृहीत नियमों (व्रतों) तथा आत्म-प्रवृत्ति में लगे दोषों का चिन्तन, आलोचन तथा निंदा करके उन्हें दूर करते हुए शुद्धीकरण करना साधक का कर्त्तव्य है।

(३) कालापेक्षया तीन भेद- प्रतिक्रमण के कालापेक्षया ३ भेद हैं- १. अतीत २. वर्तमान ३. भविष्य। इसके अनुसार भूतकाल में लगे हुए दोषों की आलोचना, वर्तमान में लगने वाले दोषों से संवर द्वारा बचना एवं प्रत्याख्यान द्वारा भावी दोषों को रोकना भविष्यकालिक प्रतिक्रमण है।

(४) विशेष काल की अपेक्षा से पाँच भेद- विशेष काल की अपेक्षा से प्रतिक्रमण के ५ भेद शास्त्रों में बताये गये हैं- १. देवसिक २. रात्रिक ३. पाक्षिक ४. चातुर्मासिक और ५. सांवत्सरिक। दिन के अंत में सायंकाल के समय प्रतिदिन, दिनभर की पापालोचना करना देवसिक प्रतिक्रमण है। नित्य ही प्रातःकाल के समय में, रात्रि में जो दोष लगे हों, उन पापों की निवृत्ति हेतु रात्रि के अंत में आलोचना करना रात्रिक प्रतिक्रमण है। प्रत्येक पक्ष अर्थात् मास में २ बार अमावस्या और पूर्णिमा को अथवा चतुर्दशी को सम्पूर्ण पक्ष में आचरित पापों की आलोचना पाक्षिक प्रतिक्रमण है। चार-चार मास के पश्चात् कार्तिकी, फाल्गुनी, आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन चार महीनों में लगे हुए दोषों की आलोचना कर प्रतिक्रमण करना चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है। आषाढ़ी पूर्णिमा से उनपचास या पचासवें दिन, वर्षभर की वार्षिक आलोचना, भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी या पंचमी को सायंकालीन की जाती है, वह सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

कल्पसूत्र में प्रतिक्रमण की साधना को श्रमण-वर्ग के लिए उनके कल्प में समाविष्ट कर उभयकालीन प्रतिक्रमण की साधना पर विशेष बल दिया है।

(५) छः भेद- ठाणांग सूत्र ६/५/३७ में प्रतिक्रमण के ६ प्रकार भी प्रतिपादित किये गये हैं। इन प्रतिक्रमणों का मुख्य संबंध श्रमण की जीवन-चर्या से है। उनके नाम हैं- १. उच्चार-प्रतिक्रमण २. प्रस्रवण प्रतिक्रमण ३. इत्वर प्रतिक्रमण ४. यावत्कथिक प्रतिक्रमण ५. यत्किंचित् मिथ्या प्रतिक्रमण और ६. स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण।

कृत भूल की शुद्धि तथा भविष्य में भूल न करने की प्रतिज्ञा प्रतिक्रमण का रूप है। भूल के लिए मन में पश्चात्ताप, वाणी से स्वीकृति, आलोचना और 'मिच्छामि दुक्कडं' कहा जाता है, किन्तु केवल 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना मात्र पर्याप्त नहीं, उन भूलों का पुनः पुनरावर्तन नहीं हो, यह अपेक्षित है- अन्यथा भूलों का शुद्धीकरण नहीं होगा।

५. कायोत्सर्ग : पाँचवाँ आवश्यक

जैन साधना-पद्धति में कायोत्सर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा हुआ है। अनुयोग द्वार में इसे 'व्रण चिकित्सा' के नाम से दर्शाया है। साधक के पूर्ण जागरूक रहने पर भी प्रमाद आदि के कारण से साधना में दोष लगना अथवा भूलें हो जाना स्वाभाविक है। अतिचार रूपी घावों को ठीक करने के लिए कायोत्सर्ग एक प्रकार का मरहम है। संयमरूपी वस्त्र पर अतिचारों का मैल अथवा दाग लग जाता है- जिसे प्रतिक्रमण के द्वारा स्वच्छ किया जाता है। प्रतिकक्रमण से जो दाग नहीं धुलते अथवा नहीं मिटते उन्हें कायोत्सर्ग के द्वारा हटाया जाता है। कायोत्सर्ग में गहराई से चिन्तन कर उस दोष को नष्ट करने का उपाय किया जाता है। अर्थात् संयमी जीवन को अधिकाधिक परिष्कृत करने के लिए, आत्मा को शल्य मुक्त करने के लिए, पाप-कर्मों को

नष्ट करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है। कायोत्सर्ग शरीर से ममता घटाने का अमोघ साधन है। कायोत्सर्ग शब्द के विन्यास में यही तो भाव निहित है। कायोत्सर्ग 'काय+उत्सर्ग' दो शब्दों के मेल से बना है। जिसका अर्थ है शरीर से ममत्व का त्याग करना। कायोत्सर्ग में चिन्तन का विषय ग्रंथि भेद एवं भेद विज्ञान होना चाहिए तभी उसका व्यावहारिक रूप, शरीर से ममता कम होने का प्रत्यक्ष दृग्गोचर हो सकता है।

कायोत्सर्ग का मूल उद्देश्य समाधि प्राप्त करना है, जो संसार से ममता/ आसक्ति घटने या हटने पर ही संभव है। कायोत्सर्ग की मुद्रा में साधक की शारीरिक स्थिति पूर्ण निश्चल और निष्पंद होती है। साधक आत्माओं ने कायोत्सर्ग की विभिन्न मुद्राओं का निरूपण किया है, जिनमें ३ का उल्लेख ग्रंथों में उपलब्ध होता है। खड़े होकर, बैठकर और लेटकर तीन अवस्थाओं में कायोत्सर्ग किया जा सकता है, किन्तु हमारे यहाँ खड़े होकर कायोत्सर्ग करने की एक विशेष परम्परा रही है, क्योंकि तीर्थंकर भगवंतों ने प्रायः इसी मुद्रा में कायोत्सर्ग किया है। विभिन्न परम्पराओं में आसन, मुद्रा, चिन्तनीय पाठ आदि विषयों को लेकर विविधता रही हुई है। कायोत्सर्ग प्रकरण का क्षेत्र काफी व्यापक है और विवेचन की दृष्टि से विशदता लिए हुए है।

आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के अनेक सुफल बताये हैं, जिनमें कतिपय का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है- १. **देह जाड्य बुद्धि-** श्लेष्म आदि से देह आने वाली जड़ता समाप्त होना। २. **मति जाड्य बुद्धि-** बौद्धिक जड़ता समाप्त होना ३. **सुख-दुःख तितिक्षा-** सुख-दुःख सहन करने की क्षमता प्राप्त होना। ४. **अनुप्रेक्षा-** भावना का स्थिरता पूर्वक अभ्यास ५. **ध्यान-** शुभ ध्यान का सहज अभ्यास होना।

कायोत्सर्ग में शारीरिक चंचलता के विसर्जन के साथ ही शारीरिक ममत्व का भी विसर्जन होता है, जिससे शरीर और मन में तनाव उत्पन्न नहीं होता। मन-मस्तिष्क और शरीर का गहरा संबंध होने से स्वास्थ्य-दृष्टि से भी कायोत्सर्ग का अत्यधिक महत्त्व है। कायोत्सर्ग की योग्यता प्रतिक्रमण के पश्चात् आती है। प्रतिक्रमण में पापों की आलोचना हो जाने से चित्त पूर्ण रूप से निर्मल बन जाता है। प्रवचनसारोद्धार प्रभृति ग्रंथों में कायोत्सर्ग के १९ दोष वर्णित हैं- जिनसे कायोत्सर्ग के साधक को बचने का निर्देश किया है। कायोत्सर्ग ध्यान-साधना का ही एक प्रकार बताया है। उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी अध्ययन में कहा है- ''काउसग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं'' अर्थात् कायोत्सर्ग सब दुःखों का क्षय करने वाला है। षडावश्यक में जो कायोत्सर्ग है, उसमें चतुर्विंशतिस्तव का ध्यान किया जाता है।

प्रत्याख्यान : छठा आवश्यक

प्रत्याख्यान का अर्थ है- त्याग करना। भविष्य में लगने वाले पापों से निवृत्त होने के लिए गुरु साक्षी या आत्मसाक्षी से हेय वस्तु के त्याग करने को प्रत्याख्यान कहते हैं। प्रत्याख्यान शब्द की रचना प्रति+आ+आख्यान, इन तीनों के संयोग से हुई है। जिसका भावार्थ है- ''भविष्यकाल के प्रति आ मर्यादा के साथ अशुभ योग से निवृत्ति और शुभ योग में प्रवृत्ति का आख्यान करना प्रत्याख्यान है।'' इस विराट विश्व में पदार्थों का इतना आधिक्य है कि जिसकी गणना करना संभव नहीं। मानव की इच्छाएँ असीम हैं। वह सभी

वस्तुओं को पाना चाहता है। वे इच्छाएँ सतत वृद्धिंगत होती रहने से मानव के अंतस् में सदा अशांति बनी रहती है। इस अशांति को मिटाने का एकमात्र उपाय ज्ञानीजनों ने प्रत्याख्यान बताया है। साधक प्रत्याख्यान ग्रहण कर, अशांति का जो मूल कारण आसक्ति और तृष्णा है उसे नष्ट करता है। आसक्ति के बने रहने तक शांति उपलब्ध होना कदापि संभव नहीं है। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मशुद्धि की जाती है- उसे यथावत् बनाये रखने के लिए प्रत्याख्यान अत्यन्त आवश्यक है।

अनुयोगद्वारसूत्र में प्रत्याख्यान का एक नाम 'गुणधारण' दिया हुआ है, जिसका आशय है व्रतरूपी गुणों को धारण करना। प्रत्याख्यान द्वारा मन, वचन और काया के योगों को रोककर शुभ योगों में प्रवृत्ति कराई जाती है- जिससे इच्छाओं पर अंकुश लगता है। इससे तृष्णाएँ शान्त हो जाती हैं, परिणामस्वरूप अनेक सद्गुणों की उपलब्धि होती है। आचार्य भद्रबाहु ने इस संदर्भ में कहा है- ''पच्चक्खाणंमि कए आसवदाराइं हुंति पिहियाइं, आसववुच्छेएणं तण्हा वुच्छेयणं होइ।'' अर्थात् प्रत्याख्यान से संयम होता है, संयम से आस्रव का निरोध होता है, आस्रव निरोध से तृष्णा का अंत हो जाता है। तृष्णा के अंत से अनुपम उपशम भाव उत्पन्न होता है और उससे प्रत्याख्यान विशुद्ध बनता है। उपशम भाव की विशुद्धि से चारित्र धर्म प्रकट होता है, चारित्र से कर्म निर्जीर्ण होते हैं, उससे केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट होता है। जिससे शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। साधना के क्षेत्र में प्रत्याख्यान का विशिष्ट महत्त्व रहा है। षडावश्यक में प्रत्याख्यान को सुमेरु के शीर्ष स्थान पर कहा है। प्रत्याख्यान से भविष्य में आने वाली अव्रत की सभी क्रियाएँ रुक जाती है। श्रमणों और श्रमणोपासकों दोनों के लिए १० प्रकार के प्रत्याख्यान का विधान किया है, जो अग्रांकित हैं-

१. **अनागत**- नियत समय से पहले तप करना। २. **अतिक्रान्त**- नियत समय के बाद तप करना। ३. **नियंत्रित**- संकल्पित तप का परित्याग न करना। ४. **कोटि सहित**- जिस कोटि से तप प्रारंभ किया, उसी से समाप्त करना। ५. **साकार**- जिसमें आगार रखे जाते हैं। ६. **अनाकार**- जिस तप में आगार न रखे जायें। ७. **परिमाणकृत**- जिसमें दत्ति आदि का परिमाण किया जाय। ८. **निरवशेष**- अशनादि का सर्वथा त्याग हो। ९. **संकेत**- जिसमें संकेत हो (मुट्ठी आदि खोलने का)। १०. **अद्धा प्रत्याख्यान**- काल की अवधि के साथ किया जाने वाला प्रत्याख्यान।

प्रतिक्रमण एवं कायोत्सर्ग द्वारा पूर्व संचित कर्मों का क्षय होता है। छठे आवश्यक प्रत्याख्यान में नवीन बँधने वाले कर्मों के निरोध का वर्णन है। प्रत्याख्यान भविष्यकालिक पापों का निरोधक है, अतएव प्रतिक्रमण में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

उपसंहार

इस प्रकार उपर्युक्त समग्र विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि 'प्रतिक्रमण' जैन साधना का प्राण तत्त्व है। ऐसी कोई भी क्रिया नहीं जिसमें प्रमादवश स्खलना न हो सके। लघुशंका एवं शौच निवृत्ति करते समय, श्रमण द्वारा प्रतिलेखना करते समय, भिक्षाचरी हेतु इधर-उधर गमनागमन करते समय स्खलना होना

स्वाभाविक है- साधक को उक्त क्रियाओं के द्वारा होने वाली स्खलनाओं के प्रति सतत जागरूक रहना चाहिए। स्खलनाओं के प्रति तनिक भी उपेक्षा न रखकर उन दोषों से निवृत्ति हेतु प्रतिक्रमण करने की भगवान् की आज्ञा है। प्रतिक्रमण अवश्यकरणीय है। ज्ञानीजनों ने इसे जीवन को परिमार्जित करने की अपूर्व क्रिया बताई है। इस क्रिया को अपनाते हुए साधक प्रतिक्रमण के अन्तर्गत अपने जीवन का गहराई से निरीक्षण करता है। प्रतिक्रमण की क्रिया करते हुए साधक के मन, वचन और काया में एकरूपता होना आवश्यक है। साधक व्यावहारिक जीवन जीते समय अथवा साधना करते समय कभी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि से साधना च्युत हो सकता है, भूल हो सकती है। ऐसी स्थिति में वह प्रतिक्रमण करे। प्रतिक्रमण के समय जीवन का गंभीरता से अवलोकन कर एक-एक दोष का परिष्कार करने का प्रयास करे। साधक प्रतिक्रमण में प्रत्येक प्रवृत्ति का अवलोकन करते हुए, दृष्टिगोचर हुए दोषों को सद्गुरु के समक्ष अथवा भगवान् की साक्षी से व्यक्त कर हल्का बना सकता है।

प्रतिक्रमण को साधक की दैनन्दिनी बताते हुए ज्ञानीजन फरमाते हैं कि साधक उसमें अपने दोषों की सूची अंकित कर दोषों से मुक्त होने की प्रक्रिया अपनाता है। कई साधकों ने अपने जीवन को डायरी के माध्यम से सुधारा है, ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं। प्रतिक्रमण आध्यात्मिक जीवन की धुरी है और जीवन सुधार का उत्तम उपक्रम है। आत्म-दोषों को देखकर आलोचना करने से पश्चात्ताप की भावना जागृत होती है, और पश्चात्ताप ही एक ऐसी अग्नि है जिसमें सभी दोष जलकर समाप्त हो जाते हैं।

प्रतिक्रमण के ८ पर्यायवाची शब्दों में 'निन्दा' और 'गर्हा' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। दूसरों की निन्दा से कर्म-बंधन होता है और स्व-निन्दा से कर्मों की निर्जरा होती है। जब साधक अपने जीवन का निरीक्षण करता है तो उसे अपने जीवन में अनेक दुर्गुण दिखाई दे जाते हैं। साधक गुणग्राही होता है, दुर्गुणों को वह अपने जीवन में से धीरे-धीरे निकालने का प्रयास करता है और सद्गुणों को ग्रहण करता है।

-सेवानिवृत्त, हिन्दी व्याख्याता, राज. सी. सै. स्कूल के पास

अलीगढ़, जिला-टोंक (राजस्थान)

प्रतिक्रमण का मर्म

श्री जसराज चौपड़ा

प्रतिक्रमण स्वशुद्धि की एक विधा है। ज्ञात-अज्ञात रूप से हम अतिक्रमण की अनेक क्रियाएँ करते हैं जिनसे दूसरों को कष्ट पहुँचता है एवं अपनी आत्मा मलिन बनती है। प्रतिक्रमण का मर्म है स्वकृत दोषों की सरलमन से आलोचना एवं प्रायश्चित्त कर शुद्धि कर लेना। साधक स्वीकृत व्रतों का उल्लंघन होने पर तत्काल प्रतिक्रमण कर स्वनियम में पुनः स्थित हो जाता है। वह स्वालोचना, स्वनिन्दना, स्वगर्हणा द्वारा स्वात्मशुद्धि कर अपने को निष्पाप बना लेता है। माननीय न्यायाधिपति महोदय ने जीवन में प्रतिक्रमण के माध्यम से दोषमुक्त बनने की प्रभावी प्रेरणा की है। *-सम्पादक*

प्रतिक्रमण जैनधर्म की अनूठी, अनुपम एवं आत्म-विशुद्धि की यानी आत्मा को विमल एवं निर्मल बनाने की मौलिक विधा है, जिसके तुल्य कोई विधि-विधान अन्यत्र किसी भी धर्म में इस रूप में प्राप्त नहीं होता। चाहे साधु-साध्वी हों अथवा श्रावक-श्राविका या सामान्य संसारी, इनमें से कोई भी इस कलिकाल में अथवा परम पूज्य जम्बूस्वामी के बाद केवलज्ञान का धारक सर्वज्ञ नहीं है। सभी छद्मस्थ हैं और अपूर्ण हैं। अतः गलती या स्खलना, किसी अन्य के प्रति खेद-विक्षोभ पैदा करने वाला व्यवहार अथवा विचार आना सर्वथा संभव है।

किसी का बुरा करना, किसी के बारे में बुरा सोचना, किसी को बुरा बोलना, किसी पर क्रोध करना, प्रकट रूप से किसी की निंदा-विकथा करना या अपशब्दों द्वारा दिल दुःखाना यह तो हमारे प्रकट व्यवहार एवं विचारों के परिणाम हैं, परन्तु कुछ ऐसे कृत्य हैं जिनसे प्रकट में ऐसा नहीं लगता कि हम किसी का बुरा कर रहे हैं या अहित कर रहे हैं, फिर भी हमारे कई ऐसे कृत्य होते हैं, जिनसे कितने ही जीवों की विराधना होती है, उन्हें दुःख पहुँचता है, कष्ट होता है, मन में क्षोभ एवं ग्लानि पैदा होती है। जिनसे प्रकट रूप से हमारा कोई दुर्भाव नहीं है, फिर भी छः काय के प्राणियों को हम कष्ट पहुँचाते हैं, जैसे-श्वास लेना, पानी पीना, चलना-फिरना, गाड़ी, स्कूटर, ट्रेन, साइकिल, बैलगाड़ी, ऊँट, घोड़े आदि से यात्रा करना, प्रशंसावश ताली बजाना, सौन्दर्य प्रदान करने हेतु पेड़-पौधों को मनचाही आकृति देना, खेती, व्यापार, उद्योग आदि कार्य अपने जीविकोपार्जन हेतु करना जिनमें हमारा उद्देश्य प्रकट रूप से किसी को दुःखी करने या कष्ट पहुँचाने का नहीं है, फिर भी जानते-अजानते हम चाहे वह वायुकाय के जीव हों, पृथ्वीकाय के हों, अप्काय के जीव हों, तेऊकाय के जीव हों या वनस्पतिकाय के अथवा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय या पंचेन्द्रिय जीव हों उन्हें कष्ट पहुँचाते हैं या कष्ट न भी पहुँचाएँ तो भी उन्हें क्षोभ या खेद-ग्लानि जरूर प्रदान करते हैं। फिर चाहे वह नदी,

नहर या तालाब का जल स्नान हो अथवा खेती या बगीचे की कंटाई-छंटाई या पिलाई हो, या गमले की खुर्पी हो, गाय-भैंस का दुग्ध दोहन हो, या भोजन पकाने हेतु जलाई अग्नि हो या कचरे व झाड़-झंखाड़ को नष्ट करने हेतु जलाई अग्नि हो। यह निश्चित है कि छद्मस्थ से ऐसे अतिक्रमण जानते-अजानते होना संभव है, जिनसे दूसरे को कष्ट पहुँचे, उसको दुःख पहुँचे, उसका दिल दुःखे अथवा उसे क्षोभ या ग्लानि पैदा हो।

जैन धर्म में व्रती व्यक्ति के मर्यादित व्यवहारों के अतिक्रमों के प्रति स्व-शुद्धि हेतु प्रतिक्रमण का विधान है। यह विधा स्व-शुद्धि की विधा है। स्वशुद्धि का एक अंग है क्षमा। इसमें दूसरा क्या महसूस करता है, वह क्षमा प्रदान करता है या नहीं, इसका उतना महत्त्व नहीं है। मूल में प्रतिक्रमण का अर्थ या मर्म है "स्वात्मशुद्धि"। यहाँ द्वैत का भाव नहीं है। हमने जो भी गलती की या अप्रिय कार्य या विचार किया हो अथवा हमारी वजह से किसी को दुःख, कष्ट, खेद या विषाद पैदा हुआ हो अथवा होने की स्थिति होने पर भी उस प्राणी की समभाव की स्थिति या अनासक्ति के कारण ऐसा न भी हुआ हो तो भी हम अपनी तरफ से उक्त सारे अतिक्रमों की निंदा-गर्हा व आत्मालोचना कर अपनी आत्मा को शुद्ध कर लें।

जैनधर्म की मान्यता है कि व्यक्ति को अपने अतिक्रमी व्यवहार का पता लगते ही उसका तुरन्त प्रतिक्रमण करना चाहिए। जिसके प्रति गलत व्यवहार हो उससे क्षमा माँग कर अथवा जो प्राणी अपने भावों को व्यक्त न कर सकें या जिनके प्रति मन में दुर्भाव आएँ या विचार उत्पन्न हों, जिनका उसको प्रकट में पता भी न लगे, उन्हें तुरन्त गुरुदेव के समक्ष प्रकट कर उस दोष के लिए स्वयं को धिक्कार प्रदान कर गुरुदेव से दंड प्राप्त करना चाहिए। जो दोष हमारे खुद के भी ध्यान में न आयें अथवा जो स्वाभाविक रूप से हो रहे हैं और हम उनकी तरफ सोचते नहीं हैं, दिवस के उन दोषों का देवसिय प्रतिक्रमण करें। रात्रिकालीन दोषों, स्वप्न आदि में किये दुर्विचारों व दुष्कृत्यों आदि का राइय (रात्रिकालीन) प्रतिक्रमण प्रभातवेला में करें। ऐसा संभव न हो तो पाक्षिक प्रतिक्रमण करें। वह भी न हो पाये तो चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करें एवं स्वयं को उन दोषों, दुष्कृत्यों एवं दुर्विचारों से मुक्त करें। यह भी संभव न हो तो प्रत्येक जैन श्रावक को बारहमासिक संवत्सरी प्रतिक्रमण तो अवश्य करके अपने को दोषमुक्त करना चाहिए। दोषमुक्ति की यह क्रिया दिल से हो ताकि जो दोष एक बार हो गया है एवं जिसे हमने निंदा-गर्हा कर स्वयं को धिक्कार प्रदान किया है उस दोष की पुनरावृत्ति न करें अन्यथा यह प्रतिक्रमण मात्र औपचारिकता बन कर रह जायेगा। दोषों की निंदा, गर्हा व दोष के लिए स्वयं को धिक्कारने की क्रिया शुद्ध मन से करने पर कभी औपचारिक नहीं हो सकती, क्योंकि भावना दोष-मुक्ति एवं स्वात्मशुद्धि की है, जिनका औपचारिकता से कोई लेना देना नहीं है। यदि प्रतिक्रमण करके भी फिर उन्हीं दोषों की पुनरावृत्ति करें तब तो वही कहावत चरितार्थ होगी कि "मक्का गया, हज किया व बनकर आया हाजी। आजमगढ़ में घुसते ही फिर वही पाजी का पाजी।" ऐसा प्रतिक्रमण मायाचार है, ढोंग है, जिसे प्रतिक्रमण की संज्ञा प्रदान करना भी प्रतिक्रमण के उच्च एवं पवित्र भाव के साथ खिलवाड़ और घिनौनी हरकत करना है।

प्रतिक्रमण सूत्र में श्रावक के बारह व्रतों, साधु-साध्वी के पाँच महाव्रतों के जो संभावित अतिचार

दोष हैं उन्हें गिनाकर, अठारह पापों के सेवन से बचने, पन्द्रह कर्मादानों से किनारा करने, प्रभु-वंदन एवं गुरु-वंदन के साथ पूर्ण स्वस्थ मन से, अपने समस्त अतिक्रमों से स्व-निंदा, स्व-गर्हा व स्व-खेद प्रकट कर, उनसे निवृत्त होने की क्रिया का विधान किया गया है। मूल पाठ प्राकृत में है जिसे कुछ लोग कंठस्थ कर अन्य लोगों को प्रतिक्रमण करवाते हैं। जो यह प्रतिक्रमण करवाते हैं उनमें से कुछ ऐसे भी लोग हैं जो उसका शब्दार्थ एवं भावार्थ नहीं जानते। मात्र रटी-रटाई स्मृति के आधार पर प्रायोजित विधि से उसे सम्पन्न कर देते हैं। बहुत से प्रतिक्रमण करवाने वाले मूल पाठ का शब्दार्थ एवं भावार्थ जानते हुए भी उसे अपनी नेश्राय वालों को उसका मर्म बताये बगैर उसका पठन ऐसी फ्रण्टियर मेल की स्पीड से करते हैं एवं नेश्राय वाले भी बड़े यांत्रिक ढंग से 'मिच्छा मि दुक्कडं' देकर व खमासमणो आदि कर अपने दोषों से इतिश्री होना मान लेते हैं। यह प्रतिक्रमण का मर्म या हार्द नहीं है कि उसे एक औपचारिक आयोजन बना अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान ली जाए। वस्तुतः प्रतिक्रमण का शांति पूर्वक शुद्ध उच्चारण कर उसका शब्दार्थ, भावार्थ व मर्म अपनी नेश्राय वालों को अवगत कराकर यह आत्मशुद्धि का यज्ञ सम्पन्न किया जावे तो कई लोग इसका यथोचित लाभ उठाकर दोष मुक्त हो सकते हैं। सोचने व समझने का समय मिले बगैर दोषमुक्ति कैसे संभव है? प्रतिक्रमण की क्रिया का अपना महत्त्व है। साधक वस्तुतः पापों व दोषों से मुक्त होने के भाव से सामायिक व्रत ग्रहण कर उसमें शिरकत करता है, अतः उसे उसका कुछ अंशों में लाभ मिलेगा यह निश्चित है, परन्तु यदि प्रतिक्रमण सूत्र के शुद्ध पाठ को शांतिपूर्वक शुद्ध उच्चारण के साथ बोलकर एवं उसके भाव को समझाकर लोगों को दोष एवं पाप मुक्त होने के लिए प्रेरित किया जाये तो इसका अचिन्त्य लाभ प्रतिक्रमण करवाने वाले को भी मिलेगा एवं जो उसे कर रहे हैं उन्हें तो उसका अपूर्व लाभ होगा ही। मेरा विनम्र मत है कि प्रतिक्रमण की इस प्रक्रिया को मात्र औपचारिकता निर्वहन का माध्यम न बनाकर, इसके भावात्मक पक्ष को उजागर कर प्रतिक्रमण करवाया जाये तो इसका फल क्रान्तिकारी होगा। व्यक्ति कई पापों व दोषों को जानकर जिनसे वह अब तक अनभिज्ञ है या था वह भविष्य में उनसे बचने का हर संभव प्रयत्न करेगा। यही प्रतिक्रमण का हार्द है, मर्म है।

मैं शुरू में कह गया एवं फिर उसे दुबारा कहना चाहता हूँ कि 'प्रतिक्रमण' स्वयं द्वारा स्वयं की आत्मा को दोष एवं पाप मुक्त करने का सूत्र है। कोई बुरा माने या न माने, किसी का दिल दुःखे या नहीं दुःखे, किसी को ग्लानि या क्षोभ हो अथवा न हो, हमको अपने दोषों व पापों की स्व-साक्षी, गुरु साक्षी व प्रभु साक्षी से निंदा-गर्हा करके एवं स्वयं को ही स्वयं द्वारा धिक्कार देकर (यानी स्वालोचना कर) स्व प्रयत्नों से स्वयं को दोष मुक्त करना है। जो कहे हुए बुरे शब्दों व दुष्कार्यों की कोई प्रतिक्रिया नहीं करता, तितिक्षा भाव से उन्हें सहन कर जाता है या दोषपूर्ण व्यवहार में उत्तेजित होने के बजाय क्षमाभाव धारण करता है वह भी प्रतिक्रमण ही कर रहा है, क्योंकि वह अतिक्रमण से बच रहा है।

अतिक्रमण से बचे रहना श्रेष्ठ प्रतिक्रमण है। अतिक्रमण करके फिर प्रतिक्रमण करना ऐसा ही है जैसे कि स्वयं कीचड़ में पाँव डालकर फिर स्वयं ही अपने पाँव साफ करना। ऐसा प्रतिक्रमण उपर्युक्त प्रतिक्रमण से नीची कक्षा का प्रतिक्रमण है। आपको कोई गाली दे आप उसे सुनें नहीं एवं चल दे, यह प्रतिक्रिया हीनता है।

उसे सुनलें पर वापस गाली का जवाब गाली से न दें उसे सहन करलें यह तितिक्षा है। गाली देने वाले को क्षमा कर दें यह क्षमाभाव है। उसके प्रति करुणार्द्र हो, सोचें कि यह मेरी वजह से कर्मबंध कर रहा है, मेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा पर यह कर्मबंध कर मेरी वजह से कर्मपाश में बंध रहा है, यह चिन्तन परमात्म भाव या भगवद्भाव है। समत्व एवं निस्पृह योग है। यह भी प्रतिक्रमण का ही रूप है। अलबत्ता यह सामान्य से उच्चकोटि का प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण से पापों, दोषों, दुष्कृत्यों एवं दुर्विचारों की इतिश्री होनी चाहिये। ऐसा न हो कि सम्वत्सरी की क्षमायाचना कर फिर वही गलतियाँ करने का ढर्रा पुनः चालू हो जावे। प्रतिक्रमण, जैसा मैं कह चुका हूँ स्वशुद्धि का प्रकल्प है। इसमें किसी अन्य का कोई महत्त्व नहीं है। हम स्वयं अपने पापों व दोषों से स्व-प्रयास द्वारा अपनी ही आलोचना कर अपने अपको दोषमुक्त करें। प्रतिक्रमण का लाभ किसी दूसरे के भाव, प्रतिक्रिया आदि पर कत्तई निर्भर नहीं है। इसीलिए मैंने शुरू में ही कहा है कि यह जैन धर्म की विधा अनुपम, अनूठी है एवं अद्वितीय है। यह स्व-पुरुषार्थ से स्वात्मशुद्धि का प्रयोग है। अतः जैसी आपकी दृष्टि है वैसी ही आपकी सृष्टि है एवं जैसा आपका विचार एवं आचार है वैसा ही आपका जीवन-सुधार है।

श्रावक-श्राविका के प्रतिदिन के करणीय छः आवश्यकों में से प्रतिक्रमण महत्त्वपूर्ण आवश्यक है। प्रतिक्रमण का हार्द व मर्म ही यह है कि की हुई गलतियों, दोषपूर्ण दुष्कृत्यों एवं पापयुक्त व्यवहार की आलोचना या प्रायश्चित्त कर उसका दंड स्वीकार कर दोषमुक्त बनना चाहिए। उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में प्रायश्चित्त का आधार पापकर्मों से शुद्धि बताया है। प्रायश्चित्त के तीन रूप हैं- १.स्वालोचना २. स्वनिंदना ३. स्वगर्हणा। इन तीनों तरीकों को अपनाकर स्वात्मशुद्धि ही प्रतिक्रमण का मर्म है। सच्चे मन से किये गये प्रायश्चित्त से व्यक्ति के परिणाम सरल व निर्मल बनते हैं; जिससे जीवन के सारे शल्य समाप्त हो जाते हैं। फिर दुबारा ऐसे सरल व निर्मल परिणामी व्यक्ति, उस दोषयुक्त, दुष्कृत्य या पापयुक्त कर्म को दोहराते नहीं हैं। दशवैकालिक सूत्र चूलिका गाथा १२,१३, १४ के अनुसार हम निर्दोष इसलिए नहीं बन पाते कि प्रमत्तता के वशीभूत हो दोष, दुष्कृत्य, पाप या गलती करते वक्त हम उनसे बेभान रहते हैं। हमें ऐसा व्यवहार करते वक्त यह आभास ही नहीं होता कि हम कोई दोषपूर्ण प्रवृत्ति कर रहे हैं या हमारी वजह से कोई प्राणी क्लेशित या खेदित हो रहा है, उसका दिल दुःख रहा है या वह कष्ट पाकर क्लांत हो रहा है। अतएव यह सार्वकालिक सार्वभौम सिद्धान्त है कि हम दोष देखते ही तुरंत उसका निराकरण करें, उसके सुधार हेतु उसे भविष्य पर न टालें। दोष देखना उन्हें त्वरित गति से जानना एवं तत्क्षण उनका निराकरण कर आत्मा को शुद्ध, निर्मल व पावन बनाना ही प्रतिक्रमण का आधारभूत मर्म व हार्द है। सच्चा श्रावक या श्राविका वही है जो छल-कपट, मायाजाल, झूठ व फरेब तथा चालाक मनोवृत्ति को तिलांजलि देकर सर्वथा निश्छल एवं अहंकार-दंभ से मुक्त होकर सच्चे हृदय से अपने दोषों की आलोचना, निंदना-गर्हा करके आत्मशुद्धि का मार्ग प्रशस्त करे। इसी को भाव प्रतिक्रमण कहते हैं। इसमें औपचारिकतावश लिए व्रत का मजबूरी में पालन करने का भाव पास भी नहीं फटक पाता। जो अत्यन्त सूक्ष्म व अप्रमत्त दृष्टि से अपनी भूलों व दोषों का अवलोकन कर उनका सच्चे हृदय से पश्चात्ताप कर अपनी आत्मा की शुद्धि करता है वह फिर वैसी भूल की या दोष की

पुनरावृत्ति कभी नहीं करेगा। यही सात्त्विक प्रतिक्रमण का मर्म है। शास्त्र कहता है, "अणागयं पिंडबंधं न कुज्जा" अर्थात् हम अपने दोषों को जानकर उन्हें तत्काल सुधार लें। भविष्य पर न टालें क्योंकि वह घोर प्रमाद है। प्रभु ने क्षणमात्र के प्रमाद को भी नकारा है।

प्रतिक्रमण साधु-साध्वियों के लिये भी नित्य आवश्यक है। उन्हें भी देवसिय व राइय प्रतिक्रमण गुरु साक्षी से प्रतिदिन करके, अपने दोषों को गुरु के समक्ष सरल मन से प्रकट कर प्रायश्चित्त दंड प्राप्त करके त्वरित गति से अपने संयमी जीवन को स्खलनामुक्त व शल्यमुक्त बनाना चाहिये। प्रभु ने फरमाया है 'निःशल्यो व्रती'। व्रती वही है जो शल्य रहित है। इसमें भी महाव्रती तो सदैव निःशल्य व निर्ग्रन्थ (गाँठ रहित) होना ही चाहिये। आचार्य शय्यंभव ने दशवैकालिक चूलिका २ की गाथा १२ व १३ में बड़े बलपूर्वक संयमित आत्माओं को लक्ष्य कर फरमाया है-"किं मे परो पासइ, किं व अप्पा किं वाहं खलियं न विवज्जयामि।" अर्थात् आत्मार्थी महाव्रतधारी को चाहे वह साधु या साध्वी, शांतचित्त से रात्रि के प्रथम व अंतिम प्रहर में अंतरात्मा की सूक्ष्मतम गहराई में डूब, एकांत में केवल अपने आप से वार्तालाप कर, यानी अंतरमन की गहराई में उतरकर एकाग्र हो, यह विचार अवश्य करना चाहिए कि मैं अपने गृहीत महाव्रतों, नियमोपनियमों, अभिग्रहों व संयमाचार की मर्यादाओं से कहीं किसी वक्त स्खलित तो नहीं हुआ हूँ अथवा वर्तमान में कुभाव कुविचार से स्खलना के दोष से ग्रसित तो नहीं हो रहा हूँ? वह यह विचार करे कि मेरी स्खलनाओं को गुरु भगवंत व मेरे अम्मापियरो श्रावक-श्राविका वर्ग किस दृष्टि से देख रहे हैं। अन्तरनिरीक्षण द्वारा मैं स्वयं ही अपनी स्खलनाओं, दोषों, पापयुक्त या आसक्तियुक्त प्रवृत्ति से, अंतरमन से, शुद्ध हृदय से आलोचना, निंदना व गर्हणा कर अपने को तुरंत दोषमुक्त कर निर्मल संयमाचार की पालना में सन्नद्ध हो जाऊँ। आत्म-निरीक्षण आत्म-अनुशासन है। संयमी आत्मा के लिए जरा सी भी स्खलना संयमभ्रष्ट होने का मार्ग प्रशस्त करती है। अतः संत-मुनिराज व महासतियाँ जी का तो और अधिक उत्तरदायित्व व कर्त्तव्य है कि वे दोषों व स्खलनाओं को तुरन्त शुद्ध व सरलमन से प्रकट कर, प्रायश्चित्त का दंड प्राप्त कर, अपने संयमी जीवन को बेदाग, निर्मल, पावन व पवित्र बनावें। संयमी प्रतिक्रमण का यही मर्म है।

इस समस्त विवेचन का सारभूत तत्त्व यही है कि साधुगण हो या साध्वीवृंद, श्रावक हों या श्राविका, प्रतिक्रमण शुद्ध मन से, मन की सारी गाँठें खोलकर सरल मन से करने पर ही आत्मशुद्धि संभव है। यह अपने द्वारा अपनी आत्मशुद्धि का प्रकल्प है जिसमें औपचारिकता या मात्र क्रिया-कांड का विशेष महत्त्व नहीं होता। प्रतिक्रमण का मर्म है सरलमन से, प्रायश्चित्त के शुद्ध भाव से आत्मा को दोषमुक्त, निर्मल, पवित्र व पावन बनाना।

-पूर्व न्यायाधिपति, राजस्थान उच्च न्यायालय

सिरेह-सदन, २०/३३, रेणुपथ, मानसरोवर, जयपुर

श्रमणप्रतिक्रमण : एक विवेचन

शासनप्रभाविका महासती श्री मैनासुन्दरी जी म.सा.

आवश्यकसूत्र के प्रतिक्रमण अध्ययन में श्रमण-प्रतिक्रमण से सम्बद्ध पाँच पाठ आये हैं- १. शय्यासूत्र २. गोचरचर्या सूत्र ३. कालप्रतिलेखना सूत्र ४. तैंतीस बोल का पाठ और ५. प्रतिज्ञा सूत्र। आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा. की आज्ञानुवर्तिनी साध्वीप्रमुखा शासनप्रभाविका महासती श्री मैनासुन्दरीजी म.सा. के प्रवचन एवं विश्लेषण के आधार पर संकलित यह लेख श्रमण प्रतिक्रमण के पाँच पाठों का विवेचन करता है। *-सम्पादक*

श्रावक धर्म की साधना के पश्चात् श्रमणधर्म की साधना आती है। यह साधना तलवार की धार पर लने के समान है। इस श्रमणजीवन में मात्र वेश परिवर्तन करना ही नहीं होता, किन्तु जीवन परिवर्तन करना ड़ता है। क्योंकि कहा जाता है- "बाना बदला सौ सौ बार, पण बाण बदले तो खेवा पार।" यह मार्ग फूलों का हीं, शूलों का मार्ग है। यही तो कारण है कि उत्तराध्ययन सूत्र के १९वें अध्ययन में मृगापुत्र को समझाती हुई नकी माता कहती है- बेटा ! यह श्रमण जीवन अनेक कठिनाइयों से भरा हुआ है। मैं अधिक क्या कहूँ- यह ायरों का नहीं, धीर-वीर-गंभीर, साहसी शूरवीरों का पावन दुर्गम पथ है।

जो व्यक्ति साहसहीन है, इन्द्रियों का दास है, भोगों का गुलाम है, कामना व वासना के पीछे मारे-ारे भटकने वाला है, वह इस कठोर पथ पर कैसे चल सकता है। इस पथ पर पैर रखने के पश्चात् उसे कभी ी न्याय पथ से विचलित नहीं होना है। जैसाकि नीति वाक्य है-

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु। लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा, न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।

शास्त्रकारों ने कहा-

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निन्दापसंसासु, तहा माणावमाणओ।।

अर्थात् श्रमण लाभ-अलाभ(हानि) में, सुख-दुःख में, जीवन-मरण में, निन्दा-प्रशंसा में समान रहता ै। वह मानवों में श्रेष्ठ है।

श्रमण वही है, जो शरीर की आसक्ति पर विजय का प्रयास करता है, जिसका कामना से मन हट ुआ है, जो प्राणियों को पीड़ा नहीं देता है और १८ पापों से जिसने किनारा कर लिया है।

श्रमण जीवन की अनेकानेक विशेषताएँ हैं। उनमें एक विशेषता है कि भूल-भटक कर भी भूल न करना। अगर प्रमाद आदि दोषों से भूल हो जाय तो तत्काल संभलकर उस भूल का शुद्धीकरण कर लेना चाहिए। उस शुद्धीकरण का नाम जैनागम में आवश्यक एवं प्रतिक्रमण है। जो साधु-साध्वियों के द्वारा प्रतिदिन सायंकाल एवं प्रातःकाल अवश्य करने योग्य है, उसे श्रमण-आवश्यक कहते हैं।

जैसे प्रतिलेखन, प्रमार्जन, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय और ध्यान श्रमणों के नियत कर्म हैं वैसे ही श्रमण-आवश्यक भी जरूरी है। आवश्यक कार्य तो बहुत होते हैं, जैसे शौचादि, स्नानादि, भोजन-पानादि, पर ये सब शारीरिक क्रियाएँ हैं। किन्तु यहाँ तो हम अन्तर्दृष्टि वाले साधकों के आवश्यक कर्म पर विचार कर रहे हैं। जिनसे कर्ममल एवं विकार हटाये जाते हैं, वे आवश्यक छः हैं- सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान।

श्रमण-आवश्यक के मुख्य पाँच पाठ हैं- १. शय्या सूत्र, २. गोचरचर्या सूत्र, ३. काल प्रतिलेखना सूत्र, ४. तैंतीस बोल और ५. प्रतिज्ञा सूत्र। श्रमण-आवश्यक के मुख्य पाठों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

१. शय्यासूत्र

श्रमण-आवश्यक का प्रथम पाठ श्रमणों को शिक्षा देता है कि अधिक समय तक सोना, बार-बार करवट बदलना, बिना विवेक पसवाड़ा बदलना, बिना पूँजे हाथ पैर पसारना, जूँ आदि प्राणियों का दबना, अयतना से शरीर को खुजलाना ये सब प्रवृत्तियाँ त्याज्य हैं। ये अतिचार हैं। साथ ही कुछ अतिचार निद्रित अवस्था में भी लगते हैं। स्वप्न में स्त्री-पुरुष को काम-राग भरी दृष्टि से देखना, स्वप्न में रात्रि-भोजन की इच्छा करना, युद्ध आदि देखकर भयभीत होना, ये दूषित प्रवृत्तियाँ हैं। इनके विषय में दोष लगा हो तो उसका मिच्छामि दुक्कडं दिया जाता है।

एक करोड़पति सेठ पाई-पाई का हिसाब रखता था। एक पाई का भी हिसाब नहीं मिलने पर वह उसका कारण खोजता था, क्योंकि वह अर्थशास्त्र के नियम को जानता था कि "जल बिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः।" बूँद-बूँद से घट भर जाता है।

इसी प्रकार अपनी एक-एक भूल का निवारण करने वाला साधक धर्म- साधना के क्षेत्र में उच्च कोटि को प्राप्त करता है। भूलों की उपेक्षा करने वाला पतन के गहरे गर्त में गिर पड़ता है। छोटी-बड़ी सभी भूलों के शुद्धीकरण हेतु प्रतिक्रमण की महती आवश्यकता है। सोते-जागते हुए शयन संबंधी कोई दोष लगा हो, मन-वचन-काया से नियमों का उल्लंघन हो गया हो तो उस अतिक्रमण का प्रतिक्रमण कर पाप मुक्त बनना अनिवार्य है।

२. गोचरचर्यासूत्र

जीवन को सुरक्षित बनाये रखने के लिए भोजन की आवश्यकता स्वीकृत है। आहार के बिना जीवन दीर्घावधि तक टिक नहीं पाता है और शरीर के बिना रत्नत्रय की साधना हो नहीं सकती। What to eat

भोजन का उद्देश्य क्या है? How much to eat वह कैसा व कितना हो? When to eat कब खायें? How to eat कैसे खायें? इस पर चिन्तन करना जरूरी है।

शास्त्रकार समझाते हैं कि साधु का भोजन हितकारी हो, पथ्यकारी हो, अल्प मात्रा में हो, स्वास्थ्यवर्द्धक हो और जैन धर्म की मर्यादा के अनुकूल हो। साधु नवकोटि शुद्ध आहार ग्रहण करता है। सच्चा श्रमण ४२ दोष विवर्जित भोजन ग्रहण करता है।

भगवती सूत्र के ७ वें शतक के प्रथम उद्देशक में भगवान् ने भिक्षा के ४ दोष बताए हैं- १. **क्षेत्रातिक्रान्त**- सूर्योदय पहले लेना व पहले खा लेना। यह नियम भोजन संयम के लिए है। २. **कालातिक्रान्त**- प्रथम प्रहर का लिया चौथे प्रहर में भोगना। यह नियम संग्रहवृत्ति पर नियन्त्रण करने के लिए है। ३. **मार्गातिक्रान्त**- दो कोश उपरान्त ले जा कर खाना। यह नियम तृष्णा वृत्ति पर काबू रखने के लिए है। ४. **प्रमाणातिक्रान्त**- प्रमाण से अधिक खाना। जैसे पुरुष के ३२ ग्रास, स्त्री के २८ ग्रास, नपुंसक के २४ ग्रास से अधिक खाना। यह नियम रसों पर विजय मिलाने के लिए है।

आचारांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध, दूसरे अध्ययन, नवम उद्देशक में वर्णन है कि जैसा भी लूखा-सूखा भोजन मिले, साधु को शान्त भाव से बिल में सर्प प्रवेश करता है, वैसे ही खा लेना चाहिए।

"ताक ताक जावे गोचरी लावे ताजा माल।
संयम ऊपर चित्त नहीं, बन रयो कुन्दो लाल।।
ओ मार्ग नहीं साधु रो।।"

दशवैकालिक सूत्र में भी कहा- साधु स्वाद का चटोरा न बने। स्वाद के लिए खाना अज्ञान दशा है। जीने के लिए खाना आवश्यकता है और संयम- साधना के लिए खाना साधना है। अगर वह स्वाद के लिए खाता है तो श्रमणत्व का शुद्धता से पालन नहीं करता है। जैसाकि-

"दूध दही विगईओ, आहारेइ अभिक्खणं।
अरइ उ तवोकम्मे पावसमणेत्ति वुच्चई।।"

जो नित्य प्रति दूध, दही आदि विगयों का सेवन करता है तथा तप में अरुचि रखता है वह पापश्रमण कहलाता है।

गृहस्थ के घर के किवाड़ बंद हैं तो उन्हें खोलकर आहार के लिए जाना अकल्पनीय है। देखें दशवैकालिक ५वें अध्ययन की १८वीं गाथा।

रास्ते में कुत्ते, बछड़े, बैल बैठे हों, उन्हें लांघकर या उन पर पैर रखकर गिरते-पड़ते आहार लें तो यह प्रवृत्ति सभ्यता-विरुद्ध व आगम-विरुद्ध लगती है। जीवों की विराधना भी होती है। कई घरों में भोजन बनने के बाद कुछ भोजन पुण्यार्थ निकाला जाता है। उसे अग्रपिंड कहते हैं इसका दूसरा नाम मण्डीप्रभृतिका है। ऐसा आहार साधु के लिए अग्राह्य है। देवता के लिए पूजार्थ तैयार किया हुआ भोजन बलि कहलाता है।

उस बलि को चारों तरफ फेंकने के बाद साधु को दे और साधु ले तो दोष है, अतिचार है।

अमुक साधु आयेंगे तो उन्हें ही दूँगा, ऐसा सोचकर गृहस्थ ने आहार को अलग निकाल रखा हो और वही साधु ले तो स्थापना प्रभृतिका दोष लगता है। इससे बच्चों को और अन्य बाबा संन्यासियों को अन्तराय लगने की संभावना रहती है।

जिस आहार में सचित्तादि की शंका हो तो उसकी उपेक्षा नहीं करे और न ही ऐसे आहार को ग्रहण करे। बहन को तकाजा करके कहना 'जल्दी बहरा' अपने हल्केपन को प्रकट करना है, यह भी दोष है।

विकृत दही या वैसा ही अन्य पदार्थ जिसका रस चलित है, वह प्राण भोजन है। ऐसी भिक्षा नहीं लेनी चाहिए, ले तो अतिचार है।

गृहस्थ के घर में जो वस्तु दिखाई दे उसकी ही याचना करनी चाहिए, अदृष्ट पदार्थ की याचना करने पर वह भक्तिवशात् अप्रासुक को प्रासुक बना कर देने की चेष्टा करेगा। इससे जीवों की विराधना होगी।

गोचरी के विषय में एषणा के ३ भेद जानना साधु के लिए जरूरी हैं- १. गवेषणैषणा २. ग्रहणैषणा ३. परिभोगैषणा। गवेषणैषणा- ग्रहण करने के पहले शुद्धि-अशुद्धि की खोज करना। इसके १६ उद्‌गमादि दोष हैं, जो गृहस्थ की ओर से साधु को लगते हैं।

आहार आदि ग्रहण करते समय शुद्धि-अशुद्धि का खयाल रखना ग्रहणैषणा है। इसके १६ दोष हैं, वे साधु की ओर से साधु को लगते हैं। ये ३२ दोष टालने योग्य हैं। नहीं टाला तो अतिचार है।

परिभोगैषणा के शंका आदि १० दोष साधु और श्रावक दोनों की ओर से मिले-जुले लगते हैं। इन ४२ दोषों को छोड़कर भोजन ग्रहण करने से चारित्र रूपी चदरिया शुद्ध रह सकती है।

इस गोचरचर्या का पाठ गोचरी लाने और करने के बाद अवश्य बोलना चाहिए। ऐसी बात कवि जी म.सा. वाले श्रमणसूत्र पुस्तक में पढ़ने को मिली। हमें गोचरी संबंधी सभी दोषों से बचने के लिए प्रतिक्रमण करना जरूरी है।

३. स्वाध्याय-प्रतिलेखना सूत्र

इसके बाद श्रमण के लिए तीसरे पाठ में प्रेरणा दी गई है कि तू चारों काल स्वाध्याय कर और दोनों संध्याकाल में वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण आदि की प्रतिलेखना अच्छी तरह से कर। यदि इस विषय में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार लगता हो तो उस पाप का प्रतिक्रमण करना चाहिए।

अंग्रेजी में कहा है- "Time is money" समय बहुमूल्य धन है। समय की इज्जत ने ही मानव को महान् बनाया है। समय का तिरस्कार मानव जीवन के विकास का तिरस्कार है। जिस काम के लिए जो समय निश्चित किया गया है, वह काम उसी समय कर लेना चाहिए। शास्त्रों में कहा- "काले कालं समायरे।"

जैसे एक सेनापति युद्ध के मोर्चे पर सदा सजग रहता है और शत्रुओं से लोहा लेता है ऐसे ही कर्म-शत्रुओं से लोहा लेने के लिए साधक को हमेशा सजग रहना चाहिए। उत्तराध्ययन सूत्र के२९वें अध्ययन में

गौतम स्वामी के प्रश्न पर भगवान् ने फरमाया - "कालपडिलेहणया णं भंते! जीवे किं जणयइ?, काल पडिलेहणया णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।" काल की प्रतिलेखना करने से क्या फल मिलता है? भगवान ने फरमाया- ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।

प्रमाद के वशवर्ती बनकर यदि चारों काल स्वाध्याय न की हो या उसमें असावधानी रखी हो तथा दोनों काल प्रतिलेखन न किया हो तो उसके शुद्धीकरण के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है।

जैन धर्म में ही नहीं, किन्तु भारतीय संस्कृति में स्वाध्याय का गौरवशाली महत्त्व है। भारतीय विद्यार्थी जब गुरुकुल से पढ़ लिखकर निकलता था, तब गुरु कहते थे- 'स्वाध्यायान्माप्रमदः।' स्वाध्याय में कभी प्रमाद मत करना। आज का विद्यार्थी भी बहुत पढ़ता है- कथा कहानियाँ, अश्लील गीत, उपन्यास आदि। जिनके पढ़ने से जीवन अपवित्र बनता है, विकार भड़कते हैं, ऐसा गन्दा साहित्य मत पढ़ो, पतन की ओर मत बढ़ो। पतन से बचने के लिए किसी महापुरुष के उच्चकोटि के आध्यात्मिक धर्मग्रन्थों को पढ़कर अपने आपको पापमुक्त बनावें।

भगवान महावीर ने तो १२ प्रकार के तपों में स्वाध्याय को आभ्यन्तर तपों में स्थान दिया। अज्ञानी व्यक्ति जिन कर्मों को करोड़ वर्ष में भी नहीं खपा पाता उन कर्मों को ज्ञानी स्वाध्याय के बल पर, मन, वचन काया के संयम के बल पर एक श्वास भर में क्षय कर डालता है। अतः हम स्वाध्याय करें। उसमें प्रमाद न करें। अगर किया हो तो उस अतिचार का प्रतिक्रमण से शुद्धीकरण शीघ्र कर लेना चाहिए।

४. ३३ बोल का पाठ

असंयम का प्रतिक्रमण- जैसे समुद्र में अनेक तरंगे उठती हैं वैसे ही मनुष्य के मन में कामनाओं की अनेक लहरें ज्वार भाटा की तरह आती रहती हैं। शास्त्रकारों ने कहा- "इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।" इच्छाएँ आकाश की तरह अनन्त हैं। द्रौपदी के चीर की तरह उनका पार नहीं है।

कामनाओं से आज तक किसी को सुख नहीं मिला। अगर सुखी बनना है तो कामनाओं से मुक्त होना होगा, इच्छाओं पर संयम करना पड़ेगा और असंयम से मुक्त होना होगा। वह असंयम एक प्रकार का है। संयम का पालन करते हुए भी प्रमादवश अगर असंयम हो गया तो उसका प्रतिक्रमण अवश्य करें।

राग-द्वेष का प्रतिक्रमण- कर्म बन्धन के बीज राग द्वेष हैं। जीवन रूपी चदरिया को गन्दा बनाने का काम यही दोनों करते हैं। अतः साधना के क्षेत्र में प्रविष्ट श्रमण साधक से प्रमादवशात् भूल हों तो प्रतिक्रमण कर शुद्ध हो जाना चाहिए।

दण्ड प्रतिक्रमण- दुष्प्रयुक्त मन, वचन, काया रूप तीन दंड हैं।

शल्य एवं गर्व प्रतिक्रमण- जिनके कारण आत्मा नीरोग नहीं बन सकता ऐसे तीन शल्य हैं- मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य। आत्मा को संसार समुद्र में डुबाने वाले तीन गर्व हैं- ऋद्धि, रस और साता। ये हेय हैं, अतिचार हैं। इनका प्रतिक्रमण करना अनिवार्य है।

विराधना प्रतिक्रमण- चारित्र धर्म का निर्मल रीति से पालन करना आराधना है। सम्यक् रीति से पालन नहीं करना विराधना है। ये विराधनाएँ तीन हैं- ज्ञान, दर्शन व चारित्र की विराधना। इनकी विराधना के निराकरण हेतु मिच्छामि दुक्कड़ं कर प्रतिक्रमण किया जाता है।

गुप्ति प्रतिक्रमण- 'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः।' मन, वचन, काया का जो प्रशस्त निग्रह है, वह गुप्ति है। प्रमादवश उनका आचरण करते दोष लगता है तो प्रतिक्रमण किया जाता है।

कषाय एवं संज्ञा प्रतिक्रमण- जिनके द्वारा संसार की प्राप्ति हो वे चार कषायें हैं- क्रोध, मान, माया एवं लोभ। संज्ञा ४ हैं- आहार संज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रह संज्ञा। इन संज्ञाओं ये चेतना मोहनीय और असाता वेदनीय कर्म के उदय से विकारग्रस्त हो जाती है। ये हेय हैं, इनका प्रतिक्रमण किया जाता है।

विकथा प्रतिक्रमण- जो आत्म-धर्म से विरुद्ध ले जाने का कार्य करती हैं वे ४ विकथाएँ हैं- स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा एवं राजकथा। जिस प्रकार कालसर्पिणी से दूर रहा जाता है वैसे ही इन विकथाओं से दूर रहना चाहिए।

ध्यान प्रतिक्रमण- चार ध्यानों में दो ध्यान (आर्त्त एवं रौद्र) करने से तथा दो ध्यान (धर्म एवं शुक्ल) के न करने से अतिचार लगता है। अतः उनका प्रतिक्रमण किया जाता है।

क्रिया प्रतिक्रमण- कर्मबन्ध कराने वाली चेष्टा क्रिया है। वे पाँच हैं- कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी। इनके अतिचार का प्रतिक्रमण किया जाता है।

कामगुण प्रतिक्रमण- काम गुण ५ हैं - शब्द, रूप, गंध, रस एवं स्पर्श। ये सभी हेय हैं।

महाव्रत प्रतिक्रमण- सर्वप्राणातिपात से विरमण, सर्व मृषावाद से विरमण, सर्व अदत्तादान से विरमण, सर्व मैथुन से विरमण एवं सर्व परिग्रह से विरमण, इन पाँच महाव्रतों में दोष लगने पर उनका प्रतिक्रमण किया जाता है।

समिति प्रतिक्रमण- ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदानभाण्ड-मात्र निक्षेपण समिति एवं उच्चारप्रस्रवणखेलजल्लपरिष्ठापनिका समिति। इन पाँच समितियों के पालन में दोष लगने का प्रतिक्रमण करना चाहिए।

जीव-निकाय प्रतिक्रमण- पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय एवं त्रसकाय। इन षट् जीवनिकाय की हिंसा विषयक अतिचार लगने पर उसका प्रतिक्रमण अपेक्षित है।

लेश्या प्रतिक्रमण- कृष्ण लेश्या, नील लेश्या एवं कापोत लेश्या का आचरण करने पर तथा तेजोलेश्या, पद्म लेश्या एवं शुक्ल लेश्या का आचरण न करने पर प्रतिक्रमण अभीष्ट है।

भय प्रतिक्रमण- इहलोक भय, परलोक भय, आदान भय, अकस्मात् भय, आजीविका भय, मरण भय एवं अपयश भय। इन सात प्रकार के भय सेवन का प्रतिक्रमण करना चाहिए।

मद प्रतिक्रमण- जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपोमद, श्रुतमद, लाभमद एवं ऐश्वर्य मद का आचरण

करने पर श्रमण-श्रमणी को उनका प्रतिक्रमण करना चाहिए।

इसी प्रकार १३ क्रिया, १७ प्रकार का असंयम, १८ प्रकार का अब्रह्म, २० असमाधि दोष, २१ प्रकार का सबल दोष, २९ पाप श्रुत, ३० महामोहनीय कर्मबन्ध के स्थान, ३३ आशातनाएँ हेय हैं, इनका आचरण हो गया हो तो प्रतिक्रमण द्वारा शोधन हो जाता है। ९ ब्रह्मचर्य गुप्ति, १० श्रमण धर्म, १२ प्रतिमाओं का यथाशक्ति पालन न करना, श्रद्धान न करना, विपरीत प्ररूपणा करना अतिचार है। अतः इनका आचरण अभीष्ट है और इनके आचरण न कर पाने का प्रतिक्रमण किया जाता है।

१४ जीवों के भेद, १५ परमाधार्मिक देव, १६ सूत्रकृतांग के अध्ययन, १९ ज्ञाताधर्मकथांग के अध्ययन, २३ सूत्रकृतांग के अध्ययन, २४ देवता, पाँच महाव्रत की २५ भावनाएँ, दशाश्रुतस्कंध, वृहत्कल्प, व्यवहार सूत्र के २६ उद्देशन काल, २८ आचार प्रकल्प, ३१ सिद्धों के गुण, ये जानने योग्य हैं इन्हें भली प्रकार से नहीं जानने एवं अतिचार लगने का मिच्छामि दुक्कडं दिया जाता है। २२ परीषह जानने योग्य व जीतने योग्य हैं, इन्हें नहीं जीता है तो अतिचार है। साधुजी के २७ गुण हैं, उनका भलीभाँति पालन न करना अतिचार है।

३२ योग संग्रह में जो जानने योग्य हैं, उन्हें ठीक से न जानना, उपादेय को ग्रहण न करना तथा हेय को न छोड़ना ही अतिचार है, उसका प्रतिक्रमण किया जाता है।

अरिहंतों की आशातना से लेकर ज्ञान के १४ अतिचार तक ३३ आशातना हो जाती है। उन ३३ आशातना के अतिचार का प्रतिक्रमण किया जाता है। यह प्रतिक्रमण का विराट् रूप है, इस चौथे प्रतिक्रमण आवश्यक में बिन्दु में सिन्धु समाया हुआ है।

५. प्रतिज्ञा पाठ (निर्ग्रन्थ प्रवचन सूत्र)

श्रमण सूत्र का पाँचवाँ प्रतिज्ञा पाठ है। इस पाठ में सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक सबको नमन किया गया है। जिस साधक को जैसी साधना करनी हो वह उसी की उपासना करता है। अर्थोपार्जन का इच्छुक लक्ष्मी की पूजा करता है। विद्योपार्जन करने का रसिक सरस्वती को मानता है तो जैन धर्म को मानने वाला ऋषभ देव से लेकर महावीर तक की स्तुति करता है।

हमारे शासनपति महावीर हैं। महावीर को कौन नहीं जानता? जब चारों ओर अज्ञान व हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा था, तब भगवान् महावीर ने अहिंसा की दुन्दुभि बजाई थी। हजार धाराओं से करुण रस बरसाया था। उनकी वाणी निर्ग्रन्थ प्रवचन कहलाती है। उस पर साधक को श्रद्धा, प्रतीति व विश्वास करना चाहिए। धर्ममार्ग पर दृढ़ता से स्थिर रहने पर ही जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं सभी दुःखों का अन्त कर निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं।

जैन धर्म के अहिंसावाद, अनेकान्तवाद और कर्मवाद सिद्धान्त इतने प्रमाणिक हैं एवं सत्य की गहरी व मजबूत नींव पर टिके हुए हैं, उन्हें कोई झुठला नहीं सकते। वे सिद्धान्त सत्य हैं। छद्मस्थों के द्वारा बनाई

गई बात पर पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता। जो केवली हैं, सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, उनके द्वारा कभी भूल हो ही नहीं सकती। अतः उनके द्वारा कथित सभी बातें विश्वसनीय हैं। यही मार्ग दुःखों से हटाने वाला है।

धर्म-साधना करने वाले ही सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होते हैं, सभी दुःखों का अन्त करते हैं। इस श्रमणसूत्र के पाँचवें पाठ में ८ प्रतिज्ञाएँ ली गई हैं।

१. असंयम से निवृत्त होना। क्योंकि परिज्ञा दो प्रकार की है। ज्ञ परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा। ज्ञ परिज्ञा के द्वारा असंयम के स्वरूप को जानना और प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा असंयम का त्याग करना, संयम को स्वीकार करना।

२. अब्रह्म को जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से अब्रह्मचर्य से अलग हटना, ब्रह्मचर्य स्वीकारना।

३. अकृत्य को ज्ञ परिज्ञा से जानना तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से अकृत्य का पच्चक्खान करना, कृत्य को स्वीकारना।

४. अज्ञान के सही स्वरूप को जानना और प्रत्याख्यान परिज्ञा से ज्ञान को स्वीकारना।

५. अक्रिया के स्वरूप को ज्ञ परिज्ञा से जानना, प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्यागना और क्रिया को स्वीकारना।

६. मिथ्यात्व को जानना और त्यागना एवं सम्यक्त्व को स्वीकार करना।

७. अबोधि को ज्ञ परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्यागना एवं बोधि को स्वीकार करना।

८. अमार्ग को ज्ञ परिज्ञा से जानकर त्यागना और मार्ग को स्वीकार करना।

ये जो आठ प्रतिज्ञाएँ साधक स्वीकार करता है, उनका उसे स्मरण है अथवा नहीं। किनका प्रतिक्रमण कर लिया है और किनका नहीं किया है, इस प्रकार स्मरण करके सम्बद्ध अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाता है।

श्रमण का चिन्तन

- मैं श्रमण हूँ। मैंने साधना के लिए भूतकाल में भी परिश्रम किया था। वर्तमान में भी परिश्रम कर रहा हूँ। भविष्यकाल में भी करूँगा।
- मैं संयत हूँ। संयम का सम्यक् रीति से पालन करने वाला हूँ।
- मैं विरत हूँ यानी सब प्रकार के सावद्य पापों से अलग हटने वाला हूँ।
- भूतकाल में पाप किया है, तो उस पाप की गुरु साक्षी से गर्हा करता हूँ और आत्मसाक्षी से निन्दा करता हूँ। वर्तमान एवं भविष्यकाल के लिए मैं प्रतिज्ञाबद्ध होता हूँ कि आगे पाप नहीं करूँगा, ऐसे प्रत्याख्यान ग्रहण करता हूँ। (सच्चा साधक वही माना जाता है जो तीनों कालों में संभल-संभल कर चलता है। पाप पंक को धोकर जीवन रूपी चदरिया को निर्मल बनाता है।)
- मैं निदान रहित हूँ। निदान का अर्थ आसक्ति है। भोगासक्ति को हम जहरीला घातक फोड़ा कह सकते हैं। जैसे फोड़ा अन्दर ही अन्दर शरीर को सड़ा कर खोखला कर देता है, वैसे ही आसक्ति साधक जीवन को

बर्बाद कर देती है।

※ जैन श्रमण निदान रहित होता है, उन्हें देवी, देवता या चक्रवर्ती का वैभव लुभा नहीं सकता।

※ मैं सम्यग्दृष्टि हूँ। सम्यग्दर्शन के द्वारा ही साधक हिताहित, कर्तव्याकर्तव्य का विवेक कर सकता है। दृष्टि शुद्ध न हो तो चतुर्गति रूप संसार में भटकने का अवसर आ सकता है।

※ मैं झूठ व छल कपट से रहित हूँ।

※ जम्बूद्वीप, धातकी खंड द्वीप और अर्ध पुष्कर द्वीप ये अढाई द्वीप हैं। १५ कर्मभूमियाँ हैं- ५ भरत, ५ ऐरवत, ५ महाविदेह। इन्हीं क्षेत्रों में मनुष्योत्पत्ति होती है। मनुष्य ही साधु बनते हैं। जितने भी साधु रजोहरण गोच्छक के धारक हैं, पंच महाव्रत के पालक हैं तथा १८ हजार शीलांग रथ के धारक हैं, उन साधुओं को सिर झुकाकर अन्तर्मन से नमस्कार करता हूँ।

श्रमण प्रतिक्रमण करने से हमारे जीवन में तीन लाभ होते हैं- (१) आस्रव के छेद रुक जाते हैं। (२) जीवन में सजगता आती है। (३) चारित्र विशुद्ध बनता है।

प्रतिष्ठित नगर के जितशत्रु राजा को वृद्धावस्था में पुत्र का जन्म हुआ। अत्यधिक स्नेह होने से देश के प्रसिद्ध वैद्य को बुलाकर कहा- ऐसी कोई दवा दो जो मेरे कुल के लिए अत्यन्त लाभदायक हो।

पहले वैद्य ने कहा- कुंवर के शरीर में कोई रोग होगा तो मेरी दवा उसको नष्ट कर देगी। किन्तु बीमारी नहीं होगी तो नई बीमारी पैदा कर देगी और वह मृत्यु से बच नहीं सकेगा। राजा ने कहा- आप तो कृपा रखिए, पेट मसल कर दर्द पैदा करना है।

दूसरे वैद्य ने कहा- मेरी दवा बहुत अच्छी रहेगी। रोग होगा तो नष्ट कर देगी और रोग न हुआ तो न लाभ होगा न हानि होगी।

राजा ने कहा- आपकी औषधि राख में घी डालने जैसी है। नहीं चाहिए।

तीसरे वैद्य ने कहा- मेरी औषधि ठीक रहेगी। प्रतिदिन खिलाते रहो। रोग होगा तो नष्ट हो जायेगा। यदि कोई रोग नहीं हुआ तो भविष्य में नया रोग नहीं होगा। राजा ने तीसरे वैद्य की दवा पसंद की।

तीसरे वैद्य की औषधि की तरह दोष लगा हो तब भी और न लगा हो तब भी प्रतिक्रमण लाभदायक है। श्रमण जीवन में हिंसा झूठ, चोरी आदि का अतिचार लगा हो तो प्रतिक्रमण से वे सब दोष दूर हो जायेंगे।

अतिचार रोग हैं। प्रतिक्रमण औषधि का काम करता है। दोष लगा हो तब भी और न लगा हो तब भी जीवन शुद्ध, निर्मल और पवित्र बनता है तथा भविष्य में दोष लगने की संभावना कम हो जाती है।

15,17 नवम्बर 2006
जिनवाणी, 78

आवश्यकसूत्र : विभाव से स्वभाव की यात्रा

साध्वी नगीना श्री जी

साध्वी जी ने भाव प्रतिक्रमण को साधना में तेजस्विता लाने का हेतु बताने के साथ छः आवश्यकों के क्रम की वैज्ञानिकता भी प्रस्तुत की है। जैन धर्म के साथ अन्य धर्मों में भी प्रतिक्रमण का स्वरूप प्रकारान्तर से प्राप्त होता है, यह जानकारी भी प्रस्तुत लेख में दी गई है। *-सम्पादक*

साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका सबके लिये आवश्यक का ज्ञान अनिवार्य है।[1] अनुयोगद्वार में आवश्यक के आठ अभिवचन हैं - आवश्यक, अवश्यकरणीय, ध्रुवनिग्रह, विशोधि, अध्ययन षट्कवर्ग, न्याय, आराधना, मार्ग। इन नामों में किंचित् भेद प्रतीत होने पर भी अर्थाभिव्यञ्जना में साम्य है।

आवश्यक सूत्र कलेवर में भले छोटा हो, पर सबसे अधिक व्याख्याएँ इस पर लिखी गई हैं - निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति, स्तबक और हिन्दी विवेचन। श्रमणों के लिये आवश्यक अवश्यकरणीय हैं। नहीं करने वाले श्रमण धर्मपथ से च्युत हो जाते हैं। यह आवश्यक निर्युक्ति में स्पष्ट है।[2]

छः आवश्यकों का वैज्ञानिक क्रम

आवश्यक के छह अंग हैं- १. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव ३. वन्दना ४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग ६. प्रत्याख्यान। आवश्यक का यह क्रम कार्य-कारण भाव पर आधारित होने से वैज्ञानिक है। सर्वप्रथम सामायिक का स्थान है। सामायिक अर्थात् समताभाव। सामायिक समता का लहराता समंदर है।

समता की प्रतिष्ठा किये बिना गुणों के सुमन नहीं खिलते। भीतर में वैषम्य की ज्वालाएँ प्रज्वलित हों वह गुणोत्कीर्तन के लिये योग्य नहीं बनता। न दूसरों के उदात्त गुणों का संग्राही बनकर अर्हता पा सकता है। अतः समता के बाद गुणोत्कीर्तन का स्थान उचित है।

साधक भक्ति की भागीरथी में अवगाहन कर अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति कर लेता है महापुरुषों का जीवन अनेक विशेषताओं का प्रतिष्ठान है। उनके गुणकीर्तन से हृदय पवित्र होता है। वासना शांत होती हैं। तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन कर सकता हैं। तीर्थंकर साधना मार्ग के आलोक स्तम्भ हैं। जिस घ में गरुड पक्षी रहता हो वहाँ साँप नहीं आता। वैसे ही हृदय में वीतराग स्तुति रूप गरुड उपस्थित है तो पाप का साँप आ नहीं सकता। स्तवना से दर्शन की विशुद्धि और श्रद्धा निर्मल बनती है।

साधक तीर्थंकर की स्तुति के बाद गुरु को वंदन करता है। गुणों को अपने में संक्रान्त करने क माध्यम है वन्दना। वन्दना वही करेगा जो अहं से मुक्त है। वन्दना करने वाला स्वयं विनय गुण से विभूषि

होता है। वन्दना करना नम्रता की अभिव्यक्ति है। नम्रता और ऋजुता सहचारी हैं। धर्म की पृष्ठभूमि सरलता है। सरल व्यक्ति का जीवन खुली पुस्तक की तरह है। कोई भी कहीं से पढ ले, वहाँ न लुकाव है, न छिपाव।

सरल व्यक्ति अपने दोषों का प्रतिक्रमण करता है इसलिये वन्दना के बाद प्रतिक्रमण का निरूपण है। आचार्य अकलंक ने प्रतिक्रमण का अर्थ अतीत के दोषों से निवृत्त होना किया है।[३] हरिभद्रसूरि के अनुसार अशुभ प्रवृत्ति से पुनः शुभ प्रवृत्ति में आना प्रतिक्रमण है।[४]

अशुभ योग से व्रत में छेद उत्पन्न हो जाते हैं। प्रतिक्रमण से व्रत के छेद पुनः निरुद्ध हो जाते हैं। सूत्रकार ने व्रत-छेद निरोध के पाँच पक्ष बतलाये हैं -

१. आस्रव का निरोध हो जाता है।

२. अशुभ प्रवृत्ति से होने वाले चरित्र के धब्बे समाप्त हो जाते हैं।

३. आठ प्रवचनमाताओं में जागरूकता बढ़ जाती है।

४. संयम के प्रति एकरसता या समापत्ति सध जाती है।

५. समाधि की उपलब्धि होती है।

अनादि काल से मानव कषाय, प्रमाद एवं अज्ञानवश मूर्च्छा में बाहर भटक रहा है। स्व की उसे पहचान नहीं है। प्रतिक्रमण नीड़ में लौटने की प्रक्रिया है। 'The Coming back' आन्तरिक व्यक्तित्व के विकास की समग्रता है। अन्तरंग की खुली आँखों में अनोखे आनंद की खुमार है। भवरोग मिटाने की परमौषध है।

आचार्य भद्रबाहु ने कहा- ''साधक प्रतिक्रमण में मुख्य रूप से चार बातों का अनुचिंतन करे'', यथा-

१. स्वीकृत नियम-उपनियमों की विशेष शुद्धि के लिये प्रतिक्रमण करे।

२. साधक सजग रहता है, किन्तु असावधानी के कारण महाव्रत या अणुव्रत में स्खलना हो गई हो तो प्रतिक्रमण अवश्य करे।

३. यदि आत्मा आदि तत्त्व प्रत्यक्ष नहीं होने से अश्रद्धा हो गई हो तो प्रतिक्रमण अवश्य करे।

४. हिंसा आदि दुष्कृत्यों का प्रतिपादन न करे, असावधानी से हो गया हो तो प्रतिक्रमण अवश्य करे।

प्रतिक्रमण से समस्त वैभाविक परिणतियों से विरत होकर साधक अन्तर्मुख बन जाता है। कायोत्सर्ग में चचंलता का निरोध होता है। प्रमाद से होने वाली भूलों के घाव पर कायोत्सर्ग मरहम है। इसमें देहाध्यास छूट जाता है। देह में रहते हुए भी साधक देहातीत बन जाता है। भेद-ज्ञान का विकास होता है। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का ध्यान किया जाता है। स्थिरता से प्रत्याख्यान की चेतना जागती है। इस विराट् विश्व में इतने अधिक पदार्थ हैं, जिनकी परिगणना संभव नहीं। उन सबका भोग एक व्यक्ति के लिये संभव नहीं। मानव की इच्छाएँ अनन्त हैं। सब कुछ पा लेना चाहता है। अमित आकांक्षाओं के कारण वह अशांत है।

अशांति निवारण का उपाय है प्रत्याख्यान। यह क्रम व्यवस्थित एवं बुद्धिगम्य है। समता से प्रत्याख्यान तक की यात्रा विकास का आरोहण है।

आवश्यक के दो प्रकार हैं- द्रव्य और भाव। अन्यमनस्क होकर शब्दों का उच्चारण करना द्रव्य आवश्यक है। जहाँ क्रिया और चेतना का संयोग हो, वह भाव आवश्यक है। 'द्रव्य-आवश्यक' में केवल यांत्रिकी क्रिया है, उससे साधना में तेजस्विता नहीं आती। यह प्राणरहित साधना है।

द्रव्य में क्रिया का अन्धानुकरण है। एक ग्राम में पंडित जी प्रतिक्रमण करवा रहे थे। कहाँ उठना, कहाँ बैठना, लोग उनका अनुकरण कर रहे थे। पंडितजी को मिरगी का दौरा पड़ा । नीचे गिर गये। मुख में झाग आ गये। लोग भी यह देखकर सारे गिर पड़े। अनेक प्रयास करने पर भी मुख पर झाग नहीं आ सके। मन में अनुताप रह गया कि हमारी विधि पूरी नहीं हो सकी। द्रव्य क्रिया में ऐसा ही होता है।

भाव में उपयोग पूर्वक क्रिया होती है। वह लोकोत्तर साधना है। जीवंत साधना है। धर्म में उसकी मूल्यवत्ता है। भाव-क्रिया समता की पर्याय है। समता से आत्मशक्तियों को केन्द्रित करके महान् ऊर्जा को प्रकट किया जा सकता है। द्वन्द्वों में संतुलन रखना नहीं आता वहाँ तनाव बढ़ता है, व्यक्ति खंडित हो जाता है। समता के अभाव में उपासना उपहास बन जाती है।

जैनेतर धर्मों में प्रतिक्रमण

जैन धर्म की तरह अन्य परम्पराओं में भी पाप मुक्ति के लिये अलग-अलग तरीके हैं -

बौद्ध धर्म में 'प्रावरणा' शब्द का प्रयोग है। बुद्ध ने कहा- ''जीवन में निर्मलता के लिये आलोचना कर पाप से मुक्त हुआ जा सकता है।''

वर्षावास के बाद भिक्षु संघ एकत्रित होता है। अपने कृत दोषों का गहराई से निरीक्षण करता है। वर्षावास में क्या-क्या दोष लगे, यह प्रावरणा है। इसमें दृष्ट, श्रुत, परिशंकित, पापों का परिमार्जन किया जाता है। परस्पर विनय का अनुमोदन होता है।[६] सर्वप्रथम भिक्षु उत्तरासन को अपने कंधे पर रखकर कुक्कुट आसन में स्थित होकर हाथ जोड़ कर संघ से निवेदन करता है- मैं दोषों का आपके सामने प्रावरणा कर रहा हूँ। संघ मेरे अपराधों को बताये, मैं उनका स्पष्टीकरण करूँगा। इसे वह तीन बार दोहराता है। उसके बाद उससे छोटा भिक्षु, फिर सभी भिक्षु दोहराते हैं। अपने पापों की इस प्रकार पाक्षिक शुद्धि होती है। प्रावरणा चतुर्दशी, पूर्णिमा को की जाती है।

वैदिक धर्म में संध्या का विधान है। यह धार्मिक अनुष्ठान है, जो प्रातः सायं दोनों समय किया जाता है। इस संध्या में विष्णुमंत्र के द्वारा शरीर पर जल छिड़क कर शरीर को पवित्र बनाने का विधान है। संध्या में अपने पाप की मुक्ति के लिए प्रभु से प्रार्थना की जाती है।

पारसी धर्म में 'खोर देह अवेस्ता' ग्रन्थ में कहा है- ''मेरे मन में जो बुरे विचार उत्पन्न हुए हों, वाणी से तुच्छ भाषा का प्रयोग किया हो, शरीर से अकृत्य किया हो, जो भी मैंने दुष्कृत्य किये हैं, मैं उसके लिये

पश्चात्ताप करता हूँ। उन्हें सरल हृदय से प्रकट करता हूँ एवं उनसे अलग होकर पवित्र होता हूँ।[७]

ईसा ने कहा- ''पाप को प्रकट करना आवश्यक है। पाप को छिपाने से बढ़ता है। प्रकट करने से कम होता है, नष्ट हो जाता है।

मुसलमानों में पाँच बार नमाज पढ़ने की पद्धति है। पाप शुद्धि के लिये किसी ने विस्तार से, किसी ने समास से व्याख्या की, पर अनिवार्यता सबमें देखी जाती है।

उक्त सारी क्रियाओं के पीछे आधार आत्म-शुद्धि का ही है।

वर्ष के तीन सौ साठ दिन होते हैं। उनमें छह तिथि कम हो जाती है। रात्रिक प्रतिक्रमण ३५४, दैवसिक ३२९, पक्खी के २१, चौमासी पक्खी के ३ और सांवत्सरिक १ प्रतिक्रमण होता है।

संदर्भ

१. आवश्यकवृत्ति गाथा २, पृष्ठ ५३
२. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १२४४
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८०
४. आवश्यक हरिभद्रीया वृत्ति
५. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १२६८
६. महावग्ग, पृष्ठ १६७
७. खोर देह अवस्ता, पृ. ५/२३-२४

अनुयोगद्वार सूत्र में षडावश्यक के गुणनिष्पन्न नाम

अर्चना शिष्या साध्वी डॉ. हेमप्रभा 'हिमांशु'

अनात्मभाव से आत्मभाव में प्रतिक्रांत होना 'प्रतिक्रमण' है। अनुयोगद्वारसूत्र में षडावश्यकों के सावद्ययोगविरति आदि गुणनिष्पन्न नाम प्राप्त होते हैं। उन्हीं का विवेचन साध्वीजी ने आत्मगुणों से संपृक्त प्रतिक्रमण के रूप में किया है। इस विवेचन से प्रतिक्रमण के हार्द को समझकर तदनुरूप प्रतिक्रमण करने का संदेश प्राप्त होता है। *-सम्पादक*

आगम-साहित्य में अंग सूत्रों के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान 'आवश्यक सूत्र' को दिया गया है, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में निरूपित सामायिक से ही श्रमण जीवन का प्रारम्भ होता है। प्रतिदिन प्रातः सन्ध्या के समय श्रमणजीवन की जो आवश्यक (प्रतिक्रमण) क्रिया है, उसकी शुद्धि और आराधना का निरूपण इसमें किया गया है। अतः अंगों के अध्ययन से पूर्व आवश्यक का अध्ययन आवश्यक माना गया है।

'अनुयोगद्वार सूत्र' में मंगलाचरण के पश्चात् आवश्यक अनुयोग का उल्लेख मिलता है। यद्यपि आवश्यक सूत्र के पदों की इसमें व्याख्या नहीं की गई है तथापि आवश्यक सूत्र की व्याख्या के बहाने ग्रंथकार ने सम्पूर्ण आगमों के रहस्यों को समझाने का प्रयास किया है। प्रस्तुत सूत्र में 'आवश्यक' का स्वरूप-निरूपण, आवश्यक के पर्यायवाची शब्द, द्रव्य एवं भाव आवश्यक के सुन्दर स्वरूप-विवेचन के साथ ही आवश्यक के विभिन्न प्रकारों का वर्णन किया गया है।

आवश्यक के छह अर्थाधिकार

आवश्यक के छह प्रकार बताये गये हैं- १. सामाइयं २. चउवीसत्थओ ३. वंदणं ४. पडिक्कमणं ५. काउस्सग्गो ६. पच्चक्खाणं।

'अनुयोगद्वार सूत्र' में इन षडावश्यक के प्रकारान्तर से छह गुणनिष्पन्न नाम बताए गए हैं। आवश्यक की साधना-आराधना द्वारा जो उपलब्धि होती है अथवा जो करणीय है, उसका बोध इनके द्वारा होता है। इनमें केवल नाम भेद है, अर्थ भेद नहीं है-

सावज्जजोगविरई, उक्कित्तण गुणवओ य पडिवत्ती।
खलियस्स णिंदणा, वणतिगिच्छ-गुणधारणा चेव।।

-अनुयोगद्वार सूत्र, सूत्र संख्या ७३, गाथा ६

१. **सावद्ययोगविरति-** हिंसा, असत्य, आदि सावद्य योगों से विरत होना सावद्ययोग विरति है। सामायिक करने वाला साधक अपनी आत्मा को हिंसादि के कारण होने वाली मानसिक दुर्वृत्तियों से मन, वाणी और

शरीर को हटाकर आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर केन्द्रित करता है। जिससे उसके कलुष दूर हो जाते हैं एवं राग-द्वेष के दुर्भाव मिट जाते हैं। उसकी शत्रु व मित्र के प्रति समदृष्टि हो जाती है। उसे शत्रु के प्रति न तो क्रोध आता है और न ही मित्र के प्रति अनुराग। वह विषमभाव को छोड़कर समभाव को धारण कर लेता है। परिणामस्वरूप उसका जीवन अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त होकर सुख, शांति एवं समभाव की लहरों में संप्रवाहित होने लगता है अर्थात् उसकी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में रमण करने लगती है। यही सामायिक का सार है।

आवश्यकनिर्युक्ति में कहा गया है-

सावज्जजोग-विरओ, तिगुत्तो छसु संजओ।
उवउत्तो जयमाणो, आया सामाइयं होइ।।

जब साधक सावद्य योग से विरत होता है, मन, वचन एवं काय की गुप्ति से युक्त होता है, छह काय के जीवों के प्रति संयत होता है, स्व-स्वरूप में उपयुक्त होता है अर्थात् यतना में विचरण करता है, तब वह स्वयं आत्मा ही सामायिक है।

उत्तराध्ययन सूत्र के २९वें अध्ययन में गौतम स्वामी प्रभु महावीर से पृच्छा करते हैं-

सामाइएणं भंते! जीवे किं जणयइ?
सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ।।

भगवन्! सामायिक करने से इस आत्मा को क्या लाभ होता है?

सामायिक करने से सावद्य योग अर्थात् पापकर्म से निवृत्ति होती है।

इस प्रकार सामायिक साधना सर्वसावद्य योग की विरति का प्रतिपादक होने से 'सामायिक आवश्यक' को 'सावद्य योग विरति' कहा गया है।

२. **उत्कीर्तन-** उपकारी पुरुषों के गुणों की स्तुति करना, उनके गुणों का कीर्तन करना।

सावद्ययोग से निवृत्ति के पश्चात् राग-द्वेष रहित महान् आत्माओं का गुणानुवाद आवश्यक है। त्याग-वैराग्य के महान् आदर्श पुरुष तीर्थंकर भगवान् वीतराग देव ही होते हैं। ऐसे परमोपकारी चौबीस तीर्थंकरों के गुणों की स्तुति करना, उनके गुणों का संकीर्तन करना ही उत्कीर्तन/ चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक है।

तीर्थंकर की स्तुति-स्तवन करने का अर्थ है- उच्च नियमों, सद्गुणों एवं उच्च आदर्शों का स्मरण करना।

इस प्रकार चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक में चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन-गुणानुवाद किए जाने से यह उत्कीर्तन रूप है। यह आवश्यक गुणों के प्रति अनुराग के लिए आलम्बन स्वरूप है।

३. **गुणवत्प्रतिपत्ति-** सावद्ययोग विरति की साधना में तत्पर गुणवान् अर्थात् मूल एवं उत्तरगुणों के धारक संयमी निर्ग्रन्थ की प्रतिपत्ति- आदर सम्मान करना।

तीर्थंकर देवों के बाद गुरु ही आध्यात्मिक साम्राज्य के अधिपति होते हैं। सच्चे सत्गुरु स्वयं संसार-सागर को तैरकर पार करने में समर्थ होते हैं तथा दूसरों को पार उतारने की क्षमता रखते हैं। वे केवल वाणी से ही नहीं वरन् जीवन से भी मूक शिक्षा प्रदान करते हैं। वे चारित्र से सम्पन्न होते हैं तथा अपनी आत्मसाधना के लिए अन्दर व बाहर से एकरूप होते हैं। अपने साधक शिष्यों को मन, वचन और तन से पूर्ण शुद्ध, पवित्र एवं उच्च बनाने के उद्देश्य से वे पूर्ण ब्रह्मचर्य एवं संयम-साधना कराते हुए उन्हें लौकिक और पारमार्थिक ज्ञान-दान प्रदान करते हैं।

ऐसे हितोपदेशी गुणी गुरुजनों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने हेतु उनका विनम्र हृदय से वन्दन-अभिनन्दन किया जाता है।

वन्दन करने का अर्थ है- मन से नमन, वचन से स्तवन और तन से अभिवादन। अर्थात् मन, वचन और काया के द्वारा गुणों के धारक गुरु के प्रति भक्ति-स्तवन-आदर-सत्कार-सम्मान-बहुमान प्रकट करना। यही वन्दना आवश्यक की साधना है।

इस प्रकार सावद्य प्रवृत्तियों से विरत होकर साधना में संलग्न गुणी-पुरुषों, मूल गुणों एवं उत्तरगुणों से सम्पन्न संयमी साधकों के प्रति आदर-सत्कार बहुमान करने रूप होने से 'वन्दना आवश्यक' का 'गुणवत्प्रतिपत्ति' नाम सार्थक है।

४. स्खलित निन्दा- संयम की साधना-आराधना करते हुए प्रमादवश जो स्खलना, अतिचार या दोष-सेवन हो जाए, विशुद्ध अन्तर्भावना से उसकी निन्दा करना स्खलित निन्दा है, जो प्रतिक्रमण रूप है।

अपने अन्दर ही अपनी खोज को प्रतिक्रमण कहा गया है। संयम में लगे हुए दोषों/पापों को बुरा समझकर उनकी निन्दा करना, पश्चात्ताप करना और भविष्य में उन दोषों का सेवन न करने के लिए सतत जागरूक रहना ही वास्तव में प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण का अर्थ है- अनात्मभाव से आत्मभाव में प्रतिक्रांत होना या लौटना। अर्थात् यदि किसी कारण विशेष से आत्मा संयम क्षेत्र से असंयम क्षेत्र में चला गया हो तो उसे पुनः संयम क्षेत्र में लौटा लाना प्रतिक्रमण है।

साधक जीवन को संपुष्ट करने के लिए प्रतिक्रमण अमृत है। यह आत्म-संशुद्धि का परम साधन है। आत्मविशुद्धि के लिए यह परम आवश्यक है।

'प्रतिक्रमण आवश्यक' मूलगुणों एवं उत्तरगुणों से स्खलित होने पर लगे अतिचारों का निराकरण करने वाला होने से 'स्खलित निन्दा' कहा गया है।

५. व्रण-चिकित्सा- व्रण का अर्थ है घाव। संयम की आराधना में प्रमादवश लगने वाले अतिचार या दोष आध्यात्मिक व्रण हैं अर्थात् वे संयम रूप शरीर के घाव हैं।

जिस प्रकार मरहम-दवा आदि से शारीरिक व्रण या घाव की चिकित्सा की जाती है, उसी प्रकार

कायोत्सर्ग रूप औषध के प्रयोग से आध्यात्मिक व्रण या दोष का निराकरण किया जाता है। अतः इसे व्रण-चिकित्सा कहते हैं।

कायोत्सर्ग वह औषध है, वह मरहम है जो आत्मिक घावों को साफ कर देता है और संयम रूपी शरीर को अक्षत बनाकर परिपुष्ट करता है। कायोत्सर्ग एक प्रकार का प्रायश्चित्त है, जो संयमी-जीवन को शुद्ध-विशुद्ध-परिशुद्ध बनाता है।

'आवश्यक सूत्र' के उत्तरीकरणेणं सूत्र में यही कहा गया है- 'तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्तकरणेणं, विसोहीकरणेणं, विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं।।

अर्थात् संयमी-जीवन को विशेष रूप से परिष्कृत करने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, विशुद्ध करने के लिए, आत्मा को शल्य रहित बनाने के लिए, पाप कर्मों के निर्घात के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ।''

इस प्रकार संयम-साधना में कायोत्सर्ग करके शरीर पर ममत्व एवं रागभाव का त्याग करके अतिचारजन्य भाव व्रण (घाव-दोष) की प्रायश्चित्त रूप चिकित्सा करने के कारण 'कायोत्सर्ग आवश्यक' को 'व्रण चिकित्सा' कहा गया है।

६. **गुणधारणा-** प्रत्याख्यान आवश्यक मूल और उत्तरगुणों को निरतिचार धारण करने रूप होने से गुणधारणा रूप है।

प्रायश्चित्त से आत्मशोधन द्वारा दोषों का सम्मार्जन करके आत्मा के मूल और उत्तरगुणों को अतिचार रहित-निर्दोष धारण-पालन करना गुणधारणा है, जो प्रत्याख्यान द्वारा समायोजित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छह ही आवश्यक सामायिकादि के क्रमशः सावद्ययोग विरति आदि पर्याय शब्द अर्थ एवं भाव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि अनुयोगद्वार सूत्र में वर्णित षडावश्यक के पर्याय नाम गुणनिष्पन्न एवं सार्थक हैं।

-आगम प्रकाशन समिति, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राज.)

दोषमुक्ति की साधना : प्रतिक्रमण

15,17 नव
जिनवाणी,

श्रीमती रतन चोरडिया

जागकर जीने के लिए और व्रतों की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक है। प्रतिक्रमण से प्राप्त स्वदर्शन की प्रवृत्ति दोषों से सर्वथा मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती है। इस प्रवृत्ति से ही श्रावक के जीवन में श्रावकत्व आता है अन्यथा वह नाममात्र का श्रावक रह जाता है। आचार्य श्री शुभचन्द्र जी म.सा. के शिष्य श्री सुमतिमुनि जी म.सा. के प्रवचन के आधार पर लिखित यह लेख सच्चे श्रावकत्व का प्रकाशक एवं निज स्वरूप का बोधक है। *-सम्पादक*

- 卐 कृत पापों की आलोचना करना, निन्दा करना, पश्चात्ताप करना प्रतिक्रमण है।
- 卐 जो आत्मा ज्ञानादि गुणों से यानी स्वस्थान से हटकर प्रमाद के कारण मिथ्यात्व आदि दूसरे स्थान में चला गया, उसका वापस अपने स्वरूप में आना प्रतिक्रमण है।
- 卐 अपने दोषों को जानकर, समझकर, स्वीकार कर, भविष्य में उनसे बचने का संकल्प करना प्रतिक्रमण है।
- 卐 प्रतिक्रमण दोनों समय नियमित रूप से की जाने वाली आवश्यक क्रिया है।
- 卐 दिनभर की क्रियाओं में जाने-अनजाने, मन-वचन-काया के योग से जो-जो भूलें होती हैं उन भूलों से हमारे व्रतों में दोष लगते हैं। उन दोषों की आलोचना करना प्रतिक्रमण है।

इस प्रकार जीवन व व्रतों की शुद्धि के लिये प्रतिक्रमण अति आवश्यक क्रिया है। व्रत ग्रहण करने से हमारी इच्छाओं का निरोध होता है। पापों का पश्चात्ताप होता है तथा पुनः वे पाप व दोष हमसे न हों ऐसी सजगता व सावधानी रहती है।

हमने व्रत ग्रहण किये हों चाहे न किये हों, किन्तु दोष व पाप तो हमसे होते ही हैं। उन पापों के करने से हमारे अशुभ कर्मों का बंध होता है। यदि हम आलोचना व प्रायश्चित्त करते हैं तो हमारी आत्मशुद्धि हो सकती है। व्रत ग्रहण करने वाले की अपेक्षा, नहीं करने वालों को ज्यादा दोष लगते हैं। कारण वह तो बिना ब्रेक की गाड़ी है। व्रत ग्रहण करने से पर्वत जितना पाप राई जितना हो जाता है। क्योंकि व्रत ग्रहण करने से हमारी इच्छाओं का निरोध होता है।

प्रातः उठने के साथ ही, हर घंटे में, हम अपने छोटे से छोटे दोषों को देखें। अपने मन-वचन व काया की प्रवृत्तियों को देखें। जो-जो दोष लग गये हों उनका उसी समय यानी हाथों हाथ हम प्रतिक्रमण कर ले बहुत से निरर्थक कार्य दिन भर में हमसे हो जाते हैं। जो सरल व्यक्ति होते हैं वे उसी समय प्रतिक्रमण करके

अपनी शुद्धि कर लेते हैं। जाने-अनजाने में हमसे पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु आदि स्थावर जीवों की विराधना हो जाती है। शरीर की साता के लिये जल के जीवों की विराधना हम कर लेते हैं। शरीर को टिकाये रखने के लिये अग्नि व वनस्पतिकाय की विराधना हम कर लेते हैं। खाना खाते समय राग-द्वेष कर लेते हैं। खाते समय व परोसते समय अत्यधिक आसक्ति रखकर या सराह-सराह कर खाते हैं, नहीं खाने लायक खा लेते हैं। शाम को प्रतिक्रमण करते समय याद आये या न भी आये, इसलिये आप उसी समय प्रतिक्रमण की आदत डाल दें। मुझे अपनी आत्मा में लौटना है और जो दोष लग गया है उसका प्रतिक्रमण कर उन दोषों से मुक्त होना है। इस प्रकार भावों की विशुद्धि से कर्मों की अधिक निर्जरा होती है।

रात्रि में सोने से पहले हमें अवश्य प्रतिक्रमण कर लेना चाहिये। ऐसा नहीं है कि हमसे गलतियाँ होती नहीं। पहले भी हमसे गलतियाँ हुईं, आज भी हो रही हैं और आगे भी हो सकती हैं। इसलिये हम अपनी गलतियों को स्वीकार करें व उन्हें दूर करने का पुरुषार्थ करें। हमें गलतियों से जुड़े हुए नहीं रहना है। हर हालत में जागृत रहकर उन गलतियों को दूर करने का प्रयत्न कर आत्मा की शुद्धि करनी है। एक नारकी जीव भी अपनी भूल को स्वीकार कर मिथ्यात्वी से सम्यक्त्वी बन जाता है। इसका मतलब उसने जैसा है, उसको उसी रूप में स्वीकार कर मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण कर लिया। इन सब दुःखों का कारण मैं स्वयं ही हूँ, मुझे कोई दुःखी कर नहीं सकता। इस प्रकार सब दोष अपने पर लेकर उन दुःखों को समभाव से सहन करता है। मुझे कोई दूसरा सुखी भी नहीं कर सकता और न ही कोई दुःखी कर सकता है। इस प्रकार का चिन्तन सम्यग्दर्शन उत्पन्न करा देता है।

हमारा ही अज्ञान व मोह हमें दुःखी करता है। शुभकर्म के उदय में भी हमें राग नहीं करना है। जैसे किसी का सहयोग किया, किसी की भलाई की या किसी को अपने समय का भोग दिया। उसमें भी कामना मत करो कि मैंने किया, इसलिये मुझे भी मिलना चाहिये। ज्ञानी कहते हैं कि आप शुभ को भी जानो व अशुभ को भी जानो। जानकर शुभ पर राग व अशुभ पर द्वेष मत करो। आपने किसी का सहयोग किया और सहयोग करके भी राग-द्वेष कर लिया तो बंधन हो जायेगा। हमने उदय भाव से जो जीवन जीया, शरीर से जितने भी कार्य किये, उन सबका ''तस्स मिच्छामि दुक्कडं'' देना है।

मुझे बाहर के सब स्थानों से हटकर अपनी चेतना में आना है। मुझे सब दोषों से मुक्त होना है, ऐसे भाव मन में आने चाहिये। हम दिनभर की चर्या को देखना शुरू करें, पूरी की पूरी रील सामने आ जानी चाहिये। जब हम देखना शुरू करेंगे तो खुद को लगेगा कि मुझसे बहुत से अपराध हो गये हैं। पृथ्वी, पानी, वायु, अग्निकाय आदि जीवों की जाने-अनजाने में अनेक प्रकार की हिंसा मन से, वचन से व शरीर के माध्यम से मैंने की, कराई व करके राग-द्वेष पैदा किये। अखबार पढ़कर व टी.वी. देखकर मन में कितने राग-द्वेष किये। इस प्रकार जितनी गहरी नजर होगी उतना ही लगेगा कि हमने अपना अमूल्य समय कितना व्यर्थ में बर्बाद कर दिया। मुँह धोते समय कितना पानी व्यर्थ गिराते हैं। नहाते समय भी आधी बाल्टी पानी से काम चल सकता था, पर मैंने कितना पानी व्यर्थ गँवा दिया। इस प्रकार पानी के जीवों की [illegible] व उनसे [illegible]

के भाव यदि मन में लायेंगे तो इससे हमारे कर्मों की निर्जरा होगी। गर्मी बहुत है और अचानक लाइट चल जाय तो मन में कैसे भाव आते हैं और वापस जब थोड़ी देर के बाद लाइट आती है तब चित्त कैसा प्रस होता है। इस प्रकार दिन भर में कितने राग-द्वेष के भाव मेरे मन में आये। कितनी बार मन में चंचलता के भा आये। कभी किसी ने प्रशंसा कर दी तो मन में कैसे भाव आते हैं और किसी ने निंदा कर दी, हमारे दोष बताये तो कैसे भाव मन में आते हैं कि इनको तो हमारी गलतियाँ ही दिखती हैं। इस तरह हर बार घटना घटने पर अपने अन्दर के विचारों का निरीक्षण करें। दिनभर में पता नहीं कितने-कितने विकल्पों में हम उलझ जाते हैं। अपने अन्दर के इन सब विचारों को हमें बड़ी गहरी नजर से देखना है। पहले उन दोषों को देखेंगे तभी तो उनको दूर कर सकेंगे। इसलिये प्रतिक्रमण करना है तो अपने किये गये दोषों को देखें और उन्हें दूर करने का प्रयास करें। फिर हमको लगेगा कि मेरा पूरा दिन, पूरा माह, पूरा साल ही क्या मेरी तो पूरी जिन्दगी ही, व्यर्थ के कार्यो को करने में चली गई- ऐसा देखकर कभी हमें रोना भी आ सकता है और यह रोना पूरी जिन्दगी को बदल सकता है।

हम ऐसा प्रतिदिन देखने का अभ्यास करें। दिन भर में क्या, हर क्षण में हमारे विचार बदलते रहते हैं। जितने भी राग-द्वेष के परिणाम हैं, हिंसा के विचार हैं, अशुभ परिणाम हैं, वे कर्म-बंधन के कारण हैं। इसी प्रकार जब हम खाना खा रहे हैं, उस समय कैसे परिणाम आये, कब खाया, कैसा खाया, कितना खाया, ठूँस-ठूँस कर तो नहीं खाया, जो खाने लायक नहीं था, उसे तो नहीं खाया इत्यादि चिन्तन करें एवं भूल के लिए 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं' दें।

कपड़ा फट जाता है और हम ध्यान नहीं देते तो वह ज्यादा फट जाता है, इसी प्रकार जीवन में दोष लगते हैं और हम उनकी तरफ ध्यान नहीं देते उन्हें सुधारते नहीं तो ज्यादा बढ़ते जाते हैं। बहुत से भाई-बहिन कहते हैं कि यह रोज-रोज क्या प्रतिक्रमण करना? घर का कचरा रोज निकालते हैं या कचरे में ही रहते हैं? कचरा रोज निकालते हैं और फिर से आ जाता है। हम बाहर के घर को तो बहुत साफ रखते हैं, जो ईंट, चूना, पत्थर से बना हुआ है, पर आत्मा तो रहने का मन्दिर है, जो हमारा भगवान् है उस आत्मदेव को कैसे गंदा रख सकते हैं? इसलिये रोज प्रतिक्रमण कर हम अपनी आत्मा को पवित्र व निर्मल रखें। कुछ दवाइयाँ ऐसी होती हैं जो बीमारी को दूर करती हैं और कुछ बीमारी नहीं है तो भी बीमारी को आने ही नहीं देती, प्रतिक्रमण भी ऐसी ही औषधि है जो दोष लग जाता है तो उसे दूर कर देती है और न हो तो उसे लगने नहीं देती है।

प्रतिक्रमण हमारा अपना कार्य है, इसे हम स्वयं अपने भावों के साथ करें और फिर परिणाम देखें। दूसरा हमें प्रतिक्रमण के पाठों को सुना सकता है, परन्तु हमारे दोषों को, हमारी गलतियों को तो हमें ही सुधारना है। हमारे अपने भावों को तो हम ही देख सकते हैं। जैसे एक छोटा सा छिद्र पूरी नाव को डूबा देता है, वैसे ही व्रतों में लगे ये छिद्र पूरे जीवन को बर्बाद कर देते हैं। प्रतिक्रमण के द्वारा हम उन दोष रूपी छिद्रों को बंद करते हैं। प्रतिक्रमण के माध्यम से ही हमारी जीवन रूपी चादर में लगे सब दाग-धब्बे दूर हो जाते हैं, सारे आस्रव द्वार वंद हो जाते हैं, नये कर्मों का बंधन फिर नहीं होता।

प्रतिक्रमण की साधना ज्ञान की साधना है, दर्शन की साधना है, चारित्र की साधना है, तप की साधना है एवं वीर्याचार की साधना है। प्रतिक्रमण से मन, वचन व काया में स्थिरता आती है। आठ प्रवचन माता की गोद में साधक का मन स्थिर रहता है।

बहुत से व्यक्ति कहते हैं कि साधु-संतों को दोनों समय प्रतिदिन प्रतिक्रमण करना जरूरी है। साधु-संतों को यदि दोनों समय प्रतिक्रमण करना जरूरी है तो क्या श्रावक के लिये प्रतिक्रमण करना आवश्यक नहीं है क्या? जरा सोचें पाप अधिक कौन करता है? दोष ज्यादा किसको लगते हैं? सावधानी ज्यादा किसको रखनी चाहिये? अतिक्रमण श्रावक-श्राविका के होता है तो प्रतिक्रमण भी उन्हें करना जरूरी है। इसलिये प्रतिक्रमण कभी किसी का छूटना नहीं चाहिये। चाहे खाना खाओ या नहीं, चाहे सोओ या नहीं, पर प्रतिक्रमण तो दोनों समय अवश्य करना है, फिर देखें जीवन का रूपान्तरण हो जायेगा व जीवनचर्या में एक व्यवस्था बनी रहेगी। भीतर में लगेगा कि शक्ति का संचार हो रहा है, तब अनुभव होगा कि प्रतिक्रमण रूपी औषधि अपना काम कर रही है। हम फिर कहीं भी भटकेंगे नहीं एवं किसी तरह अपने घर में लौट कर आ जायेंगे।

प्रतिक्रमण के पहले की जिन्दगी बिल्कुल अलग होती है तथा प्रतिक्रमण के बाद की जिन्दगी बिल्कुल अलग ही होती है। प्रतिक्रमण करने वाला स्वयं के जीवन को एक नया जन्म देता है। हम भी अपने को नया जन्म देने में सक्षम बनें। जिसे आत्मा के सुख की अनुभूति हो जाती है उसे बाहर के सुख की इच्छा-कामना रहेगी ही नहीं। उसे फिर बाहर भटकने की जरूरत ही नहीं। जब मेरी आत्मा में भी वीतरागता का सुख मौजूद है फिर मुझे संसार के क्षणिक सुख अच्छे कैसे लग सकते हैं?

भगवान् की आज्ञा के विपरीत जो-जो भाव किये, जो मुझे नहीं करने चाहिये उन सब भावों को मैं वोसिराता हूँ। ये जो भी दोष थे वे सब कर्मों के उदय से थे। कर्म उदय से जो-जो भाव मैंने किये उन सब भावों को मैं वोसिराता हूँ। आत्मगुणों के अलावा अन्य जितने भी भाव मैंने किये वे सब वैभाविक भाव थे, वे सब मेरे नहीं थे। मैं तो ज्ञान-दर्शनमय हूँ। मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, निष्कलंक हूँ, निर्मल हूँ। मेरी आत्मा में अनन्त शक्ति है। मैं अपने ही आत्मगुणों में स्थित हो सकता हूँ। मैं कषाय व राग-द्वेष भावों को क्षय करने की क्षमता रखता हूँ। मैं इन सब विभाव भावों का क्षय कर सकता हूँ। मेरा यह स्वरूप है-

एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा॥

हम सब अतिक्रमण से हटकर प्रतिक्रमण में आ जायें तो यहाँ भी आनन्द और आगे भी आनन्द।

-चोरड़िया भवन, जालोरी गेट के बाहर, जोधपुर

प्रतिक्रमण की उपादेयता

श्री अरुण मेहता

प्रतिक्रमण के आशय, उसकी आवश्यकता, उसके काल एवं उपादेयता पर शासन सेवा समिति के सदस्य श्री अरूण जी मेहता ने प्रस्तुत आलेख में सम्यक् प्रकाश डाला है। -सम्पादक

जैन धर्म एवं दर्शन का प्रमुख आधार आगम है। आगम बत्तीसी में बत्तीसवाँ सूत्र 'आवश्यक सूत्र' है आवश्यक सूत्र में छह आवश्यक हैं, इनमें चौथा आवश्यक प्रतिक्रमण इस आगम का प्रमुख भाग है।

'प्रतिक्रमण' शब्द का आशय- 'प्रति+क्रमण' इन दोनों शब्दों के योग से प्रतिक्रमण शब्द बना है प्रति का अर्थ है- पीछे की ओर, क्रमण का अर्थ है- चलना अथवा गति करना। अर्थात् जो अतिक्रमण यान सीमा का उल्लंघन हुआ है वहाँ से वापस अपनी सीमा में आना प्रतिक्रमण है।

- व्रत नियमों की मर्यादा का जो उल्लंघन हुआ है, उस उल्लंघन से मर्यादा में वापस आना प्रतिक्रमण है।
- अशुभ योगों में गये हुए आत्मा का वापस शुभयोगों में आना प्रतिक्रमण है।
- प्रमाद के कारण विभाव में गई हुई आत्मा का वापस स्वभाव में आना प्रतिक्रमण है।
- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग से आत्मा को हटाकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र लगाना प्रतिक्रमण है।
- किये हुए पापों की आलोचना-पश्चात्ताप कर उन्हें फिर न दोहराने का संकल्प करना प्रतिक्रमण है।

इस प्रकार यह कहा ज़ा सकता है कि प्रतिक्रमण एक प्रकार का आत्म-स्नान है, जिससे आत्मा क रहित होकर हल्की व शुद्ध बनती है।

प्रतिक्रमण की आवश्यकता- जिस प्रकार यदि हमारे पैर में काँटा चुभ जाये अथवा आँखों में तिन चला जाये तो हमारी गति एवं नजर में व्यवधान आ जाता है, जिससे आगे गति करना संभव नहीं होता ठीक इसी प्रकार साधक के लिये भी गृहीत व्रत-नियमों में यदि कोई अतिचार-दोष लगा हो तो उसका शोध करना आवश्यक है। इससे चारित्र मार्ग में निरन्तर प्रगति होती है। व्रत-नियमों के अतिचारों का शोधन क का अमोघ उपाय प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण के भेद- प्रतिक्रमण के प्रमुख दो भेद हैं- द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण।

(अ) द्रव्य प्रतिक्रमण- अंतरंग उपयोग रहित, दोष शुद्धि का विचार किये बिना, पुण्य फल की कामना केवल परम्परा रूप से प्रतिक्रमण करना द्रव्य प्रतिक्रमण है। दोषों या पापों की शुद्धि के लिए शब्द प्रतिक्रमण करना अथवा बिना उपयोग के पाठों का उच्चारण करना भी द्रव्य प्रतिक्रमण है।

(ब) भाव प्रतिक्रमण- अंतरंग उपयोग के साथ, लोक-परलोक की कामना से रहित, मात्र अपनी आत्मा को कर्ममल से विशुद्ध बनाने के लिए, जिनाज्ञानुसार किया जाने वाला प्रतिक्रमण 'भाव प्रतिक्रमण' कहलाता है। प्रमादवश जो पाप दोष लगे हैं, उन्हें अकरणीय समझ कर उन दोषों का वापस सेवन नहीं करने के लिये सजग रहना 'भाव प्रतिक्रमण' है।

भाव-प्रतिक्रमण के बिना द्रव्य-प्रतिक्रमण से वास्तविक लाभ नहीं होता है। भाव प्रतिक्रमण से ही कर्म-निर्जरा एवं आत्मशुद्धि रूप वास्तविक फल की प्राप्ति होती है। अतः द्रव्य-प्रतिक्रमण से भाव-प्रतिक्रमण की ओर सदा अग्रसर होना चाहिये।

द्रव्य प्रतिक्रमण के बिना भाव प्रतिक्रमण की प्राप्ति संभव नहीं है। द्रव्य प्रतिक्रमण वह उर्वरा भूमि है, जिसमें भाव प्रतिक्रमण का बीज आसानी से पुष्पित-फलित किया जा सकता है।

प्रतिक्रमण कब? - जब जिस समय अतिचार दोष का सेवन हुआ है अथवा जब उसका ज्ञान एवं भान हो जाये, उसी समय साधक को अन्तर्मन से "मिच्छामि दुक्कडं" कहकर प्रतिक्रमण करना चाहिये। जितना शीघ्र हम प्रतिक्रमण करेंगे उतनी ही जल्दी हमारी आत्मा शुद्ध हो जायेगी।

हम जब तक प्रतिक्रमण नहीं करेंगे, हमारी आत्मा दूषित ही बनी रहेगी व उस दोष की अनुमोदना रूप पाप का बंध भी चलता रहेगा। जैनागम के अनुसार काल की अपेक्षा प्रतिक्रमण पाँच प्रकार का है- १. दैवसिक २. रात्रिक ३. पाक्षिक ४. चातुर्मासिक और ५. सांवत्सरिक।

दिनभर में हुई भूलों को शाम को तथा रात-भर की भूलों को प्रातः ध्यान में लाकर प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। जो भूलें प्रमादवश शेष रह जायें तो उन्हें पन्द्रह दिन (पक्ष) के अंत में ध्यान में लाकर पाक्षिक प्रतिक्रमण द्वारा आत्म-शोधन करना चाहिये। फिर भी कदाचित् भूलें रह जाये तो चातुर्मास के अन्त में ध्यान में लाकर प्रतिक्रमण करना चाहिये। कदाचित् फिर भी कुछ सूक्ष्म-स्थूल भूलें रह जायें तो संवत्सर के अंत में सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण करके आत्म-शुद्धि करना अनिवार्य है।

इस प्रकार सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करके अपने पुराने खाते बराबर कर लें, कषायों को उपशांत कर लें, हृदय को सरल एवं विनम्र बनाकर सौम्यभाव की शीतल धारा में स्नान कर लें, यह प्रत्येक साधक के लिये अत्यावश्यक है।

जब प्रतिदिन प्रातः व सायं दोनों समय विधि सहित प्रतिक्रमण करने का विधान है तो फिर पाक्षिक, चातुर्मासिक व सांवत्सरिक प्रतिक्रमण का विशेष विधान क्यों किया गया है?

हम जानते हैं कि मानव स्वभाव से विचित्र है। छद्मस्थ प्राणी होने के कारण जाने-अनजाने में भूल हो जाना स्वाभाविक है। कभी-कभी वह भूल करके भी तुरन्त उस पर पश्चात्ताप नहीं करता है। अहंकार में क्रोध की आग अंतर में धधकती रहती है और उसे शांत होने में कभी-कभी कुछ दिवस या मास तक लग जाते हैं। धीरे-धीरे जब मन शांत होता है, विरक्त होता है, तब मनुष्य को अपनी भूल का भान होता है, इसलिए उक्त पाँचों समयों में प्रतिक्रमण करने का विधान किया गया है।

हमें ऐसा भी नहीं सोचना चाहिये कि जब सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करते हैं तो फिर दोष लगा सकते हैं

प्रतिक्रमण करने की उपयोगिता नहीं है। वर्ष भर में किये हुए पापों-अतिचारों का ध्यान वर्ष के अंत में एक साथ नहीं आ सकता। स्मरण-शक्ति कमजोर होने से बहुत सारे पाप आलोचना एवं शोधन करने से रह सकते हैं। जिस प्रकार यदि घर का सारा कचरा सिर्फ दीपावली के दिन ही साफ करें व वर्ष भर एकत्रित होने दें तो क्या स्थिति होगी, हम समझ सकते हैं। अतः प्रतिक्रमण जितना शीघ्र किया जाये उतना ही अच्छा है, इससे मन की कलुषता शीघ्रता से समाप्त हो जाती है।

आगम में बताया गया है कि साधु को प्रमादवश यदि कोई अतिचार-दोष लग जाये, परस्पर कलह हो जाये तब तुरन्त उसकी शुद्धि करना आवश्यक है। जब तक वह साधु प्रतिक्रमण-प्रायश्चित्त नहीं कर ले तब तक उसे आहार करना, विहार करना और यहाँ तक कि शास्त्र स्वाध्याय करना भी उचित नहीं है।

यदि वर्ष के अंत में संवत्सरी-प्रतिक्रमण भी हमने शुद्ध भावों से नहीं किया, दोष शुद्धि नहीं की तो हमारी कषाय अनंतानुबंधी-श्रेणी की हो जायेगी, जिससे हम सम्यक्त्व रूपी दुर्लभ रत्न को सुरक्षित नहीं रख पायेंगे।

प्रतिक्रमण सबके लिए- जिन्होंने किसी प्रकार के व्रत-नियम ग्रहण नहीं किये हैं, क्या ऐसे लोगों को भी प्रतिक्रमण से लाभ होता है? क्या उनके लिए भी यह आवश्यक है? इन प्रश्नों के उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि निम्न कारणों से प्रतिक्रमण करना प्रत्येक आत्मार्थी साधक के लिये आवश्यक है, चाहे उसने व्रत-नियम ग्रहण कर रखे हैं अथवा नहीं-

१. प्रतिक्रमण करने से व्रतों के स्वरूप की जानकारी एवं अव्रती की व्रत-ग्रहण करने की भावना बलवती बनती है।
२. प्रतिक्रमण करने से व्रतों में स्थिरता एवं दृढता आती है।
३. प्रतिक्रमण के पाठों में समकित व ज्ञान के अतिचारों का भी वर्णन है, अठारह पापों की आलोचना भी है जो करना सभी के लिये आवश्यक है।
४. अकरणीय कार्यों-कर्मादान आदि की जानकारी एवं उनसे बचते रहने की भावना दृढ़ बनती है।
५. वीतराग के वचनों पर श्रद्धा न रखी हो, सिद्धान्त विपरीत प्ररूपणा की हो, अथवा करने योग्य कार्य स्वाध्याय-ध्यान आदि न किया हो तो उसकी आलोचना करना भी सभी के लिये आवश्यक है।
६. आवश्यक सूत्र के छह आवश्यकों में से चौथे आवश्यक 'प्रतिक्रमण' में ही व्रतों की प्रमुखता है, शेष अन्य आवश्यक अव्रती के लिये भी लागू होते हैं।
७. जितना समय प्रतिक्रमण करने में व्यतीत होगा, उतने समय हमारे योगों की प्रवृत्ति शुभ रहेगी। अशुभ पापों व कर्मों के बंधन से उतने समय के लिये तो हमारा बचाव हो सकेगा।
८. स्वाध्याय होगा।
९. चारित्र की विशेष अभिवृद्धि होगी।
१०. कालेकाल शुद्ध प्रतिक्रमण करने से तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन हो सकता है।

-४६७ ए, सातवीं ए रोड, सरदारपुरा, जोधपुर

जैन साधना का प्राण : प्रतिक्रमण

श्रीमती शान्ता मोदी

संसार दुःख रूप है और सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र इसकी निवृत्ति के उपाय हैं। चारित्र के अन्तर्गत 'आवश्यक सूत्र' का प्रतिपादन है। लेखिका ने प्रतिक्रमण के संबंध में आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य हरिभद्र और आचार्य भद्रबाहु के मन्तव्य को प्रकट करते हुए प्रतिक्रमण के दो, पाँच, छः और आठ भेदों को समझाया है। सूत्र, टीका, निर्युक्ति से संगृहीत आवश्यक सूत्र की विषय-वस्तु पाठकों के लिए उपादेय है। -सम्पादक

जन्म-जरा-मरण से युक्त, आधि-व्याधि के दुःखों से भरे हुए, प्रतिक्षण परिवर्तनशील व्यवहार वाले, असार होने पर भी सार सहित मालूम होने वाले इस संसार में सभी जीव सुख चाहते हैं और दुःख का नाश करना चाहते हैं। किन्तु जब तक सुख और दुःख के कारणों का ज्ञान न हो, तब तक सुख की प्राप्ति और दुःख का नाश नहीं हो सकता। इसलिये मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, अशुभयोग, हिंसा, आरम्भ, ईर्ष्या, राग-द्वेष आदि दुःखों से छुटकारा पाने के लिये वीतराग प्रभु महावीर ने सम्यग्ज्ञान और सम्यक् क्रिया से मोक्ष की प्राप्ति होना बतलाया है।

सम्यग्ज्ञान आत्मा की शुद्धि के बिना कदापि नहीं हो सकता और आत्मा की शुद्धि बिना क्रिया के असंभव है। क्योंकि अकेले ज्ञान से कर्मों का क्षय नहीं होता, बल्कि ज्ञानपूर्वक क्रिया से होता है। नवीन कर्मों का बंध रोकने के लिये तथा चिरकाल से लगे हुए मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग से उत्पन्न होने वाले कर्मों के समूह का नाश करने के लिये सम्यग्दृष्टि व सम्यग्ज्ञानी जनों को सम्यक् चारित्र में परायण रहना चाहिये। यह निश्चय हो जाने पर चारित्र रूप पवित्र कर्त्तव्य का प्रतिपादन करने वाला 'आवश्यक सूत्र' है।

'अवश्यं करणीयत्वाद् आवश्यकम्' जो अवश्य करणीय हो, वह आवश्यक है। साधु और श्रावक (चारों तीर्थ) नित्यप्रति क्रमशः दिन और रात्रि के अन्त में सामायिक आदि की साधना करते हैं, अतः वह साधना 'आवश्यक' पद वाच्य है।

अनुयोगद्वार सूत्र की गाथा है-

समणेण सावएण य, अवस्स कायव्वयं हवइ जम्हा।
अन्तो अहो निसस्स य, तम्हा आवस्सयं नाम॥

आवश्यक आध्यात्मिक समता, नम्रता तथा आत्म-निरीक्षण आदि सद्गुणों का आधार है।

'गुणानां वश्यमात्मानं करोतीति।' जो आत्मा को दुर्गुणों से हटाकर गुणों के वश अर्थात् अधीन करे, वह

आवश्यक है। इसको करने के लिये कोई जाति बन्धन, कुल आदि का भेद नहीं है। अनुयोग द्वार-सूत्र में आवश्यक छह प्रकार के बताए हैं- सामाइयं, चउवीसत्थओ, वंदणयं, पडिक्कमणं, काउस्सग्गो पच्चक्खाणं।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्राचीन जैन-परम्परा के अनुसार प्रतिक्रमण का व्याकरण सम्मत अर्थ करते हुए बताया- प्रतीपं क्रमणं प्रतिकमणम् अयमर्थः- शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात्प्रतीपं क्रमणं। इसका भाव है कि- शुभयोगों से अशुभ योगों में गए हुए को पुनः शुभयोग में लौटा लाना प्रतिक्रमण है। आचार्य हरिभद्र ने भी आवश्यक सूत्र की टीका में प्रतिक्रमण की व्याख्या करते हुए तीन महत्त्वपूर्ण प्राचीन श्लोक दिए हैं।

१. स्वस्थानाद् यत्परस्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते ।।

२. क्षायोपशमिकाद् भावादौदयिक वशंगतः।
तत्रापि च स एवार्थः, प्रतिकूलगमात्स्मृतः ।।

३. प्रति प्रति वर्तनं वा, शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु।
निःशल्यस्य यतेर्यत्, तद्वा ज्ञेयं प्रतिक्रमणम्।।

आचार्य भद्रबाहुस्वामी ने आवश्यकनिर्युक्ति में प्रतिक्रमण के संबंध में गम्भीर विचार किया है। इसका चार प्रकार से चिन्तन किया जा सकता है-

पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे पडिक्कमणं।
असद्दहणे य तहा, विवरीयपरूवणाए।। -आवश्यक नि. १२६८

१. हिंसा, असत्य, चोरी आदि पाप कर्मों का श्रावक तथा साधु के लिये अणुव्रत एवं महाव्रत के रूप में प्रतिषेध किया गया है, यदि भ्रान्तिवश भी ये कर्म हो जाए तो प्रतिक्रमण करना चाहिये।

२. शास्त्र-स्वाध्याय, प्रतिलेखना, सामायिक आदि जिन कार्यों को करने का शास्त्रों में विधान है, उनके न किये जाने पर प्रतिक्रमण करना चाहिए, क्योंकि कर्त्तव्य कर्म को नहीं करना भी एक दोष है।

३. आगम में प्रतिपादित आत्मा आदि अमूर्त तत्त्वों की सत्यता में सन्देह अर्थात् अश्रद्धा उत्पन्न होने पर प्रतिक्रमण करना चाहिये। यह मानसिक शुद्धि हेतु प्रतिक्रमण होता है।

४. हिंसा आदि के समर्थक विचारों की प्ररूपणा करने पर भी प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिये। यह वचन शुद्धि है।

आवश्यक सूत्र का दूसरा नाम प्रतिक्रमण है। यह प्रायश्चित्त रूप एवं लगे हुए दोषों के पश्चात्ताप रूप होता है। पश्चात्ताप पाप के प्रक्षय का प्रधान कारण है। पाप कर्मों का तत्काल पश्चात्ताप कर लिया जाए या आलोचना कर ली जाए तो उसके अनुभाग बंध आदि में न्यूनता और शिथिलता हो जाती है।

सामान्यरूप से प्रतिक्रमण दो प्रकार का है - द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण। मुमुक्षु साधकों के लिये भाव प्रतिक्रमण ही उपादेय है, द्रव्य प्रतिक्रमण उसका आधार है। केवल यश आदि के लिये दिखावे के

रूप में व तोता रटन्तानुसार किया जाने वाला प्रतिक्रमण द्रव्य प्रतिक्रमण है, क्योंकि इससे दोषों का शमन नहीं होता तथा न आत्मशुद्धि ही हो पाती है। संयम में लगे हुए दोषों की सरल भाव से प्रतिक्रमण द्वारा शुद्धि करना और भविष्य में उन दोषों को न करने के लिये सतत जागरूक रहना प्रतिक्रमण का वास्तविक उद्देश्य है। ताकि साधक पाप भीरू होकर आत्मशुद्धि हेतु सतत आगे बढ़ता रहे। भाव प्रतिक्रमण में दोष-प्रवेश के लिये अंशमात्र भी अवकाश नहीं रहता। इसके द्वारा पापाचरण का सर्वथाभावेन प्रायश्चित्त हो जाता है। आत्मा पुनः अपनी शुद्ध स्थिति में पहुँच जाता है। भाव प्रतिक्रमण के लिये जिनदास कहते हैं- "भाव पडिक्कमणं जं सम्मदंसणाइगुणजुत्तस्स पडिक्कमणं ति।।" अर्थात् सम्यग्दर्शनादि गुणयुक्त जो प्रतिक्रमण होता है, वह भाव प्रतिक्रमण है।

आचार्य भद्रबाहु आवश्यकनिर्युक्ति में कहते हैं- *भाव पडिक्कमणं पुण, तिविहं तिविहेण नेयव्वं।* अर्थात् भाव प्रतिक्रमण तीन करण एवं तीन योग से होता है। आचार्य हरिभद्र ने उक्त निर्युक्ति गाथा पर विवेचन करते हुए एक प्राचीन गाथा उद्धृत की है-

मिच्छत्ताइ ण गच्छइ, ण य गच्छावेइ णाणुजाणेई।
जं मण-वय-काएहिं, तं भणियं भावपडिक्कमणे।।

इसका भाव है कि मन, वचन एवं काय से मिथ्यात्व, कषाय आदि दुर्भावों में न स्वयं गमन करना, न दूसरों को गमन कराना, न गमन करने वालों का अनुमोदन करना ही भाव प्रतिक्रमण है।

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में काल के भेद से प्रतिक्रमण के तीन पक्ष बताये हैं-

१. भूतकाल में लगे हुए दोषों की आलोचना करना।

२. वर्तमान काल में लगने वाले दोषों से संवर द्वारा बचना।

३. प्रत्याख्यान द्वारा भावी दोषों को अवरुद्ध करना।

अपने दोषों की निन्दा द्वारा भूतकालिक अशुभयोग की निवृत्ति होती है, अतः अतीत प्रतिक्रमण है। संवर के द्वारा वर्तमान काल विषयक अशुभ योगों की निवृत्ति होती है, यह वर्तमान प्रतिक्रमण है। प्रत्याख्यान के द्वारा भविष्यकालीन अशुभ योगों की निवृत्ति होती है। भगवती सूत्र में कहा है- *अईयं पडिक्कमेइ, पडुप्पन्नं संवरेइ, अणागयं पच्चक्खाइ।*

प्रतिक्रमण जैन साधना का प्राण है। जैन साधक के जीवन का कोना-कोना प्रतिक्रमण के महाप्रकाश से प्रकाशित होता है। प्रतिक्रमण की साधना प्रमाद को दूर करने के लिये है। प्रमाद से साधक का जीवन चाहे साधु हो या श्रावक, आगे नहीं बढ़ पाता है। प्रतिक्रमण की महत्ता के लिये गौतम ने प्रभु महावीर से प्रश्न किया-पडिक्कमणेणं भंते जीवे किं जणयइ?

प्रभु ने फरमाया-पडिक्कमणेणं वयछिद्दाइं पिहेइ, पिहियवयछिद्दे, पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपहुत्ते (अप्पमत्ते) सुप्पणिहिए विहरइ।

प्रश्न- भगवन्! प्रतिक्रमण करने से आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है?

उत्तर- प्रतिक्रमण करने से अहिंसा आदि व्रतों के दोष रूप छिद्रों का निरोध होता है। छिद्रों का निरोध होने पर आत्मा आस्रव का निरोध करता है तथा शुद्ध चारित्र का पालन करता है। इस प्रकार वह आठ प्रवचन माता (पाँच समिति तथा तीन गुप्ति रूप संयम) में सावधान, अप्रमत्त तथा सुप्रणिहित होकर विचरण करता है।

दिन-रात अविराम गति से जीवन की दौड़ धूप चल रही है। सावधानी रखते हुए भी मन, वाणी और कर्म में विभिन्नता आ जाती है। साधक गुरुदेव या भगवान् की साक्षी से अपनी भटकी हुई आत्मा को स्थिर करता है। भूलों को ध्यान में लाता है। मन, वाणी और कर्म के पश्चात्ताप की आग में डाल कर निखारता है, एक-एक भूल को निरीक्षण शक्ति से देखता है। देखकर स्वयं को जान लेता है और साधना के मार्ग में सुगति से निरन्तर आगे बढ़ता रहता है तथा अपने को शुद्ध बना लेता है।

अपनी भूलों के प्रति प्रमाद साधक के लिये महापाप है। वह साधक ही क्या, जो अपने मन के कोने-कोने को सम्यक् रूप से टटोल कर स्वच्छ न करे। जैन धर्म का प्रतिक्रमण इसी सिद्धान्त पर आधारित है। स्वदोष दर्शन ही आगमिक भाषा में प्रतिक्रमण है।

प्रतिदिन प्रतिक्रमण करते रहने से साधक में अप्रमत्त भाव की स्फूर्ति बनी रहती है। प्रतिक्रमण के समय पवित्र भावना का प्रकाश मन के कोने-कोने में जगमगाने लगता है और समभाव का अमृत-प्रवाह अन्तर के मल को बहाकर साफ कर देता है। पाप हुए हों या न हुए हों, प्रतिक्रमण के समय सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान की साधना तो हो ही जाती है। यह साधना भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यह ऐसी औषधि है, जिसका सेवन करने से रोग तो मिटेगा ही, पर भविष्य में भी उसका प्रभाव रहेगा।

प्रतिक्रमण में 'मिच्छामि दुक्कड़' को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है। ताकि साधक जागरूक रहे और अपने कर्त्तव्यों का पूर्ण रूप से पालन करता रहे।

संक्षेप में कहें तो प्रतिक्रमण आत्मशोधन की सर्वश्रेष्ठ विधि है। मनुष्य जीवन के दैनिक क्रियाकलापों को करता हुआ, पापों से बचकर धर्म मार्ग पर अग्रसर होता रहे और अपनी आत्मा पर लगे हुए पाप कर्म की कालिख को शुद्ध करता हुआ परम पद की ओर अग्रसर हो, यही प्रतिक्रमण का लक्ष्य है। अनेकानेक भव्य आत्माओं ने अपनी आत्मा का शोधन करके अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त किया है। उसी प्रकार प्रत्येक साधक मनुष्य भव की महत्ता को समझकर परम पद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हो सकता है।

संदर्भ ग्रन्थ

१. आवश्यक निर्युक्ति- आचार्य भद्रबाहु स्वामी
२. पंच प्रतिक्रमण- पं. सुखलाल
३. आवश्यकसूत्रम्- पं. मुनि श्री कन्हैयालाल जी म.सा.
४. जिनवाणी- आगम विशेषांक
५. आवश्यक सूत्र- आचार्य हरिभद्र
६. आवश्यक सूत्र- पं. मुनि श्री अमोलक ऋषि जी म.सा.

-संयोजक, श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, सी-२६, देवनगर, टोंक रोड़, जयपुर

प्रतिक्रमण : एक विहंगम दृष्टि

डॉ. विमला भण्डारी

> प्रतिक्रमण का साधक संवर एवं निर्जरापूर्वक आत्मशोधन करता है। यदि जम्बूद्वीप के समस्त पर्वत सोने के बन जायें और बालू रेत स्वर्ण बन जाये और कोई इन्हें सात क्षेत्रों में दान दे तो भी उसकी उतनी आत्मशुद्धि नहीं होती जितनी प्रतिक्रमण से होती है। यही संदेश डॉ. भण्डारी के प्रस्तुत लेख से प्राप्त होता है। *-सम्पादक*

भारतीय दार्शनिक परम्परा में जैन दर्शन अपने व्यावहारिक पक्ष के लिए आज सम्पूर्ण विश्व में एक अनूठा गौरवपूर्ण स्थान बनाए हुए है। भगवान् महावीर ने पहले अपने जीवन में केवलज्ञान या सम्यक् सम्बोधि जैसे दुर्लभ लक्ष्य को प्राप्त किया, स्वयं दुःखमुक्त बने तथा जन-जन में दुःखमुक्ति हेतु उपदेश किया। उन्होंने साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध संघ की स्थापना की। उनके द्वारा निरूपित अर्थरूप वाणी के आधार पर गणधरों एवं आचार्यों ने आगमों की रचना की।

जैनागमों में आवश्यकसूत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आवश्यक सूत्र जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है हमारे आवश्यक कार्यों से संबंधित है। जीवन में कुछ कृत्य ऐसे होते हैं जो हमारे आत्म-विकास, आत्म-स्वातन्त्र्य और आत्म-समृद्धि के आधार-स्तंभ होते हैं। भगवान् ने ऐसे कृत्यों को आवश्यक कृत्यों की संज्ञा दी है। अनुयोगद्वार चूर्णि में आवश्यक को परिभाषित करते हुए लिखा है- जो गुणशून्य आत्मा को प्रशस्त भावों से आवासित करता है, वह आवासक या आवश्यक है। अनुयोगद्वारसूत्र की मलधारीकृत टीका में लिखा है कि जो समस्त गुणों का निवास स्थान है वह आवासक या आवश्यक है। आवश्यक जैन साधना का प्राण है। यदि व्यक्ति दृढ़ मनोयोग के साथ आवश्यक कृत्यों को सम्पादित करता है तो वह अनिवार्यतः आत्मश्रेय को उपलब्ध होता है।

मानवीय पुरुषार्थ की जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। हम जैसे भी हैं, उसका कारण हम स्वयं ही हैं। प्रत्येक व्यक्ति कर्म से आबद्ध है। कर्मों के वशीभूत जीवात्मा की अनंत काल तक यात्रा चलती रहती है। इसी क्रम में मनुष्य अनेक भूलें कर बैठता है, अंग्रेजी लोकोक्ति है- "Man is a bundle of mistakes" आदमी गलतियों का पुलिंदा है। हर व्यक्ति अपराध करता है। हर व्यक्ति भूल करता है। एक अंग्रेजी विद्वान् ने कहा है- "To forget is humane but to forgive is divine" भूलना या अपराध करना मानव की आदत है, परन्तु अपराधी को क्षमा कर देना ईश्वरीय गुण है। इस ईश्वरीय गुण को प्रकट करने के लिए ही

प्रभात तथा संध्याकाल में मानव के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक क्रिया है।

वस्तुतः अतिक्रमण का ही प्रतिक्रमण किया जाता है। आत्मा ने भ्रान्ति के क्षणों में स्वभाव (ज्ञान, दर्शन, चारित्र) से हटकर विभाव (राग-द्वेषादि) में रमण करके जो अतिक्रमण किया है, उससे पुनः लौटना अर्थात् स्वभाव में रमण करना ही प्रतिक्रमण कहलाता है।

जाग्रत तन और जाग्रत मन से प्रतिक्रमण करने वाला व्यक्ति संयम की साधना द्वारा आस्रव का निरोध करके संवर की निष्पत्ति करता है अर्थात् अतीत में लगे दोषों का पश्चात्ताप करता है। वह संवर के माध्यम से वर्तमान काल में दोषों को नहीं लगने देता और प्रायश्चित्त तप की साधना द्वारा निर्जरा की निष्पत्ति करके भविष्यकाल में लगने वाले दोषों को रोकने के लिए प्रत्याख्यान आदि द्वारा पूर्व संचित कर्मों का रेचन भी कर लेता है।

जैन आगम में प्रतिक्रमण को आवश्यक कहा गया है। आवश्यक का अर्थ है "*अवश्यं करणीयत्वा* आवश्यकम्" जो अवश्य किया जाए वह आवश्यक कहलाता है। यह साधु तथा श्रावक दोनों की आवश्यक क्रिया है। साधु सर्वविरति कहलाता है और श्रावक देशविरति। इसलिए साधु के लिए तो प्रतिदिन प्रातः सा दोनों समय प्रतिक्रमण करना अनिवार्य है, परन्तु श्रावक को भी प्रतिदिन उभयकाल प्रतिक्रमण करना चाहिए इस संबंध में प्रश्न यह उठता है कि जिसने श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये हों उसे तो प्रतिक्रमण करना योग्य है, परन्तु जिसने व्रत ग्रहण नहीं किए हों उससे अतिचार असंभव है, इसलिए अव्रती को प्रतिक्रमण करने की क्या आवश्यकता है? प्राज्ञ पुरुषों ने इसका सुन्दर समाधान करते हुए कहा है कि व्रती एवं अव्रती दोनों को प्रतिक्रमण करना चाहिए, क्योंकि मात्र अतिचारों की शुद्धि के लिए ही प्रतिक्रमण हो ऐसा आवश्यक नहीं है वंदित्तु सूत्र की गाथा ४८ "पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे अ पडिक्कमणं" में जिन कारणों से (जिनेश्वर निषिद्ध कार्य करने से, उपदिष्ट या करणीय कार्य न करने से, जिनवचन में अश्रद्धा करने से तथा असत्यप्ररूप से अर्थात् जिनेश्वरों के कथन, उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान के विरुद्ध विचार प्रतिपादन करने से) प्रतिक्रम किया जाता है उनमें मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरति तथा सर्वविरित सब आ जाते हैं। अतः च अविरति हो, चाहे विरति हो सबके लिए प्रतिक्रमण आवश्यक है।

वस्तुतः प्रतिक्रमण ऐसी औषधि के समान है, जिसका प्रतिदिन सेवन करने से विद्यमान रो (कषाय) शांत हो जाते हैं, रोग नहीं होने पर उस औषधि के सेवन से भविष्य में रोग नहीं होते अथ प्रतिक्रमण के द्वारा दोषों का निवारण हो जाता है और दोष नहीं लगे हों तो प्रतिक्रमण भाव और चारित्र विशेष शुद्धि करता है।

एक विद्वान् ने नर से नारायण बनने की क्रिया के रूप में महत्त्व देते हुए प्रतिक्रमण को ही ध्यान पहला चरण बताया है। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि प्रतिक्रमण से ही जीवन में सच्ची सामायि सच्ची समता और सच्ची समाधि आती है। समता जीवन का पर्याय बनता है, व्यक्ति स्वभाव के आलोक

प्रवृत्ति करता है, फलस्वरूप प्रवृत्ति भी उसे निवृत्ति की तरफ अग्रसर करती है।

प्रतिक्रमण का महत्त्व बताते हुए कहा गया है-

जंबुद्दीवे जे हुंति पव्वया, ते चेव हुंति हेमस्स।
दिज्जति सत्तखिते न छुट्टए दिवसपच्छित्तं।।
जंबुद्दीवे जा हुज्ज वालुआ, ताउ हुंति रयणाई।
दिज्जति सत्त खिते, न छुट्टए दिवसपच्छित्तं।।

अर्थात् जंबूद्वीप में जो मेरु आदि पर्वत हैं, वे सब सोने के बन जायें और जंबूद्वीप में जो बालू है, वह सब रत्नमय बन जाये, वह सोना और रत्न यदि सात क्षेत्र में दान दे देवें, तो भी जीव इतना शुद्ध नहीं बनता, जितना भावपूर्वक आलोचना करके प्रायश्चित्त वहन कर शुद्ध बनता है।

आलोयणपरिणओ सम्मं संपट्ठिओ गुरुसगासे।
जइ अंतरा कालं करेइ आराहओ तहवि।।

अर्थात् शुद्ध आलोचना करने के लिए गुरु के पास प्रस्थान किया हो और प्रायश्चित्त लेने के पहले ही वह व्यक्ति बीच में मृत्यु को प्राप्त हो जाए, तो भी वह आराधक बनता है। अशुद्ध आलोचना करने वाला विराधक बनता है।

लज्जा गारवेण बहुस्सुयमयेण वावि दुच्चरियं।
जे न कहंति गुरुणं, न हु ते आराहगा हुंति।।

अर्थात् लज्जा से अथवा मैं इतना धर्मी हूँ, अथवा मैं बड़ा हूँ, पाप कहने से मेरी लघुता होगी, इस प्रकार गारव से तथा पांडित्य का नाश न हो जाए, इस भय से जो जीव गुरु के पास शुद्ध आलोचना नहीं करते, वे वास्तव में आराधक नहीं बनते।

-विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र-विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

15,17 नवम्बर 2006
जिनवाणी, 100

प्रतिक्रमण की सार्थकता

डॉ. सुषमा सिंघवी

विदुषी लेखिका ने प्रस्तुत लेख में द्रव्य प्रतिक्रमण की अपेक्षा भाव प्रतिक्रमण का महत्त्व स्थापित किया है तथा प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची शब्दों का विवेचन कर प्रतिक्रमण की सार्थकता सब जीवों के प्रति क्षमाभाव एवं मैत्रीभाव में प्रतिपादित की है। -सम्पादक

छूटूँ पिछला पाप से, नवा न बांधूँ कोय।
तो जग में सब जीव से, खमत खामणा होय ।।

यह भावना प्रतिक्रमण करने से पूर्ण होती है। व्रती तथा अव्रती दोनों के लिये प्रतिक्रमण का महत्त्व है। अव्रती व्रती बने तथा व्रती की आत्मशुद्धि हो इसके लिए प्रतिक्रमण आवश्यक है।

प्रतिक्रमण छः आवश्यकों में चतुर्थ स्थान पर परिगणित है। भूतकाल में किये सावद्य योग (अशुभ कार्य) की मन, वचन, काया से गर्हा भूतकाल का प्रतिक्रमण है; वर्तमान में संभावित सावद्य योग का मन-वचन-काया से संवर-सामायिक-आराधन वर्तमान प्रतिक्रमण है तथा अनागत काल के सावद्य योग का मन-वचन-काया से परित्याग रूप प्रत्याख्यान भावी प्रतिक्रमण है। सामायिक तथा प्रत्याख्यान की साधना हेतु प्रतिक्रमण आवश्यक है। काल भेद से अशुभ योग के निवृत्ति-कारक प्रतिक्रमण को तीन प्रकार का कह दिया जाता है।

मिथ्यात्व एवं प्रमादवश स्वस्थान (स्वभाव) से परस्थान (विभाव) में गई आत्मा का पुनः स्वभाव में आना प्रतिक्रमण है। दूसरे शब्दों में क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में आई आत्मा का पुनः क्षायोपशमिक भाव में लौटना प्रतिक्रमण है।

'प्रति प्रति क्रमणं प्रतिक्रमणं' इस निर्वचन से अशुभ योग से निवृत्त होकर निःशल्य भाव से शुभ योग में प्रवर्तन करना प्रतिक्रमण (भाव) है। जो अशुभ योग से निवृत्त होकर शुभ योग में रहता है वह प्रतिक्रामक (कर्त्ता) है तथा जिस अशुभ योग का प्रतिक्रमण होता है वह प्रतिक्रान्तव्य (कर्म) कहलाता है।

प्रतिक्रमण का अर्थ है- अतिचार निवृत्ति क्रिया हेतु तत्पर होकर अतिचार विशुद्धि के लिए मन-वचन-काया से अपने गुरु के समक्ष या अपनी आत्मा के समक्ष प्रत्यर्पण करना।

प्रतिक्रमण करने का अर्थ है- दुष्कृत को मिथ्या करना, पाप का प्रायश्चित्त करना। इसलिए प्रतिक्रमण में 'मिच्छा मि दुक्कडं' (मिथ्या मे दुष्कृतं- मेरा दुष्कृत्य समाप्त हो) का कथन किया जाता है। य

मिथ्या दुष्कृत कथन दो प्रकार का होता है- १. द्रव्य से २. भाव से।

द्रव्य मिथ्या दुष्कृत को कुम्भकार के दृष्टान्त से समझा जा सकता है-

एक कुम्हार के घर में साधु ठहरे थे। उनमें से एक बालवय क्षुल्लक उस कुम्हार के घड़ों में अंगुली के बराबर धनुष से कंकर फेंककर छेद करता है। कुम्भकार ने नींद से जागने पर देख लिया और कहा- मेरे ब्रर्तनों में छेद क्यों कर रहे हो? क्षुल्लक कहता है- 'मिच्छामि दुक्कडं' (मिथ्या मे दुष्कृतं- मेरी गलती की मैं निन्दा करता हूँ) और दुबारा घड़ों में छेद करता है और फिर 'मिच्छामि दुक्कडं' मेरा दुष्कृत मिथ्या हो, ऐसा कहता है। इस पर कुम्भकार भी उस क्षुल्लक के कान मरोड़ता है। क्षुल्लक कहता है- मुझे दर्द हो रहा है। कुम्भकार कहता है- 'मिच्छामि दुक्कडं' मेरी गलती की मैं निन्दा करता हूँ। इस प्रकार बार-बार कान मरोड़कर 'मिच्छामि दुक्कडं' करता है। व्यंग्यपूर्वक क्षुल्लक कहता है- यह अच्छा तरीका है पाप की निन्दा करने का। कुम्हार कहता है- आपने भी ऐसा ही 'मिच्छामि दुक्कडं' किया और दुबारा घड़ों को काणा किया। जिस दुष्कृत की निन्दा की, उसी पाप का पुनः सेवन किया। यह प्रत्यक्षमृषावादी (झूठा व्यवहार करने वाला) और मायानिकृति (कपट आचरण) का प्रसंग है। यह द्रव्य प्रतिक्रमण है। इसका विशेष लाभ नहीं है।

भाव 'मिच्छा मि दुक्कडं' को मृगावती के उदाहरण से समझ सकते हैं। भगवान् महावीर स्वामी कौशाम्बी नगरी में पधारे। वहाँ चन्द्र और सूर्य भगवान् महावीर को वन्दन करने विमान से उतरे। वहाँ आर्य उदयन की माता मृगावती 'अभी दिन है' यह जानकर देर तक रुक गई। शेष साध्वियाँ तीर्थंकर भगवान को वंदन कर लौट गयीं। चन्द्र-सूर्य भी तीर्थंकर को वन्दन कर लौट गये। शीघ्र ही घनी रात हो गई, मृगावती घबराई और आर्या चन्दना के पास गयीं। इस बीच पहले लौटी साध्वियाँ मृगावती की आलोचना करने लगीं। आर्या चन्दना ने पूछा- देर तक कैसे रुकीं? तुम उच्च कुल में उत्पन्न हुई हो, अकेली देर तक ठहरना ठीक नहीं। मृगावती सद्भाव से 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहा और आर्या चन्दना के चरणों में गिर पड़ी, आर्या चन्दना उस समय शय्या पर थी तो उन्हें नींद आ गई और इधर मृगावती को अत्यन्त तीव्र संवेग भाव से पश्चात्ताप करते हुए केवलज्ञान हो गया। मृगावती ने जाना कि उधर से साँप आ रहा है और आर्या चन्दना का एक हाथ शय्या पर से नीचे लटक रहा है, अतः साँप काट न जाय इस आशय से बचाने के लिए हाथ शय्या पर रखने लगीं। आर्या चन्दना की नींद टूटी, आर्या चन्दना जागकर बोलीं- तुम अभी तक यहीं हो, अरे! 'मिच्छा मि दुक्कडं' (मुझसे गलती हुई वह निन्दनीय है) नींद के प्रमादवश मैंने चरणों में गिरी तुमको उठाया ही नहीं।

मृगावती बोली- यह सर्प आपको डस न ले, इसलिये आपका हाथ शय्या पर रखा।

चन्दना ने पूछा- साँप कहाँ है? मृगावती दिखाती है, आर्या चन्दना साँप को नहीं देख पाती तो कहती है- आर्ये! क्या तुम्हें अतिशय ज्ञान हुआ है, जिससे तुम सर्प देख पा रही हो? मृगावती बोली- हाँ हाँ। आर्या ने पूछा- यह ज्ञान क्या छद्मस्थ अवस्था में होने वाला है या केवल ज्ञान से संबंधित है? मृगावती बोली- केवलज्ञान से संबंधित। इस पर आर्या चन्दना मृगावती के चरणों में गिरकर कहती है- 'मिच्छामि

दुक्कडं' मेरी गलती का मैं पश्चात्ताप करती हूँ और इसी प्रतिक्रमण से आर्या चन्दना को केवलज्ञान हो गया। यह है भाव प्रतिक्रमण। यह दुष्कृत मैंने किया, यह दुष्कृत मैंने कराया, इस दुष्कृत का अनुमोदन किया, ऐसे तीव्र संवेग से अन्तःकरण कम्पायमान हो जाय और भीतर ही भीतर पश्चात्ताप की अग्नि से वह दुष्ट कृत्य भस्म हो जाय, ऐसी स्वनिन्दा का भाव 'भाव-प्रतिक्रमण' है। मृगावती ने भी भाव प्रतिक्रमण किया अ आर्या चन्दना ने भी। प्रतिक्रमण में अहंकार और ममकार की निवृत्ति तथा सावद्य योग की निवृत्ति होने से कहा जाता है-

'निन्दामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि।'

प्रतिक्रमण को विभिन्न समानार्थक शब्दों से समझाने का प्रयास भद्रबाहु की आवश्यक निर्युक्ति प हरिभद्र की टीका में किया गया है।

प्रतिक्रमण (पडिकमणं), प्रतिचरण (पडिचरण), परिहरण (पडिहरण), वारण (वारण), निवृत्ति (नियत्ती), निंदा (निंदा), गर्हा (गरिहा), शुद्धि (सोही)। ये आठ प्रतिक्रमण के पर्याय हैं। हरिभद्र की आवश्यक निर्युक्ति टीका में इनका नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन छः निक्षेपों द्वारा निरूपण किया गया है।

प्रतिक्रमण- 'प्रति' उपसर्गपूर्वक 'क्रमु' धातु (गमन करना, कदम बढ़ाना) से 'ल्युट्' प्रत्यय लगकर यह 'प्रतिक्रमण' शब्द बना है जिसका अर्थ है मिथ्यात्ववश हम जिसे अनुकूल या प्रिय मानते हैं उस पाप मार्ग से विपरीत प्रतिकूल प्रतीत होने वाले सम्यक्त्व रूपी श्रेय मार्ग की ओर लौटना प्रतिक्रमण है। मन-वचन-का से किये गये अशुभ कर्म अप्रशस्त योग हैं, इनका त्याग करे और ध्यान तथा मन-वचन-काया से कृत शुभ पुण्य कर्म प्रशस्त योग है, इस प्रशस्त योग का अभ्यास करे। ध्यान में भी अशुभ ध्यान आर्त्त और रौद्र का त्याग करे तथा धर्म और शुक्ल ध्यान का सतत अभ्यास करे।

प्रतिचरण- 'चर्' धातु गति तथा भक्षण अर्थों में प्रयुक्त होती है। 'प्रति' उपसर्ग पूर्वक 'चर्' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय लगकर प्रतिचरण बना। शुभयोग में गति करना या शुभ योग का आसेवन करना प्रतिचरण है। अतः यह प्रतिक्रमण का पर्याय कहा जाता है।

परिहरण- 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'हृ' धातु (हरण करना) से 'ल्युट्' प्रत्यय लगकर 'परिहरण' शब्द बना है। विराधना का परिहार करने वाली प्रतिलेखन आदि विधि परिहरण है। अशुभ योग का परिहरण करने के कारण परिहरण को प्रतिक्रमण का पर्याय माना।

वारणा- वारणा का अर्थ है निषेध। वारण शब्द 'वारि' (वृ+णिच्) (रोकना, निषेध करना) धातु से ल्युट् प्रत्यय लगकर बना है। संयमादि का निषेध अप्रशस्त वारण है तथा प्रमाद का निषेध प्रशस्त वारण है।

निवृत्ति- इसी प्रकार निवृत्ति (नि+वृत्+क्तिन्) भी अशुभ योग से निवृत्ति का पर्याय होने से प्रतिक्रमण का पर्याय कही जाती है।

निन्दा- स्वबुद्धि से असंयमित आचरण एवं अप्रशस्त भाव की आलोचना अथवा आत्मसाक्षी से निंदा करना प्रतिक्रमण का पर्याय ही है। चारित्र में लगे दोष का पश्चात्ताप निंदा है जो स्व आत्मा को साक्षी मानकर की जाती है। 'आत्मसाक्षिकी निंदा।'

गर्हा- गुरु आदि की साक्षी में किया गया अपने पाप का प्रायश्चित्त गर्हा है। 'परेषां ज्ञापनं गर्हा'

शुद्धि- इसका अर्थ है विमलीकरण या पवित्रीकरण। ज्ञानादि द्वारा शुद्धि प्रशस्त शुद्धि है। क्रोधादि से शुद्धि मानना अप्रशस्त है।

संक्षेप में कहा जाय तो आठों प्रकार के प्रतिक्रमण का उल्लेख नाना प्रकार से समझाने का उपक्रम है, मूलतः अर्थभेद नहीं है।

प्रतिक्रमण में प्रतिक्रान्तव्य क्या है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए मूलाचार में कहा गया है-

मिच्छत्तं पडिक्कमणं तहेव अस्संजमे पडिक्कमणं।
कसायाणं पडिक्कमणं जोगाण य अप्पसत्थाणं।।

मिथ्यात्व, असंयम (हिंसा आदि), कषाय (क्रोधादि) और अप्रशस्त योग इन चार प्रकार का प्रतिक्रमण होता है। अतः ये प्रतिक्रान्तव्य हैं। मिथ्यात्वादि न करना, न करवाना तथा न अनुमोदन करना प्रतिक्रमण का भाव है। मिथ्यात्वादि विष तुल्य कहे गये हैं, इनका आलम्बन विनाशकारी है। स्वल्पाहार, अल्पवचन, अल्पनिद्रा, अल्प परिग्रह पूर्वक रहने वाले के लिये प्रतिक्रमण सुलभ है।

प्रतिक्रमण सूत्र के प्रारम्भ में अरिहन्त-सिद्ध-साधु और जिनप्रज्ञपित धर्म इन चार पदों का मंगल प्रस्तुत कर पूरे दिन में किये अतिचार (अनिष्ट आचरण) के प्रतिक्रमण की इच्छा की जाती है। "इच्छामि ठामि पडिक्कमिउं....।" श्रमण या श्रावक के लिये अकरणीय अतिचारों की गणना प्रतिक्रमण सूत्र में की गई है। श्रमण के लिए जैसे- मन, वचन, काया से कोई उत्सूत्र (सूत्रविरुद्ध), उन्मार्ग (मार्ग से विपरीत), अकल्प्य (अन्यायोचित), अकरणीय(अकर्त्तव्य), दुर्ध्यात (आर्त- रौद्र का आचरण), दुर्विचिन्तित (अशुभ चिन्तन), अनाचार (अनाचरणीय), अनेष्टव्य (मन से भी अप्रार्थनीय) ऐसा अतिचार करने में आया हो या ज्ञान-दर्शन-चारित्र पालन, श्रुतग्रहण, सामायिक-साधना, तीन गुप्ति की आराधना, चार कषायों का त्याग, पंच महाव्रत पालन, षट्काय के जीवों की रक्षा, सात पिण्डैषणा, आठ प्रवचनमाता, नव ब्रह्मचर्य, दशधर्म पालन में विराधना की हो तो वह सभी पाप मिथ्या हो। यह प्रतिक्रमण सूत्र का सार है।

'इच्छाकारेणं' के द्वारा साधक गमनागमन-अतिचार प्रतिक्रमण करता है। 'इच्छामि पडिक्कमिउं पगामसिज्जाए...' के द्वारा साधक [illegible]-अतिचार का प्रतिक्रमण करता है। 'पडिक्कमामि....गोयरचरियाए......' के द्वारा साधक गोचर-अतिचार प्रतिक्रमण करता है।

'पडिक्कमामि...सज्झायस्स....'' के द्वारा साधु स्वाध्याय-अतिचार प्रतिक्रमण करता है। इसी प्रकार 1 से 33 तक प्रतिक्रमण के बोलों में एकविध असंयम का प्रतिक्रमण, द्विविध राग-द्वेष का प्रतिक्रमण,

दुक्कडं' मेरी गलती का मैं पश्चात्ताप करती हूँ और इसी प्रतिक्रमण से आर्या चन्दना को केवलज्ञान हो गया। यह है भाव प्रतिक्रमण। यह दुष्कृत मैंने किया, यह दुष्कृत मैंने कराया, इस दुष्कृत का अनुमोदन किया, ऐसे तीव्र संवेग से अन्तःकरण कम्पायमान हो जाय और भीतर ही भीतर पश्चात्ताप की अग्नि से वह दुष्ट कृत्य भस्म हो जाय, ऐसी स्वनिन्दा का भाव 'भाव-प्रतिक्रमण' है। मृगावती ने भी भाव प्रतिक्रमण किया और आर्या चन्दना ने भी। प्रतिक्रमण में अहंकार और ममकार की निवृत्ति तथा सावद्य योग की निवृत्ति होने से कहा जाता है-

'निन्दामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि।'

प्रतिक्रमण को विभिन्न समानार्थक शब्दों से समझाने का प्रयास भद्रबाहु की आवश्यक निर्युक्ति पर हरिभद्र की टीका में किया गया है।

प्रतिक्रमण (पडिकमणं), प्रतिचरण (पडिचरण), परिहरण (पडिहरण), वारण (वारण), निवृत्ति (नियत्ती), निंदा (निंदा), गर्हा (गरिहा), शुद्धि (सोही)। ये आठ प्रतिक्रमण के पर्याय हैं। हरिभद्र की आवश्यक निर्युक्ति टीका में इनका नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन छः निक्षेपों द्वारा निरूपण किया गया है।

प्रतिक्रमण- 'प्रति' उपसर्गपूर्वक 'क्रमु' धातु (गमन करना, कदम बढ़ाना) से 'ल्युट्' प्रत्यय लगकर यह 'प्रतिक्रमण' शब्द बना है जिसका अर्थ है मिथ्यात्ववश हम जिसे अनुकूल या प्रिय मानते हैं उस पाप मार्ग से विपरीत प्रतिकूल प्रतीत होने वाले सम्यक्त्व रूपी श्रेय मार्ग की ओर लौटना प्रतिक्रमण है। मन-वचन-काया से किये गये अशुभ कर्म अप्रशस्त योग हैं, इनका त्याग करे और ध्यान तथा मन-वचन-काया से कृत शुभ पुण्य कर्म प्रशस्त योग है, इस प्रशस्त योग का अभ्यास करे। ध्यान में भी अशुभ ध्यान आर्त्त और रौद्र का त्याग करे तथा धर्म और शुक्ल ध्यान का सतत अभ्यास करे।

प्रतिचरण- 'चर्' धातु गति तथा भक्षण अर्थों में प्रयुक्त होती है। 'प्रति' उपसर्ग पूर्वक 'चर्' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय लगकर प्रतिचरण बना। शुभयोग में गति करना या शुभ योग का आसेवन करना प्रतिचरण है। अतः यह प्रतिक्रमण का पर्याय कहा जाता है।

परिहरण- 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'हृ' धातु (हरण करना) से 'ल्युट्' प्रत्यय लगकर 'परिहरण' शब्द बना है। विराधना का परिहार करने वाली प्रतिलेखन आदि विधि परिहरण है। अशुभ योग का परिहरण करने के कारण परिहरण को प्रतिक्रमण का पर्याय माना।

वारणा- वारणा का अर्थ है निषेध। वारण शब्द 'वारि' (वृ+णिच्) (रोकना, निषेध करना) धातु से ल्युट् प्रत्यय लगकर बना है। संयमादि का निषेध अप्रशस्त वारण है तथा प्रमाद का निषेध प्रशस्त वारण है।

निवृत्ति- इसी प्रकार निवृत्ति (नि+वृत्+क्तिन्) भी अशुभ योग से निवृत्ति का पर्याय होने से प्रतिक्रमण का पर्याय कही जाती है।

निन्दा- स्वबुद्धि से असंयमित आचरण एवं अप्रशस्त भाव की आलोचना अथवा आत्मसाक्षी से निंदा करना प्रतिक्रमण का पर्याय ही है। चारित्र में लगे दोष का पश्चात्ताप निंदा है जो स्व आत्मा को साक्षी मानकर की जाती है। 'आत्मसाक्षिकी निंदा।'

गर्हा- गुरु आदि की साक्षी में किया गया अपने पाप का प्रायश्चित्त गर्हा है। 'परेषां ज्ञापनं गर्हा'

शुद्धि- इसका अर्थ है विमलीकरण या पवित्रीकरण। ज्ञानादि द्वारा शुद्धि प्रशस्त शुद्धि है। क्रोधादि से शुद्धि मानना अप्रशस्त है।

संक्षेप में कहा जाय तो आठों प्रकार के प्रतिक्रमण का उल्लेख नाना प्रकार से समझाने का उपक्रम है, मूलतः अर्थभेद नहीं है।

प्रतिक्रमण में प्रतिक्रान्तव्य क्या है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए मूलाचार में कहा गया है-

मिच्छत्तं पडिक्कमणं तहेव अस्संजमे पडिक्कमणं।
कसायाणं पडिक्कमणं जोगाण य अप्पसत्थाणं।।

मिथ्यात्व, असंयम (हिंसा आदि), कषाय (क्रोधादि) और अप्रशस्त योग इन चार प्रकार का प्रतिक्रमण होता है। अतः ये प्रतिक्रान्तव्य हैं। मिथ्यात्वादि न करना, न करवाना तथा न अनुमोदन करना प्रतिक्रमण का भाव है। मिथ्यात्वादि विष तुल्य कहे गये हैं, इनका आलम्बन विनाशकारी है। स्वल्पाहार, अल्पवचन, अल्पनिद्रा, अल्प परिग्रह पूर्वक रहने वाले के लिये प्रतिक्रमण सुलभ है।

प्रतिक्रमण सूत्र के प्रारम्भ में अरिहन्त-सिद्ध-साधु और जिनप्ररूपित धर्म इन चार पदों का मंगल प्रस्तुत कर पूरे दिन में किये अतिचार (अनिष्ट आचरण) के प्रतिक्रमण की इच्छा की जाती है। "इच्छामि ठामि पडिक्कमिउं....।" श्रमण या श्रावक के लिये अकरणीय अतिचारों की गणना प्रतिक्रमण सूत्र में की गई है। श्रमण के लिए जैसे- मन, वचन, काया से कोई उत्सूत्र (सूत्रविरुद्ध), उन्मार्ग (मार्ग से विपरीत), अकल्प (अन्यायोचित), अकरणीय(अकर्त्तव्य), दुर्ध्यात (आर्त्त- रौद्र का आचरण), दुर्विचिन्तित (अशुभ चिन्तन), अनाचार (अनाचरणीय), अनेष्टव्य (मन से भी अप्रार्थनीय) ऐसा अतिचार करने में आया हो या ज्ञान-दर्शन-चारित्र पालन, श्रुतग्रहण, सामायिक-साधना, तीन गुप्ति की आराधना, चार कषायों का त्याग, पंच महाव्रत पालन, षट्काय के जीवों की रक्षा, सात पिण्डैषणा, आठ प्रवचनमाता, नव ब्रह्मचर्य, दशधर्म पालन में विराधना की हो तो वह सभी पाप मिथ्या हो। यह प्रतिक्रमण सूत्र का सार है।

'इच्छाकारेणं' के द्वारा साधक गमनागमन-अतिचार प्रतिक्रमण करता है। 'पगामसिज्जाए...' के द्वारा साधक त्वग्वर्तनस्थान-अतिचार का प्रतिक्रमण करता है। 'पडिक्कमामि....गोयरचरियाए......' के द्वारा साधक गोचर-अतिचार प्रतिक्रमण करता है।

'पडिक्कमामि...सज्झायस्स....'' के द्वारा साधु स्वाध्यायादि-अतिचार प्रतिक्रमण करता है। इसी प्रकार १ से ३३ तक प्रतिक्रमण के वर्णन में एकविध असंयम का प्रतिक्रमण, द्विविध राग-द्वेष का प्रतिक्रमण,

त्रिविध मन-वचन-काय, त्रिदण्ड या त्रिशल्य (माया-निदान-मिथ्यादर्शन) का प्रतिक्रमण, चार प्रकार के कषाय, विकथा, संज्ञा आदि तथा चतुर्विध ध्यान का प्रतिक्रमण (प्रथम दो का त्याग, अपर दो स्वीकृत) प्रतिपादित है। टीकाकार हरिभद्रसूरि ने प्रतिक्रमण के लिये शुभ ध्यान के महत्त्व को प्रतिपादित किया है।

प्रतिक्रमण का प्रयोजन एवं परिणाम समस्त जीवयोनि से क्षमा तथा प्राणिमात्र से मैत्री है कि मैं प्रत्येक जीव/सत्त्वमात्र से क्षमायाचना करता हूँ, सभी जीव मुझे क्षमा करें, किसी को अशांति नहीं हो। मेरी मैत्री सभी जीवों से है, मेरा किसी से वैर नहीं है। इस प्रकार मैं मन-वचन-काया से प्रतिक्रमण द्वारा अपने दुष्कृत्यों की आलोचना, निन्दा, गर्हा करता हूँ और चौबीस तीर्थंकरों को वंदना करता हूँ।

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ।।
एवमहं आलोइय निन्दिय गरहिय दुगंछियं सम्मं।
तिविहेण पडिक्कंतो वंदामि जिणं चउवीसं।।

-निदेशक, वर्द्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,
क्षेत्रीय केन्द्र, जयपुर

Pratikramaṇa : An austerity for self purification

Dr. Ashok Kavad

Introduction

Windows and Ventilators act as instruments, which provide air, light and ventilation. They help in exhausting impure air or smell from the house and also allow fresh air and light to enter. Without air and light, the house will be darkend, damp and make it difficult to live inside.

In short, it gives peace, happiness and comfort for the dwellers. Similarly Pratikramana, make the soul to cleanse itself from the impurities which have entered the soul and also restrict the impurities that enter. They act as expiation of sins, stop the inflow of karmas, preserve pure conduct, enable one to get rid of past and present transgressions and inappropriate austerities and also promotes repentance of humiliations, rewards good conduct and peace. The meaning, its nature and benefits are explained in brief and how they help in spiritual progression and liberation are noteworthy.

We clean our house everyday. We remove the dust, dirt and mud from the house regularly. On special occasions like Diwali, New year etc., we also white wash the house, wash the floors etc., similarly the dirt, which makes the soul impure, can be removed or cleansed by fivefold sadhanas. The five fold sadhana includes (1) Ālocañā (2) Nindanā (3) Garhanā (4) Pratikramaṇa and (5) Prāyaścitta.

Ālocana, Nindanā and Garhaṇā are the three processes for the purification of soul. We have to first analyze the impurities inside our soul and should list them, repent for the mistakes and confess them in front of the spiritual master. Pratikramana is the process of coming back to original place or form and Prāyaścitta is to do repair work when any component or part of vrata- building is damaged.

Ālocanā etc is noting but introspection and confession. Uttaradhyayana sūtra in its 29th chapter has expressed the benefits of Ālocanā, Nindanā and Garhanā. By confession of sins the soul gets rid of thorns, as it were, of deceit and wrong belief, which obstruct the path of liberation and cause endless migration of the soul: he obtains simplicity.[1] By Nindanā or repenting of ones sins to oneself the soul obtains repentance, and becoming indifferent by repentance he prepares to ascend the ladder of virtues, by which he destroys the karmas resulting from delusion.[2] By repenting

for ones, sins before the Guru or by Garhaṇā, the person will renounce all mundan occupations and apply himself to praise worthy occupations.

Pratikramana

Jainism and its philosophy stand on the check of Jaina Agamas. The 32nd Āgama is Avasyaka sutra. Āvaśyaka means that which is to be done necessarily. In this āgama there are six āvaśyakas and the fourth one is pratikramna. This āvaśyaka forms the major content of this scripture. Pratikramana means repentance. Self analysis or self-introspection is essential for equanimity of mind and also for right conduct. He who practises Pratikramaṇā avoids all wrong paths and walks on the path shown by the conquerors. In short, he recounts his lapses and transgressions of the rules of righteous conduct and thoughts committed during he past and direct him towards concentration and realization of the pure self.[3]

Meaning

It is formed by combination of two words namely 'prati' and 'kramana'. 'Prati' means back and 'kramana' means to move. Thus it means coming back to the original place. In this context it means, "To comeback within oneself whenever the soul crosses the boundaries of vrata or control is known as pratikramana".

Pratikramana as mentioned earlier is repentance. It is a method of self analysis and self-introspection. It is essential for the equanimity of mind. A man who observes Pratikramana, meditates upon the nature of his own soul– in silence, after abstaining from the activities of speech and getting rid of his impure thought activities such as anger, attachments etc. This helps him to avoid repetition of impure thought activities and transgressions of rules of conduct. Tattvārtha sūtra defines Pratikramana as, "To repent for the mistake that has been committed and to refrain from it, and also to remain alert so that no new mistakes are committed"[4]. Tattvārtha sūtra considers Pratikramana as a subtype of Prāyaścitta. The main objective of doing Pratikṛamaṇa is to understand that sinful and impure activities had taken place: they are transgressions of rules of conduct. By determination and regular practice, the violations that have been taking place will come down. It is indeed a soul-bath. As a result the soul feels lighter from the karmic bondages, which were attached previously.

In the period of the first and the last Tirthankaras is said that the monks should do pratikramana everyday at the time of sunrise and sunset. Whereas those in the period of the middle twenty-two Tirthankaras are supposed to do Pratikramana whenever there is a transgression.

Classifications

Pratikramaṇa can be classified in many ways. Few of them are:

(A) Five types). a)Mithyātva b).Avrata c). Pramāda d). Kasāya e). Aśubha yoga.. Sthananaga sutra has also classified it into five types viz., Āsrava dvāra, Mithyātva, Kasāya, Yoga and Bhāva pratikramana.[5] To return from Mithyātva to samyaktva, from avrati to vrati, from pramāda to apramāda, from kasāya to samabhāva, and from aśubha yoga to śubha yoga is the purpose of Pratikramana.

(B) The second classification is based on time. Devasiya; repentance related to activities and transgressions that have taken place in the day and done at the time of sunset. Raiya, repentance related to activities and transgressions that have taken place in the night, done just before sunrise. Pākśika; repentance related to past fortnight, done on the last day of the fort-night. Caumāsiya or Cāturmāsika; repentance related to past four months. Sāmvatsariya or Sānvatsarika; repentance related to past one year.[6]

(C) Another classification is of two types Dravya Pratikramana and Bhāva Pratikramaṇa.

a) Dravya pratikramaṇa: It is more of a ritual and is unaccompanied by repentance and the aspirant is not determined to give up the sins and continues to do them in the future. This kind of Pratikramana is called Dravya Pratikramaṇa.

b) Bhāva Pratikramaṇa: This is the real and pure type of Pratikṛamana. The objective of the doer is to cleanse his soul from transgressions. so he applies his mind without any material expectations and with the objective to reduce the karmic matters and is determined not to repeat in future by being alert in every activity of mind. speech and body. Pramada is the main cause for most of the violations and transgressions. The soul has to be alert and exert in righteous activities. The best way to success is exertion in righteousness i.e. Samyaktva Parākrama.

(D) Sthānānga Sutra has classified it into six types.

(i).Uccara Pratikramana. (ii) Prasravana Pratikramaṇa. (iii) Itvarika Pratikramana, (iv) Yavatkathika Pratikramana. (v) Yatkincit mithyāduskrta Pratikramana. (vi) Svapnantika Pratikramana.[7]

Thus an aspirant repents i.e. does Pratikramana by meditating upon the nature of his own self. He recounts his lapses. and transgressions of the rules of righteous conduct and thoughts. These lapses. flaws and transgressions are of four types. viz.

1. Atikrama: It is the mental resolution to violate any violate any vrata or vow. He the vow is neither broken nor violated. But mentally it has been resolved to do activity, which will result in violation, is also known as transgression.
2. Vyatikrama: the process of collection of articles and requisites for an actic which will result in violation, is called as vyatikrama. It is a step ahead of atikrm and here the process of collection takes place with an objective to break the vow
3. Aticāra: It means partial violation of a vow already taken.
4. Anācāra: the complete violation and lapses of vow. The first three lapses are reviewed by self-analysis in Pratikramana and repented so that they are not repeated in futre. Bu the fourth and the last flaw being complete violation and the only remedy is Prāyaścitta i.e. expiation.

There are six chapters in Pratikramana sūtra. They are, Sāmāyika. Caturvimśatistava, Vandanā, Pratikramana, Kāyotsarga, and Pratyākhyāna. In Pratikramana ninety-nine types of aticāras are explained. The aspirant reflects on the possible transgressions through self-analysis and repents for them. He also does introspection, Which is essential for equanimity and right conduct. The ninety-nine types of transgressions are as follows: fourteen related to right knowledge, five related to right faith, sixty related to twelve vows of sravaka. fifteen related to karmā dānas, and five with respect to samlelkhanā.

Significance

Lord Mahavira in the Uttarādhyayana sutra has explained that expiation of sins is the benefit of Pratikramana. It is explained that by pratikramana the sins are expiated and he obviates transgression of vows, thereby he stops influx, preserves a pure conduct, practises eight exercises i.e. pravacana mātās does not neglect the practice of control and pays great attention to it.[8]

Thus, there are three great benefits of pratikramana. There are eight spiritual exercises that prepare a monk for advanced meditaional states . They consist of five samitis (or vigilence) and three guptis (restraints). These eight are known as pravacanamatas. They are practised and kept under check by Pratikramana. As explained earlier there are five great vows for sadhus or monks and twelve vows for sravakas. In these vows there may take place some transgressions due to negligence. These transgressions are compared to holes in a boat that may allow the water to enter inside and the boat may sink. Similarly the soul may be subject to influx of karmic particles by partial violation of vratas. Repentance and self-analysis by Pratikramana removes these transgressions. The next benefit is that influx is checked and pure conduct is acquired. The major five gates due to which influx of

karmas takes place are closed. Due to this the influx of new karmas is averted. Pratikramaṇa results in returning back from perverted attitude etc., to right attitude etc.

Pratikramaṇa is a type of austerity. Prāyaścitta is also a type of austerity, moreover one type of Prāyaścitta is Pratikramaṇa. It is a great medicine for karmic diseases and further develops resistance in preventing the disease and also acts as an energizer, which gives strength and power. Thus in short, those transgressions that have taken place in the past have to be analyzed through Ālocanā. the possibilities of transgression taking place in the present have to be carefully checked through samvara and through Pratyākhayāna the future influx is prevented. Pratikramaṇa is helpful in removing pramāda or negligence, which is the biggest foe of an aspirant.

Prāyaścitta is a kind of internal penance through which it is possible to clean the defects born of negligence in connection with a vrata that has been accepted [9] Real expiotion or atonement however consists in the contemplation of the soul by destruction of all kinds of impurities of mind and meditating on the attributes of the soul.[10] A faultless observance of the austerities is a part of expiation. A saint should conquer anger by forgiveness, pride by humility, deceit by straight forwardness and greed by contentment.[11]

Conclusion

Thus Ālocanā, Nindanā. Garhanā. Pratikramṇa. and Prāyaścitta, all of them purify the soul from the transgressions and mistakes. They act as removing the defects in charitra or conduct. All kinds of impurities of the soul are removed through the above spiritual windows and ventitators.

REFERENCES

1- Uttrādhyayana sūtra 29.6
2 -Ibid.29.7
3- Niyamasāra, 83
4- Tattvārtha Sūtra.VI.9.22(2)-Pg.341
5- Sthānānga Sūtra. 5.3.222 and Āvaśyaka Sūtra. Antim pātha.
6- Āvaśyaka Vrtti by Acarya Haribhadra. 1250
7- Sthānānga Sūtra, 6.3.125
8- Uttarādhyayana Sūtra 29.12 & SBE vol.45 pg.163
9- Tattvārtha Sūtra 9.20 pg.340 of commentary by pandit sukhlal.
10- Niyamsāra.113,114,&115
11- Daśavaikālika sūtra.8.39

-President, Akhil Bhartiya Jain Ratna Yuvak Parishad
C/o Prithvi Exchange, 33 Montieth Road, Egmore, Chennai

15,17 नवम्बर 2006
जिनवाणी, 110

प्रतिक्रमण : एक आध्यात्मिक दृष्टि

श्री फूलचन्द मेहता

मिथ्यात्व मोहनीय के कारण जीव संसार के कार्यों में, विषयभोगों में, आत्मा की विभावदशा में रचा पचा रहता है, जो कि अतिक्रमण की स्थिति है। जैसे ही जीव निज ज्ञान-दर्शन-चारित्र में आने की प्रक्रिया को अपनाता है तो वह प्रतिक्रमण की ओर प्रवृत्त होने लगता है। आस्रव से संवर की ओर एवं निर्जरा की ओर जाने में प्रतिक्रमण सहायभूत है। इस प्रकार लेखक ने तात्त्विक दृष्टि से प्रतिक्रमण का विवेचन किया है। -सम्पादक

जैन दर्शन में आत्मवाद, कर्मवाद, क्रियावाद, लोकवाद अथवा जीव-अजीव आदि तत्त्वों का, षट्द्रव्यों का, पंचास्तिकाय का, मोक्षमार्ग व संसार मार्ग का, सत्य-असत्य का, हिंसा-अहिंसा का, धर्म अधर्म का, बन्ध व मोक्ष का, स्वभाव-विभाव का, अस्ति-नास्ति का, स्वचतुष्टय-परचतुष्टय के स्वरूप का, स्वसमय-परसमय इत्यादि का अनेकान्त दृष्टि से जितना सूक्ष्म, गहरा, व्यापक और यथार्थ स्वरूप विश्लेषण मिलता है, उतना अन्य दर्शनों में उपलब्ध नहीं है।

निग्गंथे पवयणे अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणयट्ठे (भगवती २.५) परम अर्थ एक मात्र निर्ग्रन्थ प्रवचन है अन्य सभी संसार के विषय-वासना के साधन, कुटुम्ब-परिवार, धन-वैभव, जमीन-जायदाद, सत्ता सम्मान, अधिकार आदि अनर्थ रूप हैं, इनमें सुख मानना मिथ्यात्व है।

सम्यक्त्व की निर्मल प्रभा है। यह दृढ़ वज्रमय उत्तम गहरी आधारशिला रूप नींव है। जिस पर चारित्र एवं तप का महान् पर्वताधिराज मेरु सुदर्शन टिका हुआ है। ऐसे महान् रत्न के विषय में अनभिज्ञ रहना मिथ्यात्व है। (नन्दीसूत्र टीका ४.५.११२) अविद्या, अविवेक व अविचार सघन मूर्च्छा है। पर वस्तु को भोगने का भाव एकांत पाप है और परवस्तु में एवं उसके भोग में आनन्द या सुख मानना एकांत मिथ्यात्व है।

अपने निज चैतन्य स्वरूप में अनंत ज्ञानादि गुणों के वैभव से अपरिचित, अनंत सामर्थ्यवान आत्मा के स्वरूप से अनभिज्ञ और संसार सागर से पार होने में असमर्थता का अनुभव कर्त्ता तथा परद्रव्य में, जो आत्मा से स्पष्ट भिन्न है जिसकी सत्ता-जाति-लक्षण भिन्न है उसमें यह अज्ञानी जीव मूढ होकर भ्रान्त धारणा से अहंत्व-ममत्व-मूर्च्छा-अपनत्व-एकत्वबुद्धि कर, उनमें इष्टानिष्ट की बुद्धि कर, रागद्वेषादि भाव कर अनन्त संसार में अनंत जन्म-मरणादि के भयंकर दुःख भोग रहा है और मोहनीय आदि कर्मों का बंध कर रहा है, यह सब इस मिथ्यात्व मोहनीय की कृपा का फल है। जैसा प्रत्येक वस्तु या पदार्थ का स्वरूप है वैसा यथार्थ अनुभव प्रतीति में न लाकर अन्यथा ही स्वरूप समझता है, जिससे ज्ञानी की दृष्टि के माहात्म्य का लक्ष्य ही

ध्यान में नहीं आता और वह सदा आकुल-व्याकुल बना रहता है।

इन्हीं सबसे मुक्त होना तथा सम्यक्त्व में, सम्यक् ज्ञान में और सम्यक् चारित्र में अथवा संयम व तप में प्रविष्ट होना अर्थात् निज चैतन्य स्वभावमय वीतरागभाव में स्थित होना ही संवर धर्म है। आस्रव में अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग में जुड़ना ही अतिक्रमण है। यही जीव की अज्ञानदशा विभाव स्वरूप है, जो अनेक विकल्पात्मक कर्मबंधन की हेतु है। इससे निज ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म में स्थित होने की प्रक्रिया विशेष ही प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण का स्वरूप समझने के लिये इसके प्रतिपक्षी अतिक्रमण का स्वरूप भी समझना अनिवार्य है। अतिक्रमण आस्रवरूप प्रक्रिया है जबकि प्रतिक्रमण संवररूप प्रक्रिया है। एक संसार मार्ग को पुष्ट करती है तो दूसरी मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करती है। प्रतिक्रमण विभाव भावों से (राग, द्वेष, मोह, अज्ञान भावों से) स्वभाव (रत्नत्रय धर्म रूप मोक्ष मार्ग) में आने की प्रक्रिया है, जो संवर रूप है। प्रतिक्रमण संवररूप होने के साथ प्रायश्चित्त तप का अंग होने से निर्जरा रूप भी है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग आस्रव के द्वार हैं। इनमें मुख्य आस्रव मिथ्यात्व का है। इसी से जीव अविरति, प्रमाद, कषाय व योग से जुड़ता है। यह आस्रव ही अतिक्रमण है। यहाँ स्वभाव की क्रिया को छोड़ विभाव की क्रिया में प्रवेश करने जैसी चेष्टा अज्ञान से हो रही है। जीव अनादि से पहले मिथ्यात्व, फिर अविरति, फिर प्रमाद, फिर कषाय, फिर योग द्वार से आस्रव बंध करता आ रहा है तो छूटने का क्रम भी इसी तरह होता है। पहले मिथ्यात्व जो अनन्त संसार का मूल है उससे छूटने की प्रक्रिया में मिथ्यात्व के अभावरूप सम्यक्त्व संवर की प्रक्रिया मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण है। यह होने पर ही संसार अल्प रह जाता है। वहाँ मोक्षमार्ग का प्रारंभ हो जाता है। नरक, तिर्यंच, नपुंसक, स्त्रीवेद, ज्योतिषी, भवनपति व व्यंतर देवों का बंध ही रुक जाता है। उसके सामने शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वभावी आत्मा होने का लक्ष्य रहता है। यहाँ देह, मन, वाणी, कर्म व रागादि भाव विकार के पोषण का भाव नहीं रहता। वह निर्लिप्त, अनासक्त, निष्पक्ष होकर एकमात्र संवर-निर्जरा के लिए अपने स्वभाव के सन्मुख होकर रत्नत्रय धर्म की आराधना करने में संलग्न हो जाता है। यही अतिक्रमण से पीछे हटकर स्वभाव में आने की प्रक्रिया प्रतिक्रमण है। यहाँ मात्र कुटुम्ब-परिवार, धन-वैभव आदि छोड़ने रूप ही क्रिया नहीं है तथा पापाचार से पुण्याचार में आने की शुभ क्रिया ही नहीं है, बल्कि सर्वकषायों से क्रमशः छूटने की ओर अकषाय रूप वीतराग भाव में, आत्मशुद्धि में बढ़ने रूप मोक्षमार्ग की क्रिया, निज स्वभाव की क्रिया, निज चैतन्यमय सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप आत्मा की शुद्ध परिणति की क्रिया है, जो संवर-निर्जरा रूप है, जो अबंध रूप है। यही यथार्थ में भाव प्रतिक्रमण है जो द्रव्य कर्मों की निर्जरा का कारण है। यह भाव व द्रव्य प्रतिक्रमण साथ-साथ होते हैं। तभी निरंतर वीतराग दशा बढ़ने पर यथाख्यात चारित्र प्राप्त कर जीव सभी घाति कर्मों से मुक्त हो जाता है।

यह सब कुछ साधना तभी संभव है जबकि पदार्थों का स्वरूप यथातथ्य ज्ञात हो।

-382, गोशाला के सामने, अशोक नगर, उदयपुर

15,17 नवम्बर 2006
जिनवाणी, 112

द्रव्य प्रतिक्रमण से जायें भाव प्रतिक्रमण में

श्री उदयमुनि जी म.सा.

प्रतिक्रमण के पाठों का शब्दरूप में उच्चारण द्रव्य प्रतिक्रमण है तथा भावों के साथ अपने द्वारा कृत दोषों की आलोचना, निन्दना एवं गर्हणा भाव प्रतिक्रमण है। जब कोई साधक द्रव्य प्रतिक्रमण से भाव प्रतिक्रमण में जाता है तो वह संवर-निर्जरा की साधना के साथ मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ होता है। श्री उदयमुनि जी म.सा. ने विभिन्न दृष्टान्तों से भाव प्रतिक्रमण का महत्त्व स्थापित किया है। *-सम्पादक*

आलोचण-निंदण-गरहणाहिं अब्भुट्ठिओ अकरणाए।
तं भावपडिक्कमणं, सेसं पुण दविदो भणियं।।

जिस कृतकर्म की आलोचना, निन्दना, गर्हा करें उस अकृत्य का पुनः आचरण न करें, यही भाव प्रतिक्रमण का रहस्य है, शेष तो मात्र द्रव्य प्रतिक्रमण अर्थात् शब्द रूप प्रतिक्रमण है। गणधर गौतम ने प्रश्न पूछा- भगवन्! श्रमणोपासक को पहले स्थूल प्राणातिपात का अप्रत्याख्यान होता है, फिर प्रत्याख्यान करते हुए क्या करता है? भगवान् ने उत्तर दिया 'वह अतीतकाल को प्रतिक्रमता है, वर्तमान काल को संवरता है और अनागत काल का प्रत्याख्यान करता है। (व्याख्याप्रज्ञप्ति ८.५)

छः आवश्यक रूप प्रतिक्रमण में छठा आवश्यक प्रत्याख्यान है। छहों मिलकर ही प्रतिक्रमण कहलाते हैं। मिथ्यात्व नामक मोहकर्म से होने वाले भयंकर आस्रव द्वार को रोकने वाला समकित श्रावक कहलाता है। सम्यक्त्व से संवर तो किया, पर वह प्राणातिपातादि का प्रत्याख्यान नहीं कर पाता, क्योंकि उसे अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय का उदय होता है। फिर उसका शमन करके वह बारह स्थूल व्रतों को ग्रहण करता है। उन व्रतों में लगे हुए अतिचार दोषों की आलोचना-प्रतिक्रमण चौथे आवश्यक में करता है। आत्मा की उस शुद्धता के फलस्वरूप आत्मध्यान (कायोत्सर्ग) में लीन होता है। तब छठे आवश्यक प्रत्याख्यान में क्या करता है तो उत्तर मिला- जिन पापों-अतिचार-दोषों की आलोचना, प्रतिक्रमण किया भविष्य में उन्हें नहीं करूँगा, ऐसा संकल्परूप प्रत्याख्यान करता है।

शब्दरूप, पाटीरूप, परम्परागत द्रव्य-प्रतिक्रमण बोला-सुना तो जाता है, परन्तु जीवन देखें तो कोई परिवर्तन नहीं, वही पंचेन्द्रिय विषयों में रति-अरति, वही राग-द्वेष-मोह, वही कषाय, परिवार में वैसी ही ममता, धन की तृष्णा, परिग्रह की मूर्च्छा तो यह प्रतिक्रमण तो 'कुम्हारवाला' हुआ, जिसमें 'मिच्छा मि

दुक्कडं' देकर भी गलती को दोहराया जाता है।

विचारणीय यह है कि प्रतिक्रमण करने से क्या पाप अतिचार दोष धुल गए? आत्मा शुद्ध हुई। संवर-निर्जरा हुई? प्रतिक्रमण तो संवर-निर्जरा है। आभ्यन्तर तपों में प्रथम प्रायश्चित्त का भेद है। वह मात्र शब्द या पाटी रूप नहीं हो सकता। उससे परे, अत्यन्त गहन, आत्म-चिन्तन में जाकर, अन्तःकरण से अपनी दुरात्मा को दुष्कृत्य के लिए धिक्कारना, पश्चात्ताप करना, उस दुष्कृत पापादि के कर्ममल को धोकर पवित्र हो जाना भाव प्रतिक्रमण है। यह शब्दातीत अवस्था है।

गुरुणी चन्दनबाला उलाहना-फटकार दे रही थी, रात्रि में भी समोसरण में कैसे बैठे रहे मृगावतीजी? उनके यहाँ ठहरने के आधार पर्याप्त थे। मुझ जैसे तो पूरे तर्क से उत्तर देते- ओ गुरुणी जी, फटकारने की आवश्यकता नहीं है, मैं भगवान् के समोसरण में साक्षात् तीर्थंकर की वाणी सुनने में एकाग्रमन-तल्लीन थी, फिर सूर्य-चन्द्र देव साक्षात् आए हुए थे- प्रकाश ही प्रकाश था, वे गए तो रात हुई तो तुरंत चली आई। पर महासती मृगावती ने गुरुणी को कुछ भी तर्क नहीं दिया, विनयपूर्वक सुनती रही। गुरुणी मेरे हित में, आत्मकल्याण हेतु ही कह रही हैं, अतः मृगावती आचार-स्खलना की अन्तरमन से आलोचना करती हैं, आत्मसाक्षी से गर्हा करती हैं, दुष्कृत्य को धिक्कारते हुए आत्म-रमणता में चली जाती हैं और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट हो जाता है।

मृगावती को अंधेरी रात में सर्प दिखा, गुरुणी का हाथ सरकाया। गुरुणी ने पूछा- कैसे देखा? ज्ञान से। अप्रतिहत या प्रतिहत ? आपकी कृपा हो तो फिर कमी क्या? तुरंत गुरुणी पश्चात्ताप- अनुचिन्तन करती है कि ओह! मैंने ऐसे उत्कृष्ट साधक, केवली की आशातना की। आत्मनिंदा-आत्मावलोकन- स्वात्मरमणता करते-करते उन्हें भी केवलज्ञान हो गया।

साधक अपने कृतकर्मों की आलोचना से घोर कर्मोत्पादक माया-निदान-मिथ्यादर्शन शल्यों को निकाल फेंकता है, मोक्षमार्ग-विघातक अनंत संसार-वर्द्धकों को दूर कर देता है, ऋजुभाव को प्राप्त होता है। (उत्तरा.२९वाँ अध्ययन, पाँचवाँ बोल) पश्चात्ताप अनुचिंतन करके समस्त पापों का परित्याग कर करणगुण श्रेणी प्राप्त कर मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय करता है, यह निंदना का फल है। (उत्तराध्ययन २९वाँ अध्ययन, बोल छठा)

मुनि प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने शब्द सुना कि पड़ौसी राजा ने बेटे पर आक्रमण कर दिया। बेटे पर ममता, स्वयं के राजत्व का अहंकार, पड़ौसी राजा के प्रति शत्रुता का भाव और भावों ही भावों में भयंकर घमासान युद्ध करके हजारों सैनिकों की मानसिक हत्या। अनित्य संसार के मायाजाल में फंस गए, उन अनन्त कर्मों का उपार्जन कर लिया जो मोक्ष मार्ग विघातक हैं। परन्तु समक्ष आए शत्रु राजा को मुकुट से मार डालूँ, ऐसा भाव आया। सिर पर हाथ जाते ही द्रव्य मुंडन रूप द्रव्य महाव्रतों ने सावधान कर दिया। पश्चात्ताप अनुचिन्तन किया- किसका पुत्र, किसका शत्रु, किसका राज्य? मेरा कोई पुत्र नहीं, कोई परिजन नहीं- सभी संयोगी। मेरा

कोई शत्रु नहीं, राज्य वैभव नहीं- सभी अनित्य क्षणभंगुर हैं। अहो! धिक्कार है मुझे, धिक्कार है, ऐसा शब्दातीत आत्मभावों से पश्चात्ताप अनुचिन्तन करते हुए समस्त पापों का परित्याग करके, करणगुण श्रेणी धर्मध्यान से शुक्लध्यान में जाकर सर्व मोहनीय कर्म का क्षय कर देते हैं, केवलज्ञान हो जाता है।

ऐसी ही मोहदशा एवं वासनाभाव जाग्रत हुआ- मुनि रथनेमि को, परन्तु सद्गुरु रूप में समक्ष उपस्थित महासती राजीमती की फटकार से सुस्थिर हो, पुनः आत्म समाधिस्थ हो गए, उसी भव में मोक्ष गए। किससे? किए हुए दुष्कृत पापों- महाव्रतों में लगे दोषों की आलोचना प्रतिक्रमण और गर्हा करने से।

ऐसा ही धिक्कार निकला इलायती पुत्र या इलायची कुमार के द्वारा। नटी के रूपलावण्य से आकर्षित होकर वासना की दासता में पिता की प्रतिष्ठा, धन-वैभव की परवाह न करते नट बना। नट का खेल करते दृष्टि पड़ी गोचरी बहराने वाली अति रमणीक स्त्री पर। अहो! इस नटी से भी कई गुनी सुन्द अप्सरा जैसी। मुनि कैसे, मात्र अपनी गोचरी में, एषणा समिति के दोष न लग जाएँ, उसी गवेषणा में मगन। मै कैसा वासना का पुतला और ये कैसे वासनादि, पंचेन्द्रिय विषयों के विजेता, मात्र आत्मा में ही रमणता करके शुद्ध दशा प्रकट करने वाले। मुनि के दर्शनमात्र से मुनित्व और शुद्ध आत्मा का चिन्तन करने से अपनी आत्म को केवलज्ञान हो गया। तात्पर्य यह है कि मात्र दो घड़ी के पश्चात्ताप-अनुचिन्तन से केवलज्ञान हो जाता है अतः शब्द या द्रव्य प्रतिक्रमण से भाव प्रतिक्रमण में जाने से ही संवर, निर्जरा एवं मोक्ष है।

गर्हापद में आया है- कुछ लोग मन से गर्हा करते हैं (वचन से नहीं) कुछ लोग वचन से गर्हा करते हैं (मन से नहीं) ऐसे ही कुछ लोग मात्र काया से गर्हा करते हैं (मन से नहीं) ऐसे ही कुछ लोग मात्र काया से गर्हा करते हैं (मन और वचन से भी नहीं)। -ठाणांग सूत्र २/१। ऐसा ही प्रत्याख्यान के लिए भी आया है।

इस दृष्टिकोण से वर्तमान में प्रचलित प्रतिक्रमण पर भी विचार करें। पाटियों रूप/ शब्द प्रतिक्रमण हो रहा है वर्षों से। प्रतिक्रमण करने-सुनने वाले भी यदि उन प्राकृत पाटियों का अर्थ-मर्म न जानते और तदनुसार भावों में नहीं जाते तो ठाणांग सूत्र के अनुसार यह मात्र वाचनिक-कायिक क्रिया आत्मा की शुद्धावस्था प्रकट नहीं कर सकती। उत्तराध्ययन सूत्र (अध्ययन ६, गाथा १०-११) में भी भाषा के स्थान पर भावों की महत्ता प्रतिपादित है। प्रतिक्रमण-साधक यदि यही प्रतिक्रमण अर्थ जानकर, समझपूर्वक करें तब तो संवर-निर्जरा होती है और शब्द रूप ही हो तो कुछ काल तक सावद्य योग की क्रिया रुकने से, अशुभ शुभ में आने से पाप से पुण्य हुआ। वह भी मन शुभ में प्रवृत्त हो तब। इसलिए प्रतिक्रमण का अर्थ भी जान आवश्यक है।

सजग साधक को तो तुरन्त यह ध्यान में आता है कि उससे अमुक पाप हो गया या व्रत महाव्रत-समिति में दोष या अतिचार-अनाचार लग गया। वह उसी समय उसका पश्चात्ताप करके धिक्कार कर लेता है। बीच के बाईस तीर्थंकरों के काल में ऐसा ही था। अब ऐसी सजगता नहीं रहती, इसलिए उभयकालीन प्रतिक्रमण का विधान हुआ। परन्तु क्या उस अवधि में प्रतिपल होने वाले १८ पापों, अतिचार-दोषों का

स्मरण-चिन्तन, क्रमशः एक-एक पाप की आलोचना होती है?

कुछ भाई पूछते हैं- प्रतिक्रमण से कर्मों की निर्जरा तो होती होगी? यह तब पूछा जाता है जब स्वयं ने अनुभव न किया हो। यदि वस्त्र का मैल उतर जाए, सिर का भार उतर जाए तो हम दूसरे को नहीं पूछते, क्योंकि स्वयं के अनुभव में आ जाता है। इसी प्रकार प्रतिक्रमण करने या सुनने से कर्म मैल धुला या बद्ध-स्पृष्ट कर्म का बोझ हल्का हुआ तो स्वयं को अनुभव में आना चाहिए। यह अनुभव में नहीं आता, इसलिए ऐसा पूछते हैं। पूर्वबद्ध-कर्म व्यक्ति को रागादि विकारी भाव में ले जाना चाहता है, अघाती कर्म के फलस्वरूप अनुकूल-प्रतिकूल व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति मिलने पर व्यक्ति राग या द्वेष, हर्ष या शोक, रति या अरति, आसक्ति या रागद्वेष में चला जाता है। यदि साधक उसके अनुसार वर्तन न कर वीतरागता, मध्यस्थभाव, विरति, अनासक्ति में जाता हो तो समझो निर्जरा हो रही है। स्वयं के अनुभव में आएगी।

वस्तुतः तो केवलिप्रज्ञप्त धर्म का श्रवण कर देव-गुरु-धर्म तत्त्व और जीव से लेकर मोक्ष तत्त्व का श्रद्धान-प्रतीति-अनुभव होते ही विरति में जाने का तीव्र भाव प्रकट होता है। किन्तु पुरुषार्थ तीव्र नहीं होता, अतः अंशतः विरति होती है। इसलिए सम्यक्त्वी स्वयं ही पाँच पापों की सीमा करने रूप संकल्प और गुणव्रत-शिक्षाव्रत लेता है। फिर उनमें स्खलना हुई, अतिचार दोष लगे उसकी आलोचना करता है। व्रत लेने पर उनमें लगे अतिचार-दोषों एवं १८ पापों की आलोचना निंदना-गर्हा प्रतिक्रमण है।

अभी प्रतिक्रमण की शब्दरूप पाटी और उसके बोलने तथा विधि में की जाने वाली क्रिया पर भरपूर जोर है, परन्तु भावों पर ध्यान ही नहीं है। उदाहरणतः वंदना की 'खमासमणो' की पाटी लें। पहले भाग में है- "हे क्षमाश्रमण! मैं सर्व सावद्य योगों से परे होकर शक्ति अनुसार आपको वंदन करना चाहता हूँ अतः आपके अवग्रह में आने की अनुज्ञा दीजिए। दूसरे भाग में हाथ जोड़ मस्तक से चरण स्पर्श कर वंदना कर, उनके ध्यानादि में पहुँचने वाली बाधा के लिए क्षमा माँगता है। तीसरे भाग में उनकी रत्न-त्रयरूप साधना एवं शरीर की सुख साता पूछता है और अविनय आशातना हेतु क्षमा और प्रतिक्रमण काल में हुई आवश्यकी के अतिचार दोष को धिक्कारता है। अन्तिम भाग में उनके प्रति हुई ३३ आशातनाओं की क्षमा माँगता है।

प्रथमतः तो इस पाटी का अर्थ ही ध्यान में नहीं है। व्यवहार में वैसी क्रिया होती ही नहीं। होती भी है तो वह प्रतिक्रमण पूरा होने पर। फिर 'अहो कायं काय' और 'जत्ता भे जवणिज्जं च भे' में हाथ कैसे जुड़ें, प्रदक्षिणा कैसे हो, किस अक्षर के उच्चारण में शरीर की कौनसी क्रिया करें, इसे खूब पढ़ाया-किया भी जाता है, पर क्या तब गुरु के आत्मिक गुणों पर दृष्टि जाती है? क्या उनका गुणग्राम, गुणकीर्तन होता है? क्या उनके रत्नत्रयाराधना से आत्मा की शुद्ध दशा पर दृष्टि जाती है? क्या उनके जैसे गुण हमारे में भी प्रकट होते हैं? क्या उनके प्रति हुई अविनय-आशातना का चिन्तन-मनन कर स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त कर उस हेतु उनसे क्षमायाचना की जाती है? प्रायश्चित्त दंड लिया जाता है? पुनः वैसा न करने का दृढ़ निश्चय होता है? इन भावों पर ध्यान ही नहीं है। वस्तुतः इन पर ध्यान जाना चाहिए। तब भाव वंदना हुई। उससे ज्ञान-दर्शन-चारित्र

की विशुद्धि होती है और सिद्धगति का मार्ग प्रशस्त होता है। (उत्तराध्ययन २९वाँ अध्ययन चौथा बोल)

पाँचवाँ आवश्यक कायोत्सर्ग है। वस्तुतः समभावरूप सामायिक, आत्मोपलब्धि रूप सामायिक, अरिहंत सिद्ध परमात्माओं और गुरु भगवन्तों की स्तुति-वंदना से आत्मा को शुद्ध कर पापों की आलोचना करके व्रत-महाव्रत लिए हुए हों तो उनके अतिचार दोषों को धिक्कार कर साधक के लिए उत्कृष्टतम धर्म-ध्यान की साधना हेतु यह पाँचवाँ आवश्यक है। लोगस्स की पाटी तो यहाँ तक पहुँचते हुए छह बार बोल ली अब ध्यान में, ठाणांग सूत्र चौथे ठाणे के अनुसार, आज्ञा-विपाक-अपाय-संस्थान विचय में जाकर वीतराग वाणी में दृढ़ हुए आत्मतत्त्व पर ही दृष्टि करने के लिए एकत्व-अनित्य-अशरण-संसार भावनाओं का चिन्तन-मनन करते हुए परपदार्थ शरीरादि, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म के कारण होने वाले पर भाव से हटकर, ज्ञाता-द्रष्टारूप आत्मा की रमणता का पुरुषार्थ करना चाहिए। कायोत्सर्ग में जाने की पाटी भी यही है। साधक समस्त विकारी भावों का प्रायश्चित्त कर, आत्मा को विशुद्ध करने और निःशल्य होने के लिए कायोत्सर्ग में जाता है। विषय-कषायों में अनुरक्त आत्मा को वोसिरा कर शुद्ध आत्मा में जाता है। इसी से कर्मों के पुंज के पुंज भस्मीभूत होकर निर्जरा होती है। यही प्रतिक्रमण का लक्ष्य है।

यदि ऐसा उत्कृष्ट भावप्रतिक्रमण नहीं होता है, कुछ सार नहीं निकलता है तो फिर पाटी रूप/शब्द रूप प्रतिक्रमण नहीं करें क्या? तो कहना होगा कि उसका निषेध नहीं है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें प्रतिक्रमण न करने के कारण उग्र दुष्परिणाम भोगने पड़े। भगवान् महावीर ने त्रिपृष्ठ वासुदेव के पूर्वभव में पाप कर लिया और प्रतिक्रमण आदि नहीं किया तो वह कर्म प्रगाढ़ हो गया। नाच-गाने चल रहे थे। राजा त्रिपृष्ठ वासुदेव को नींद आने लगी। अंगरक्षक को आदेश दे दिया था कि मुझे नींद आने लगे तो नाच-गान बंद करवा देना। नींद आयी। अंगरक्षक ने सोचा- राजा तो प्रतिदिन मजा लेते हैं, आज मैं भी ले लूँ। चालू रहने दिया। राजा की नींद खुली। देखा नाच-गाने अभी तक चल रहे हैं। अंगरक्षक पर क्रोध आया- 'दुष्ट कहीं का, क्या आदेश दिया था, सुनता नहीं क्या, बहरा हो गया था?' दूसरे अंगरक्षक को कहा- इसके कानों में गरमागरम सीसा भरवा दो। राजा होने का अहंकार, आदेश नहीं मानने वाले पर क्रोध और अंगरक्षक को भयंकर पीड़ा पहुँचाना। ऐसा करके पश्चात्ताप, प्रतिक्रमण, धिक्कार आदि कुछ नहीं किया और वह भव पूरा हो गया। उसके कारण प्रगाढ़ कर्म-बंध हो गया। अन्तिम भव में प्रभु महावीर को मुनि अवस्था में कान में कीलें ठुकवाकर भोगना पड़ा। व्यवहारनय से कहा- भोगना पड़ा। निश्चय नय से तो आत्मा में लीन थे, उससे दुःखी नहीं हुए, प्रदेश वेदन तो हुआ, विपाक वेदन नहीं।

इसी प्रकार गजसुकुमाल ने निन्यानवें लाख भव पूर्व सौत के पुत्र के सिर पर गरमागरम रोटा बँधवाकर निकाचित कर्म बाँधा तो अन्तिम भव में सिर पर अंगारे रखवाकर भोगना पड़ा।

खंदक ऋषि ने काचरा छीलने में प्रसन्नता प्रकट कर निकाचित कर्म बाँधा जो अन्तिम भव में शरीर का चमड़ा उतरवाकर भोगना पड़ा। महाराजा श्रेणिक ने गर्भवती हरिणी का शिकार किया, माता एवं सन्तान

दोनों को तड़पते-तड़पते मरते हुए देखकर भी जोर से अट्टहास कर मजा लिया तो नारकी का बँध पड़ गया। वे बाद में क्षायिक सम्यक्त्व और तीर्थंकर गोत्र उपार्जन करके भी नारकी का दुःख भोग रहे हैं।

जमाली भगवान् महावीर के मत से भिन्न प्ररूपणा करने लगे। निह्नव हो गए। दीर्घकाल तक संयम पाला। कठोर तप किया। व्याख्याप्रज्ञप्ति (९/३३) में वर्णन है कि वे विरसाहारी, अन्ताहारी, प्रान्ताहारी, रुक्षाहारी, तुच्छाहारी, अरसजीवी, विरसजीवी, उपशांतजीवी, विविक्तजीवी थे। अन्तिम समय में संथारा-संलेखना कर प्रतिक्रमण किया, परन्तु अपने मिथ्याभिनिवेश के भ्रम से मुक्त नहीं हुए। स्वयं भी दुर्बोध रहे, अन्यों को भी भ्रमित किया। ज्ञान के प्रत्यनीक होकर भी उसका प्रतिक्रमण-पश्चात्ताप नहीं करने से किल्विषी देव बनना पड़ा।

ऐसा ही एक उदाहरण व्याख्याप्रज्ञप्ति (१३/६) में है कि पिता ने तो सोचा कि पुत्र राज्य मोह में न फँसे, मुक्तिमार्ग चुन ले, इसलिए उसे राज्य नहीं दिया और भानजे को दिया। पुत्र अभीचिकुमार नाना के यहाँ रहते हुए श्रमणोपासक हो गया। प्रतिक्रमण करता था। उसमें समस्त ८४ लाख जीवयोनियों से क्षमायाचना करता था। पर 'एक दुष्ट पिता को छोड़कर' ऐसा बोलता था। पिता विषयक वैर विस्मृत न कर भव पूरा हो गया तो असुरकुमार देव बनना पड़ा।

इनकी तुलना में देखें कि ११४१ मनुष्यों की हत्या का पाप भी अर्जुनमाली अणगार ने मात्र ६ माह में प्रतिक्रमण करके, उसके ही एक भाग धर्मध्यान में लीन होकर, समभाव से गालियाँ, थू-थूं, लात-घूंसों का परीपह सहकर क्षीण कर दिया एवं सर्व कर्मो से मुक्त हो गए।

ये समस्त उदाहरण हमें सजग करते हैं कि प्रतिक्रमण, पश्चात्ताप, धिक्कार, आलोचना, गर्हा आदि न करते हुए वह भव पूरा हो जाता है तो अगले भव में वह कर्म फल उसे भोगना पड़ता है। अतः यह कैसे कहें कि प्रतिक्रमण नहीं करना? प्रतिक्रमण न करने से तो उग्र दुष्फल मिलता है। अतः प्रतिक्रमण अवश्य करें, परन्तु वही क्रिया यदि सम्यक्-समझपूर्वक, भावपूर्वक अन्तःकरण से की जाए तो उसका असंख्यात गुणा, अनन्तगुणा लाभ हो सकता है।

-द्वारा सोनीसन्स गारमेन्ट्स, १-यू.पी., जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७

खरतरगच्छ और तपागच्छ में प्रतिक्रमण सूत्र की परम्परा

श्री मानमल कुदाल

खरतरगच्छ के प्रभावशाली आचार्य श्री जिनप्रभसूरि जी (१४वीं शती ई.) की एक प्रमुख कृति है- विधिमार्गप्रपा। यह मूर्तिपूजक श्वेताम्बर परम्परा की क्रियाविधि का मानक ग्रन्थ है। इसमें सामायिक, प्रतिक्रमण, तपविधि, प्रव्रज्याविधि, योगविधि आदि का विवेचन है। लेखक ने यह सम्पूर्ण लेख पायधुनी, मुम्बई से सद्यः प्रकाशित विधिमार्गप्रपा से संकलित किया है। इस लेख के पाद टिप्पण (संदर्भ) में वर्तमान में प्रचलित खरतरगच्छ एवं तपागच्छ परम्परा के प्रतिक्रमण विषय भेद का भी उल्लेख किया गया है। लेख ज्ञानवर्धन की दृष्टि महत्त्वपूर्ण है। *-सम्पादक*

जैन साहित्य की परम्परा को अविच्छिन्न बनाने में अनेक साहित्यकारों और उनके ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जैन साहित्य की इस परम्परा में 'विधिमार्गप्रपा' का अद्वितीय स्थान है। 'विधिमार्गप्रपा' नामक ग्रन्थ के प्रणेता खरतरगच्छीय जिनप्रभसूरि हैं। उनकी यह रचना जैन महाराष्ट्री प्राकृत में है। इस कृति का रचनाकाल विक्रम सं. १३६३ है। इसकी रचना कोसल (अयोध्या) में हुई थी। यह ग्रन्थ ३५७५ श्लोक परिमाण है। इसकी रचना प्रायः गद्य में है। 'विधिमार्ग' यह खरतरगच्छ का ही पूर्व नाम है। यह ग्रन्थ विधि-विधानों की अमूल्य निधि है। नित्य (प्रतिदिन करने योग्य) और नैमित्तिक (विशेष अवसर या कभी-कभी करने योग्य) सभी प्रकार के विधि-विधान इसमें समाविष्ट है। इतना ही नहीं आचार्य जिनप्रभसूरि ने इसमें जैन धर्म के विधि-विधानों का प्रामाणिक उल्लेख किया है। अद्यावधि जैन धर्म में विधि-विधानों से संबंधित ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थ विरले ही देखने को मिलते हैं।

इस ग्रन्थ के दशवें द्वार में 'प्रतिक्रमण समाचारी' का वर्णन किया गया है, जिसमें दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक इन पाँच प्रकार के प्रतिक्रमणों की यथाक्रम विधि निर्दिष्ट है। इन विधियों के अन्तर्गत बिल्ली दोषनिवारण की विधि, छींक दोष निवारण विधि और प्रतिक्रमण के समय बैठने योग्य वत्साकार मंडली की स्थापना विधि का भी निर्देश है।

'विधिमार्गप्रपा' में वर्णित विभिन्न प्रतिक्रमण विधियों का हम यहाँ उल्लेख करेंगे।

१. देवसियपडिक्कमणविही

पुव्वोल्लिंगिया पडिकमणसामायारी पुण एसा। सावओ गुरूहिं समं इक्को वा 'जावंति चेइयाइं' ति गाहादुगथुत्तिपणिहाणवज्जं चेययाइं वंदित्तु, चउराइखमासमणेहिं आयरियाई वंदिय, भूनिहिय सिरो 'सव्वस्सवि

देवसिय' इच्चाइदंडगेण सयलाइयारमिच्छामिदुक्कडं दाउं, उट्ठिय सामाइयसुत्तं भणित्तु, 'इच्छामि ठाइउं काउसग्ग' मिच्चाइसुत्तं भणिय, पलंबियभुयकुप्परधरिय नाभि अहो जाणुड्ढं चउरंगुलठवियकडियपट्टो संजइकविट्ठाइदोसरहियं काउस्सग्गं काउं, जहक्कमं दिणकए अइयारे हियए धरिय, नमोक्कारेण पारिय, चवीसत्थयं पढिय, संडासगे पमज्जिय, उवविसिय, अलग्गवियबाहुजुओ मुहणंतए पंचवीसं पडिलेहणाओ काउं, काए वि तत्तियाओ चेव कुणइ। साविया पुण पट्ठिसिर-हिययवज्जं पन्नरस कुणइ। उट्ठिय बत्तीसदोसरहियं पणवीसावस्सयसुद्धं किइकम्मं काउं अवणयंगो करजुयविहिधरियपुत्ती देवसियाइयाराणं गुरुपुरओ वियऽणत्थं आलोयणदंडगं पढइ। तओ पुत्तीए कट्ठासणं पाउंछणं वा पडिलेहिय वामं जाणुं हिट्ठा दाहिणं च उड्ढं काउं, करजुयगहियपुत्ती सम्मं पडिकमणसुत्तं भणइ। तओ दव्वभावुट्ठिओ 'अब्भुट्ठिओमि' इच्चाइदंडगं पढित्ता, वंदणं दाउं, पणगाइसु जइसु तिन्नि खामित्ता, सामन्नसाहूसु पुण ठवणायरिएण समं खामणं काउं, तओ तिन्नि साहू खामित्ता, पुणो किइकम्मं काउं, उद्धट्ठिओ सिरकयंजली 'आयरियउवज्झाए' इच्चाइगाहातिगं पढित्ता सामाइयसुत्तं उस्सगदंडयं च भणिय, काउस्सग्गे चारित्ताइयारसुद्धिनिमित्तं, उज्जोयदुगं चिंतेइ। तओ गुरुणा पारिए पारित्ता, सम्मत्तसुद्धिहेउं उज्जोयं पढिय, सव्वलोयअरिहंतचेइयाराहणुस्सग्गं काउं, उज्जोयं चिंतिय सुयसोहिनिमित्तं 'पुक्खरवरदीवड्ढं' कड्ढिय, पुणो पणवीसुस्सासं काउस्सग्गं काउं पारिय, सिद्धित्थवं पढित्ता, सुयदेवयाए काउस्सग्गे नमुक्कारं चिंतिय, तीसे थुइं देइ सुणेइ वा। एवं खित्तदेवयाए वि काउस्सग्गे नमुक्कारं चिंतिऊण, पारिय, तत्थुइं दाउं सोउं वा पंचमंगलं पढिय संडासए पमज्जिय, उवविसिय, पुव्वं व पुत्तिं पेहिय, वंदणं दाउं 'इच्छामो अणुसिट्ठिं' ति भणिय, जाणूहिं ठाउं वद्धमाणक्खरस्सरा तिन्निथुई उ पढिय, सक्कत्थयं थुत्तं च भणिय, आयरियाई वंदिय, पायच्छित्त-विसोहणत्थं काउस्सग्गं काउं उज्जोय चउक्कं चिंतेइ त्ति।

१. दैवसिकप्रतिक्रमण विधि-

सर्वप्रथम श्रावक, गुरु महाराज के साथ अथवा अकेला ही 'जावंतिचेइयाइं' और 'जावंतकेविसाहू' सूत्र एवं 'स्तुति प्रणिधान सूत्र'[1] को छोड़कर चैत्यादि[2] का वंदन करता है। फिर चार वार 'खमासमणसूत्र' पूर्वक आचार्य-उपाध्याय-वर्तमान साधु आदि को वन्दन करता है, फिर भूमितल पर मस्तक रखकर 'सव्वस्सवि देवसिय सूत्र'[3] के उच्चारण पूर्वक सकल अतिचारों का मिच्छामि दुक्कडं देता है।

प्रथम सामायिक एवं द्वितीय चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक- उसके बाद प्रतिक्रमण करने वाला साधक खड़े होकर सामायिक सूत्र[4] बोलता है, फिर 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं'[5] इत्यादि सूत्र को कहकर कायोत्सर्ग करता है। कायोत्सर्ग के समय दोनों भुजाओं को लम्बी कर, कोहनियों से कटिवस्त्र-चोलपट्टा या धोती को पकड़कर रख सके उस प्रकार से नाभि से चार अंगुल नीचे और घुटनों से चार अंगुल ऊपर कटिवस्त्र धारण करता है। कायोत्सर्ग संयति-कपिप्ठ आदि १९ दोषों से रहित होकर करना चाहिए। इस कायोत्सर्ग में दिनकृत अतिचारों को हृदय में धारण (याद)[6] करता है। उसके बाद 'णमो अरिहंताणं' शब्दपूर्वक कायोत्सर्ग पूर्ण कर

'चतुर्विंशतिस्तव सूत्र'[7] बोलता है।

तृतीय वन्दन आवश्यक- उसके बाद संडाशक स्थानों[8] की प्रमार्जना कर और नीचे बैठकर दोनों भुजाओं से शरीर का स्पर्श न करता हुआ, पच्चीस बोल पूर्वक मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करता है। उसी प्रकार पच्चीस बोल पूर्वक शरीर की प्रतिलेखना करता है। यहाँ श्राविका वर्ग दोनों स्कन्ध मस्तक एवं हृदय इन तीन स्थानों के दस बोलों को छोड़कर पन्द्रह बोलपूर्वक ही शरीर की प्रतिलेखना करता है। इसके बाद उस स्थान से खड़े होकर बत्तीस दोष रहित और पच्चीस आवश्यक की शुद्धिपूर्वक कृतिकर्म (द्वादशावर्त्तवन्दन) करता है।

दैवसिक अतिचारों की आलोचना एवं चतुर्थ प्रतिक्रमण आवश्यक- फिर मस्तक सहित शरीर को कुछ झुकाकर और करयुगल में विधिपूर्वक मुखवस्त्रिका को धारणकर, दैवसिक अतिचारों को गुरु के समक्ष प्रकट करने के लिए आलोचना सूत्र[9] बोलता है। उसके बाद मुखवस्त्रिका के द्वारा काष्ठासन अथवा पादप्रोञ्छन की प्रतिलेखना करता है तथा बाँये घुटने को नीचे कर और दाहिने घुटने को ऊँचा करके, दोनों हाथों में मुखवस्त्रिका को धारणकर सम्यक् प्रकार से प्रतिक्रमण सूत्र बोलता है। प्रतिक्रमण सूत्र[10] की ४३ वीं गाथा में 'अब्भुट्ठिओमि आराहणाए' के पाठ से लेकर शेष सूत्र को द्रव्य और भाव से खड़े होकर पढ़ता है। उसके बाद पूर्ववत् द्वादशावर्त्तवन्दन करता है, फिर प्रतिक्रमण मण्डली में पाँच आदि साधु हों तो तीन साधुओं से 'अब्भुट्ठिओमि सूत्र' पूर्वक क्षमायाचना करता है तथा शेष साधुओं से स्थापनाचार्य के वन्दन के साथ क्षमायाचना करता है।

पंचम कायोत्सर्ग आवश्यक- पुनः पच्चीस आवश्यक की शुद्धिपूर्वक कृतिकर्म (द्वादशावर्त्तवन्दन) करता है, फिर खड़े होकर मस्तक पर अंजलि किया हुआ 'आयरिय-उवज्झाय सूत्र' की तीन गाथा बोलता है। उसके बाद 'सामायिक सूत्र' और 'कायोत्सर्ग सूत्र'[11] को बोलकर, कायोत्सर्ग में चारित्रातिचार की शुद्धि निमित्त दो 'लोगस्स सूत्र' का चिन्तन करता है। उसके बाद गुरु महाराज के द्वारा कायोत्सर्ग पूर्ण किये जाने पर स्वयं कायोत्सर्ग को पूर्ण करता है। फिर 'लोगस्स सूत्र' सव्वलोए 'अरिहंतचेइयाणंसूत्र' 'अन्नत्थ सूत्र' बोलकर सम्यक्त्व की शुद्धि हेतु कायोत्सर्ग में एक 'लोगस्स सूत्र' का चिन्तन करता है। फिर पुक्खरवरदीसूत्र[12] और 'अन्नत्थसूत्र' कहकर सूत्र की शुद्धि निमित्त पच्चीस श्वासोच्छ्वास (चंदेसु निम्मलयरा) तक का कायोत्सर्ग कर पूर्ण करता है। इसके पश्चात् 'सिद्धस्तव सूत्र'[13] बोलकर श्रुतदेवता के कायोत्सर्ग में एक 'नमस्कार मंत्र' का चिन्तन कर श्रुतदेवता[14] की स्तुति बोलता है अथवा सुनता है। इसी प्रकार क्षेत्रदेवता[15] की आराधना निमित्त उसके कायोत्सर्ग में भी एक 'नमस्कार मंत्र' का चिन्तन कर फिर कायोत्सर्ग पूर्णकर क्षेत्रदेवता की स्तुति बोलता है अथवा सुनता है। उसके बाद पुनः प्रकट में एक 'नमस्कार मंत्र' कहता है।

षष्ठ प्रत्याख्यान आवश्यक- फिर संडाशक स्थानों को प्रमार्जित कर तथा नीचे बैठकर पूर्ववत् ही पच्चीस बोल पूर्वक मुखवस्त्रिका और शरीर की प्रतिलेखना कर द्वादशावर्त्त करता है। फिर 'इच्छामो अणुसट्ठिं' इतना

बोलकर पुनः बाँये घुटने के बल बैठकर वर्द्धमान अक्षर और स्वर वाली अर्थात् जिसमें अक्षर और स्वर बढ़ते हुए हों वैसी तीन स्तुति[16] बोलता है।

२. पक्खियपडिक्कमणविही-

पक्खियपडिक्कमणं पुण चउद्दसीए कायव्वं। तत्थ 'अब्भुट्ठिओमि आराहणाए' इच्चाइसुत्तंतं देवसियं पडिक्कमिय, तओ खमासमणदुगेण पक्खियमुहपोत्तिं पडिलेहिय, पक्खियाभिलावेणं वंदणं दाउं, संबुद्धाखामणं काउं, उट्ठिय पक्खियालोयण सुत्तं। 'सव्वस्स वि पक्खिय'इच्चाइपज्जंतं पढिय, वंदणं दाउं भणइ- 'देवसियं आलोइयं, पडिक्कंतं पत्तेयखामणेणं अब्भुट्ठिओऽहं अब्भिंतरपक्खियं खामेमि' त्ति भणित्ता, आहारायणियाए साहू सावए य खामेइ, मिच्छुक्कडं दाउं सुहतवं पुच्छेइ, सुहपक्खियं च साहुणमेव पुच्छेइ न सावयाणं। तओ जहामंडलीए ठाउं वंदणं दाउं भणइ- 'देवसियं आलोइयं पडिक्कंतं, पक्खियं पडिक्कमावेह।' तओ गुरुणा- 'सम्मं पडिक्कमणं' त्ति भणिए, इच्छंति भणिय, सामाइयसुत्तं उस्सग्गसुत्तं च भणिय, खमासमणेण 'पक्खियसुत्तं संदिसावेमि' खमासमणेण 'पक्खियसुत्तं कड्ढेमि' त्ति भणित्ता, नमोक्कारतिगं कड्ढिय पडिक्कमणसुत्तं भणइ। जे य सुणंति ते उस्सग्गसुत्ताणंतरं 'तस्सुत्तरीकरणेणं' ति तिदंडगं पढिय काउस्सग्गे ठंति। सुत्तसमत्तीए उद्धट्ठिओ नवकारतिगं भणिय, उवविसिय, नमोक्कार-सामाइयतिगपुव्वं 'इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे पक्खिओ अइयारो कओ' इच्चाइदंडगं पढिय, सुत्तं भणित्ता, उट्ठिय अब्भुट्ठिओमि आराहणाए 'त्ति दडंगं पढित्ता, खमासमणं दाउं 'मूलगुण-उत्तरगुण-अइयार-विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्ग' त्ति भणिय 'करेमि भंते' इच्चाइ, इच्छामि ठामि काउस्सग्ग' मिच्चाइदंडयं च पढित्ता, काउस्सग्गं काउं बारसुज्जोए चिंतेइ। तओ पारित्ता, उज्जोयं भणित्ता, मुहपोत्तिं पडिलेहिय, वंदणं दाउं समत्तिखामणं काउं चउहिं छोभवंदणगेहिं तिन्नि तिन्नि नमोक्कारे, भूनिहियसिरो भणेइ त्ति। तओ देवसियसेसं पडिक्कमइ। नवरं सुयदेवयाथुइअणंतरं भवणदेवयाए काउस्सग्गे नमोक्कारं चिंतिय, तीसे थुइं देइ सुणेइ वा। थुत्तं च अजियसंतित्थओ। एवं चाउम्मासिय संवच्छरिया वि पडिक्कमणा तदभिलावेण नेयव्वा। नवरं जत्थ पक्खिए बारसुज्जोया चिंतिज्जंति, तत्थ चाउम्मासिए वीसं, संवच्छरिए चालीसं पंचमंगलं च। तहा पक्खिए पणगाइसु जइसु तिण्हं संबुद्ध-खामणाणं, चाउम्मासिए सत्ताइसु पंचण्हं संवच्छरिए नवाइसु सत्तण्हं। दुगमाईनियमा सेसे कुज्ज त्ति भावत्थो। तहा संवच्छरिए भवणदेवयाकाउस्सग्गो न कीरइ न य थुई। असज्झाइयकाउसग्गो न कीरइ। तहा राइय-देवसिएसु 'इच्छामोऽणुसट्ठिंत्ति भणणाणंतरं गुरुणा पढमथुईए भणियाए मत्थए अंजलिं काउं 'नमो खमासमणाणं' ति भणिय, मत्थए अंजलिपग्गहमित्तं वा काउं इयरे तिन्नि थुईओ भणंति। पक्खिए पुण नियमा गुरुणा थुइतिगे पूरिए. तओ सेसा अणुकड्ढंति त्ति।

२. पाक्षिक प्रतिक्रमण विधि

पाक्षिक प्रतिक्रमण को चतुर्दशी के दिन करना चाहिए। पाक्षिक प्रतिक्रमण करने के लिए 'अब्भुट्ठिओमि आराहणाए' इत्यादि सूत्र तक दैवसिक प्रतिक्रमण के समान ही करना चाहिए। उसके बाद दो प्रतिक्रमण करने वाला 'खमासमण सूत्र' पूर्वक वंदन करके पाक्षिक प्रतिक्रमण में प्रवेश करने के लिये

मुखवस्त्रिका को प्रतिलेखित करता है।

संबुद्धा (विशिष्ट ज्ञानप्राप्त गुरुजनों से) क्षमायाचना-इसके पश्चात् पाक्षिक आलापक (वचन) से द्वादशावर्त्तवन्दन करके 'संबुद्धाखामणा'[17] अर्थात् विशिष्ट ज्ञानी गुरुओं से क्षमायाचना करता है।

पाक्षिक आलोचना एवं प्रत्येक क्षमायाचना- उसके बाद प्रतिक्रमण करने वाला आराधक आसन से उठकर, पाक्षिक आलोचना सूत्र[18] 'सव्वस्सवि पक्खिय' इत्यादि पर्यन्त पढ़कर फिर द्वादशावर्त्तवन्दन देकर कहता है- 'दिवस संबंधी पापों की आलोचना का प्रतिक्रमण करते हुए, प्रत्येक को क्षमायाचना करने के लिए मैं उपस्थित हुआ हूँ; और अन्तःकरण पूर्वक पक्ष संबंधी दोषों की क्षमायाचना करता हूँ' इतना बोलकर यथारात्निक (बड़े-छोटे के) क्रम से प्रत्येक साधु और श्रावक से क्षमायाचना[19] करता है। फिर कृत दोषों का मिथ्या दुष्कृत देकर, तप[20] (तपस्वी) की सुखसाता पूछता है और पाक्षिक सुखपृच्छा साधुओं से ही करता है, श्रावकों से नहीं।

पाक्षिक प्रतिक्रमण- उसके बाद यथोचित मण्डली में स्थित होकर 'द्वादशावर्त्तवन्दन' देकर प्रतिक्रमण करने वाला शिष्य बोलता है- 'दिवस संबंधी आलोचना का प्रतिक्रमण करते हुए पक्ष संबंधी पापों की शुद्धि निमित्त पाक्षिक प्रतिक्रमण करवाइये।' उसके बाद गुरु द्वारा 'तुम सम्यक् प्रकार से प्रतिक्रमण करो' ऐसा कहे जाने पर शिष्य 'ऐसी ही इच्छा करता हूँ' इतना बोलकर फिर 'सामायिक सूत्र'[21] और 'उत्सर्गसूत्र'[22] बोलता है। पुनः एक 'खमासमण सूत्र' पूर्वक वंदन करके कहता है- 'पाक्षिक सूत्र' बोलने की अनुमति लेता हूँ। पुनः दूसरे 'खमासमण सूत्र' पूर्वक वंदन करके 'पाक्षिक सूत्र कहता हूँ' ऐसा कहकर तीन बार 'नमस्कार मंत्र' को बोलकर 'प्रतिक्रमण सूत्र'[23] कहता है और जो प्रतिक्रमण सूत्र सुनते हैं वे 'उत्सर्ग सूत्र' के बाद ही तस्सउत्तरीकरणेणं आदि तीन पाठ (करेमि भंते, इच्छामि ठामि, तस्सउत्तरी) बोलकर कायोत्सर्ग में स्थित हो जाते हैं।

तदनन्तर 'पाक्षिक सूत्र' समाप्त होने पर, ऊर्ध्व स्थित (खड़ा) ही रहकर तीन 'नमस्कार मंत्र' बोलता है। फिर नीचे बैठकर तीन 'नमस्कार मंत्र' व तीन बार 'सामायिक सूत्र' के उच्चारण पूर्वक 'इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे पक्खिओ अइयारो कओ'' इत्यादि पाठ को पढ़कर वंदित्तु सूत्र बोलता है। उसके बाद खड़े होकर 'आराधना के लिए उपस्थित हुआ हूँ' यहाँ से लेकर 'वंदित्तु सूत्र' की अंतिम गाथा तक पढ़ता है पश्चात् एक 'खमासमण सूत्र' पूर्वक वंदन करके 'मूलगुण-उत्तरगुण में लगे हुए अतिचारों की विशुद्धि करने के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ' ऐसा बोलकर 'करेमि भंते' इत्यादि और 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं' इत्यादि सूत्र पढ़कर कायोत्सर्ग में बारह 'उद्योतकर सूत्र'[24] का चिन्तन करता है। उसके बाद कायोत्सर्ग पूर्ण कर, 'उद्योतकर सूत्र' बोलकर पाक्षिक प्रतिक्रमण की निर्विघ्न समाप्ति के निमित्त मुखवस्त्रिका को प्रतिलेखित कर, द्वादशावर्त्त वन्दन करता है।

थोभवन्दन क्षमायाचना- पाक्षिक प्रतिक्रमण की समाप्ति के निमित्त क्षमायाचना करने के लिए, चार थोभवंदन[२५] के द्वारा, तीन-तीन 'नमस्कार मंत्र' को भूमि पर मस्तक रखकर बोलता है। उसके बाद दैवसिक का शेष प्रतिक्रमण करता है।

पाक्षिक प्रतिक्रमण की विशेष विधि- यहाँ (पाक्षिक प्रतिक्रमण के बाद, दैवसिक प्रतिक्रमण करते हुए) विशेप इतना ध्यान रखना चाहिए कि श्रुतदेवता[२६] की स्तुति करने के बाद 'भुवन देवता' के कायोत्सर्ग में 'नमस्कार मंत्र' का चिन्तन कर भुवन देवता की ही स्तुति बोलते हैं अथवा सुनते हैं और स्तोत्र के स्थान पर 'अजितशांतिस्तव' बोलते हैं। इस प्रकार चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण की विधि भी उस-उस आलापक से जाननी चाहिए।

कायोत्सर्ग के संबंध में- विशेष यह है कि जहाँ पाक्षिक प्रतिक्रमण में बारह 'उद्योतकर सूत्र' का चिंतन किया जाता है वहाँ चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में बीस 'लोगस्स सूत्र' का और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में चालीस 'लोगस्स सूत्र' और ऊपर एक 'नमस्कार मंत्र' का चिन्तन किया जाता है।

क्षमायाचना के संबंध में- जहाँ पाक्षिक प्रतिक्रमण की मंडली में पाँच आदि साधुओं के होने पर तीन के साथ संबुद्धा क्षमायाचना करने की परम्परा है, वहाँ चातुर्मासिक प्रतिक्रमण की मंडली में सात आदि साधु होने पर पाँच के साथ और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण की मंडली में, नव आदि साधु होने पर सात के साथ संबुद्धा क्षमायाचना करने की परम्परा है। नियम से दो साधु आदि शेप रखने चाहिए ऐसा भावार्थ है। सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में भुवनदेवता का कायोत्सर्ग नहीं किया जाता है और न ही स्तुति बोली जाती है। अस्वाध्याय का कायोत्सर्ग भी नहीं किया जाता है। रात्रिक व दैवसिक प्रतिक्रमण में 'इच्छामोऽणुसट्ठिं' यह बोलने के बाद एवं गुरु द्वारा प्रथम स्तुति बोले जाने के बाद शेष साधु मस्तक पर अंजलि करके, 'नमो खमासमणाणं' यह कहकर अथवा मस्तक पर हाथ जोड़कर वर्द्धमान की तीन स्तुतियाँ बोलते है। पुनः पाक्षिक प्रतिक्रमण में नियम से गुरु द्वारा तीन स्तुतियाँ पूर्ण करने के बाद शेष साधु वर्द्धमान की तीन स्तुतियों का अनुसरण करते हैं अर्थात् बोलते हैं।

३. देवसियपडिक्कमणसेसविही

देवसियपडिक्कमणे पच्छित्तउस्सग्गाणंतरं खुद्दोवद्दवओहडावणियं सयउस्सासं काउस्सग्गं काउं, तओ खमासमणदुगेण सज्झायं संदिसाविय जाणुट्ठियो नवकारतिगं कड्ढिय विग्घावहरणत्थं सिरिपासनाहनमोक्कारं सक्कत्थयं 'जावंति चेइयाइं' ति गाहं च भणित्तु, खमासमणपुव्वं। 'जावंत केइ साहू' इति गाहं पासनाहथवं च जोगमुद्दाए पढित्ता, पणिहाणगाहादुगं च मुत्तामेत्तिमुद्दाए भणिय, खमासमणपुव्वं भूमिनिहितसिरो, 'सिरिथंभणयट्ठियपाससामिणो' इच्चाइगाहादुगमुच्चरित्ता, 'वंदणवत्तियाए' इच्चाइदंडगपुव्वं चउ लोगुज्जोयगरियं काउस्सग्गं काउं चउवीसत्थयं पढंति त्ति पडिक्कमणविहिसेसो पुव्वपुरिससंताण-क्कमागओ. 'आयरणा वि हु आण' त्ति वयणाओ कायव्वो चेव। जहा थुइतिगभणणाणंतरं सक्कत्थव-थुत्त-पच्छित्त-उस्सग्गा। पुव्वं हि

गुरुथुइगहणे थुइतिन्नि त्ति पज्जंतमेव पडिक्कमणमासि। अओ चेव थुइतिगे कड्ढिए छिंदणे वि न दोसो। छिंदणं ति वा अंतरणि त्ति वा अग्गलि त्ति वा एगट्ठा। छिंदणं व दुहा- अप्पकयं, परकयं च। तत्थ अप्पकयं अप्पणो अंगपरियत्तणेण भवइ। परकयं जया परो छिंदइ।

पक्खिय पडिक्कमणे पत्तेयखामणं कुणंताणं पुढोकयआलोयणं मुत्तुं नत्थि छिंदणदोसो। अओ चेव अम्ह सामायारीए मुहपोत्तिया पत्तेयखामणा-णंतरं न पडिलेहिज्जइ त्ति। जया य मज्जारिया छिंदइ तया-

जा सा करडी कब्बरी अंखिहिं कक्कडियारि।
मंडलिमाहिं संचरीय हय पडिहय मज्जारि-त्ति ।।१।।

चउत्थपयं वारतिगं भणिय, खुद्दोपद्दवओहडावणियं काउसग्गो कायव्वो। सिरिसंतिनाहनमोक्कारो घोसेयव्वो। कारणंतरेण पुढोपडिकंता पुढोकय आलोयणा वा पडिकमणानंतरं गुरुणो वंदणं दाउं, आलोयण-खामण-पच्चक्खाणाइं कुणंति। पडिक्कमणं च पुव्वाभिमुहेण उत्तराभिमुहेण वा।।

आयरिया इह पुरओ, दो पच्छा तिन्नि तयणु दो तत्तो।
तेहिं पि पुणो इक्को, नवगणमाणा इमा रयणा ।।१।।

इइगाहा भणियसिरिवच्छाकारमंडलीए कायव्वं। श्रीवत्सस्थापना चेयम्- तत्थ देवसियं पडिक्कमणं रयणिपढमपहरं जाव सुज्झइ। राइयं पुण आवस्सयचुण्णिअभिप्पाएण उग्घाडपोरिसिं जाव, ववहारभिप्पाएण पुण पुरिमड्ढं जाव सुज्झइ।

जो वट्टमाणमासो तस्स य मासस्स होइ जो तइओ।
तन्नामयनक्खत्ते सीसत्थे गोसपडिक्कमणं।।

३. दैवसिक प्रतिक्रमण में प्रक्षेप की गई विधि-

जिनप्रभसूरि कहते हैं कि दैवसिक प्रतिक्रमण में, प्रायश्चित्त संबंधी अर्थात् "दैवसिक प्रायश्चित्त की विशुद्धि निमित्त किया जाने वाला कायोत्सर्ग करने के बाद 'क्षुद्र उपद्रव (तुच्छ उपद्रव) को दूर करने के निमित्त' सौ श्वासोच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। उसके बाद दो बार 'खमासमण सूत्र' पूर्वक वंदन करके स्वाध्याय करने की अनुमति ग्रहण कर, फिर घुटने के बल स्थित होकर स्वाध्याय रूप 'नमस्कार मंत्र' तीन बार बोलना चाहिए। उसके बाद विघ्नों को दूर करने के लिए 'श्री पार्श्वनाथ नमस्कार स्तोत्र'[२७] 'शक्रस्तव सूत्र'[२८] और 'जावंति चेइयाइं' इतना गाथापाठ बोलकर, एक खमासमणा पूर्वक 'जावंत केविसाहू' यह गाथा और पार्श्वनाथ का स्तव'[२९] योगमुद्रा से पढ़ना चाहिए और प्रणिधान की गाथा युगल को मुक्तासूक्ति मुद्रा से बोलना चाहिए। पश्चात् 'खमासमण' पूर्वक भूमि पर सिर झुकाकर 'सिरिथंभणयपुरट्ठियपाससामिणो' इत्यादि दो गाथाएँ बोलकर, 'वंदणवत्तियाए' इत्यादि दण्डक पाठ पूर्वक, चार बार 'लोक उद्योतकरसूत्र' का कायोत्सर्ग करके, प्रकट में 'चतुर्विंशतिस्तव' को बोलना चाहिए। इस प्रकार यह प्रतिक्रमण की शेष विधि पूर्व पुरुषों की शिष्य परम्परा के क्रम से आचरित होकर आई है तथा 'आचरण ही निश्चय से आज्ञा है' इस वचन से शेष

विधि भी करनी ही चाहिए। जैसाकि वर्द्धमान स्वामी की तीन स्तुति के बाद 'शक्रस्तवस्तोत्र'[३०] बोलते हैं और दैवसिक प्रायश्चित्त का कायोत्सर्ग करते हैं।

पूर्वकाल में वर्द्धमान स्वामी की जो स्तुति बोली जाती है उन तीन स्तुति पर्यन्त ही प्रतिक्रमण था और इसलिए ही प्रतिक्रमण में तीन स्तुति कहे जाने के बाद किसी प्रकार का व्यवधान होने पर भी दोष नहीं माना जाता है।

छिन्दन का अर्थ- व्यवधान के अर्थ में छिन्दन शब्द का प्रयोग है।

१. छिन्दन- खण्डन करना, क्रियानुष्ठान में विक्षेप करना अथवा

२. अंतरणि- व्यवधान करना, अथवा

३. अग्गलि- अर्गलि बन्द करना, विघ्न आगमन का संकेत करना ये तीनों ही शब्द एकार्थ सूचक हैं।

छिन्दन के प्रकार- छिन्दन दो प्रकार का होता है १.-आत्मकृत २. परकृत।

१. आत्मकृत- अपने ही अंग परिवर्तन से जो आड़ होती है अर्थात् अपने शारीरिक अंग आदि का बीच में चलना 'आत्मकृत छिन्दन' है।

२. परकृत- मार्जारी आदि अन्य प्राणी का बीच में होकर अर्थात् स्थापनाचार्य आदि मुख्यस्थापना व आराधक के बीच में होकर निकलने से जो आड़ होती है, वह 'परकृत छिन्दन' है।

छिन्दन कब और कहाँ?

पाक्षिक प्रतिक्रमण में- प्रत्येक क्षमायाचना करते हैं (जो पृथक् रूप से आलोचना किये हुए है उस) पृथक् कृत (अर्थात् एकाकी या अलग से प्रतिक्रमण करने वाले) आलोचक को छोड़कर (किसी का) छिन्दन दोष नहीं होता है। और इसलिए ही समाचारी में प्रत्येक क्षमायाचना करने के बाद मुखवस्त्रिका प्रतिलेखित नहीं की जाती है।

बिल्लीदोषनिवारण विधि- जब मार्जारी (बिल्ली) की प्रतिक्रमणादि क्रियाओं में आड़ होती है तब दोष निवारण के लिए निम्न गाथा बोलते हैं, वह इस प्रकार है-

गाथार्थ- जो मार्जारी, कबडी, आँखों से कर्कश, कठोर है, वह चितकबरी (मार्जारी) मंडली के अन्दर संचरित हुई हों, (प्रवेश कर गई हों) तो उससे होने वाले दोषों का नाश हो, विशेष रूप से नाश हो।

उपर्युक्त गाथा का चौथा पद तीन बार बोलकर, क्षुद्रोपद्रव को दूर करने के लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए फिर 'श्री शांतिनाथ भगवान् को नमस्कार हो' ऐसी (बुलन्द आवाज में) घोषणा करनी चाहिए।

प्रतिक्रमण संबंधी विशेष कथन- चाहे श्रावक हो या साधु, कारण विशेष से जिन्होंने मंडली से पृथक् प्रतिक्रमण किया हो अथवा पृथक् रूप से आलोचना की हो, वे प्रतिक्रमण करने के तुरन्त बाद गुरु को वन्दन करके, आलोचना, क्षमायाचना और प्रत्याख्यानादि करते हैं।

प्रतिक्रमणदिशा-निर्देश- प्रतिक्रमण पूर्वाभिमुख होकर अर्थात् पूर्व दिशा की ओर मुख करके अथवा दिशा की ओर मुख करके करना चाहिए।

प्रतिक्रमण मण्डलीस्थापना विधि- प्रतिक्रमण करने वाले श्रमणों की मंडली 'श्रीवत्साकार' के समान ह चाहिए। श्री वत्साकार मंडली स्थापना की विधि इस प्रकार है-

गाथार्थ- यहाँ पर मंडली में आचार्य सबसे आगे बैठें, फिर आचार्य के पीछे दो साधु बैठें, दो के पीछे ती साधु, तीन के पीछे फिर दो साधु पुनः दो के बाद एक साधु इस प्रकार नवगण समूह परिमाण की यह रचना होती है। इस गाथा में कही गई 'श्री वत्साकार मंडली' विधि पूर्वक करनी चाहिए। 'श्रीवत्सस्थापना' इस प्रकार है-

दैवसिक व रात्रिक प्रतिक्रमण का काल- यहाँ प्रतिक्रमण के विषय में कहा गया है कि दैवसिक प्रतिक्रमण रात्रि के प्रथम प्रहर तक करने पर भी शुद्ध होता है। रात्रि प्रतिक्रमण 'आवश्यक चूर्णि' के अभिप्राय से उग्घाडा पौरुषी (दिन की छह घड़ी) तक करने पर भी शुद्ध होता है और 'व्यवहार सूत्र' के अभिप्राय से पुरिमड्ढ (दि का आधा भाग व्यतीत होने) तक, करने पर भी शुद्ध होता है।

गाथार्थ- विधिमार्गप्रपा में रात्रिक प्रतिक्रमण कब करना चाहिए उस संबंध में कहा गया है कि जो वर्तमान क मास चल रहा हो, उससे तीसरे मास के नाम का नक्षत्र मस्तक पर आये तब रात्रिक प्रतिक्रमण करना चाहिए अर्थात् जैसे वर्तमान में श्रावण मास चल रहा है तो आश्विन मास में तीसरा मास होता है तब आश्विनी नाम का नक्षत्र मध्याकाश में आये उस समय रात्रिक प्रतिक्रमण का समय समझना चाहिए।

४. राइयपडिक्कमणविही

राइयपडिक्कमणे पुण आयरियाई वंदिय भूनिहियसिरो 'सव्वस्स वि राइय' इच्चाइदंडगं पढिय सक्कत्थयं भणित्ता, उट्ठिय, सामाइय-उस्सग्गसुत्ताइं पढिय, उस्सग्गे उज्जोयं चिंतिय पारिय, तमेव पढित्ता, बीये उस्सग्गे तमेव चिंतिता सुयत्थयं पढित्ता; तईए; जहक्कमं निसाइयारं चिंतित्ता, सिद्धत्थयं पढित्ता, सं पमज्जिय, उवविसिय, पुत्तिं पेहिय, वंदणं दाउं, पुव्विं व आलोयणसुत्त-पढण-वंदणय-खामणय-वंदण गाहातिगपढण-उस्सग्गसुत्तउच्चारणाइं काउं छाम्मासिय-काउस्सग्गं करेइ। तत्थ य इमं चिंतेइ-"सिरिव माणतित्थे छम्मासियो तवो वट्टइ। तं ताव काउं अहं न सकुणोमि। एवं एगाइएगूणतीसंतदिणूणं पि सकुणोमि। एवं पंच-चउ-ति-दु-मासे वि न सकुणोमि। एवं एगमासं पि जाव तेरसदिणूणं न सकुणोमि।" तअ चउतीस-बत्तीसमाइकमेण हाविंतो जाव चउत्थं आयंबिलं निव्वियं एगासणाइ पोरिसिं नमोक्कारसहियं वा ज सक्केइ तेण पारेइ। तओ उज्जोयं पढिय, पुत्तिं पेहिय, वंदणं दाउं, काउस्सग्गे जं चिंतियं तं चिय गुरु-वयणमणुभणिंतो सय वा पच्चक्खाइ। तो 'इच्छामोणुसट्ठिं' त्ति भणंतो जाणूहिं ठाउं तिन्नि वड्ढमाणथुईओ पढित्ता मिउसद्देणं सक्कत्थयं पढिय, उट्ठिय 'अरहंतचेइयाणं' इच्चाइपढिय, थुइचउक्केणं चेइए वंदेइ। 'जावंति चेइयाइं' इच्चाइगाहादुगथुत्तं पणिहाणगाहाओ न भणेइ। तओ आयरियाई वंदेइ। तओ वेलाए पडिलेहणाइ करेइ

त्ति॥

४. रात्रिक प्रतिक्रमण विधि

रात्रिक प्रतिक्रमण विधि में सर्वप्रथम 'खमासमण सूत्र' पूर्वक आचार्यादि चार को वन्दन करता है। फिर मस्तक को भूमितल पर स्थित करके 'सव्वस्स वि राइय' 'प्रतिक्रमण स्थापना सूत्र' बोलता है। फिर 'शक्रस्तवसूत्र'[३१] कहता है।

प्रथम सामायिक एवं दूसरा चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक- उसके बाद आसन से खड़े होकर सामायिकसूत्र[३२] कायोत्सर्गसूत्रादि[३३] को बोलकर कायोत्सर्ग में एक 'उद्योतकर सूत्र'[३४] का चिन्तन करता है। फिर कायोत्सर्ग पूर्ण कर प्रकट में 'उद्योतकर सूत्र' को बोलकर दूसरे कायोत्सर्ग में पुनः एक 'लोगस्स सूत्र' का चिन्तन करता है। फिर 'श्रुतस्तवसूत्र'[३५] बोलकर तीसरे कायोत्सर्ग में यथाक्रम से रात्रि में लगे हुए अतिचारों का चिन्तन करता है। अनन्तर 'सिद्धस्तवसूत्र'[३६] कहता है।

तीसरा वन्दन एवं चौथा प्रतिक्रमण आवश्यक- उसके बाद रात्रिक प्रतिक्रमण करने वाला साधक संडाशक स्थानों को प्रमार्जित कर, फिर नीचे बैठकर मुखवस्त्रिका की (२५ बोल पूर्वक) प्रतिलेखना करता है। फिर स्थापनाचार्य जी को द्वादशावर्त्तवन्दन करता है। तत्पश्चात् दैवसिक प्रतिक्रमण के अनुसार क्रमशः 'आलोचना सूत्र'[३७] पढ़ता है; गुरु के समक्ष रात्रिकृत अतिचारों को प्रकट करता है, वंदित्तुसूत्र बोलता है, द्वादशावर्त्तवन्दन करता है और तीन आदि साधुओं से 'अब्भुट्ठिओमिसूत्र' पूर्वक क्षमायाचना करता है।

पाँचवां कायोत्सर्ग आवश्यक- उसके बाद पुनः द्वादशावर्त्तवन्दन करता है, खड़े होकर 'आयरियउवज्झायसूत्र' की तीन गाथा बोलता है और 'कायोत्सर्ग सूत्र' आदि को प्रगट में बोलकर छह मासिक कायोत्सर्ग करता है। उस कायोत्सर्ग में इस प्रकार का चिन्तन करता है- श्री वर्द्धमान स्वामी के तीर्थ में छह मासिक तप वर्तता है उस तप को मैं छह मास के लिए नहीं कर सकता हूँ। इस प्रकार एक-एक दिन कम करता हुआ उनतीस दिन कम छह मास का तप भी नहीं कर सकता हूँ। इसी प्रकार पाँच, चार, तीन, दो मास का तप भी नहीं कर सकता हूँ। इसी प्रकार एक मास, एक मास में तेरह दिन कम का भी तप नहीं कर सकता हूँ। उसके बाद चौंतीस भक्त-१६ उपवास, बत्तीस भक्त-१५ उपवास आदि के क्रम से कम करता हुआ उपवास, आयंबिल, नीवी, एकासन आदि पौरुषी अथवा नवकारसी तक में से जिस तप को कर सकता है, उस तप के अवधारण पूर्वक कायोत्सर्ग पूर्ण करता है। उसके बाद प्रकट में 'उद्योतकर सूत्र' बोलता है।

छठा प्रत्याख्यान आवश्यक- इसके बाद मुखवस्त्रिका को प्रतिलेखित कर द्वादशावर्त्तवन्दन करता है। फिर उक्त कायोत्सर्ग में जिस तप को करने का चिन्तन किया था, उस तप के प्रत्याख्यान को गुरु वचन से बुलवाते हुए ग्रहण करता है अथवा स्वयं ही वह प्रत्याख्यान[३८] करता है। उसके बाद 'इच्छामो अणुसट्ठिं' "मैं आपके अनुशिक्षण की इच्छा करता हूँ।" ऐसा बोलते हुए बाँये घुटने के बल बैठकर अर्थात् बाँये घुटने को खड़ा

करके बढ़ते हुए अक्षर और स्वरवाली तीन स्तुतियाँ[१६] बोलता है। फिर मृदुस्वर से 'शक्रस्तवसूत्र' बोलकर फिर खड़े होकर 'अरिहंत चेइयाणं' इत्यादि सूत्र बोलकर चार स्तुति पूर्वक चैत्यवन्दन (देववन्दन) करता है। यहाँ चैत्यवंदन के समय 'जावंतिचेइयाइंसूत्र' 'जावंत केविसाहूसूत्र' और 'प्रणिधान सूत्र' को नहीं बोलते हैं। तदनन्तर खमासमणसूत्र पूर्वक आचार्यादि को वन्दन करता है। फिर समय होने पर वस्त्र, वसति आदि की प्रतिलेखना करता है।

संदर्भ (पाद टिप्पण)

१. जयवीय सूत्र
२. यहाँ चैत्यादि का अर्थ चैत्यवन्दन के साथ चार स्तुतिपूर्वक देववन्दना करना है।
३. प्रतिक्रमण स्थापना सूत्र
४. करेमि भंते सूत्र
५. इस सूत्र का दूसरा नाम 'अतिचार बीजक सूत्र' है।
६. यहाँ खरतरगच्छ की वर्तमान परम्परा में साधु-साध्वी 'सयणासणन्नपाणे' की गाथा एवं गृहस्थ आठ नवकार का चिन्तन करते हैं जबकि तपागच्छ परम्परा में साधु-साध्वी 'सयणासणन्नपाणे' की गाथा एवं गृहस्थ अतिचार की आठ गाथाएँ अथवा आठ नवकार का चिन्तन करते हैं।
७. लोगस्स सूत्र
८. शरीर के संधिस्थल संबंधी १७ स्थान।
९. इच्छामि ठामि सूत्र
१०. वंदित्तुसूत्र
११. इच्छामि ठामि सूत्र
१२. श्रुतस्तव सूत्र
१३. सिद्धाणं बुद्धाणं सूत्र
१४. यहाँ खरतरगच्छ परम्परा में 'सुवर्णशालिनी' तपागच्छ परम्परा में पुरुषवर्ग 'सुयदेवयाभगवई' एवं श्राविकावर्ग 'कमलदलविपुलः' की स्तुति बोलते हैं।
१५. यहाँ वर्तमान की खरतरगच्छ परम्परा में 'यासां क्षेत्रगताः' तपागच्छ परम्परा में पुरुषवर्ग 'जिसे खित्ते' एवं श्राविका वर्ग 'यस्या क्षेत्रं' की स्तुति बोलते हैं।
१६. यहाँ वर्तमान में पुरुष वर्ग 'नमोस्तुवर्द्धमानाय' की ३ गाथा एवं श्राविका वर्ग 'संसार दावा' की तीन गाथा रूप स्तुति बोलते है।
१७. 'पन्नरसण्हं राइयाणं, पन्नरसण्हं दिवसाणं, एकपक्खाणं' बोलकर 'अब्भुट्ठिओमिसूत्र' बोलना. 'संबुद्धा खामणा' है।
१८. 'इच्छामि ठामि सूत्र'
१९. यहाँ ज्येष्ठादि क्रम से, परम्परानुसार पाँच आदि साधुओं को 'अब्भुट्ठिओमिसूत्र' पूर्वक तथा शेष साधु को हाथ जोड़कर क्षमायाचना करना 'प्रत्येक क्षमायाचना' है।
२०. चतुर्दशी के दिन यथाशक्ति तप किया हुआ।

२१. 'करेमि भंते सूत्र'

२२. इच्छामि ठामि सूत्र

२३. पाक्षिक सूत्र

२४. लोगस्स सूत्र

२५. एक खमासमणपूर्वक भूमि पर मस्तक झुकाकर वन्दन करना थोभवन्दन है।

२६. खरतरगच्छ की वर्तमान परम्परा में पाक्षिक प्रतिक्रमण के दिन 'श्रुतदेवता' के स्थान पर 'कमलदल विपुल', 'भुवन देवता' के स्थान पर 'ज्ञानादि गुणयुक्तानां' क्षेत्रदेवता के स्थान पर 'यस्या क्षेत्रं' की स्तुति बोलते हैं तथा तपागच्छ की वर्तमान परम्परा में श्रुतदेवता के स्थान पर 'ज्ञानादि गुणयुक्तानां' क्षेत्र देवता के स्थान पर 'यस्यां क्षेत्रं' की स्तुति बोलते हैं।

२७. वर्तमान में इस स्थान पर 'श्री सेढीतटिनी तटे' नामक पार्श्वनाथ स्तोत्र बोलते हैं।

२८. णमोत्थुणं सूत्र

२९. उवसग्गहर स्तोत्र

३०. वर्तमान में इस स्थान पर 'बृहद् स्तवन' बोलते है।

३१. णमोत्थुणं सूत्र

३२. करेमि भंते सूत्र

३३. इच्छामि ठामि सूत्र

३४. लोगस्स सूत्र

३५. पुक्खरवरदी सूत्र

३६. सिद्धाणं-बुद्धाणं सूत्र

३७. इच्छामि ठामि सूत्र

३८. यहाँ ध्यान देने योग्य है कि मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन के बाद और प्रत्याख्यान ग्रहण करने के पूर्व खरतरगच्छ की वर्तमान परम्परा में 'सद्भक्त्या' नामक तीर्थ वंदना स्तोत्र और तपागच्छ परम्परा में 'सकलतीर्थवन्दूं कर जोड़' स्तोत्र बोलते हैं।

३९. यहाँ पर खरतरगच्छ की वर्तमान परम्परा में साधु, साध्वी एवं श्रावक वर्ग द्वारा 'परसमयतिमिर' स्तुति की तीन गाथा और श्राविका वर्ग द्वारा 'संसारदावानल' स्तुति की तीन गाथा बोली जाती है तथा तपागच्छ परम्परा में साधु-श्रावक 'विशाललोचनं' स्तुति की तीन गाथा और साध्वीजी एवं श्राविकाएँ 'संसारदावानल' स्तुति की तीन गाथा बोलते हैं।

-ओ.टी.सी. स्कीम, उदयपुर (राज.)

तपागच्छीय प्रतिक्रमण में प्रमुख तीन सूत्र-स्तवन

श्री छगनलाल जैन

श्वेताम्बर जैन मूर्तिपूजकों की तपागच्छ परम्परा के प्रचलित प्रतिक्रमण में वन्दित्तु सूत्र प्रमुख है जो देवसिय, राइय, पक्खिय, चउम्मासिय एवं संवच्छरिय - सभी प्रतिक्रमणों में बोला जाता है, क्योंकि इस पाठ से १२ व्रतों के अतिचारों की आलोचना होती है। सकलार्हत् एवं अजितशान्तिस्तवन पक्खिय, चउम्मासिय एवं संवच्छरिय प्रतिक्रमणों में बोले जाते हैं। *-सम्पादक*

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक तपागच्छ परम्परा के वर्तमान में प्रचलित प्रतिक्रमण में तीन पाठ प्रमुख हैं- १ वंदित्तु सूत्र २. सकलार्हत् स्तवन ३. अजितशान्ति स्तवन। यहाँ पर इन तीनों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

वंदित्तु सूत्र

वंदित्तु सूत्र को श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र भी कहा जाता है। यह पद्यमय है तथा 'वंदित्तु' शब्द से प्रारम्भ होने के कारण इसका नाम 'वंदित्तु' सूत्र है। इसमें कुल पचास गाथाएँ हैं। श्रावकों के बारह व्रतों एवं अतिचा से यह सूत्र सम्बन्धित है। बारह व्रत इस प्रकार हैं- **पाँच अणुव्रत**-अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य औ अपरिग्रह। **तीन गुणव्रत**- दिशा परिमाण व्रत, उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत, अनर्थदण्ड व्रत; एवं च **शिक्षाव्रत**- सामायिक व्रत, देशावकाशिक व्रत, पौषधोपवास व्रत एवं अतिथिसंविभाग व्रत। दिन में, रात्रि मे एक पखवाड़े में, चार माह में अथवा वर्षभर में इन व्रतों के पालन में जो दोष लगे हैं, उनका हृदय पश्चात्ताप करना ही प्रतिक्रमण है। इन व्रतों एवं अतिचारों के संबंध में अगार धर्म में, तत्त्वार्थ सूत्र सा अध्याय एवं इस 'वंदित्तु सूत्र' की गाथाओं में विस्तार से वर्णन है। जो अतिचार सामान्यतः कम जानकारी आते हैं संक्षेप में मात्र उनका वर्णन यहाँ पुनरावृत्ति दोष से बचने हेतु किया जा रहा है। साथ ही सूत्र सम्यग्दर्शन के दोषों का का भी उल्लेख प्राप्त है, जिनकी सभी प्रतिक्रमणों में आलोयणा की जाती है।

संका कंखा, विगिच्छा, पसंस तह संथवो कुलिंगीसु।
सम्मत्तस्सइयारे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ।। -वंदित्तु सूत्र, गाथा ६

जिनवचन में शंका, धर्म के फल की आकांक्षा, साधु-साध्वी के मलिन वस्त्रों पर घृणा, मिथ्यात्वि की प्रशंसा, उनकी स्तवना सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार हैं। इसी तरह पृथ्वीकायिकादि जीवों के समारंभ प्राणियों को बाँधने से, नाक, कानादि छेदने से, किसी का रहस्य खोलने से, कूट तोल-माप रखने, झ दस्तावेज लिखने, चोरी की वस्तु रखने, नकली वस्तु असली के दाम में बेचने, परस्त्रीगमन, अपरिग्रह व्रत हेर-फेर करने, अनर्थदण्ड के कार्य, व्यर्थ प्रलाप, अनावश्यक वस्तु-संग्रह, स्वाद की गुलामी, पाप कार्य साक्षी, सामायिक में समभाव नहीं, समय मर्यादा नहीं पालना, नींद लेना, दिग्व्रत का उचित पालन न

करना, शस्त्रादि व्यापार, चक्की घाणी यांत्रिक कर्म जिनमें जीवों की हानि हो, छेदन, अग्नि कर्म आदि तथा भूमि प्रमार्जन में प्रमाद, पौषधव्रत का उल्लंघन, इस लोक में परलोक में सुख-वैभव की आकांक्षा आदि विविध दोषों के लिए वंदित्तु सूत्र में आलोचना की गई है। कुछ ऐसे दोहे हैं जिनमें स्व-आलोचना का महत्त्व दर्शाया है, जैसे- ''कयपावोवि मणुस्सो आलोइअ निंदिअ गुरुसगासे।'' जिस प्रकार भार उतारने से व्यक्ति हल्का होता है उसी प्रकार गुरुदेव के पास आलोयणा लेने से, आत्मसाक्षी से, पाप की निन्दा करने से मनुष्य के पाप हल्के होते हैं। 'खिप्पं उवसामेई वाहिव्व सुसिक्खिओ विज्जो।' सुशिक्षित वैद्य जैसे रोग को ठीक कर देता है वैसे ही प्रतिक्रमण से दोष दूर हो जाते हैं।

प्रतिक्रमण में निषिद्ध कार्य करने एवं योग्य कार्य न करने के दोषों के लिए प्रायश्चित्त एवं आत्म-निन्दा की जाती है। फिर सब जीवों से क्षमायाचना की जाती है -''खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे। मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणई।'' वंदित्तुसूत्र की ५०वीं गाथा में ''एवमहं आलोइअ निंदिअ गरहिअ दुगच्छं सम्मं''कहा है अर्थात् मैं अच्छी तरह कृत पापों की आलोचना, निन्दा एवं गुरु के समक्ष गर्हा करता हूँ।

सकलार्हत् सूत्र- वंदित्तु के अनन्तर सकलार्हत् चैत्य वन्दन का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है। चैत्यवंदन में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति है एवं चैत्यों, तीर्थों, प्रतिमाओं को भी कुछ श्लोक समर्पित हैं। संस्कृत में रचित ये श्लोक प्रभावी, गूढ़ और अध्यात्म शास्त्र के बेजोड़ नमूने हैं।

स्थानाभाव से कुछ ही पद्य उल्लेखित करना उपयुक्त होगा। अतः जिज्ञासु मूल पाठ सहृदयता से पढ़ें एवं समझें-

प्रथम तीर्थंकर दादा ऋषभदेव के लिए अर्पित है-

आदिमं पृथ्वीनाथमादिमं निष्परिग्रहम्।
आदिमं तीर्थनाथं च ऋषभस्वामिनं स्तुमः।।

अवसर्पिणी काल में ऋषभ देव प्रथम नृपति, प्रथम अपरिग्रही एवं प्रथम तीर्थंकर हुए हैं, जिन्हें वन्दन करते हैं।

अनेकान्तमताम्बोधि समुल्लासनचन्द्रमाः।
दद्यादमन्दमानंदं भगवान् अभिनन्दनः।।

अनेकान्त रूपी समुद्र को उल्लासित करने में अभिनन्दन स्वामी चन्द्रमा के समान हैं।

सत्त्वानां परमानन्दकंदोद्भेदनवाम्बुदः।
स्याद्वादमृतनिःस्यन्दी, शीतलः पातु वो जिनः।।

स्याद्वाद रूपी अमृत की वर्षा करने वाले, परमानन्द रूपी अंकुर को स्थापन करने में नव मेघ तुल्य प्रभु शीतलनाथ को वंदन करता हूँ।

इसी प्रकार कहा है कि भवरूपी रोग को मिटाने में कुशल वैद्य समान श्रेयांस नाथ आपका श्रेय करें। अनंतनाथ प्रभु के हृदय में स्वयम्भूरमण समुद्र की अनंत करुणा है। धर्मनाथ प्रभु कल्पवृक्ष के समान हैं। शांतिनाथ प्रभु अमृत के समान निर्मल देशना से दिशाओं के मुख उज्ज्वल करते हैं। श्री कुंथुनाथ प्रभु चौंतीस

अतिशय युक्त हैं, सुर-असुर, नरों से सेवित हैं।

सूरासुरनराधीशं मयूरनववादिदम्।
कर्मद्रून्मूलने हस्तिमल्लं मल्लिमभिष्टुमः ।।

मल्लीनाथ प्रभु कर्मवृक्षों को उखाड़ फेंकने में हस्तिसम हैं। सबके मन-मयूर को हर्षित करने में नव मेघ समान हैं।

वीरप्रभु हेतु कई पद हैं- वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं बुधाः संश्रिताः।
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो वीराय नित्यं नमः ।।

वीरप्रभु विद्वानों, पंडितों से पूजित हैं सारे कर्म घोर तप से नष्ट किये हैं। उनमें केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी, धैर्य, कांति, कीर्ति स्थित है। तीर्थों की उपासना में अष्टापद, गजपद, सम्मेतशिखर, गिरनार, शत्रुंजय, वैभारगिरि, आबू, चित्रकूट की उपासना की है।

अजित शांतिस्तवन

सकलार्हत् की तरह अजितशांति स्तवन भी पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में बोला जाता है। इसमें चालीस पद्य हैं जो पूर्वाचार्य श्री नंदिषेण कृत हैं। शत्रुंजय एवं तीर्थ पर विराजित अजितनाथ एवं शांतिनाथ के चैत्यों के बीच में रहकर दोनों की एक साथ स्तुति कर रचना की है। कोई आचार्य, श्री नंदिषेण को भगवान् महावीर के शिष्य तथा कोई नेमिनाथ प्रभु के शिष्य मानते हैं। शत्रुंजय महाकल्प में नंदिषेण का उल्लेख है। प्राकृत भाषा में शांतरस, सौन्दर्य एवं शृंगार रस एवं श्रेष्ठ कवित्व का अध्यात्म जगत में बेजोड़ नमूना है। रुचि अनुसार पाठक विस्तार से मूल अवश्य पढ़ें यहाँ चंद पद्य उपर्युक्त भाव की पुष्टि स्वरूप दिये जाते हैं-

अजिअं जिअ-सव्वभयं, संतिं च पसंत सव्वगय पावं।
जय गुरु संति गुणकरे, दो वि जिणवरे पणिवयामि ।।

अजितनाथ एवं शांतिनाथ दोनों जिनवर सब पापों को हर कर शांति देने वाले हैं। सातों भयों को दूर करते हैं।

सुहप्पवत्तणं तव पुरिसुत्तम नाम कित्तणं।
तहय धिइमइप्पवत्तणं तव य जिणुत्तम संति कित्तणं ।।

अजितनाथ सुख के दाता, धैर्य एवं बुद्धि की वृद्धि करने वाले हैं।

समस्त अजितशांति में स्थान-स्थान पर शान्ति की कामना की है।

तं संति संतिकरं, संतिण्णं सव्वभया।
संतिं थुणामि जिणं संतिं विहेउ मे ।।

इस प्रकार वंदित्तु सूत्र आत्मशुद्धि हेतु व्रतों की आलोचना से सम्बद्ध है तथा सकलार्हत् स्तोत्र एवं अजितशान्ति स्तवन प्रभु के वंदन एवं स्तुति से सम्बद्ध हैं तथा तीनों ही श्रावकधर्म की पुष्टि करते हैं।

- सेवानिवृत्त, आई.ए.एस., जी १३४, शास्त्री नगर, जोधपुर

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में प्रतिक्रमण विवेचन

डॉ. अशोक कुमार जैन

दिगम्बर परम्परा में भी प्रतिक्रमण का विधान है। आचार्य वट्टकेर विरचित मूलाचार ग्रन्थ के सातवें अधिकार में षडावश्यकों का १९० गाथाओं में विवेचन है। अनगार धर्मामृत आदि ग्रन्थों में भी प्रतिक्रमण का प्रतिपादन है। दिगम्बर परम्परा के श्रमणाचार में तो प्रतिक्रमण का विधान है ही, श्रावकाचार में भी प्रावधान है। डॉ. जैन ने अपने आलेख में संक्षेप दिगम्बर-परम्परा में मान्य प्रतिक्रमण के स्वरूप से परिचित कराया है। *-सम्पादक*

जैन-परम्परा में आचार्यों द्वारा आचार-विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना की गयी। उनमें श्रमण और श्रावक की चर्या के संबंध में अनेक नियमों का विधान निरूपित है। श्रमणाचार के षडावश्यकों में प्रतिक्रमण का भी विस्तार से वर्णन उपलब्ध है।

प्रतिक्रमण स्वरूप

मूलाचार में प्रतिक्रमण के स्वरूप के बारे में लिखा है-

दव्वे खेत्ते काले भावे य कयावराहसोहणयं।
णिंदणगरहणजुत्तो मणवचकायेण पडिक्कमणं।। -मूलाचार १/२६

निन्दा और गर्हापूर्वक मन-वचन-काय के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विषय में किये गये अपराधों का शोधन करना प्रतिक्रमण है।

अनगार धर्मामृत में लिखा है-

मिथ्या मे दुष्कृतमिति प्रायोऽपायैर्निराकृतिः।
कृतस्य संवेगवता प्रतिक्रमणमागसः।। -अनगार धर्मामृत ७/४७

संसार से भयभीत और भोगों से विरक्त साधु के द्वारा किये गये अपराध को- ''मेरे दुष्कृत मिथ्या हो जावें, मेरे पाप शांत हों''- इस प्रकार के उपायों के द्वारा दूर करने को प्रतिक्रमण कहते हैं।

प्रतिक्रमण के अंग

प्रतिक्रमण के तीन अंग हैं-

१. प्रतिक्रामक- प्रमाद आदि से लगे हुए दोषों से निवृत्त होने वाला अथवा जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विषयक अतिचारों से निवृत्त होता है वह (साधु) 'प्रतिक्रामक' कहलाता है।

२. प्रतिक्रमण- पंचमहाव्रतादि में लगे हुए अतिचारों से निवृत्त होकर महाव्रतों की निर्मलता में पुनः प्रविष्ट होने वाले जीव के उस परिणाम का नाम 'प्रतिक्रमण' है। अथवा जिस परिणाम से चारित्र में लगे अतिचारों को हटाकर जीव चारित्र शुद्धि में प्रवृत्त हो तो वह परिणाम प्रतिक्रमण है।

३. प्रतिक्रमितव्य- भाव, गृह आदि क्षेत्र, दिवस, मुहूर्त आदि दोपजनक काल तथा सचित्त, अचित्त एवं मिश्र रूप द्रव्य जो पापास्रव के कारण हों वे सब 'प्रतिक्रमितव्य' हैं।

प्रतिक्रमण के भेद

प्रतिक्रमण के मूलतः भाव प्रतिक्रमण एवं द्रव्य प्रतिक्रमण ये दो भेद हैं-

१. भाव प्रतिक्रमण- मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और अप्रशस्त योग इन सबकी आलोचना अर्थात् गुरु के सम्मुख अपने द्वारा किये अपराधों का निवेदन करना, निन्दा और गर्हा के द्वारा प्रतिक्रमण करके पुनः दोष में प्रवृत्त न होना भाव प्रतिक्रमण है। भावयुक्त श्रमण जिन अतिचारों के नाशार्थ प्रतिक्रमण सूत्र बोलता और सुनता है वह विपुल निर्जरा करता हुआ सभी दोषों का नाश करता है।

२. द्रव्य प्रतिक्रमण- उपर्युक्त विधि से जो अपने दोष परिहार नहीं करता और सूत्रमात्र सुन लेता है, निन्दा-गर्हा से दूर रहता है उसका 'द्रव्य प्रतिक्रमण' होता है, क्योंकि विशुद्ध परिणाम रहित होकर द्रव्यीभूत दोष युक्त मन से जिन दोषों के नाशार्थ प्रतिक्रमण किया जाता है, वे दोष नष्ट नहीं होते। अतः उसे 'द्रव्य प्रतिक्रमण' कहते हैं। द्रव्य सामायिक की तरह द्रव्य प्रतिक्रमण के भी आगम और नोआगम आदि भेद-प्रभेद किये जा सकते हैं।

निक्षेप दृष्टि से प्रतिक्रमण के भेद

मूलाचार में कहा गया है-

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव भावे य।
एसो पडिक्कमणगे णिक्खेवो छव्विहो णेओ ।। -मूलाचार, ६१४

निक्षेप दृष्टि से प्रतिक्रमण के छह भेद हैं-

१. **नाम प्रतिक्रमण-** अयोग्य नामोच्चारण से निवृत्त होना अथवा प्रतिक्रमण दण्डक के शब्दों का उच्चारण करना नाम प्रतिक्रमण है।
२. **स्थापना प्रतिक्रमण-** सराग स्थापनाओं से अपने परिणामों को हटाना स्थापना-प्रतिक्रमण है।
३. **द्रव्य प्रतिक्रमण-** सावद्य द्रव्य-सेवन के परिणामों को हटाना 'द्रव्य प्रतिक्रमण' है।
४. **क्षेत्र प्रतिक्रमण-** क्षेत्र के आश्रय से होने वाले अतिचारों से निवृत्त होना क्षेत्र प्रतिक्रमण है।
५. **काल प्रतिक्रमण-** काल के आश्रय या निमित्त से होने वाले अतिचारों से निवृत्त होना काल प्रतिक्रमण है।
६. **भाव प्रतिक्रमण-** राग, द्वेष, क्रोधादि से उत्पन्न अतिचारों से निवृत्त होना भाव प्रतिक्रमण है।

कालिक आधार पर प्रतिक्रमण के भेद

मूलाचार के रचनाकार लिखते हैं-

पडिकमणं देवसियं रादिय इरियापधं च बोधव्वं।
पक्खिय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च॥ -मूलाचार ६१५

अर्थात् प्रतिक्रमण दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ इन सात प्रकार का जानना चाहिए।

१. **दैवसिक-** सम्पूर्ण दिन में हुए अतिचारों की आलोचना प्रत्येक संध्या में करना।
२. **रात्रिक-** सम्पूर्ण रात्रि में हुए अतिचारों की प्रतिदिन प्रातः आलोचना करना।
३. **ईर्यापथ प्रतिक्रमण-** आहार, गुरुवन्दन, शौच आदि जाते समय षट्काय के जीवों के प्रति हुए अतिचारों से निवृत्ति।
४. **पाक्षिक-** सम्पूर्ण पक्ष में लगे हुए दोषों की निवृत्ति के लिए प्रत्येक चतुर्दशी या अमावस्या अथवा पूर्णिमा को उनकी आलोचना करना।
५. **चातुर्मासिक-** चार माह में हुए अतिचारों की निवृत्ति हेतु कार्तिक, फाल्गुन एवं आषाढ़ माह की चतुर्दशी या पूर्णिमा को विचारपूर्वक आलोचना करना।
६. **सांवत्सरिक-**वर्ष भर के अतिचारों की निवृत्ति हेतु प्रत्येक वर्ष आषाढ़ माह के अन्त में चतुर्दशी या पूर्णिमा के दिन चिन्तनपूर्वक आलोचना करना।
७. **औत्तमार्थ-** यावज्जीवन चार प्रकार के आहारों से निवृत्त होना 'औत्तमार्थ प्रतिक्रमण' है। यह संलेखना-संथारा से सम्बद्ध प्रतिक्रमण है, जिसके अन्तर्गत जीवनपर्यन्त सभी प्रकार के अतिचारों का भी प्रतिक्रमण हो जाता है।

उपर्युक्त सात भेदों के अतिरिक्त मूलाचार के संक्षेप प्रत्याख्यान-संस्तरस्तव नामक तृतीय अधिकार में आराधना (मरण समाधि) काल के तीन प्रतिक्रमणों का भी उल्लेख हुआ है- १. सर्वातिचार प्रतिक्रमण २. त्रिविध आहार-त्याग प्रतिक्रमण ३. उत्तमार्थ प्रतिक्रमण।

मूलाचार वृत्ति में आचार्य वसुनन्दि ने आराधनाशास्त्र के आधार पर योग, इन्द्रिय, शरीर और कषाय इन चार प्रतिक्रमणों का भी उल्लेख किया है।

प्रतिक्रमण की विधि

सर्वप्रथम विनयकर्म करके शरीर, आसन आदि का पिच्छिका से प्रमार्जन तथा नेत्र से शुद्धि करनी चाहिए। तदनन्तर अंजलि जोड़कर ऋद्धि आदि गौरव तथा जातिमद आदि सभी तरह के मद छोड़कर व्रतों में लगे हुए अतिचारों को नित्य प्रति दूर करना चाहिए। आज नहीं, दूसरे या तीसरे दिन अतिचारों को करूँगा, इत्यादि रूप में टालते हुए कालक्षेप करना ठीक नहीं, अतः जैसे-जैसे अतिचार उत्पन्न हों, उन्हें अनुक्रम से

आलोचना, निन्दा और गर्हा पूर्वक विनष्ट करके पुनः उन अपराधों को नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण करते हैं, उसी तरह असंयम, क्रोध आदि कषायों एवं अशुभ योगों का प्रतिक्रमण करना चाहिए। इस तरह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण के नियमों को पूर्ण कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान करना चाहिए। आलोचना- भक्ति करते समय कायोत्सर्ग, प्रतिक्रमण-भक्ति करने में कायोत्सर्ग, वीर भक्ति में कायोत्सर्ग और चतुर्विंशति तीर्थंकर-भक्ति में कायोत्सर्ग- प्रतिक्रमण काल में ये चार कृतिकर्म करने का विधान है।

प्रतिक्रमण की परम्परा

चौबीस तीर्थंकरों के संघ में प्रतिक्रमण में विधान की परम्परा का मूलाचारकार ने उल्लेख करते हुए लिखा है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने अपने शिष्यों को अतिचार लगे या न लगे, किन्तु दोषों की विशुद्धि के लिए समय पर प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया है। मध्य के बाईस तीर्थंकरों अर्थात् द्वितीय अजितनाथ से लेकर तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया और कहा कि- जिस व्रत में स्वयं या अन्य साधु को अतिचार हो उस दोष के विनाशार्थ उसे प्रतिक्रमण करना चाहिए, क्योंकि मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के शिष्य दृढ़ बुद्धिशाली, एकाग्रमन वाले, प्रेक्षापूर्वकारी, अतिचारों की गर्हा एवं जुगुप्सा करने वाले तथा शुद्ध चारित्रधारी होते थे, किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के शिष्य चंचल चित्तवाले, मोही तथा जड़बुद्धि वाले होते हैं। अतः ईर्यापथ, आहारगमन, स्वप्न आदि में किसी भी समय अतिचार होने या न होने पर भी उन्हें सभी नियमों एवं प्रतिक्रमण को करने का विधान किया है। इसी विधान के अनुसार आज तक सभी मुनियों एवं आर्यिकाओं को नित्य प्रतिक्रमण करने की परम्परा निरन्तर चली आ रही है। प्रतिक्रमण आवश्यक के अन्तर्गत ही मूलाचार में दस मुण्डों का विवेचन मिलता है। पाँच इन्द्रियमुण्ड तथा मनोमुण्ड, वचोमुण्ड, कायमुण्ड, हस्त एवं पादमुण्ड। इस प्रकार इन दस मुण्डों से आत्मा पाप में प्रवृत्त नहीं होती, अतः उस आत्मा को मुण्डधारी कहते हैं।

श्रमणाचार में प्रतिक्रमण का अपना विशिष्ट स्थान है। कतिपय श्रावकाचार ग्रन्थों में भी प्रतिक्रमण का स्वरूप एवं विधि का वर्णन मिलता है। आचार्य अमितगति के अनुसार सायंकाल संबंधी प्रतिक्रमण के समय १०८ श्वासोच्छ्वास वाला कायोत्सर्ग किया जाता है। प्रातःकालीन प्रतिक्रमण में उससे आधा अर्थात् चौवन श्वासोच्छ्वास वाला कायोत्सर्ग कहा गया है। अन्य सब कायोत्सर्ग सत्ताईस श्वासोच्छ्वास के प्रमाण कहे गये हैं। संसार के उन्मूलन में समर्थ पंच नमस्कार मंत्र का नौ बार चिन्तन करते हुए सत्ताईस श्वासोच्छ्वासों में उसे बोलना या मन में उच्चारण करना चाहिए। बाहर से भीतर की ओर वायु को खींचने को श्वास कहते हैं। भीतर की ओर से बाहर वायु के निकालने को उच्छ्वास कहते हैं। इन दोनों के समूह को श्वासोच्छ्वास कहते हैं। श्वास लेते समय 'णमो अरहंताणं' पद और श्वास छोड़ते समय 'णमो सिद्धाणं' बोलें। पुनः श्वास लेते समय 'णमो आयरियाणं' पद और श्वास छोड़ते समय 'णमो उवज्झायाणं' पद बो

पुनः पंचम पद के आधे भाग को श्वास लेते समय और 'सव्वसाहूणं' श्वास छोड़ते समय बोलना चाहिए। इस विधि में नौ बार णमोकार मंत्र के उच्चारण के चिन्तन में सत्ताईस श्वासोच्छ्वास प्रमाण काल का एक जघन्य कायोत्सर्ग होता है। मध्यम कायोत्सर्ग का काल चौवन श्वासोच्छ्वास प्रमाण और उत्कृष्ट कायोत्सर्ग का काल एक सौ आठ श्वासोच्छ्वास प्रमाण कहा गया है। श्रावकों को प्रतिदिन दो बार प्रतिक्रमण, चार बार स्वाध्याय, तीन बार वन्दना और दो बार योगभक्ति करना चाहिए।

इस प्रकार आचार्यों ने श्रमण और श्रावकों दोनों के लिए प्रतिक्रमण विधान का वर्णन किया है। हमें दोषों की शुद्धि के लिए नित्य प्रति इसको करके अपने जीवन को पावन बनाना चाहिए।

-सह आचार्य, जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म-दर्शन विभाग
जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूँ (राज.)

15,17 नवम्बर 2006
जिनवाणी, 138

श्रावक-प्रतिक्रमण में श्रमणसूत्र के पाँच पाठों की प्रासंगिकता नहीं

श्री धर्मचन्द जैन

श्रमण एवं श्रावक के प्रतिक्रमण में अन्तर को स्पष्ट करते हुए श्री जैन ने श्रावक प्रतिक्रमण में पृथक् से बोले जाने वाले पाँच पाठों के संबंध में चर्चा की है। *-सम्पादक*

साधक के अनेकानेक आवश्यक कर्त्तव्यों में एक कर्त्तव्य है-प्रतिक्रमण। प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ है पीछे की ओर लौटना। स्वीकृत व्रत-नियमों एवं मर्यादाओं में जो भी कोई अतिचार लगे हों, उनकी आलोचना कर पुनः मर्यादा में स्थिर होने को प्रतिक्रमण कहते हैं। प्रतिक्रमण का मूल नाम आवश्यक है। आवश्यक के छः भेद किये गये हैं- सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान आवश्यक।

इन छह आवश्यकों में प्रतिक्रमण आवश्यक सबसे महत्त्वपूर्ण होने के कारण आवश्यक सूत्र को प्रतिक्रमण सूत्र के नाम से भी जाना जाता है। प्रथम के तीन आवश्यक भूमिका रूप में हैं तथा चौथे प्रतिक्रमण आवश्यक के बाद के दो आवश्यक उत्तर क्रिया के रूप में हैं।

श्रमण व श्रावक प्रतिक्रमण में अन्तर -

साधु-साध्वी हों चाहे श्रावक-श्राविका हों, सभी के लिये उभयकाल प्रतिदिन प्रतिक्रमण करना आवश्यक है, तथापि दोनों के प्रतिक्रमण में कुछ अन्तर भी है -

साधु-साध्वियों द्वारा उभयकाल किया जाने वाला प्रतिक्रमण श्रमण- प्रतिक्रमण कहलाता है तथा श्रावक-श्राविकाओं द्वारा उभयकाल किया जाने वाला प्रतिक्रमण श्रावक-प्रतिक्रमण कहलाता है।

साधु-साध्वी पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि का तीन करण तीन योग से जीवन भर के लिये पालन करते हैं, अतः उनके प्रतिक्रमण में तिविहं तिविहेणं, मणेणं, वायाए, काएणं शब्द बोले जाते हैं जबकि श्रावक व्रत-नियमों को अपनी शक्ति, सामर्थ्य एवं योग्यता के अनुसार अलग-अलग करण योगों से धारण करते हैं, अतः श्रावक प्रतिक्रमण में बारह व्रतों की आलोचना में कहीं एक करण एक योग, कहीं एक करण तीन योग तो कहीं दो करण तीन योग शब्दों के प्रयोग किये जाते हैं। श्रमण प्रतिक्रमण में 'समण' शब्द का प्रयोग होता है जबकि श्रावक प्रतिक्रमण में 'सावग' शब्द का प्रयोग होता है। श्रमण प्रतिक्रमण में पाँच पाठ अलग से बोले जाते हैं, किन्तु श्रावक प्रतिक्रमण में नहीं बोले जाते हैं-

पाँच पाठों की प्रासंगिकता नहीं -

यद्यपि कतिपय परम्पराएँ श्रावक प्रतिक्रमण में भी श्रमण सूत्र के पाँच पाठों को बोलती हैं एवं बोलना अनिवार्य मानती हैं। यहाँ हम यह विचार करें श्रमण सूत्र के निम्न पाँच पाठों को श्रावक प्रतिक्रमण में बोलना

उपयुक्त है अथवा नहीं?

पाँच पाठ - १. निद्रा दोष निवृत्ति का पाठ (शय्या सूत्र) २. गोचरीचर्या का पाठ, ३. काल प्रतिलेखना का पाठ, ४. असंयम आदि ३३ बोलों का पाठ, ५. निर्ग्रन्थ प्रवचन का पाठ (प्रतिज्ञा सूत्र।

(१) निद्रादोष निवृत्ति (शय्या सूत्र)- यह तर्क दिया जाता है कि श्रावक को भी पौषध, दया, संवर आदि प्रसंगों में निद्रा में लगे दोषों की निवृत्ति हेतु यह पाठ बोलना आवश्यक है। किसी दूसरे पाठ से निद्रा दोष की निवृत्ति नहीं हो पाती।

ऐसा कहना उपयुक्त नहीं, क्योंकि दया, पौषधगत सभी दोषों की आलोचना ग्यारहवें पौषधव्रत के पाँच अतिचारों से हो जाती है। उसमें भी पाँचवाँ अतिचार पोसहस्स सम्मं अणणुपालणया अर्थात् पौषध का सम्यक् प्रकार से पालन न किया हो, के अन्तर्गत दोषों का शुद्धीकरण हो जाता है। पौषध के १८ दोषों में से किसी दोष का सेवन हुआ हो तो उसके लिये भी ग्यारहवें व्रत में 'मिच्छामि दुक्कडं' दिया जाता है।

(२) गोचरीचर्या का पाठ- अनेक श्रावक दयाव्रत की आराधना में गोचरी करते हैं। प्रतिमाधारी श्रावक भी गोचरी लाते हैं, अतः श्रावकों को गोचरी में लगे अतिचारों की शुद्धि करने हेतु गोचरीचर्या का पाठ बोलना आवश्यक है, ऐसा तर्क दिया जाता है।

किन्तु प्रायः वर्तमान में श्रावकों द्वारा ग्यारहवीं उपासक प्रतिमा स्वीकार करने का प्रसंग ही नहींवत् आता है। ग्यारहवीं श्रावक प्रतिमा के लिये ही गोचरी का विधान है, अतः यह स्पष्ट है कि गोचरीचर्या का पाठ श्रमणों के लिये ही है।

(३) काल प्रतिलेखना का पाठ-अनेक श्रावक-श्राविका दया-पौषध आदि में चारों काल स्वाध्याय करते हैं, स्वाध्याय करने में जो अतिचार लगे हों उनकी शुद्धि हेतु यह पाठ बोलना आवश्यक है,ऐसा कहा जाता है।

यह सही है कि श्रावक भी पौषध, दया में उभयकाल प्रतिलेखन करते हैं, कई विशेष धर्म-श्रद्धा वाले चारों कालों में स्वाध्याय भी करते हैं। पौषध में लगे अतिचारों की शुद्धि तो पौषध पारने के पाठ से हो ही जाती है। सामान्य श्रावक के दोनों वक्त प्रतिलेखन का नियम भी नहीं होता। शायद ही कोई ऐसा श्रावक हो जो उभयकाल फर्नीचर, प्लास्टिक, काँच एवं स्टील के बर्तन, कपड़े आदि की प्रतिलेखना करता हो।

साधु के लिये तो दोनों समय प्रतिलेखन तथा प्रतिदिन चारों काल स्वाध्याय करना आवश्यक है, अतः साधु-साध्वी के लिये ही यह पाठ बोलना आवश्यक है, श्रावक श्राविकाओं के लिए नहीं।

(४) असंयम आदि १ से ३३ तक बोल- कुछ परम्पराओं का मन्तव्य है कि इन ३३ बोलों में कुछ बोल हेय, कुछ ज्ञेय तथा कुछ उपादेय हैं। अतः ३३ बोलों का ज्ञान श्रावकों के लिये अनिवार्य है, इसलिये श्रावक प्रतिक्रमण में बोलना आवश्यक है।

मात्र ज्ञेयता के आधार पर श्रमण सूत्र के पाठों को श्रावक-प्रतिक्रमण में जोड़ना योग्य नहीं कहा जा सकता। फिर तो ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति, ६ कायरक्षा के पाठ भी श्रावक के लिये ज्ञेय हैं तथा पौषध आदि के अवसरों पर, मनोरथ चिन्तन के समय ध्यातव्य हैं, वे पाठ श्रावक-प्रतिक्रमण में क्यों नहीं जोड़े जाते? [illegible] तो इन ३३ बोलों का वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र के ३१ वें अध्ययन में किया गया है। यहाँ उल्लेख है -

जे भिक्खू रुंभइ णिच्चं, जे भिक्खू चयइ णिच्चं...इनसे फलित होता है कि ३३ बोलों का साधु-भिक्षु के साथ ही घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(५) निर्ग्रन्थ प्रवचन का पाठ (प्रतिज्ञा सूत्र)- इस पाठ में निर्ग्रन्थ प्रवचन की महिमा है, अतः श्रावकों के लिये उपयोगी है। ऐसी युक्ति दी जाती है।

इसके उत्तर में कहना होगा कि इस पाठ में असंयम, अब्रह्म, आरम्भ आदि के पूर्ण त्याग की प्रतिज्ञा की जाती है। इन पापों के पूर्ण त्याग की प्रतिज्ञा श्रमण ही कर सकते हैं। श्रावक पूर्ण त्यागी नहीं हो पाते हैं।

इस पाठ के मध्य में कहा है- समणोऽहं संजय विरय...। यह प्रतिज्ञा भी साधु ही कर सकता है, कारण कि श्रावक तो संयतासंयत तथा विरताविरत होता है। यदि वह स्वयं को संयत विरत कहता है तो उसे माया, असत्य का दोष लगता है। प्रतिमाधारी श्रावक के लिये भी दशाश्रुतस्कन्ध में उल्लेख मिलता है कि यदि कोई उससे अपना परिचय पूछे तो वह कहे कि मैं श्रमण नहीं श्रमणोपासक हूँ।

उक्त पाँचों पाठ श्रमण सूत्र के हैं, श्रमणों के लिये हैं, श्रावकों के लिये नहीं। आगमों में कहीं पर भी 'श्रावक' को 'श्रमण' शब्द से सम्बोधित नहीं किया है। किसी भी टीका, कोश, भाष्यादि में भी श्रमण का अर्थ श्रावक नहीं किया है।

कभी-कभी भगवती सूत्र शतक २० का आधार लेकर कहा जाता है कि श्रमण में श्रावक भी सम्मिलित है। वहाँ कहा है- तित्थं पुण चाउवण्णाइणो समणसंघे तं जहा - समणा, समणीओ, सावया, सावियाओ।

वहाँ श्रमण-संघ का तात्पर्य श्रमण का संघ है। भगवान् महावीर को श्रमण कहा है- 'यथा समणे भगवं महावीरे' भगवान् महावीर के संघ को श्रमण संघ कहा जाता है। श्रमण संघ का एक अन्य अर्थ श्रमण प्रधान संघ है। श्रावक को ही यदि श्रमण माना जाय तो फिर भगवान् श्रावक को श्रमणोपासक क्यों कहते।

अनुयोगद्वार सूत्र में गाथा उल्लिखित है - समणेणं सावएणं य अवस्सं कायव्वं, हवइ जम्हा - अंतो अहो णिस्सिरस्स य, तम्हा आवस्सयं णामं। श्रमण/श्रावक के द्वारा उभयकाल अवश्य करणीय होने से इसे आवश्यक कहा जाता है। यदि श्रमण शब्द से ही 'श्रावक' ध्वनित होता है तो आगमकार श्रमण तथा श्रावक इन दोनों शब्दों का भिन्न-भिन्न प्रयोग नहीं करते।

तीर्थंकर देवों ने 'श्रमण' शब्द का प्रयोग साधु के अर्थ में किया है, श्रावक के अर्थ में नहीं। ऐसी स्थिति में श्रमण सूत्र पाठों को श्रावकों के प्रतिक्रमण में जोड़ना आगमों के अनुकूल प्रतीत नहीं होता।

कतिपय लोगों द्वारा ऐसा भी कहा जाता है कि श्रमण सूत्र के उक्त पाँच पाठों के बिना तो श्रावक प्रतिक्रमण अपूर्ण है, गलत है। किन्तु उक्त तथ्यों से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि पाँच पाठों के बिना भी श्रावक का प्रतिक्रमण परिपूर्ण है। आवश्यक है प्रतिक्रमण के पाठों के साथ अर्थ समझने, भावों को तदनुरूप बनाने तथा अपने जीवन को संयमित, नियमित एवं वैराग्य से सुवासित करने की। जितनी जितनी समता, सरलता, विनम्रता एवं निर्लोभता जीवन में प्रकट होगी, उतना ही साधक जीवन उन्नत समुन्नत बनेगा तथा साधक की आत्मा भी शुद्ध बन सकेगी।

-रजिस्ट्रार, अ.भा.श्री जैन रत्न आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड, घोड़ों का चौक, जोधपुर

षडावश्यकों के क्रम का औचित्य

श्री पारसमल चण्डालिया

कार्य-कारण भाव के नियम पर आधारित षडावश्यक का क्रम पूर्णतः वैज्ञानिक है। षडावश्यक के स्वरूप और फल की विस्तृत चर्चा प्रस्तुत लेख में करते हुए इनके क्रम पर भी समीचीन प्रकाश डाला गया है। आत्मशुद्धिकारक प्रतिक्रमण श्रावक और श्रमण दोनों के लिए अत्यावश्यक है। *-सम्पादक*

प्रतिक्रमण में षडावश्यक का जो क्रम रखा गया है, वह कार्य-कारण भाव की शृंखला पर अवस्थित है तथा पूर्ण वैज्ञानिक है। साधक के लिए सर्वप्रथम समता को प्राप्त करना आवश्यक है। बिना समता को अपनाए सद्गुणों के सरस सुमन खिलते नहीं और अवगुणों के काँटे झड़ते नहीं। जब अंतर्हृदय में विषम भाव की ज्वालाएँ धधक रही हों तब वीतरागी महापुरुषों के गुणों का उत्कीर्त्तन किस प्रकार किया जा सकता है? समत्व को जीवन में धारण करने वाला व्यक्ति ही महापुरुषों के गुणों का संकीर्तन करता है और उनके उदात्त गुणों को जीवन में उतारता है। इसीलिए सामायिक आवश्यक के बाद चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक रखा गया है। जब गुणों को व्यक्ति हृदय में धारण करता है तभी उसका सिर महापुरुषों के चरणों में झुकता है। भक्ति-भावना से विभोर होकर वह उन्हें वंदन करता है, इसीलिए तृतीय आवश्यक 'वंदन' है। वंदन करने वाले साधक का हृदय सरल होता है। सरल व्यक्ति ही कृत दोषों की आलोचना करता है, अतः वंदन के पश्चात् प्रतिक्रमण आवश्यक का निरूपण है। भूलों को स्मरण कर उन भूलों से मुक्ति पाने के लिए तन एवं मन में स्थिरता आवश्यक है। कायोत्सर्ग से तन एवं मन की एकाग्रता की जाती है और स्थिरवृत्ति का अभ्यास किया जाता है। जब तन और मन स्थिर होता है तभी प्रत्याख्यान किया जा सकता है। मन डांवाडोल हो तब प्रत्याख्यान संभव नहीं है इसीलिए प्रत्याख्यान आवश्यक का स्थान छठा रखा गया है। इस प्रकार यह षडावश्यक रूप प्रतिक्रमण आत्म-निरीक्षण, आत्मपरीक्षण और आत्मोत्कर्ष का श्रेष्ठतम उपाय है।

षडावश्यक स्वरूप, फल और क्रम औचित्य

आत्मा को निर्मल अर्थात् कर्म-मल रहित बनाने के लिए प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। इसीलिए प्रतिक्रमण को 'आवश्यक' जैसा सार्थक नाम दिया गया है। पाप-निवृत्ति रूप प्रतिक्रमण के छह आवश्यक हैं। इन छह आवश्यकों के क्रम के औचित्य के साथ विस्तृत स्वरूप इस प्रकार है -

१. प्रथम आवश्यक सामायिक - छह आवश्यकों में सामायिक आवश्यक को प्रथम स्थान दिया गया है।

समभाव की प्राप्ति होना अर्थात् राग-द्वेष रहित माध्यस्थ भाव 'सामायिक' है। ममत्व भाव के कारण आत्मा अनादिकाल से चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण कर रही है। ऐसी आत्मा को समभाव में रमण कराने के लिए सावद्य योगों से निवृत्ति आवश्यक है, जो कि सामायिक से संभव है। आत्मोत्थान के लिए सामायिक मुख्य प्रयोग है, मोक्ष प्राप्त करने का उपाय है। समस्त धार्मिक क्रियाओं के लिए आधारभूत होने से ही सामायिक को प्रथम स्थान प्रदान किया गया है।

सामायिक अर्थात् आत्म-स्वरूप में रमण करना, सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में तल्लीन होना। सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ही मोक्ष मार्ग है। मोक्षमार्ग में सामायिक मुख्य है यह बताने के लिए ही सामायिक आवश्यक को सबसे प्रथम रखा गया है।

अपने शुद्ध स्वरूप में रहा हुआ आत्मा ही सामायिक है। शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चिदानंद स्वरूप आत्मतत्त्व की प्राप्ति करना ही सामायिक का प्रयोजन है।[1] मैं कौन हूँ? मेरा स्वरूप कैसा है? आदि विचार में तल्लीन होना, आत्म गवेषणा करना सामायिक है।

सच्चा सामायिक व्रत क्या है? इसकी परिभाषा बताते हुए कहा है- जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में तल्लीन है उसी का सामायिक व्रत है, ऐसा केवल ज्ञानियों ने फरमाया है।

जो त्रस और स्थावर सभी जीवों को अपनी आत्मा के समान मानता है, सभी प्राणियों पर समभाव रखता है, उसी का सच्चा सामायिक व्रत है, ऐसा केवलज्ञानियों ने फरमाया है।[2]

सामायिक के आध्यात्मिक फल के लिए गौतम स्वामी प्रभु महावीर स्वामी से पूछते हैं कि -

हे भगवन्! सामायिक करने से जीव को क्या लाभ होता है?

भगवान् ने फरमाया - सामायिक करने से सावद्य योग से निवृत्ति होती है।[3] अर्थात् पाप कर्मों से सम्पूर्ण निवृत्ति होने पर आत्मा पूर्ण विशुद्ध और निर्मल बन जाती है यानी मोक्ष पद को प्राप्त कर लेती है।

सामायिक की साधना उत्कृष्ट है। सामायिक के बिना आत्मा का पूर्ण विकास असंभव है। सभी धार्मिक साधनाओं के मूल में सामायिक रही हुई है। समता भाव की दृष्टि से ही सामायिक आवश्यक को प्रथम स्थान प्राप्त है।

२. दूसरा आवश्यक : चउवीसत्थव- प्रथम सामायिक आवश्यक के बाद दूसरा आवश्यक है - चतुर्विंशतिस्तव। सावद्ययोग से विरति सामायिक आवश्यक है। सावद्य योग से निवृत्ति प्राप्त करने के लिए जीवन को राग-द्वेष रहित अर्थात् समभाव युक्त विशुद्ध बनाने के लिए साधक को सर्वोत्कृष्ट जीवन वाले महापुरुषों के आलम्बन की आवश्यकता रहती है। चौबीस तीर्थंकर जो रागद्वेष रहित समभाव में स्थित वीतराग पुरुष हैं, सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, त्याग, वैराग्य और संयम-साधना के महान् आदर्श हैं, उनकी स्तुति करना उनके गुणों का कीर्तन करना 'चतुर्विंशतिस्तव' कहलाता है।

तीर्थंकरों, वीतराग देवों की स्तुति करने से साधक को महान् आध्यात्मिक बल व आदर्श जीवन की

प्रेरणा मिलती है, अहंकार का नाश होता है, गुणों के प्रति अनुराग बढ़ता है और साधना का मार्ग प्रशस्त बनता है। शुभ भावों से दर्शन विशुद्धि होती है और दर्शन-विशुद्धि से आत्मा कर्म-मल से रहित होकर शुद्ध निर्मल हो जाती है, परमात्म पद को प्राप्त कर लेती है और वीतराग प्रभु के समान बन जाती है।

चतुर्विंशतिस्तव के फल के लिए उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९ में पृच्छा की है -

"हे भगवन्! चतुर्विंशतिस्तव से आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है?"

भगवान् ने कहा- "हे गौतम! चतुर्विंशतिस्तव से दर्शन-विशुद्धि होती है।"[४]

समभाव में स्थित आत्मा ही वीतराग प्रभु के गुणों को जान सकता है, उनकी प्रशंसा कर सकता है। अर्थात् जब सामायिक की प्राप्ति हो जाती है तब ही भाव पूर्वक तीर्थंकरों की स्तुति की जा सकती है। अतएव सामायिक आवश्यक के बाद चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक रखा गया है।

३. तीसरा आवश्यक : वंदन - चतुर्विंशतिस्तव नामक दूसरे आवश्यक में तीर्थंकर देवों की स्तुति की गयी है। देव के बाद दूसरा स्थान गुरु का ही है। तीर्थंकर भगवंतों द्वारा प्ररूपित धर्म का उपदेश निर्ग्रन्थ मुनिराज ही देते हैं। तीसरे वंदना आवश्यक में गुरुदेव को वंदन किया जाता है।

मन, वचन, और काया का वह शुभ व्यापार जिसके द्वारा गुरुदेव के प्रति भक्ति और बहुमान प्रकट किया जाता है 'वंदन' कहलाता है।

जो साधु द्रव्य और भाव से चरित्र सम्पन्न हैं तथा जिनेश्वर भगवान् के बताए हुए मार्ग पर चलते हुए जिन-प्रवचन का उपदेश देते हैं, वे ही सुगुरु हैं। आध्यात्मिक साधना में सदैव रत रहने वाले त्यागी-वैरागी शुद्धाचारी संयमनिष्ठ सुसाधु ही वंदनीय पूजनीय होते हैं। ऐसे सुसाधु-गुरु भगवन्तों को भावयुक्त उपयोग पूर्वक निःस्वार्थ भाव से किया हुआ वंदन कर्म-निर्जरा और अंत में मोक्ष का कारण बनता है।

इसके विपरीत भाव चारित्र से ही द्रव्यलिंगी-कुसाधु अवंदनीय होते हैं। संयमभ्रष्ट वेशधारी कुसाधुओं को वंदन करने से कर्म-निर्जरा नहीं होती, अपितु वह कर्म-बंधन का कारण बनता है।

सुगुरुओं को यथाविधि वंदन करने से विनय की प्राप्ति होती है। अहंकार का नाश होता है। वंदनीय में रहे हुए गुणों के प्रति आदर भाव होता है। तीर्थंकर भगवन्तों की आज्ञा का पालन होता है। वंदना करने का मूल उद्देश्य ही नम्रता प्राप्त करना है। नम्रता अर्थात् विनय ही जिनशासन का मूल है।

उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन २९ में गौतम स्वामी प्रभु भगवान् महावीर से पूछते हैं कि - "हे भगवन्! वंदन करने से जीव को क्या लाभ होता है?"[५]

उत्तर में भगवान् महावीर स्वामी फरमाते हैं कि - "वंदन करने से यह आत्मा नीच गोत्र कर्म का क्षय करता है, उच्चगोत्र का बंध करता है। उसे सुभग, सुस्वर आदि सौभाग्य की प्राप्ति होती है, सभी उसकी आज्ञा स्वीकार करते हैं और वही दाक्षिण्य भाव, कुशलता एवं सर्वप्रियता को प्राप्त करता है।"

जो व्यक्ति अपने इष्ट देव तीर्थंकर भगवंतों की स्तुति करता है, गुण-स्मरण करता है वही तीर्थंकर

भगवान् के बताए हुए मार्ग पर चलने वाले, जिनवाणी का उपदेश देने वाले गुरुओं को यथाविधि भक्तिभावपूर्वक वंदन-नमस्कार कर सकता है। अतएव चतुर्विंशतिस्तव के बाद वंदना आवश्यक को स्थान दिया गया है।

४. चौथा आवश्यक : प्रतिक्रमण- छह आवश्यकों में प्रतिक्रमण चौथा आवश्यक है। आजकल 'आवश्यक' की संज्ञा प्रतिक्रमण प्रचलित है। इसके कई कारण हो सकते हैं। प्रतिक्रमण चतुर्थ आवश्यक है और सब आवश्यकों में अक्षर प्रमाण में बड़ा है। अतः सभी आवश्यकों को प्रतिक्रमण नाम से पुकारा जाने लगा हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। दूसरा कारण श्रमण भगवान् महावीर का सप्रतिक्रमण धर्म है। अतः प्रतिदिन प्रातः सायं, प्रतिक्रमण करना साधक के लिए आवश्यकीय है अर्थात् सायं-प्रातः प्रतिक्रमण 'आवश्यक' का नियत काल है। अन्य आवश्यक प्रतिक्रमण आवश्यक की पूर्व भूमिका एवं उत्तरक्रिया के रूप में ही प्रायः होते हैं। इसलिए सभी आवश्यकों को 'प्रतिक्रमण' नाम हो जाना सहज लगता है।

वंदना आवश्यक के पश्चात् प्रतिक्रमण को रखने का आशय यह है कि ज़ो राग-द्वेष रहित समभाव से गुरुदेवों की स्तुति करने वाले हैं वे ही गुरुदेव की साक्षी से अपने पापों की आलोचना कर सकते हैं, प्रतिक्रमण कर सकते हैं। जो गुरुदेव को वंदन ही नहीं करेगा, वह किस प्रकार गुरुदेव के प्रति बहुमान रखेगा और अपना हृदय स्पष्टतया खोल कर कृत पापों की आलोचना करेगा? जो पाप मन से, वचन से और काया से स्वयं किये जाते हैं, दूसरों से कराये जाते हैं और दूसरों के द्वारा किए हुए पापों का अनुमोदन किया जाता है उन सब पापों की निवृत्ति के लिए कृत पापों की आलोचना करना, निन्दा करना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण करने से आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में आती है।

व्रत में लगे हुए दोषों की सरल भावों से प्रतिक्रमण द्वारा शुद्धि करना और भविष्य में उन दोषों का सेवन न करने के लिए सतत जागरूक रहना ही प्रतिक्रमण का वास्तविक उद्देश्य है। प्रतिक्रमण का लाभ बताते हुए उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९ में पृच्छा की है कि - "हे भगवन्! प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या लाभ होता है?"[६]

भगवान् ने कहा- "हे गौतम! प्रतिक्रमण करने वाला व्रतों में उत्पन्न हुए छिद्रों को बंद करता है। फिर व्रतों के दोषों से निवृत्त बना हुआ शुद्ध व्रतधारी जीव आस्रवों को रोक कर तथा शबलादि दोषों से रहित शुद्ध संयम वाला होकर आठ प्रवचन माताओं में सावधान होता है और संयम में तल्लीन रहता हुआ समाधिपूर्वक अपनी इन्द्रियों को असन्मार्ग से हटा कर संयममार्ग में विचरण करता है अर्थात् आत्मा के संयम के साथ एकमेक हो जाता है। जो इन्द्रियाँ बाह्योन्मुखी हैं, वे अन्तर्मुखी हो जाती हैं। इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं और मन आत्मा में रम ज़ाता है। इस प्रकार प्रतिक्रमण जो वापस लौटने की प्रक्रिया से चालू हुआ था, वह धीरे-धीरे आत्म-स्वरूप की स्थिति में पहुँच जाता है। यही है प्रतिक्रमण का पूर्ण फल। प्रतिक्रमण की यही है उपलब्धि।"

५. पाँचवाँ आवश्यक : कायोत्सर्ग- छह आवश्यकों में कायोत्सर्ग पाँचवाँ आवश्यक है। कायोत्सर्ग में दो शब्द हैं - काय और उत्सर्ग। जिसका अर्थ है -काय का त्याग अर्थात् शरीर के ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है। प्रतिक्रमण आवश्यक के बाद कायोत्सर्ग का स्थान है। प्रतिक्रमण के द्वारा व्रतों के अतिचार रूप छिद्रों को बंद कर देने वाला, पश्चात्ताप के द्वारा पाप कर्मों की निवृत्ति करने वाला साधक ही कायोत्सर्ग की योग्यता प्राप्त कर सकता है। जब तक प्रतिक्रमण के द्वारा पापों की आलोचना करके चित्त शुद्धि न किया जाय, तब तक धर्मध्यान या शुक्लध्यान के लिए एकाग्रता संपादन करने का, जो कायोत्सर्ग का उद्देश्य है, वह किसी तरह भी सिद्ध नहीं हो सकता। अनाभोग आदि से लगने वाले अतिचारों की अपेक्षा अविवेक, असावधानी आदि से लगे बड़े अतिचारों की कायोत्सर्ग शुद्धि करता है। इसीलिए कायोत्सर्ग को पाँचवाँ स्थान दिया गया है।

कायोत्सर्ग एक प्रकार का प्रायश्चित्त है। वह पुराने पापों को धोकर साफ कर देता है। 'तस्सउत्तरी' के पाठ (उत्तरीकरण का पाठ) में यही कहा है कि पापयुक्त आत्मा को श्रेष्ठ उत्कृष्ट बनाने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिये, विशेष शुद्धि करने के लिए, शल्यों का त्याग करने के लिए, पाप कर्मों का नाश करने के लिए कायोत्सर्ग में शरीर के व्यापारों का त्याग किया जाता है।

अनुयोगद्वार सूत्र में कायोत्सर्ग आवश्यक का नाम 'व्रण-चिकित्सा' कहा है। व्रत रूप शरीर में अतिचार रूप व्रण (घाव, फोड़े) के लिए पाँचवाँ कायोत्सर्ग आवश्यक चिकित्सा रूप पुल्टिस (मरहम) का काम करता है। जैसे पुल्टिस, फोड़े के बिगड़े हुए रक्त को मवाद बना कर निकाल देता है और फोड़े की पीड़ा को शान्त कर देता है उसी प्रकार यह काउस्सग रूप पाँचवाँ आवश्यक, व्रत में लगे हुए अतिचारों के दोषों को दूर कर आत्मा को निर्मल एवं शांत बना देता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में कायोत्सर्ग का फल इस प्रकार कहा है- ''हे भगवन्! कायोत्सर्ग करने से जीव को किन गुणों की प्राप्ति होती है?''

इसके उत्तर में भगवान् फरमाते हैं - ''कायोत्सर्ग करने से भूतकाल और वर्तमान काल के दोषों का प्रायश्चित्त करके जीव शुद्ध बनता है और जिस प्रकार बोझ उतर जाने से मजदूर सुखी होता है उसी प्रकार प्रायश्चित्त से विशुद्ध बना हुआ जीव शान्त हृदय बन कर शुभ ध्यान ध्याता हुआ सुखपूर्वक विचरता है।''

६. छठा आवश्यक : प्रत्याख्यान- छह आवश्यकों में प्रत्याख्यान छठा आवश्यक है। प्रत्याख्यान का सामान्य अर्थ है - त्याग करना। प्रत्याख्यान में तीन शब्द हैं - प्रति+आ+ख्यान। अविरति एवं असंयम के प्रति अर्थात् प्रतिकूल रूप में 'आ' अर्थात् मर्यादा स्वरूप आकार के साथ, 'ख्यान' अर्थात् प्रतिज्ञा को 'प्रत्याख्यान' कहते हैं। अथवा अमुक समय के लिए पहले से ही किसी वस्तु के त्याग कर देने को 'प्रत्याख्यान' कहते हैं। अविवेक आदि से लगने वाले अतिचारों की अपेक्षा जानते हुए दर्प आदि से लगे बड़े अतिचारों की शुद्धि प्रत्याख्यान करता है, अतः प्रत्याख्यान को छठा स्थान दिया गया है। अथवा प्रतिक्रमण

और कायोत्सर्ग के द्वारा अतिचार की शुद्धि हो जाने पर प्रत्याख्यान द्वारा तप रूप नया लाभ होता है।

जो साधक कायोत्सर्ग द्वारा विशेष चित्त-शुद्धि, एकाग्रता और आत्म बल प्राप्त करता है, वही प्रत्याख्यान का सच्चा अधिकारी है। अर्थात् प्रत्याख्यान के लिए विशिष्ट चित्त शुद्धि और विशेष उत्साह की अपेक्षा है। जो कायोत्सर्ग के बिना संभव नहीं है। अतः कायोत्सर्ग के पश्चात् प्रत्याख्यान को स्थान दिया गया है।

अनुयोगद्वार सूत्र में प्रत्याख्यान का नाम 'गुणधारण' कहा है। गुणधारण का अर्थ है - व्रत रूप गुणों को धारण करना। प्रत्याख्यान के द्वारा साधक मन, वचन, काया को दुष्ट प्रवृत्तियों से रोक कर शुभ प्रवृत्तियों पर केन्द्रित करता है। ऐसा करने से इच्छा-निरोध, तृष्णा का अभाव, सुखशांति आदि अनेक सद्गुणों की प्राप्ति होती है।

उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में प्रत्याख्यान का फल इस प्रकार बताया है- "हे भगवन्! प्रत्याख्यान से जीव को क्या लाभ है?"

इसके उत्तर में प्रभु फरमाते हैं कि- "प्रत्याख्यान करने से आस्रवद्वारों का निरोध होता है, प्रत्याख्यान करने से इच्छा का निरोध होता है, इच्छा का निरोध होने से जीव सभी पदार्थों में तृष्णा रहित बना हुआ परम शांति से विचरता है।"

इस प्रकार षडावश्यक साधक के लिए अवश्य करणीय हैं। साधक चाहे वह श्रावक हो अथवा श्रमण, वह इन क्रियाओं को करता ही है। षडावश्यकों का साधक के जीवन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रतिक्रमण के इन छह आवश्यकों से जहाँ आध्यात्मिक शुद्धि होती है, वहाँ लौकिक जीवन में भी समता, नम्रता, क्षमाभाव आदि सद्गुणों की वृद्धि होने से आनंद के निर्मल निर्झर बहने लगते हैं।

ग्रहण किए हुए व्रतों में प्रमादवश या अनजानेपने में दोष लगने की संभावना रहती है। जब तक दोषों को दूर नहीं किया जाता तब तक आत्मा शुद्ध नहीं बनती। आवश्यक (प्रतिक्रमण) के द्वारा दोषों की आलोचना की जाती है, आत्मा को अशुभ भावों से हटाकर शुभ भावों की तरफ ले जाया जाता है। प्रतिक्रमण के माध्यम से ही साधक अपनी भटकी हुई आत्मा को स्थिर करता है। भूलों को ध्यान में लाता और मन, वचन, काया के पश्चात्ताप की अग्नि में आत्मा को निखारता है। आत्म-शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य- ये पाँच आचार कहलाते हैं। पंचाचार की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक है।

कर्म-बन्धन से छुटकारा पाने के लिए यह आवश्यक है कि जीव पूर्वकृत कर्मों का क्षय करे और नवीन कर्मों का बंध नहीं करे। प्रतिक्रमण द्वारा पूर्वकृत पापों को निंदा की जाती है, आलोचना की जाती और मन, वचन, काया से प्रायश्चित्त (पश्चात्ताप) किया जाता है। अतः कर्मों की निर्जरा होती है और भवि

में कर्म बंधन रुकता है। प्रतिक्रमण से 'छूटूं पिछला पाप से नवां न बांधूं कोय' यह उक्ति सिद्ध होती है। अतः प्रतिक्रमण आवश्यक है।

प्रतिक्रमण तीसरे वैद्य की औषधि के समान है, जिसका प्रतिदिन सेवन करने से विद्यमान रोग शांत हो जाते हैं, रोग नहीं होने पर उस औषधि के प्रभाव से वर्ण, रूप, यौवन और लावण्य आदि में वृद्धि होती है और भविष्य में रोग नहीं होते। इसी तरह यदि दोष लगे हों तो प्रतिक्रमण द्वारा उनकी शुद्धि हो जाती है और दोष नहीं लगा हो तो प्रतिक्रमण चारित्र की विशेष शुद्धि करता है। इसलिए प्रतिक्रमण सभी के लिए समान रूप से आवश्यक है।

संदर्भ-

१. आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे। -भगवती सूत्र शतक १, उद्देशक ९

२. जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे नियमे तवे। तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि भासियं।। जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य। तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि भासियं।।

-अनुयोगद्वार सूत्र

३. सामाइएणं भंते! जीवे किं जणयइ? सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ।।

-उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९

४. चउव्वीसत्थएणं भंते! जीवे किं जणयइ? चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ।।

-उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९

५. वंदएणं भंते! जीवे किं जणयइ? वंदएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ उच्चागोयं निबंधइ सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निवत्तेइ, दाहिणभाव च णं जणयइ।

-उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९

६. पडिक्कमणेणं भंते! जीवे किं जणयइ? पडिक्कमणेणं वयच्छिद्दाइं पिहेइ, पिहियवयच्छिद्दे पुण जीवे णिरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ। -उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९

७. काउस्सग्गेणं भंते! जीवे किं जणयइ? काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पण्णं पायच्छित्तं विसोहेइ विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे णिव्वुयहियए ओहरिय भरुव्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ। -उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९

८. पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ? पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं णिरुंभइ, पच्चक्खाणेणं इच्छा णिरोहं जणयइ, इच्छाणिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ। -उत्तराध्ययन सूत्र अ. २९

-म.नं. ७ गली नं. १४, उत्तरी नेहरू नगर, विट्ठलवाड़ी,

बंगाली मिठाई के सामने, ब्यावर-३०५९०१ (राजस्थान)

पाँच अणुव्रतों के अतिचारों की प्रासङ्गिकता

श्री प्रकाशचन्द जैन

श्रावक प्रतिक्रमण में पाँच अणुव्रतों के शोधन का बड़ा महत्त्व है। प्राणातिपात विरमण आदि पाँच अणुव्रतों के अतिचारों पर प्रस्तुत लेख में जैन विद्वान् एवं स्वाध्याय शिक्षा के सम्पादक श्री प्रकाशचन्द जी जैन ने सारगर्भित विवेचन किया है। *-सम्पादक*

सभी प्रमुख भारतीय दर्शनों ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया है। योगदर्शन में इन्हें पाँच यम के नाम से अभिहित किया गया है। बौद्धदर्शन में इन्हें पंचशील कहा गया है। जैन दर्शन में इन्हें महाव्रत या अणुव्रत कहा गया है। भारतीय कानून में भी इनकी पालना पर जोर दिया गया है। इनका उल्लंघन करने पर अपराध मानकर दण्ड का प्रावधान किया गया है। धर्म और कानून में इतना ही अन्तर है कि धर्म के क्षेत्र में नियमों का उल्लंघन करने की योजना को अतिचार मानकर उसके दण्ड के रूप में प्रतिक्रमण का विधान है तथा नियम का उल्लंघन करने पर विशेष प्रायश्चित्त रूप दण्ड का विधान है। जबकि कानून में नियमों का उल्लंघन करने की योजना बनाने या उल्लंघन करने पर उसे अपराध मानकर शरीरिक या आर्थिक दण्ड का विधान है।

पाँच अणुव्रतों के अतिचार

पहला अणुव्रत- थूलाओ पाणइवायाओ वेरमणं अर्थात् स्थूल रूप से प्राणातिपात का त्याग। इसमें श्रावक निरपराध त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा का त्याग करता है। इस अणुव्रत के ५ अतिचार निम्न हैं-

१. बंधे- अपराधी को क्रोधावेश में गाढ (कठोर) बन्धन में बाँधना। दण्ड के अनेक तरीके हैं। उनमें से एक है बंधन में डालना। ऐसा करने से प्राणों का अतिपात तो नहीं होता, परन्तु कष्टानुभूति अवश्य होती है, अतः इसे अतिचार माना गया है। जानवर, बच्चे, नौकर आदि के साथ कई बार ऐसा व्यवहार किया जाता है।

२. वहे- मारपीट करना। क्रोधावेश में अपने आश्रित जानवर, बच्चे, नौकर आदि की मार-पीट करना। यह बन्धन से आगे की दण्ड-अवस्था है।

३. छविच्छेए- अंग-उपांगों का छेदन-भेदन करना। क्रोधातिरेक में व्यक्ति बन्धन और वध की अवस्था से आगे बढ़कर शरीर के अवयवों का छेदन-भेदन कर देता है जो प्राणान्तक कष्ट-दायक होता है। लेकिन प्राणों का अतिपात नहीं होता, अतः अतिचार है, अनाचार नहीं।

४. अइभारे- क्षमता से अधिक भार डालना। पशुओं पर ज्यादा बोझ ढोना, बालकों से उनकी क्षमता से अधिक काम लेना, नौकरों से अधिक समय तक काम लेना, बदले में अलग से कुछ नहीं देना आदि अतिभार है। इससे उनका शोषण होता है जो हिंसा की ही पूर्व अवस्था है, अतः इसे अतिचार माना गया है।

५. भत्तपाणविच्छेए- खाने-पीने में रुकावट डालना। काम सही तरीके से नहीं करने पर या काम करते हुए नुकसान हो जाने पर गुस्से में आकर कभी माता-पिता, सेठ, मैनेजर आदि अपने अधीनस्थ पुत्र, नौकर, जानवर आदि का खाना-पीना बंद कर देते हैं, उसके वेतनादि में कटौती कर देते हैं, जिससे उन्हें पीडा का अनुभव होता है। जो हिंसा की ही पूर्व अवस्था है, अतः यह अतिचार है।

दूसरा अणुव्रत- थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं- मोटे झूठ का त्याग। कन्या, गाय, बैल, भूमि, धरोहर व झूठी साक्षी सम्बन्धी ५ प्रकार का मोटा झूठ है। श्रावक इनका सेवन नहीं करता। इस अणुव्रत के ५ अतिचार निम्न हैं-

१. सहसब्भक्खाणे- सहसा किसी पर झूठा आरोप लगाना। किन्हीं को परस्पर बातचीत करते देखकर अचानक उन पर झूठा आरोप लगाना कि इनके नाजायज सम्बन्ध हैं या ये मेरी बुराई कर रहे हैं आदि। अचानक झूठा आरोप लगाना झूठ की ही पूर्व अवस्था होने से अतिचार है।

२. रहस्सब्भक्खाणे- एकान्त में गुप्त बातचीत करते हुए लोगों पर झूठा आरोप लगाना। आरोप में उस व्यक्ति का झूठ बोलने का भाव नहीं है, किन्तु उसके कृत्यों के अनुमान के आधार पर वह उस पर आरोप लगाता है। उसका वह आरोप झूठ की ही पूर्व अवस्था होने से अतिचार है।

३. स्वदारमंतभेए- अपनी स्त्री का मर्म प्रकाशित करना। गृहस्थ जीवन की गाड़ी परस्पर विश्वास के आधार पर चलती है। वे एक दूसरे की गुप्त से गुप्त बात भी एक दूसरे को बताते हैं। यदि दोनों में से एक भी उन बातों को लोगों में प्रकट करता है तो सम्बन्धों में तनाव की स्थिति पैदा हो सकती है। तथा यह धोखा या विश्वासघात है। झूठ की ही पूर्व अवस्था होने से अतिचार है।

४. मोसोवएसे- झूठा उपदेश देना। भगवान् की वाणी के अर्थ और मर्म को सही तरह से नहीं जानते हुए भी अपनी तरफ से विपरीत अर्थ का कथन करना। इसमें किसी को नुकसान पहुँचाने का दृष्टिकोण नहीं है, अतः यह मोटे झूठ की श्रेणी में तो नहीं आता, लेकिन कथन विपरीत होने से अतिचार है।

५. कूडलेहकरणे- कूड़ा लेख लिखना। भगवान् की वाणी के अर्थ और भाव को नहीं समझते हुए भी अपनी तरफ से विपरीत अर्थ का लेखन करना अतिचार है।

तीसरा अणुव्रत- थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं - मोटी चोरी का त्याग। दीवार तोड़कर, गाँठ खोलकर, ताले पर चाबी लगाकर, मार्ग में चलते हुए को लूटकर, किसी की वस्तु को जानबूझकर लेना, ये मोटी चोरी के ५ प्रकार हैं, श्रावक इस व्रत में इनका त्याग करता है। इस अणुव्रत के ५ अतिचार इस प्रकार हैं-

१. तेनाहडे- चोर की चुराई वस्तु लेना। इससे चोर को चोरी करने हेतु प्रोत्साहन मिलता है, वह पुनः चोरी करता है। चुराई वस्तु खरीदना कानून की दृष्टि से दण्डनीय अपराध है।

२. तक्करप्पओगे- चोर को सहायता करना। चोरी करने के तरीके बताना, चोरी करने के साधन उपलब्ध कराना, ये सब चोरी को प्रोत्साहित करते हैं अतः अतिचार है।

३. विरुद्धरज्जाइकम्मे- राज्य-विरुद्ध कार्य करना। सरकारी नियमों का उल्लंघन करना, जैसे- टेक्स नहीं चुकाना, निषिद्ध वस्तुओं का व्यापार करना आदि। यह चोरी का ही एक प्रकार है, लेकिन ५ प्रकार की मोटी चोरी नहीं होने से अतिचार है।

४. कूडतुल्लकूडमाणे-कूडा तोल-माप करना। माप-तोल में कम अधिक करना अनैतिक व दण्डनीय अपराध है। चोरी को प्रोत्साहित करने से अतिचार है।

५. तप्पडिरूवग्गवहारे- वस्तु में मिलावट करना। अधिक लाभ के लोभ में अच्छी वस्तु में हल्की वस्तु मिलाकर देना चोरी का ही एक प्रकार है। इससे स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। कानून की दृष्टि से यह दण्डनीय अपराध है, अतः अतिचार है।

चौथा अणुव्रत- थूलाओ मेहुणाओ वेरमणं - परस्त्री का त्याग और स्वस्त्री की मर्यादा। इस अणुव्रत के पाँच अतिचार निम्न हैं-

१. इत्तरियपरिग्गहियागमणे- भोग योग्य उम्र से कम उम्र में अपनी परिणीता स्त्री के साथ भोग का सेवन शारीरिक, मानसिक व धार्मिक दृष्टि से दोष पूर्ण है, अतः यह अतिचार है।

२. अपरिग्गहियागमणे- जिसके साथ सगाई हुई है, अभी तक शादी नहीं हुई है उसके साथ समागम करना दोष होने से अतिचार है, क्योंकि सगाई होने मात्र से वह पत्नी नहीं बन जाती, सगाई टूट भी सकती है।

३. **अनंगकीडाकरणे-** काम-भोग के योग्य अंगों के अलावा बाकी अंगों से या वस्तुओं से क्रीड़ा करना विक्षिप्त दशा का प्रतीक होने से अतिचार है।

४. परविवाहकरणे- अपने आश्रितों के अलावा अन्य का विवाह सम्बन्ध कराना, भोगों की अनुमोदना होने से अतिचार है। सम्बन्धों में दरार पड़ने या टूटने पर करवाने वाले को तकलीफ उठानी पड़ती है।

५. कामभोगतिव्वाभिलासे- भोगों की तीव्र अभिलाषा करना। कामोत्तेजक साहित्य पढ़ना, ऐसे चलचित्र देखना, कामवर्धक औषधियों का सेवन करना आदि इसके प्रकार हैं जो व्रत को दूषित करते हैं, अतः अतिचार है।

पाँचवा अणुव्रत- थूलाओ परिग्गहाओ वेरमणं - ९ प्रकार के परिग्रह की नियत मर्यादा के अलावा बाकी परिग्रह का त्याग करना। इस अणुव्रत के ५ अतिचार निम्न हैं-

१. खेत्तवत्थुप्पमाणाइक्कमे- खेत=भूमि, वत्थु=मकान। इनकी जितनी मर्यादा रखी है उससे अधिक रख

की तैयारी करना अतिचार है। अधिक रख लेने से तो व्रत ही भंग हो जाता है, अतः तैयारी करना ही अधिक संगत लगता है जो पाँचों के लिए उपयुक्त है।

२. **हिरण्णसुवण्णप्पमाणाइक्कमे-** हिरण्ण=चाँदी, सुवण्ण=सोना। सोने-चाँदी की जितनी मर्यादा रखी है, उससे अधिक रखने की तैयारी करना अतिचार है।

३. **धनधान्यप्पमाणाइक्कमे-** धन=रुपये, धान्य=अनाज। धन और विविध प्रकार के धान्यों की जो मर्यादा रखी है, उससे अधिक रखने की तैयारी करना अतिचार है।

४. **दुप्पयचउप्पयप्पमाणाइक्कमे-** दुप्पय=नौकर, चउप्पय=पशु। नौकर, पशु आदि की जो मर्यादा रखी है, उससे अधिक रखने की तैयारी करना अतिचार है।

५. **कुवियप्पमाणाइक्कमे-** कुविय=सोना-चाँदी के सिवाय अन्य धातु, फर्नीचर आदि वस्तुओं की जो मर्यादा रखी है, उससे अधिक रखने की तैयारी करना अतिचार है।

पाँचों अणुव्रतों की निरतिचार परिपालना से जीवन अहिंसक, प्रामाणिक व धार्मिक बनता है, अतः अतिचारों के स्वरूप व उनकी प्रासङ्गिकता को समझकर उनसे बचना चाहिए।

-प्राचार्य, श्री महावीर जैन स्वाध्याय पीठ,
व्यंकटेश मंदिर के पीछे, गणपति नगर, जलगांव

15,17 नवम्बर 2006
जिनवाणी, 152

तीन गुणव्रतों एवं चार शिक्षा व्रतों का महत्त्व

डॉ. मंजुला बम्ब

गुणव्रत अणुव्रतों के पालन में सहायता प्रदान करते हैं और शिक्षाव्रत नित्य अभ्यास से अणुव्रतों के प्रति दृढ़ता का भाव पैदा करते हैं। गुणव्रत की क्यारी में, शिक्षाव्रत के जल से अणुव्रत का पौधा यदि सींचा जाता है तो निश्चित ही एक दिन यह पौधा महान् फलदायी होता है। प्रस्तुत लेख में तीन गुणव्रतों एवं चार शिक्षाव्रतों पर समीचीन प्रकाश डाला गया है। -सम्पादक

प्रतिक्रमण जैन साधना का मूल प्राण है। यह जीवन-शुद्धि और दोष-परिमार्जन का महासूत्र है। प्रतिक्रमण साधक की अपनी आत्मा को परखने का, निरखने का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है। जैसे वैदिक परम्परा में संध्या का, बौद्ध परम्परा में उपासना का, ईसाई परम्परा में प्रार्थना का, इस्लाम धर्म में नमाज का महत्त्व है वैसे ही जैन धर्म में दोष शुद्धि हेतु प्रतिक्रमण का महत्त्व है।

प्रतिक्रमण का अर्थ बताते हुए आचार्य हरिभद्र (७००-७७० ई.) ने आवश्यक सूत्र की टीका में महत्वपूर्ण प्राचीन श्लोक का कथन किया है -

स्वस्थानाद् यत् पर-स्थानं, प्रमादस्य वशाद्गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते।।

अर्थात् प्रमादवश शुद्ध परिणति रूप आत्मभाव से हटकर अशुद्ध परिणति रूप पर-भाव को प्राप्त करने के बाद फिर से आत्मभाव को प्राप्त करना प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण का अर्थ है शुभ योगों से अशुभ योगों में गयी हुई अपनी आत्मा को पुनः शुभ योगों में लौटाना। अशुभ योग से निवृत्त होकर निःशल्यभाव से उतरोत्तर शुभ योगों में प्रवृत्त होना प्रतिक्रमण है।

जो साधक किसी प्रमाद के कारणवश सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप स्वस्थान से हटकर मिथ्यात्व, अज्ञान एवं असंयम रूप पर स्थान में चला गया हो, उसका पुनः स्वस्थान में लौट आना प्रतिक्रमण है।

साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, अशुभ योग ये पाँच आस्रव अत्यन्त भयंकर माने गये हैं। प्रत्येक साधक को इनका प्रतिदिन प्रतिक्रमण करना चाहिए। मिथ्यात्व का परित्याग कर सम्यक्त्व में आना चाहिए। अविरति को त्यागकर विरति को स्वीकार करना चाहिए। प्रमाद के बदली में अप्रमाद को तथा कषाय का परिहार कर क्षमादि को धारण करना चाहिए और संसार की वृद्धि करने वाले अशुभ योगों के व्यापार का त्यागकर शुभ योगों में रमण करना चाहिए।

श्रावक शब्द 'श्रु' धातु से बना है, जिसका अर्थ है श्रवण करना - सुनना। अर्थात् जो शास्त्रों को श्रवण करने वाले हैं, उन्हें श्रावक कहते हैं। व्यवहार में श्रावक शब्द का अर्थ इस प्रकार है -

श्रद्धालुतां याति शृणोति शासनं, दानं वपेदाशु वृणोति दर्शनम्।
कृन्तत्यपुण्यानि करोति संयमं, तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः।।

अर्थात् जो श्रद्धावान हो, शास्त्र का श्रवण करे, दान का वपन करे, सम्यग्दर्शन का वरण करे, पाप को काटे या क्रियावान हो, वह श्रावक है। आशय यह है कि जो शुद्ध श्रद्धा से युक्त हो और विवेकपूर्वक क्रिया करे, वह श्रावक है।

जिस प्रकार तालाब के नाले का निरोध कर देने से पानी का आगमन रुक जाता है, उसी प्रकार हिंसादि का निरोध कर देने से पाप का निरोध हो जाता है इसी को व्रत कहते हैं। व्रतों का समाचरण दो प्रकार से किया जाता है - जो हिंसा आदि का सर्वथा त्याग करके साधु बनते हैं वे सर्वव्रती (महाव्रती) कहलाते हैं और जो आवश्यकतानुसार छूट रखकर आंशिक रूप से हिंसादि पापों का त्याग करते हैं, वे अणुव्रती श्रावक कहलाते हैं। उन्हें देशव्रती भी कहते हैं। देशव्रती के चारित्र में पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का इस प्रकार कुल बारह व्रतों का समावेश होता है।

श्रावकों के व्रत बारह प्रकार के होते हैं।

पाँच अणुव्रत	(१) स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत
	(२) स्थूल मृषावाद विरमण व्रत
	(३) स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत
	(४) स्वदार संतोष व्रत
	(५) स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत
तीन गुणव्रत	(१) दिशा परिमाण व्रत
	(२) उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत
	(३) अनर्थदण्ड विरमण व्रत
चार शिक्षाव्रत	(१) सामायिक व्रत
	(२) देशावगासिक व्रत
	(३) पौषधोपवास व्रत
	(४) अतिथिसंविभाग व्रत

पहले पाँच अणुव्रत हैं। अणुव्रत का अर्थ है छोटे व्रत। श्रमण हिंसादि का पूर्ण परित्याग करता है, इसलिए उसके व्रत महाव्रत कहलाते हैं। किन्तु श्रावक उनका पालन मर्यादित रूप से करता है, अतः श्रावक के व्रत अणुव्रत कहलाते हैं।

इस आलेख में श्रावक के तीन गुणव्रतों एवं चार शिक्षाव्रतों का विवेचन किया जा रहा है-

तीन गुणव्रत

पाँच अणुव्रत के पश्चात् तीन गुणव्रत हैं। गुणाय चोपकाराय अणुव्रतानां व्रतं गुणव्रतम् अर्थात् अणुव्रतों के गुणों को बढ़ाने वाला, उनको उपकार से पुष्ट करने वाला व्रत 'गुणव्रत' कहलाता है।

अणुव्रतों के विकास में गुणव्रत सहायक है। इनके तीन भेद हैं - दिशा परिमाण व्रत, उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत और अनर्थदण्ड-विरमण व्रत। इन्हें गुणव्रत इसलिए कहा गया है कि ये अणुव्रत रूपी मूल गुणों की रक्षा व विकास करते हैं। जिस प्रकार कोठार में रखा हुआ धान्य नष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार इन तीन गुणव्रतों को धारण करने से पाँच अणुव्रतों की रक्षा होती है और अणुव्रतों के पालन करने में पूरी सहायता मिलती है। दिशा परिमाण नामक व्रत, व्रत-संख्या के क्रम से छठा व्रत है और गुणव्रत की अपेक्षा पहला है। गुणव्रतों का स्वरूप निम्न प्रकार है-

(१) पहला गुणव्रत 'दिशा परिमाण'

इस गुणव्रत में दिशाओं में प्रवृत्ति को सीमित किया जाता है। पूर्व आदि चारों दिशाओं में जाने, आने या किसी को भेजने की मर्यादा करना होता है। जैसे कि - मैं पूर्व आदि चारों दिशाओं में इतने कोस से अधिक नहीं जाऊँगा या किसी को नहीं भेजूँगा।

ऊर्ध्वदिग्व्रत, अधोदिग्व्रत और तिर्यग्दिग्व्रत ऊपर की दिशाओं में अर्थात् पर्वत आदि ऊपर चढ़ने और उतरने तथा वायुयान के जाने-आने की मर्यादा निश्चित करना जैसे कि मैं पर्वत आदि स्थानों पर इतनी दूर से ज्यादा नहीं चढ़ूँगा इत्यादि ऊर्ध्वदिग्व्रत कहलाता है।

तालाब, बावड़ी, कूप, खान आदि नीचे के स्थानों में उतरने की मर्यादा निश्चित करना अधोदिग्व्रत कहलाता है।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा में तथा वायव्य आदि कोणों में अपने आने-जाने की मर्यादा कायम करना तिर्यग्दिग्व्रत कहलाता है।

दिग्व्रतों के धारण करने से नियत की हुई मर्यादा से बाहर के जीवों की घात तथा मृषावाद आदि पाप, व्रतधारी श्रावक के द्वारा नहीं होता है। इसलिए इस व्रत को धारण करना आवश्यक होता है।

दिशाव्रत के पाँच अतिचार हैं- (१) ऊर्ध्व दिशाव्रत प्रमाणातिक्रम, (२) अधो दिशाव्रत प्रमाणातिक्रम, (३) तिरछी दिशा प्रमाणातिक्रम, (४) क्षेत्रवृद्धि और (५) स्मृतिभ्रंश।

१. **ऊर्ध्व दिशा अतिक्रम-** ऊपर की दिशा में अर्थात् पर्वत आदि के ऊपर चढ़ने उतरने आदि की श्रावक ने जो मर्यादा की है, उसका उल्लंघन करना यानी उससे अधिक दूर तक जाना-आना उर्ध्वदिशाव्रत प्रमाणातिक्रम है। यह भूल हो जाय तो अतिचार है, अन्यथा जानबूझकर ऐसा करना अनाचार है।

२-३. **अधो-तिरछी दिशा अतिक्रम-** नीचे की दिशा (अधोदिशा) और तिरछी (तिर्यक्) दिशाओं में जो दूरी निश्चित की हो उसको भूल से भंग कर देना अतिचार तथा जानबूझकर भंग करना अनाचार होता है।

क्षेत्रवृद्धि - पूर्व आदि चारों दिशाओं में आने-जाने के लिए जो क्षेत्र मर्यादित किया गया हो, उसको व्रत की अपेक्षा रखते हुए बढ़ा देना 'क्षेत्रवृद्धि' कहलाता है। जैसे किसी श्रावक ने पूर्व दिशा में आने-जाने के लिए सौ योजन की मर्यादा कायम की है और पश्चिम दिशा में दस योजन की अवधि नियत की है। उस श्रावक को पश्चिम दिशा में दस योजन से अधिक क्षेत्र में जाने का कार्य उपस्थित होने पर वह यदि पूर्व दिशा के कुछ योजनों को पश्चिम दिशा में मिलाकर पश्चिम दिशा के क्षेत्र की वृद्धि करे तो यह क्षेत्रवृद्धि नामक अतिचार है। ऐसा करने वाले श्रावक ने अपने व्रत की अपेक्षा रखकर क्षेत्रवृद्धि की है। इसलिए इसका यह कार्य अतिचार है, अनाचार नहीं है।

स्मृतिभ्रंश - जिस दिशा में जाने-आने के लिए जितनी मर्यादा निश्चित की है, उसको भूल जाना अथवा नियत की गई मर्यादा पूरी न होने पर भी पूरी होने का सन्देह होने पर आगे चले जाना स्मृतिभ्रंश नामक अतिचार है।

पहला गुणव्रत अर्थात् छठा व्रत धारण करने से ३४३ घनरज्जु विस्तार वाले सम्पूर्ण लोक सम्बन्धी जो पाप आता था वह सीमित होकर जितने कोस की मर्यादा की होती है उतने ही कोस क्षेत्र मर्यादित हो जाता है। इससे सघन तृष्णा का निरोध हो जाता है और मन को सन्तोष तथा शान्ति प्राप्त होती है, इसके साथ ही आत्मा के गुणों में विशुद्धि तथा वृद्धि होती है।

(२) दूसरा गुणव्रत 'उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत'

उपभोग - आहार, पानी, पकवान, शाक, इत्र, ताम्बूल आदि जो वस्तुएँ एक ही बार भोगी जाती हैं, वे उपभोग कहलाती हैं।*

परिभोग - स्थान, वस्त्र, आभूषण, शयनासन आदि जो वस्तुएँ बार-बार भोगी जाती हैं, वे परिभोग कहलाती हैं।

इस व्रत में उपभोग और परिभोग में आने वाली वस्तुओं की मर्यादा एक-दो दिन आदि के रूप में सीमित काल तक अथवा जीवन पर्यन्त के लिए की जा सकती है। यह व्रत अहिंसा और संतोष की रक्षा के लिए है। इससे जीवन में सादगी और सरलता का संचार होता है। महारंभ, महापरिग्रह और महातृष्णा से श्रावक मुक्त होता है। यह दो तरह से होता है भोजन से और कर्म से। उपभोग-परिभोग पदार्थों का परिमाण से अधिक सेवन करने का प्रत्याख्यान करना 'भोजन से उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत' है। उनकी प्राप्ति के साधनभूत धन का उपार्जन करने के लिए मर्यादा के उपरान्त व्यापार करने का त्याग करना 'कर्म से उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत' है। उपभोग-परिभोग योग्य की वस्तुओं को मुख्य रूप से आगम साहित्य में २६ प्रकारों में विभक्त किया गया है -

छब्बीस प्रकार की वस्तुएँ

1. उल्लणियाविहि - शरीर साफ करने या पोंछने के लिए रखे जाने वाले रूमाल, तौलिये आदि की मर्यादा।
2. दंतणविहि - दातौन करने के साधन की मर्यादा।

---

* जहाँ पर 'भोग-उपभोग' शब्द आता है वहाँ भोग का अर्थ एक ही बार भोगी जाने वाली वस्तुओं से है तथा उपभोग का अर्थ बार-बार भोगी जाने वाली वस्तुओं से है। -सम्पादक

३. फलविहि - आम, जामुन, नारियल आदि फलों को खाने की मर्यादा तथा माथे में लगाने के लिए आँवलादि की मर्यादा।

४. अब्भंगणविहि - इत्र, तेल, फुलेल आदि की मर्यादा।

५. उव्वट्टणविहि - शरीर को स्वच्छ और सतेज करने के लिए पीठी वगैरह उबटन लगाने की मर्यादा।

६. मज्जणविहि - स्नान के लिए पानी की मर्यादा।

७. वत्थविहि - वस्त्रों की जाति और संख्या की मर्यादा।

८. विलेवणविहि - शरीर पर लेपन करने के अगर, तगर, केसर, इत्र, तेल, सेंट आदि वस्तुओं की मर्यादा।

९. पुप्फविहि - फूलों की जाति तथा संख्या की मर्यादा।

१०. आभरणविहि - आभूषणों की संख्या तथा जाति की मर्यादा।

११. धूवविहि - धूप (सुगन्धित द्रव्य) की जाति तथा संख्या की मर्यादा।

१२. पेज्जविहि - शर्बत, चाय, काफी आदि पेय पदार्थों की मर्यादा।

१३. भक्खणविहि - पकवान और मिठाई की मर्यादा।

१४. ओदणविहि - चावल, खिचडी आदि की मर्यादा।

१५. सूपविहि - चना, मूँग, मोठ, उड़द आदि दालों की तथा चौबीस प्रकार के धान्यों की मर्यादा करना।

१६. विगयविहि - दूध, दही, घी, तेल, गुड़, शक्कर आदि की मर्यादा।

१७. सागविहि - मैथी, चन्दलोई आदि भाजी तथा तोरई, ककड़ी, भिण्डी आदि अन्य सागों की मर्यादा।

१८. माहुरविहि - बादाम, पिश्ता, खारक आदि मेवे की तथा आँवला आदि मुरब्बे की मर्यादा।

१९. जीमणंविहि - भोजन में जितने पदार्थ भोगने में आए उनकी मर्यादा करना।

२०. पाणीविहि - नदी, कूप, तालाब, नल आदि के पानी की मर्यादा।

२१. मुखवासविहि - पान, सुपारी, लोंग, इलायची, चूर्ण, खटाई आदि की मर्यादा करना।

२२. वाहणविहि - हाथी, घोड़ा, बैल आदि से चलने वाली गाड़ी या बग्गी, मोटर, साइकिल, कार, बस आदि यन्त्र चालित वाहन, जहाज, नौका, स्टीमर आदि तिरने वाले वाहन, विमान, हवाई जहाज, गुब्बारा आदि उड़ने वाले वाहन तथा अन्य प्रकार की सवारियों की मर्यादा।

२३. उवाहण (उपानह) विहि - जूता, चप्पल, खडाऊ आदि की मर्यादा।

२४. सयणविहि - खाट, पलंग, कोच, टेबिल, कुर्सी, बिछौने की जितनी भी जातियाँ हैं उन सबकी मर्यादा।

२५. सचित्तविहि - सचित्त बीज, वनस्पति, पानी, नमक आदि की मर्यादा।

२६. दव्वविहि - जितने स्वाद बदलें उतने द्रव्य गिने जाते हैं। जैसे गेहूँ एक वस्तु है, परन्तु उसकी रोटी, पूरी, थूली

आदि अनेक अन्य चीजें बनती हैं, वह सब अलग-अलग द्रव्य गिने जाते हैं। इसी प्रकार द्रव्य समझना चाहिए।

उक्त छब्बीस प्रकार की वस्तुओं में कोई उपभोग की है और कोई परिभोग की हैं। श्रावक का कर्तव्य है कि जो-जो वस्तु अधिक पापजनक हो उसका परित्याग करे और जिन-जिन को काम में लाये बिना काम न चल सकता हो उनकी संख्या एवं वजन आदि की मर्यादा करे और अतिरिक्त का त्याग कर दे। मर्यादा की हुई वस्तुओं में से भी अवसरोचित कम करता जाय और उनमें लुब्धता धारण न करे। अपनी आवश्यकताओं को कम से कम बनाना और सन्तोषवृत्ति को अधिक बढ़ाना इस व्रत का प्रधान प्रयोजन है। ज्यों-ज्यों यह प्रयोजन पूरा होता जाता है त्यों-त्यों जीवन हल्का और अनुकूल बनता चला जाता है, क्योंकि जीवन केवल भोग के लिए ही नहीं होता है। उससे परमार्थ की साधना भी करनी चाहिए।

छब्बीस वस्तुओं में से पहले से ग्यारह तक के बोल शरीर को स्वच्छ, स्वस्थ एवं सुशोभित करने वाले पदार्थों से सम्बन्धित हैं। बीच के दस खाने-पीने में आने वाले पदार्थों से संबंधित हैं और अन्त के शेष बोल शरीर आदि की रक्षा करने वाले पदार्थों से सम्बन्धित हैं।

उपभोग करने योग्य भोजन, पान आदि पदार्थों का तथा परिभोग करने योग्य वस्त्र, आभूषण आदि पदार्थों का परिमाण निश्चित करना अर्थात् मैं अमुक वस्तु को ही अपने उपभोग परिभोग में रखूँगा, इनसे भिन्न पदार्थों को नहीं रखूँगा, ऐसी संख्या नियत करना भोजन सम्बन्धी उपभोग-परिभोग व्रत है। इसके पाँच अतिचार निम्न प्रकार हैं-

१. सचित्ताहार - सचित्त पदार्थों के भक्षण के त्यागी श्रावक के द्वारा सचित्त कन्द, मूल, फल, फूल तथा पृथ्वीकायिक नमक आदि का भक्षण किया जाना सचित्ताहार नामक अतिचार है। व्रतधारी श्रावक यदि भूल से सचित्त वस्तु का भक्षण कर ले अथवा सचित्त वस्तु में यदि उसका अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार हो जाय तो वह अतिचार है अन्यथा जानबूझकर सचित्त वस्तु का भक्षण करना अनाचार होता है।

२. सचित्त प्रतिबद्धाहार - जिस सचित्त वस्तु का त्याग किया है उसके साथ अचित्त वस्तु संलग्न हो वह सचित्त पडिबद्ध कहलाती है। उसका आहार करना जैसे - वृक्ष में लगा हुआ गोंद, पिंडखजूर, गुठली सहित आम आदि खाना।

३. अपक्वाहार - सचित वस्तु का त्याग होने पर बिना अग्नि के पके-कच्चे शाक, बिना पके फल आदि का सेवन करना।

४. दुष्पक्वाहार - जो वस्तु अर्धपक्व हो उसका आहार करना।

५. तुच्छौषधि भक्षण - जो वस्तु कम खाई जाय और अधिक मात्रा में फेंकी जाय ऐसी वस्तु का सेवन करना जैसे सीताफल, गन्ना आदि। इनके खाने से विराधना तो अधिक होती है और तृप्ति बिल्कुल थोड़ी होती है, इसलिए यह तुच्छौषधि अतिचार है।

उपभोग तथा परिभोग के योग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए उद्योग धंधों का परिमाण करना, जैसे [illegible]

अमुक-अमुक उद्योग धंधों से ही अपने उपभोग और परिभोग की वस्तुओं का उपार्जन करूँगा, दूसरे कार्यों से नहीं। यह कर्म से उपभोग-परिभोग व्रत कहलाता है।

उपभोग-परिभोग के लिए वस्तुओं की प्राप्ति करनी पड़ती है और उनके लिए पाप कर्म भी करना पड़ता है। जिस व्यवसाय में महारंभ होता है, ऐसे कार्य श्रावक के लिए निषिद्ध हैं, उन्हें कर्मादान की संज्ञा दी गई है, उनकी संख्या पन्द्रह है। ये जानने योग्य है, किन्तु आचरण के योग्य नहीं हैं, वे इस प्रकार हैं –

१. **अंगार कर्म** - अग्नि सम्बन्धी व्यापार जैसे कोयले, ईंट पकाने आदि का धंधा करना। इस व्यापार में छः काय के जीवों की हिंसा अधिक होती है।
२. **वन कर्म** - वनस्पति संबंधी व्यापार जैसे वृक्ष काटने, घास काटने आदि का धंधा करना। इस व्यापार कार्य में भी हिंसा होती है।
३. **शकट कर्म** - वाहन सम्बन्धी व्यापार यथा गाडी, मोटर, तांगा, रिक्शा आदि बनाना। इसमें पशुओं का बंध, वध और जीव हिंसादि पाप अधिक होता है।
४. **भाट कर्म** - वाहन आदि किराये पर देकर आजीविका चलाना।
५. **स्फोट कर्म** - भूमि फोड़ने का व्यापार जैसे खानें खुदवाना, नहरें बनवाना मकान बनाने का व्यवसाय करना।
६. **दन्तवाणिज्य** -हाथीदाँत, हड्डी आदि खरीदने का व्यापार करना।
७. **लाक्षा वाणिज्य** - लाख, चपड़ी आदि खरीदने और बेचने का व्यापार करना। लाख में जीव बहुत अधिक होते हैं।
८. **रस वाणिज्य** - मदिरा, शहद आदि का व्यापार करना।
९. **केश वाणिज्य** - बालों व बाल वाले प्राणियों का व्यापार करना। केश के लिए ही चँवरी गाय आदि प्राणियों की हिंसा होती है। ऐसे व्यापार त्यागने योग्य है।
१०. **विष वाणिज्य** - जहरीले पदार्थ एवं हिंसक अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार। विषयुक्त पदार्थों के खाने से या सूंघने से प्राणियों की मृत्यु हो जाती है। यह कर्म भी श्रावक के लिए अनाचर्य है।
११. **यंत्रपीडन कर्म** - मशीन चलाने का व्यापार। ईख, तिल, कपास और धान्यादि को यंत्रों द्वारा पीड़न करने से अनेक प्राणियों की हिंसा होती है। इसलिए यह कर्म निंदित है।
१२. **निर्लाञ्छन कर्म** - बैल, भैंसा, ऊँट, बकरादि प्राणियों को नपुंसक बनाने हेतु अवयवों के छेदने, काटने आदि का व्यवसाय।
१३. **दावाग्निदापन कर्म** - वन, जंगल, खेत आदि में आग लगाने का कार्य। अथवा पृथ्वी को साफ करने के लिए दावाग्नि लगा देना। इस कार्य से अनेक प्राणियों की हिंसा होती है। इसलिए यह कार्य निन्दित है।
१४. **सरद्रहतडाग शोषणता कर्म** - सरोवर, झील, तालाब आदि को सुखाने का कार्य करना।

१५. असतीजन पोषणता कर्म - कुलटा स्त्रियों का पोषण, हिंसक प्राणियों का पालन, जैसे चूहे मारने के निमित्त बिल्ली पालना, वेश्यावृत्ति करवाना।

इन पन्द्रह कर्मादानों में से दस कर्म हैं और पाँच वाणिज्य हैं। श्रावक के लिए ये सबके सब त्याज्य हैं, क्योंकि इन कार्यों से महती हिंसा होती है। इन कर्मादानों के संबंध में भगवती सूत्र में पाठ आया है कि- जे इमे समणोवासगा भवंति तेसिं नो कप्पंति इमाइं पण्णरसकम्मादाणाइं सयं करेत्तए वा कारवेत्तए वा अण्णं समणुजाणेत्तए वा। अर्थात् इन कर्मादानों को स्वयं नहीं करें, दूसरों से नहीं करावें तथा करने वाले को अच्छा नहीं मानें, क्योंकि ये ज्ञानावरणीय आदि के उत्कृष्ट कर्म बंध के हेतु हैं।

३. तीसरा गुणव्रत 'अर्थदण्ड विरमण व्रत'

अनर्थदण्ड विरमणव्रत नामक तीसरा गुणव्रत है। दण्ड दो प्रकार का है १. अर्थदण्ड २. अनर्थदण्ड। अपने शरीर, पुत्र, पुत्री, परिवार, नौकर-चाकर, समाज, देश, कृषि, व्यापार आदि के निमित्त कार्य करने में जो आरम्भ होता है, वह अर्थदण्ड कहलाता है। इसके अतिरिक्त बिना प्रयोजन अथवा प्रयोजन से जो अधिक आरंभ किया जाता है, वह अनर्थदण्ड कहलाता है। अर्थदण्ड की अपेक्षा अनर्थदण्ड में ज्यादा पाप होता है, क्योंकि अर्थदण्ड में करने की भावना गौण और प्रयोजन सिद्ध करने की भावना प्रधान होती है, जबकि अनर्थदण्ड में आरंभ करने की बुद्धि प्रधान होती है और प्रयोजन कुछ होता नहीं है। अनर्थदण्ड हिंसा के चार रूप हैं- १. अपध्यानाचरित, २. प्रमादाचरित, ३. हिंसाप्रदान और ४. पापकर्मोपदेश।

१. अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड - जो ध्यान अप्रशस्त है, बुरा है वह अपध्यान है। ध्यान का अर्थ है किसी भी प्रकार के विचारों में चित्त की एकाग्रता। व्यर्थ के बुरे संकल्पों में चित्त को एकाग्र करने से जो अनर्थदण्ड होता है, उसको अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड कहते हैं। अपध्यान के दो भेद हैं- आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान। असत्, अशुभ या खोटे विचार करना। जैसे इष्टकारी स्त्री, पुत्र, स्वजन, मित्र, स्थान, खान-पान, वस्त्राभूषण आदि का संयोग मिलने पर आनंद में मग्न हो जाना और इन सबके वियोग में तथा ज्वर आदि रोग हो जाने पर दुःख मानना, हाय-हाय करना। यह सब आर्त्तध्यान कहलाता है। हिंसा के काम में, मृषावाद के काम में, चोरी के काम में तथा भोगोपभोग के संरक्षण के कार्य में आनन्द मानना, दुश्मनों की घात या हानि होने का विचार करना रौद्रध्यान कहलाता है। आर्त्त एवं रौद्र- ये दोनों ध्यान अपध्यान हैं। श्रावक को ऐसे विचार नहीं करने चाहिए। कदाचित् अशुभ विचार उत्पन्न हो जावें तो सोचना चाहिए कि "चेतन! तू नाहक कर्म का बन्ध क्यों करता है?" इस प्रकार विचार करके समभाव धारण करना चाहिए और खोटे विचार के उत्पन्न होते ही शुभ विचार के द्वारा दबा देना चाहिए।

२. प्रमादाचरित अनर्थदण्ड - प्रमाद का आचरण करना। प्रमाद से आत्मा का पतन होता है। प्रमाद पाँच हैं - मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। ये पाँच प्रमाद अनर्थदण्ड रूप हैं। प्रमाद के दूसरे प्रकार के अष्ट भेद भी कहे गए हैं, यथा -

अण्णाणं संसओ चेव, मिच्छाणाणं तहेव य।
राग-दोसो मइब्भंसो, धम्मम्मि य अणायरो ।।
जोगाणं दुप्पणिहाणं, पमाओ अट्ठहा भवे।
संसारुत्ताकामेणं सव्वहा वज्जियव्वओ ।।

अर्थात् १. अज्ञान में रमण करना, २. बात-बात में वहम करना, ३. पापोत्पादक कहानियाँ, कामशा आदि से सम्बद्ध असत् साहित्य को पढ़ना, ४. धन-कुटुम्ब आदि में अत्यन्त आसक्त होना तथा विरोधियों पर । अनिष्ट वस्तुओं पर द्वेष धारण करना, ५. धर्म, धर्मक्रिया एवं धर्मात्मा का आदर न करना, ६-८. दुष्प्रणिधान से म वचन एवं काया रूप तीनों योगों को मलिन करना। इन आठों प्रमाद के सेवन से लाभ तो कुछ होता नहीं, कर्मबन्ध सहज ही हो जाता है। ये प्रमाद संसार का परिभ्रमण बढाने वाले हैं। श्रावक को विवेक रखकर इनका त्याग करना चाहिए।

कितने लोग ताश, शतरंज, चौपड़ आदि खेल में इधर-उधर की गप मारने में या खराब पुस्तकों को पढ़ने में ऐसे मग्न हो जाते हैं कि उन्हें समय का भी ध्यान नहीं रहता और खाना-पीना भी भूल जाते हैं। उनके आगे तरह-तरह की झंझटें खड़ी हो जाती हैं। वे सज्जनों से भी शत्रुता कर लेते हैं। इससे सारा जीवन और भविष्य दुःखद हो जाता है।

कोई-कोई अज्ञानी साफ रास्ता छोड़कर इधर-उधर उन्मार्ग में चलते हैं और कच्ची मिट्टी, सचित्त पानी, वनस्पति, दीमकों और चींटियों के बिलों को कुचलते हुए चलते हैं। चलते-चलते बिना प्रयोजन वृक्षों की डाली-पत्ते, फल, घास, तिनका आदि तोड़ते जाते हैं। हाथ में छड़ी लेकर चलते समय वृक्ष को, गाय को या कुत्ता आदि को मारते चलते हैं। अच्छी जगह छोड़कर मिट्टी के ढेर पर, अनाज की राशि पर, धान्य के थैलों पर अथवा हरी घास आदि पर बैठ जाते हैं। दूध , दही, घी, तेल, छाछ, पानी आदि के बर्तनों को बिना ढके छोड़ देते हैं। खोदने, पीसने, लीपने, राँधने और धोने आदि कामों के लिए ऊखल, मूसल, सलवट्टा, चक्की, चूल्हा, वस्त्र, बर्तन आदि क बिना देखे-भाले ही काम में ले लेते हैं। ऐसा करने से भी बहुत बार त्रस जीवों की हिंसा हो जाती है। इस प्रकार के सभी कार्य प्रमादाचरित हैं। इनका सेवन करने से लाभ तो कुछ नहीं होता है और हिंसा आदि पापों का आचरण होने से घोर कर्मों का बंध हो जाता है, जिनका फल बड़ी कठिनाई से भोगना पड़ता है। श्रावक को प्रमादाचरित अनर्थदण्ड से सदैव बचते रहना चाहिए।

३. **हिंसाप्रदान अनर्थदण्ड** - हिंसा में सहायक होना और हिंसाकारी वचन बोलना। जिनसे हिंसा होती है ऐसे अस्त्र, शस्त्र, आग, विष आदि हिंसा के साधन अन्य विवेकहीन व्यक्तियों को दे देना, हिंसा में सहायक होना है। दशवैकालिक सूत्र में बताया गया है कि -

सुकडित्ति सुपक्किति, सुच्छिन्ने सुहड़े मडे।
सुणिट्ठिए सुलट्ठित्ति सावज्जं वज्जए मुणी ।।

यह गाथा यद्यपि साधु के द्वारा भोजन की प्रशंसा आदि से सम्बद्ध है, तथापि श्रावक के लिए भी उपादेय है।

मकान, वस्त्र, आभूषण, पकवान आदि को देखकर कहना कि बहुत अच्छा बनाया है। कृपण का धन चोर ने चुरा लिया, मकान जल गया या दिवाला निकल गया सो अच्छा ही हुआ। वह दुष्ट, पापी, अन्यायी, पाखण्डी या साँप, बिच्छू, खटमल, मच्छर आदि मर गये तो अच्छा ही हुआ, उनका मर जाना ही अच्छा था। यह सब और ऐसे ही अन्य वचन हिंसा की प्रशंसा रूप होने से तथा हिंसा की वृद्धि वाले होने के कारण बोलने योग्य नहीं हैं।

इसी प्रकार हिंसा जनक अन्य वचन बोलना भी अनर्थदण्ड ही है, जैसे- फूल-फल, धान्य आदि सभी सस्ते हैं इन्हें खरीद लो, वर्षा का मौसम आ गया है अपना घर सुधरवा लो, खेत सुधार लो, सर्दी बहुत पड़ रही है तो अलाव जलाकर ताप लो, पानी का छिड़काव करो, पुराना घर गिरा दो, नया घर बनवां लो आदि-आदि। इस प्रकार निरर्थक हिंसाकारी वचन बोलने से, वृथा ही पाप को उत्तेजना देने से पाप का भागी बनना पड़ता है। दूसरा ऐसे काम करता है तो अपने प्रयोजन से करता है, किन्तु उसकी सराहना या उसके लिए उत्तेजना करने वाले के हाथ कुछ नहीं आता है। व्यर्थ ही आत्मा पर कर्मों का बोझ बढ़ता है।

इसी प्रकार तलवार, बन्दूक आग आदि हिंसा के उपकरण दूसरों को देने से वृथा ही पाप कर्म का बंध होता है।

४. पापकर्मोपदेश - पापकर्म का उपदेश देना। जिस उपदेश से पापकर्म में प्रवृत्ति हो, पाप कर्म की अभिवृद्धि हो, उपदेश सुनने वाला पाप कर्म करने लगे, वह उपदेश अनर्थदण्ड रूप है, जैसे - खटमल, मच्छर, साँप, बिच्छू आदि क्षुद्र जानवरों को मारने के लिए उपदेश देना, भैरव आदि देवों के लिए भैंसा, बकरा, मुर्गा आदि जीवों को भोग देने की सलाह देना आदि। इसी तरह लड़ाई झगड़े का, दूसरों को फँसाने का, झूठा मुकदमा चलाने का, झूठी गवाही देने का, चोरी करने का उपदेश देना भी पापकर्मोपदेश है। ऐसे उपदेश को सुनकर मनुष्य जिस पापकर्म में प्रवृत्ति करता है, उस पापकर्म का भागी उपदेश दाता भी होता है। इससे मिथ्या धर्म-कर्म की वृद्धि होने से अनेक आत्माओं का अहित होता है। उपदेश देने वाले को कुछ भी लाभ नहीं होता है। अतएव ऐसे दण्ड से अपनी आत्मा को दण्डित करना श्रावक के लिए उचित नहीं है। इस गुणव्रत के मुख्य पाँच अतिचार हैं -

१. कन्दर्प - विकारवर्धक वचन बोलना या सुनना या वैसी चेष्टाएँ करना।

२. कौतकुच्य - भांडों के समान हाथ-पैर मटकाना। नाक, मुँह, आँख आदि से विकृत चेष्टाएँ करना।

३. मौखर्य - बिना प्रयोजन के अधिक बोलना, अनर्गल बातें करना, व्यर्थ की बकवास करना और किसी की निंदा चुगली करना।

४. संयुक्ताधिकरण - बिना आवश्यकता के हिंसक हथियारों एवं घातक साधनों का संग्रह करके रखना। जैसे [illegible], चाकू, छुरी, मूसल, डण्डा, लाठी आदि वस्तुओं का अधिक तथा निष्प्रयोजन संग्रह करके रखना।

५. उपभोग परिभोगातिरिक्त - मकान, कपड़े, फर्नीचर आदि उपभोग और परिभोग की वस्तुओं का [illegible] संग्रह करना। जो मर्यादा में रखे हैं, उनमें [illegible]

अण्णाणं संसओ चेव, मिच्छाणाणं तहेव य।
राग-दोसो महिज्झंतो, धम्मम्मि य अणादरो ।।
जोगाणं दुप्पणिहाणं, पमाओ अट्ठहा भवे।
संसारूत्ताकामेणं सव्वहा वज्जियव्वओ ।।

अर्थात् १. अज्ञान में रमण करना, २. बात-बात में वहम करना, ३. पापोत्पादक कहानियाँ, कामशास्त्र आदि से सम्बद्ध असत् साहित्य को पढ़ना, ४. धन-कुटुम्ब आदि में अत्यन्त आसक्त होना तथा विरोधियों पर एवं अनिष्ट वस्तुओं पर द्वेष धारण करना, ५. धर्म, धर्मक्रिया एवं धर्मात्मा का आदर न करना, ६-८. दुष्प्रणिधान से मन, वचन एवं काया रूप तीनों योगों को मलिन करना। इन आठों प्रमाद के सेवन से लाभ तो कुछ होता नहीं, कर्मबन्ध सहज ही हो जाता है। ये प्रमाद संसार का परिभ्रमण बढाने वाले हैं। श्रावक को विवेक रखकर इनका त्याग करना चाहिए।

कितने लोग ताश, शतरंज, चौपड़ आदि खेल में इधर-उधर की गप मारने में या खराब पुस्तकों को पढ़ने में ऐसे मग्न हो जाते हैं कि उन्हें समय का भी ध्यान नहीं रहता और खाना-पीना भी भूल जाते हैं। उनके आगे तरह-तरह की झंझटें खड़ी हो जाती हैं। वे सज्जनों से भी शत्रुता कर लेते हैं। इससे सारा जीवन और भविष्य दुःखद हो जाता है।

कोई-कोई अज्ञानी साफ रास्ता छोड़कर इधर-उधर उन्मार्ग में चलते हैं और कच्ची मिट्टी, सचित्त पानी वनस्पति, दीमकों और चींटियों के बिलों को कुचलते हुए चलते हैं। चलते-चलते बिना प्रयोजन वृक्षों की डाली पत्ते, फल, घास, तिनका आदि तोड़ते जाते हैं। हाथ में छड़ी लेकर चलते समय वृक्ष को, गाय को या कुत्ता आदि को मारते चलते हैं। अच्छी जगह छोड़कर मिट्टी के ढेर पर, अनाज की राशि पर, धान्य के थैलों पर अथवा हरी घास आदि पर बैठ जाते हैं। दूध , दही, घी, तेल, छाछ, पानी आदि के बर्तनों को बिना ढके छोड़ देते हैं। खोदने, पीसने, लीपने, राँधने और धोने आदि कामों के लिए ऊखल, मूसल, सलवट्टा, चक्की, चूल्हा, वस्त्र, बर्तन आदि को बिना देखे-भाले ही काम में ले लेते हैं। ऐसा करने से भी बहुत बार त्रस जीवों की हिंसा हो जाती है। इस प्रकार के सभी कार्य प्रमादाचरित हैं। इनका सेवन करने से लाभ तो कुछ नहीं होता है और हिंसा आदि पापों का आचरण होने से घोर कर्मों का बंध हो जाता है, जिनका फल बड़ी कठिनाई से भोगना पड़ता है। श्रावक को प्रमादाचरित अनर्थदण्ड से सदैव बचते रहना चाहिए।

३. **हिंसाप्रदान अनर्थदण्ड** - हिंसा में सहायक होना और हिंसाकारी वचन बोलना। जिनसे हिंसा होती है ऐसे अस्त्र, शस्त्र, आग, विष आदि हिंसा के साधन अन्य विवेकहीन व्यक्तियों को दे देना, हिंसा में सहायक होना है। दशवैकालिक सूत्र में बताया गया है कि -

सुकडित्ति सुपक्कित्ति, सुच्छिन्ने सुहड़े मडे।
सुणिट्ठिए सुलट्ठित्ति सावज्जं वज्जए मुणी ।।

यह गाथा यद्यपि साधु के द्वारा भोजन की प्रशंसा आदि से सम्बद्ध है, तथापि श्रावक के लिए भी उपादेय है।

मकान, वस्त्र, आभूषण, पकवान आदि को देखकर कहना कि बहुत अच्छा बनाया है। कृपण का धन चोर ने चुरा लिया, मकान जल गया या दिवाला निकल गया सो अच्छा ही हुआ। वह दुष्ट, पापी, अन्यायी, पाखण्डी या साँप, बिच्छू, खटमल, मच्छर आदि मर गये तो अच्छा ही हुआ, उनका मर जाना ही अच्छा था। यह सब और ऐसे ही अन्य वचन हिंसा की प्रशंसा रूप होने से तथा हिंसा की वृद्धि वाले होने के कारण बोलने योग्य नहीं हैं।

इसी प्रकार हिंसा जनक अन्य वचन बोलना भी अनर्थदण्ड ही है, जैसे- फूल-फल, धान्य आदि सभी सस्ते हैं इन्हें खरीद लो, वर्षा का मौसम आ गया है अपना घर सुधरवा लो, खेत सुधार लो, सर्दी बहुत पड़ रही है तो अलाव जलाकर ताप लो, पानी का छिड़काव करो, पुराना घर गिरा दो, नया घर बनवां लो आदि-आदि। इस प्रकार निरर्थक हिंसाकारी वचन बोलने से, वृथा ही पाप को उत्तेजना देने से पाप का भागी बनना पड़ता है। दूसरा ऐसे काम करता है तो अपने प्रयोजन से करता है, किन्तु उसकी सराहना या उसके लिए उत्तेजना करने वाले के हाथ कुछ नहीं आता है। व्यर्थ ही आत्मा पर कर्मों का बोझ बढ़ता है।

इसी प्रकार तलवार, बन्दूक आग आदि हिंसा के उपकरण दूसरों को देने से वृथा ही पाप कर्म का बंध होता है।

४. पापकर्मोपदेश - पापकर्म का उपदेश देना। जिस उपदेश से पापकर्म में प्रवृत्ति हो, पाप कर्म की अभिवृद्धि हो, उपदेश सुनने वाला पाप कर्म करने लगे, वह उपदेश अनर्थदण्ड रूप है, जैसे - खटमल, मच्छर, साँप, बिच्छू आदि क्षुद्र जानवरों को मारने के लिए उपदेश देना, भैरव आदि देवों के लिए भैंसा, बकरा, मुर्गा आदि जीवों को भोग देने की सलाह देना आदि। इसी तरह लड़ाई झगड़े का, दूसरों को फँसाने का, झूठा मुकदमा चलाने का, झूठी गवाही देने का, चोरी करने का उपदेश देना भी पापकर्मोपदेश है। ऐसे उपदेश को सुनकर मनुष्य जिस पापकर्म में प्रवृत्ति करता है, उस पापकर्म का भागी उपदेश दाता भी होता है। इससे मिथ्या धर्म-कर्म की वृद्धि होने से अनेक आत्माओं का अहित होता है। उपदेश देने वाले को कुछ भी लाभ नहीं होता है। अतएव ऐसे दण्ड से अपनी आत्मा को दण्डित करना श्रावक के लिए उचित नहीं है। इस गुणव्रत के मुख्य पाँच अतिचार हैं –

१. कन्दर्प - विकारवर्धक वचन बोलना या सुनना या वैसी चेष्टाएँ करना।

२. कौतकुच्य - भांडों के समान हाथ-पैर मटकाना। नाक, मुँह आँख आदि से विकृत चेष्टाएँ करना।

३. मौखर्य - बिना प्रयोजन के अधिक बोलना, अनर्गल बातें करना, व्यर्थ की बकवास करना और किसी की निंदा चुगली करना।

४. संयुक्ताधिकरण - बिना आवश्यकता के हिंसक हथियारों एवं घातक साधनों का संग्रह करके रखना। जैसे तलवार, चाकू, छुरी, मूसल, डण्डा, लोढी आदि वस्तुओं का अधिक तथा निष्प्रयोजन संग्रह करके रखना।

५. उपभोग परिभोगातिरिक्त - मकान, कपड़े, फर्नीचर आदि उपभोग और परिभोग की सामग्री का आवश्यकता से अधिक संग्रह करना। जो मर्यादा में रखे हैं, उनमें अत्यन्त आसक्त रहना, उनका बार-बार उपभोग करना, उनका

उपभोग स्वाद के लिए करना। भूख न होने पर भी स्वाद के लिए खाना, शरीर की रक्षा के लिए नहीं, मौज-शौक के लिए वस्त्र पहनना आदि।

चार शिक्षाव्रत

बार-बार अभ्यास करने योग्य व्रतों का नाम शिक्षाव्रत है। शिक्षा का अर्थ है- अभ्यास। जैसे विद्यार्थी पुनः-पुनः अभ्यास करता है वैसे ही श्रावक को पुनः-पुनः जिन व्रतों का अभ्यास करना चाहिए, उन व्रतों को शिक्षाव्रत कहा है। अणुव्रत और गुणव्रत जीवन में प्रायः एक ही बार ग्रहण किये जाते हैं। किन्तु शिक्षाव्रत बार-बार। ये कुछ समय के लिए होते हैं। शिक्षाव्रत चार प्रकार के हैं - १. सामायिक व्रत, २. देशावकासिक व्रत, ३. पौषधोपवास व्रत और ४. अतिथिसंविभाग व्रत।

पाँच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों की भली-भाँति रक्षा करने के लिए चार शिक्षाव्रतों की शिक्षा दी गयी है। जैसे राजा या न्यायाधीश अपराध करने वाले को शिक्षा या दण्ड देकर भूतकाल के अपराधों से निवृत्त करता है और भविष्य के लिए सावधान कर देता है, उसी प्रकार गुरु आदि प्राणातिपात विरमण आदि आठों व्रतों में प्रमाद आदि किसी कारण से हुई त्रुटि के लिए इन चार शिक्षा व्रतों में से किसी व्रत का दण्ड दे देते हैं जिससे भूतकालीन दोषों की शुद्धि हो जाय और भविष्य में सावधानी रखी जाए। इस कारण से भी ये शिक्षाव्रत कहलाते हैं।

१. पहला शिक्षाव्रत 'सामायिक'

सामायिक व्रत पहला शिक्षाव्रत है। श्रावक के बारह व्रतों के क्रम में यह नौवां व्रत है। आध्यात्मिक आराधना एवं सदाचरण का अभ्यास करने के लिए सामायिक व्रत का अनुशीलन महान् लाभप्रद है। 'सम' और 'आय' शब्द से 'समाय' एवं फिर उससे 'सामायिक' शब्द बनता है अर्थात् समता का लाभ। जिस क्रिया विशेष से समभाव की प्राप्ति होती है वह सामायिक है। सामायिक में सावद्य योग का त्याग होता है और निरवद्य योग, पाप रहित प्रवृत्ति का आचरण होता है। समभाव का आचरण करने से सम्पूर्ण जीवन समतामय हो जाता है। सामायिक का स्वरूप इस प्रकार है -

समता सर्वभूतेषु, संयमः शुभ भावना।
आर्त्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्।।

अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति समता का भाव रखना, पाँचों इन्द्रियों को वश में रखना, हृदय में शुभ भावना रखना और आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान का त्याग करके धर्मध्यान में लीन होना सामायिक व्रत है। यह दो घड़ी का आध्यात्मिक स्नान है, जो जीवन को निष्पाप, निष्कलंक एवं पवित्र बनाता है।

इस व्रत के पाँच अतिचार -

१. **मनोदुष्प्रणिधान** - मन में बुरे संकल्प करना। मन को सामायिक में न लगाकर सांसारिक कार्यों में लगाना।

२. **वचन दुष्प्रणिधान** - सामायिक में कटु, कठोर, निष्ठुर, असभ्य तथा सावद्य वचन बोलना। किसी की निन्दा आदि करना।

३. कायदुष्प्रणिधान - सामायिक में चंचलता रखना। शरीर से कुचेष्टा करना। बिना कारण शरीर को फैलाना और समेटना। अन्य किसी प्रकार की सावद्य चेष्टा करना आदि।

४. स्मृत्यकरण - सामायिक की स्मृति न रखना, ठीक समय पर न करना। मैंने सामायिक की है, इस बात को ही भूल जाना। सामायिक कब ली और वह कब पूरी होगी, इस बात का ध्यान नहीं रखना अथवा समय पर सामायिक करना ही भूल जाना।

५. अनवस्थितता - सामायिक को अस्थिरता से या शीघ्रता से करना, निश्चित विधि के अनुसार न करना। सामायिक की साधना से ऊबना, सामायिक के काल के पूर्ण हुए बिना ही सामायिक पार लेना। सामायिक के प्रति आदर-बुद्धि न रखना आदि।

२. दूसरा शिक्षाव्रत 'देशावगासिक व्रत'

श्रावक के बारह व्रतों के क्रम में यह दसवाँ व्रत है तथा शिक्षाव्रतों में से यह दूसरा शिक्षाव्रत है। छठे व्रत में जीवन भर के लिए दिशाओं की मर्यादा की थी उस परिमाण में कुछ घंटों के लिए या कुछ दिनों के लिए विशेष मर्यादा निश्चित करना अर्थात् उसको संक्षिप्त करना देशावकाशिक व्रत है। देशावकाशिक व्रत में देश और अवकाश ये दो शब्द हैं जिनका अर्थ है स्थान विशेष। क्षेत्र मर्यादाओं को संकुचित करने के साथ ही उपलक्षण से उपभोग-परिभोग रूप अन्य मर्यादाओं को भी सीमित करना इस व्रत में गर्भित है। साधक निश्चित काल के लिए जो मर्यादा करता है इसके बाहर किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करता। दैनिक जीवन को वह इस व्रत से अधिकाधिक मर्यादित करता है। श्रावक के लिए सचित्त, द्रव्य, विगय, उपानह आदि की मर्यादा से सम्बद्ध १४ नियमों का भी विधान है। देशावगासिक व्रत की प्रतिज्ञा हर रोज की जाती है। प्रतिदिन क्षेत्र आदि की मर्यादा को कम करते रहना चाहिए। जैन धर्म त्याग-लक्ष्यी है। जीवन में अधिक से अधिक त्याग की ओर झुकना ही साधना का मुख्य ध्येय है। इस व्रत में इस ओर अधिक ध्यान दिया गया है। इस व्रत के पाँच अतिचार हैं। वे इस प्रकार हैं –

१. आनयन प्रयोग - मर्यादित भूमि के बाहर रहे हुए सचित्तादि पदार्थ किसी को भेजकर अंदर मँगवाना अथवा समाचार मँगवाना आनयन प्रयोग है।

२. प्रेष्यबल प्रयोग - मर्यादा से बाहर की भूमि में किसी दूसरे के द्वारा कोई पदार्थ अथवा संदेश भेजना प्रेष्यबल प्रयोग है।

३. शब्दानुपात - मर्यादा के बाहर की भूमि से सम्बन्धित कार्य के आ पड़ने पर मर्यादा की भूमि में रहकर, शब्द के द्वारा चेता कर, चुटकी आदि बजाकर, दूसरे को अपना भाव प्रकट कर देना, जिससे वह व्यक्ति बिना कहे ही संकेतानुसार कार्य कर सके। यह शब्दानुपात कहलाता है।

४. रूपानुपात - मर्यादित भूमि के बाहर का यदि कार्य आ पड़े तो शरीर की चेष्टा करके आँख का इशारा करके या शरीर के अन्य किसी अंग के संकेत से दूसरे व्यक्ति को अपना भाव प्रकट करना रूपानुपात है।

५. बाह्यपुद्गल प्रक्षेप - नियत की हुई अवधि से बाहर का कार्य उपस्थित होने पर उसकी सिद्धि के लिए कंकर, काष्ठ, तृण आदि फेंककर बुलाने का संकेत करना या अपना अभिप्राय समझाना बाह्य पुद्गल प्रक्षेप कहलाता है।

उक्त पाँचों अतिचार केवल देश की मर्यादा सम्बन्धी ही हैं, किन्तु इस व्रत में उपभोग की मर्यादा भी की जाती है और १४ नियम तथा दयाव्रत और दस प्रत्याख्यान भी इसी व्रत में सम्मिलित हैं।

सरल शब्दों में यों कहा जा सकता है कि जिस प्रकार अणुव्रतों का क्षेत्र सीमित करने के लिए दिग्व्रत है, इसी प्रकार उनका परिमित काल तक अधिक संकोच करने के लिए देशावकाशिक व्रत है। दिन-प्रतिदिन आवश्यकताओं का संकोच करना इस व्रत का मुख्य फल है, क्योंकि यावज्जीवन के लिए किये जाने वाले हिंसा आदि के प्रमाण उतने संकुचित नहीं होते जितने एक मुहूर्त, एक दिन या सर्वाधिक समय के लिए हो सकते हैं। यावज्जीवन १००० कोस के उपरान्त जाकर हिंसा आदि दोषाचरण को त्यागने वाला व्यक्ति परिमित काल एक दो दिन के लिए १०-२० या ५० कोस के आगे उनका त्याग सहज ही कर सकता है। इस व्रत के पालने से दिनचर्या को अधिक विशुद्धि के पथ पर लाया जा सकता है। जीवन के प्रत्येक पल को सफल बनाने के लिए यह अमोघ मंत्र है।

३. तीसरा शिक्षाव्रत 'पौषधोपवास व्रत'

धर्म को पुष्ट करने वाले नियम विशेष का नाम पौषध है। एक अहोरात्र के लिए सचित्त वस्तुओं का, शस्त्र का, पाप व्यवहार का, भोजन-पान का तथा अब्रह्मचर्य का परित्याग करना पौषधव्रत है। आत्मा के निजगुणों का शोषण करने वाली सावद्य प्रवृत्तियों का पोषण करने वाले गुणों के साथ रहना, समतापूर्वक ज्ञान, ध्यान और स्वाध्यायादि में रत रहना पौषधोपवास व्रत है। संसार के प्रपंचों से सर्वथा अलग रहकर, एकान्त में स्वाध्याय, ध्यान तथा आत्मचिंतन आदि धार्मिक क्रियाएँ करते हुए जीवन को पवित्र बनाना इस व्रत का लक्ष्य है। जैसे भोजन से शरीर को तृप्त करते हैं वैसे ही इस व्रत से शरीर को भूखा रखकर आत्मा को तृप्त किया जाता है। इस तीसरे शिक्षा व्रत के पाँच अतिचार हैं जो श्रावक के लिए जानने योग्य हैं। वे इस प्रकार है -

१. अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-शय्या-संस्तारक - जिस स्थान पर पौषध व्रत किया हो, उस स्थान को ओढने-बिछौने के वस्त्रों को तथा पाट-चौकी आदि को सूक्ष्म दृष्टि से पूरी तरह देखे बिना काम में लेवे तथा हलन-चलन करते, शयनासन करते, गमनागमन करते समय भूमि या बिछौने को न देखे या भली-भाँति न देखे तो अतिचार लगता है।

२. अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-शय्या-संस्तारक - पौषधयोग्य शय्या आदि की सम्यक् रूप से प्रमार्जना न करना तथा बिना पूँजे हाथ-पैर पसारना, पार्श्व करवट बदलना, अन्य स्थान को प्रमार्जित करना अन्य स्थान में हाथ पैर रखना आदि ।

३. अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-उच्चारपस्रवणभूमि - शरीर धर्म से निवृत्त होने के लिए अर्थात् मल-मूत्र के लिए भूमि का प्रतिलेखन न करना अथवा विधिपूर्वक न करना।

४. **अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जितउच्चारप्रस्रवणभूमि** - मलमूत्र विसर्जन के योग्य भूमि को रात में बिना प्रमार्जन किये मलमूत्र का विसर्जन करना तथा रात के समय खुली भूमि में शारीरिक शंका निवृत्ति के लिए जाना पड़े तब भी सिर को ढके बिना जाना।

५. **पौषधोपवास का सम्यक् पालन न करना** - पौषधोपवास व्रत का विधिपूर्वक स्थिरचित्त होकर पालन न करना। पौषधव्रत के उपर्युक्त पाँचों अतिचारों को टालना चाहिए। पौषधव्रत का आचरण करने वाले श्रावक को पौषध के अठारह दोषों से बचना चाहिए। तभी निर्दोष व्रत की आराधना होती है। शुद्ध पौषध के प्रभाव से आनन्द, कामदेव आदि श्रावक एक भवावतारी हुए हैं।

४. चौथा शिक्षाव्रत 'अतिथि संविभाग'

सर्वत्यागी पंचमहाव्रतधारी निर्ग्रन्थों को उनके कल्प के अनुसार-निर्दोष अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र,कम्बल, पादप्रोंछन (रजोहरण), पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक, औषध, भेषज, इन चौदह प्रकार की वस्तुओं में से आवश्यकतानुसार भक्तिपूर्वक संयम में सहायक होने की कल्याण कामना से अर्पण करना-अतिथि संविभाग व्रत है।

अतिथि - जिनके आने का कोई नियत समय नहीं हो, जो पर्व उत्सव अथवा निर्धारित समय पर पहुँचने की वृत्ति को त्याग चुके हों (अर्थात् जो अचानक आते हों) वे अतिथि कहलाते हैं। यहाँ मुख्यतः साधु-साध्वी को ही अतिथि समझना चाहिए।

संविभाग- उपर्युक्त निर्दोष अतिथि को अपने लिए बनाए हुए आहार में से निर्दोष विधि से देना।

इस व्रत में तीन वस्तुओं का योग होता है - १. सुपात्र, २. सुदाता और ३. सुद्रव्य।

सुपात्र - आगमों में इसे पडिगाह कहा जाता है-गाहकसुद्धेणं (विपाक २.१) अर्थात् शुद्ध पात्र। सुपात्र वह है, जो सभी प्रकार के आरम्भ, परिग्रह तथा सांसारिक सम्बन्धों का त्यागकर आत्मकल्याण के लिए अग्रसर हुआ है तथा जो अनगार है और केवल संयम-निर्वाह के लिए, शरीर को सहारा देने रूप आहार लेता है। जिसकी आहार लेने की विधि भी निर्दोष है। जो बिना पूर्व सूचना अथवा निमंत्रण के अचानक आकर निर्दोष आहार लेता है, वह सुपात्र है।

सुदाता - शास्त्र में इसे दायगसुद्ध कहा जाता है। सुदाता वही है, जो सुपात्रदान का प्रेमी हो, सदैव सुपात्र दान की भावना रखने वाला हो। सुपात्र को देखकर जिसके हृदय में आनन्द की सीमा नहीं रहे। सुपात्र को देखकर उसे इतना हर्ष हो जाये कि जिससे आँखों से अश्रु निकल पड़ें। वह ऐसा समझे कि जैसे बहुत दिनों से बिछुड़ा हुआ आत्मीय मिला हो, अत्यन्त प्रिय वस्तु की प्राप्ति हो गई हो। इस प्रकार अत्यन्त उच्च भावों से युक्त दाता सुपात्र को दान देकर उन्हें आदरपूर्वक कुछ दूर तक पहुँचाने जाता हो और उसके बाद दूसरे दाताओं की अनुमोदना करता हो और पुनः ऐसा सुयोग प्राप्त होने की भावना रखता हो, ऐसा दाता सुदाता कहा जाता है।

सुद्रव्य - दान की सामग्री निर्दोष हो, सुपात्र के अनुकूल एवं हितकारी हो। ऐसी वस्तु नहीं देनी चाहिए जो दूषित हो।

इस प्रकार साधु-साध्वी को प्रसन्न मन से निर्दोप आहारादि का दान करने से इस व्रत का पालन होता है।

इस व्रत को दूणित करने वाले पाँच अतिचार इस प्रकार हैं -

१. **सचित्त निक्षेप** - साधु को नहीं देने की व्रुद्धि से निर्दोप और अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु पर रख देना, जिससे वे ले नहीं सकें।

२. **सचित्तपिधान** - कुबुद्धि पूर्वक अचित वस्तु को सचित्त से ढक देना।

३. **कालातिक्रम** - गोचरी के समय को चुका देना और बाद में शिष्टाचार साधने के लिए तैयार होना।

४. **परव्यपदेश** - नहीं देने की बुद्धि से अपने आहारादि को दूसरे का बतलाना।

५. **मत्सरिता** - दूसरे दाताओं से ईर्ष्या करना।

इन पाँचों अतिचारों को टालकर शुद्ध भावना और बहुमान पूर्वक दान देना चाहिए। ऐसा दान महान् फल वाला होता है। जहाँ द्रव्य शुद्ध और पात्र शुद्ध हो और उत्कृष्ट रस आ जाये तो तीर्थकर गोत्र का बंध हो जाता है। (ज्ञाताधर्मकथांग ८) भगवती सूत्र में दान का फल बतलाते हुए व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है-

प्रश्न - भगवन्! तथारूप श्रमण माहन को प्रासुक एपणीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम बहराते हुए श्रमणोपा को क्या फल मिलता है?

उत्तर - गौतम! उस श्रमणोपासक को एकान्त निर्जरा होती है अर्थात् वह एकान्त रूप से संचित कर्मों की नि करता है। वह पाप कर्म बिल्कुल नहीं बाँधता।

दाता जब निर्दोष आहार-पानी परम श्रद्धा से बहराता है, उस समय उसके परिणाम विशुद्ध होते हैं। भा की विशुद्धि जब तक चालू रहती है, तब तक कर्मों की सतत निर्जरा होती ही रहती है। जब समयान्तर में विशुद्ध नहीं होती, कुछ कम हो जाती है, तब पुण्यानुबंधी पुण्य का बन्ध चालू होता है। निर्जरा से मोक्ष की प्राप्ति होती है पुण्यानुबंधी पुण्य से वह भौतिक सुख मिलता है, जो धर्म आराधना में बाधक न हो। परन्तु पाप कर्म तो बिल्कुल नहीं बँधता।

इस प्रकार चौथे शिक्षा व्रत (बारहवें व्रत) के अतिचारों से सदैव बचना चाहिए।

प्रतिक्रमण साधक-जीवन की एक अद्भुत कला है तथा जैन साधना का प्राणतत्त्व है। ऐसी कोई भी क्रिया नहीं जिसमें प्रमादवश दोष न लग सके, अतः दोषों से निवृत्ति हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिए। प्रतिक्रमण में साधक अपने जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति का अवलोकन, निरीक्षण करते हुए उन दोषों से निवृत्त होकर हल्का बनता है।

-हेम-मजुंल, ३ रामसिंह रोड

होटल मेरू पैलेस के पास, जयपुर-४

कृत, कारित और अनुमोदन में से अधिक पाप किसमें?

आचार्य श्री नानेश

पापक्रिया स्वयं करना, दूसरों से कराना एवं पापक्रिया करने वाले का अनुमोदन करना- इनमें व्यक्ति पाप का भागी अपने भावों के अनुसार होता है। कभी स्वयं सावद्यक्रिया करने की अपेक्षा, दूसरों से कराने में एवं कभी अनुमोदन में अधिक पाप हो सकता है। श्रमण के पंच महाव्रत हों या श्रावक के बारह व्रत उनमें कृत, कारित एवं अनुमत का उल्लेख आता है। आचार्य श्री नानेश की कृति 'जिणधम्मो' से संकलित इस लेख में इन त्रिविध करण पर सुन्दर विवेचन समुपलब्ध है।

-सम्पादक

श्रावक प्रायः दो करण, तीन योग से व्रत ग्रहण करता है। जो गार्हस्थ्य जीवन के दायित्व से हटकर प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक का दायित्व ले लेता है, वह तीन करण, तीन योग से भी व्रत ग्रहण कर सकता है। परन्तु जिस पर अभी गृहस्थाश्रम का भार है वह तीन करण, तीन योग से त्याग नहीं कर सकता। हाँ, वह स्वयंभूरमण समुद्र के मत्स्य वध का तीन करण, तीन योग से त्याग कर सकता है, क्योंकि वहाँ तक कोई मनुष्य पहुँच ही नहीं सकता। अन्य स्थितियों में औसत श्रावक दो करण तीन योग से ही हिंसा, असत्य आदि पापों का त्याग कर सकता है। अनुमोदना का त्याग वह कर नहीं सकता, क्योंकि उसे कई ऐसे लोगों से भी अपना रिश्ता नाता रखना पड़ता है जो माँसाहारी हों अथवा अन्य पापों का त्याग न किये हुए हों। उसके परिवार में भी कोई ऐसा व्यक्ति हो तो उसके साथ उसे रहना पड़ता है। इसलिये संवासानुमति और मनसानुमति दोनों प्रकार की अनुमति की छूट वह रखता है। हालांकि वह अपने सम्बन्धी को वचन से और काया से किसी पाप की अनुमति नहीं देता, किन्तु उसके साथ रहने, परिचित होने या उसके सम्बन्धी होने के नाते उसकी मूक अनुमति तो हो ही जाती है। वह स्वयं स्थूल हिंसा आदि नहीं करता, दूसरों से भी नहीं कराता, किन्तु गार्हस्थ्य का त्यागी न होने के कारण उसने अपने परिवार से ममत्व भाव का छेदन नहीं किया है, अतः परिवार में पुत्र-पौत्र या कोई परिजन हिंसादि करता हो तो वह उसे न तो सहसा स्वयं छोड़ सकता है, न उसके साथ परिचय का भी सहसा त्याग कर सकता है।

यद्यपि गृहस्थ श्रावक अपने साथ रहने वाले पुत्र-पौत्रादि को हिंसादि करने का कहता नहीं, न

हिंसादि करवाता है तथापि उनके साथ रहने के कारण उनके द्वारा की गई हिंसादि से संसर्ग दोष ही नहीं लगता, कभी-कभी उसे गृहस्थ सम्बन्धी कार्य के लिये प्रेरणा भी देनी पड़ती है। उदाहरणार्थ- दो करण तीन योग से व्रत स्वीकार करने वाले ने किसी से कहा- उठो, भोजन कर लो। किन्तु खाने वाला राज्याधिकारी है और अभक्ष्य भोजी है, उसे वह सात्त्विक भोजन खिलाकर अपनी ओर मोड़ भी सकता है। इसी प्रकार कोई राज्याधिकारी है, वह उक्त श्रावक के यहाँ ठहरा है, भोजन करने के लिए वह स्वयं होटल में जाकर अभक्ष्य पदार्थ खाता है, या अपेय पदार्थ पीता है। अब अगर वह श्रावक उसके साथ सर्वथा सम्बन्ध तोड़ ही देता है तो क्लेश वृद्धि की संभावना है। सम्बन्ध रखकर तो उसे सन्मार्ग पर लाया भी जा सकता है। सम्बन्ध तोड़ देने पर तो उसका अधिक पापी होना संभव है।

इस प्रकार अनुमोदन का त्याग करने में श्रावक के लिये अड़चन तो आती है, लेकिन व्यावहारिक कार्य रुकते नहीं और अहिंसक श्रावक के सम्पर्क से हिंसक व्यक्ति भी सुधर जाता है।

मगध के महामंत्री अभयकुमार ने काल सौकरिक के पुत्र से मित्रता का संबंध जोड़ा था। अभयकुमार श्रावक था। वह जानता था कि इसका पिता कसाई है और कसाईपन छोड़ नहीं सकता, फिर भी काल सौकरिक के पुत्र में जीवन सुधार की लगन देखकर उससे संबंध कायम रखा। परिणामस्वरूप उसका जीवन सुधर गया।

उपासकदशांग सूत्र में महाशतक श्रावक का वर्णन है। उसकी तेरह पत्नियों में से रेवती अत्यन्त क्रूर थी। उसने अपनी सौतों को विष प्रयोग और शस्त्र प्रयोग से मार डाला था। रेवती जैसी क्रूर स्त्री मिल जाने पर व्रतधारी श्रावक क्या कर सकता है? जरा गहराई से सोचने का विषय है। वर्तमान युग में प्रायः अविवेकी लोग ऐसी स्त्री को या तो मार डालते हैं या घर से बाहर निकाल देते हैं या उसे जाति से बहिष्कृत कर देते हैं। फिर चाहे वह विधर्मी बनकर या दुराचारिणी बनकर उससे भी अधिक पापकर्म क्यों न कमाए। मगर महाशतक दूरदर्शी श्रावक था। उसे रेवती की सब करतूतों का पता था, परन्तु उस समय की सामाजिक परिस्थिति के अनुसार महाशतक ने न तो उसे मारा और न उसे घर से बाहर निकाला। महाशतक ने सोचा होगा कि रेवती हिंसक होते हुए भी व्यभिचारिणी नहीं है। मेरे प्रति इसकी भक्ति है। मैं इसका वध तो कर ही नहीं सकता, क्योंकि मैंने दो करण तीन योग से हिंसा का त्याग किया है। अगर इसे घर से निकाल दिया गया तो संभव है यह व्यभिचारिणी बन जाय और अधिक हिंसक भी बन जाय। तब तो दोनों कुलों को बदनाम करेगी। संभव है, इस विचार से महाशतक ने रेवती को घर से न निकाला होगा। उन्होंने स्वयं ही विरक्त होकर श्रावक प्रतिमा ग्रहण कर ली। फिर भी वे गृहस्थाश्रम को त्याग न सके, अतः रेवती के साथ रहने से संवासानुमोदन पाप से वे बच नहीं सकते थे। इसलिये दो करण, तीन योग से ही उन्होंने व्रत लिये। गृहस्थ श्रावक अपनी जाति से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकता और न जाति के लोगों के लिए वह इस बात का जिम्मा ले सकता है कि वे लोग न स्थूल हिंसा करेंगे और न करायेंगे। जो हिंसा करते-कराते हैं, उनके साथ सम्बन्ध

रखने से अनुमोदन का पाप लगता ही है। इस बात को लक्ष्य में रखकर गृहस्थ दो करण तीन योग से त्याग करता है। इस प्रकार का त्याग करने से गृहस्थ के संसार-व्यवहार में बाधा नहीं आती।

प्राथमिकता की दृष्टि से श्रावक पहले हिंसादि पाप स्वयं करने का त्याग करता है, फिर कराने का त्याग करता है और अनुमोदन करने की छूट रखता है। पाप का आचरण स्वयं करने की स्थिति में संक्लिष्टता की संभावना विशेष हो सकती है। दूसरों के द्वारा हिंसादि कार्य कराने में परिणामों में उतनी अधिक तीव्रता या संक्लिष्टता की संभावना प्रायः नहीं रहती है। अनुमोदन में यह तीव्रता और कम हो जाती है। इस दृष्टि से शास्त्रकारों ने प्राथमिकता का उक्त क्रम निर्धारित किया है। परन्तु यह कोई सार्वत्रिक नियम नहीं है। अल्पपाप या महापाप का दारोमदार करने-कराने या अनुमोदन पर उतना निर्भर नहीं है जितना विवेक या अविवेक पर निर्भर है। जहाँ विवेक है वहाँ अल्प पाप है और जहाँ विवेक नहीं है वहाँ अधिक पाप है। अल्पपाप और अधिक पाप विवेक-अविवेक पर अवलम्बित है।

जैन जगत् के महान् ज्योतिर्धर स्वर्गीय श्री जवाहराचार्य के समय में समाज में यह प्रश्न उठा था कि हलवाई के यहाँ से सीधी चीजें लाकर खाने में कम पाप है या घर में बनाकर खाने में कम पाप है? आरंभ करने में ज्यादा पाप है या कराने में अधिक पाप है या अनुमोदन में अधिक पाप है? स्वर्गीय आचार्य श्री ने इस संबंध में प्रतिपादित किया कि इस विषय में कोई एकान्त पक्ष नही हो सकता। कभी करने में ज्यादा पाप हो जाता है, कभी कराने में ज्यादा पाप हो जाता है और कभी अनुमोदन में ज्यादा पाप हो जाता है। अल्प पाप या महापाप का आधार विवेक-अविवेक और भावनाओं पर आधारित है।

स्व. श्री जवाहराचार्य ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए प्रतिपादित किया कि ''जो काम महारम्भ से होता है वही काम विवेक होने पर अल्पारंभ से भी हो सकता है, और जो काम अल्पारंभ से हो सकता है वही अविवेक के कारण महारम्भ का बन जाता है।'' इस विषय में स्व. आचार्यश्री ने अपनी गृहस्थावस्था के एक प्रसंग का उल्लेख इस प्रकार किया-

''जब मेरी आयु करीब दस-बारह वर्ष की थी उस समय की यह घटना है। मेरा गाँव मक्की प्रधान क्षेत्र था। जब अच्छी मक्की की फसल होती तो उस क्षेत्र के लोग प्रसन्नता प्रकट करते थे। गोठ-गुगरियाँ करते थे। इसी संदर्भ में गाँव के प्रतिष्ठित लोगों ने मिलकर गोठ का आयोजन किया। मक्की के भुजिये बनाने का विचार किया। साथ ही भंग के भुजिये भी बनाने की बात हो गई। मेरे मामाजी ने मुझसे कहा कि बाड़े में भांग के पौधे खड़े हैं, उनमें से भंग की पत्तियाँ तोड़ लाओ। उस समय भंग के विषय में आज की तरह का कायदा न था। इसलिये जगह-जगह उसके पौधे होते थे। मेरे मामाजी प्रतिष्ठित व्यक्ति थे, राज्य में भी उनका सम्मान था और वे धर्म का भी विचार रखते थे। उनके कहने पर मैं दौड़ गया और खोला (गोद) भर कर करीब सेर भर भंग तोड़ लाया। वे मुझसे कहने लगे कि ''इतनी भंग क्यों तोड़ लाया? थोड़ी सी भंग की जरूरत थी।'' इस तरह थोड़ी-सी भंग की जगह बहुत भंग लाने के कारण वे मुझे उलाहना देने लगे। लेकिन वास्तव में मेरा

ही कसूर था या उनका भी? वह अधिक पाप मेरे को ही हुआ या उनको भी? मैं बच्चा था, इससे मुझमें विवेक नहीं था और न उन्होंने कहा था कि कितनी लाना। इस तरह न उन्होंने विवेक दिया और न बच्चा होने के कारण मुझमें विवेक था। इस तरह अधिक पाप का कारण अविवेक रहा। यदि विवेक होता तो वह अधिक पाप क्यों होता? इसलिये पत्ता तोड़ने का कार्य करने के बजाय कराने में अधिक पाप हुआ, क्योंकि यदि वे अपने हाथ से पत्ते तोड़कर लाते तो जितनी आवश्यकता थी उतने ही लाते, अधिक नहीं।

विवेक के अभाव में, अल्प पाप होने की जगह महापाप होने के और भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। कोई सेठ श्रावक जंगल गये। वहाँ नौकर से पानी भर कर लाने को कहा। वह हरी वनस्पति फूलन आदि कुचलता हुआ दौड़ गया और लौटा मांज कर जलाशय में धोकर जैसा-तैसा छना-अनछना पानी भर लाया। अब यह अधिक पाप किसको हुआ? क्या यह पाप करने वाले को ही हुआ, कराने वाले को नहीं? यदि सेठजी स्वयं पानी भरने जाते तो और विवेक से काम लेते तो कितना पाप टाल सकते थे? वह नौकर सेठ का भेजा हुआ गया था इसलिये क्या सेठ को उसका पाप नहीं लगा? इस तरह करने की अपेक्षा दूसरे से कराने में ज्यादा पाप हो गया।

जैनधर्म के प्रवर्तक क्षत्रिय थे और यह धर्म इतना व्यापक है कि प्रत्येक वर्ग का व्यक्ति इसका पालन कर सकता है। इस धर्म को राज्य करने वाले शासक भी पाल सकते हैं। उदायन राजा सोलह देश का राज्य करते थे फिर भी वे अल्पारंभी कहे गये हैं। इतना बड़ा राज्य संभालते हुए भी वे अल्पारंभी रहे, इसका कारण क्या है? इसका कारण यही है कि वे श्रावक होने के कारण विवेक से काम लेते थे। भगवान् ने विवेक में ध[र्म] बताया है। यदि ऐसा न होता तो यह धर्म केवल बनियों का ही रह जाता, क्षत्रियों के पालन योग्य न रहता। विवेकपूर्वक कर्त्तव्य पालन करता हुआ राजा भी, अल्पारंभी हो सकता है। इस तरह कभी करने में ज्यादा प[ाप] हो जाता है, कभी कराने में ज्यादा पाप हो जाता है और कभी अनुमोदना में ज्यादा पाप हो जाता है। विवेक रखने से, करने-कराने में भी उतना पाप नहीं होता जितना अनुमोदना से हो जाता है। यह बात निम्न उदाह[रण] से स्पष्ट हो जाती है-

मान लीजिये एक राजा जैन है। उसके सामने एक ऐसा अपराधी लाया गया जिसने फाँसी की स[जा] के योग्य अपराध किया था। वह राजा सोचने लगा कि मैं चाहता हूँ कि यह अपराधी न मारा जाए, परन्तु य[दि] इसके अपराध की भयंकरता को देखते हुए फाँसी की सजा न दूँगा तो न्याय का उल्लंघन होगा। इस तरह उ[सने] न्याय के रक्षण हेतु बड़े संकोच भाव से उस अपराधी को फाँसी की सजा सुनाई। फाँसी लगाने वाला [उस] अपराधी को फाँसी के स्थान पर ले गया। वह भी अपने मन में सोचता था कि यह फाँसी लगाने का काम [...] है। मैं नहीं चाहता कि किसी को फाँसी लगाऊँ, परन्तु राज्य की नौकरी करता हूँ, अतः उसकी आज्ञा मा[नना] मेरा कर्त्तव्य है। राजा भी न्याय से बँधा हुआ है, मैं भी कर्त्तव्य से बँधा हुआ हूँ, अतएव विवश होकर [यह] काम करना पड़ता है।

वहाँ एक तीसरा व्यक्ति खड़ा था। उसे किसी तरह का आदेश देने का अधिकार नहीं था, उसकी आज्ञा चल भी नहीं सकती थी, फिर भी खड़ा-खड़ा अति उमंगवश कहता है कि "क्या देखता है? लगा न इसको फाँसी? क्यों देर करता है? इसे तो फाँसी पर लटकाना ही अच्छा है।"

अब उक्त तीनों व्यक्तियों में से अधिक पाप किसको हुआ? राजा और फाँसी लगाने वाला फाँसी का काम करने-कराने पर भी उस फाँसी के काम की सराहना नहीं करते हैं, लेकिन वह तीसरा व्यक्ति मुफ्त ही फाँसी लगाने के काम की सराहना करके अनावश्यक आज्ञा देकर महापाप कर रहा है।

फाँसी लगाने के स्थान पर और भी दर्शक लोग थे। उनमें से जो विवेकी थे वे तो सोचते थे कि यह बेचारा पाप के कारण ही फाँसी पर चढ़ रहा है। यदि इसने अपराध न किया होता तो क्यों फाँसी लगती? इसलिये हमें भी पाप से बचना चाहिये। जो दर्शक अविवेकी थे, वे कह रहे थे कि अच्छा हुआ जो इसे फाँसी लगी। यह बड़ा ही दुष्ट था, पर चतुर नहीं था। हम कैसे चतुर हैं कि अपराध भी कर लेते हैं और राज्य या अन्य किसी की पकड़ में भी नहीं आते हैं।

उक्त दोनों प्रकार के दर्शकों में से महापापी कौन और अल्पपापी कौन? स्पष्ट है कि अविवेकी दर्शकों ने महापाप का बँध किया है। इससे यह नतीजा नहीं निकालना चाहिये कि कराने से ही महापाप होता है, करने अथवा अनुमोदन से नहीं या करने से ही महापाप होता है, कराने या अनुमोदन से नहीं। निष्कर्ष यह निकलता है कि जहाँ अविवेक है वहाँ महापाप है और जहाँ विवेक है वहाँ अल्प पाप है। एक उदाहरण द्वारा यह बात और स्पष्ट हो जाती है।

एक डॉक्टर ऑपरेशन करने में कुशल है लेकिन यह कहता है कि मुझे घृणा आती है इसलिये मैं तो ऑपरेशन नहीं करता अथवा प्रमादवश वह कम्पाउन्डर को ऑपरेशन करने के लिये कहता है। कम्पाउन्डर अनाड़ी है, अकुशल है। ऐसी हालत में वह डॉक्टर स्वयं ऑपरेशन न कर कम्पाउन्डर से करावे तो उस डॉक्टर को कराने में ही महापाप लगेगा। एक-दूसरा जो स्वयं ऑपरेशन करना नहीं जानता या कम जानता है वह किसी दूसरे कुशल डॉक्टर से ऑपरेशन करने को कहता है तो उसको कराने में भी अल्प पाप होगा। ऑपरेशन तो दोनों ने दूसरों से कराया, दोनों ने स्वयं नहीं किया, किन्तु पहले डॉक्टर को महापाप लगेगा और दूसरे को अल्प लगेगा। इसी तरह कोई तीसरा व्यक्ति स्वयं ऑपरेशन करना नहीं जानता है लेकिन जो जानता है उसे रोक कर स्वयं ऑपरेशन करे तो उसको महापाप लगेगा। ऐसे अनजान अनाड़ी व्यक्ति के द्वारा किया हुआ ऑपरेशन कदाचित् सुधर भी जाय तो भी वह पाप का भागी होगा और अनधिकृत काम करने के कारण सरकार भी उसे अपराधी मानेगी। उस पहले डॉक्टर को कराने पर भी महापाप लगा, दूसरे को कराने पर भी अल्प पाप लगा और तीसरे को स्वयं करने पर भी महापाप लगा। इसका कारण यही है कि इन तीनों में विवेक का अन्तर है।

अब करने, कराने और अनुमोदन में से किसमें पाप अधिक हो सकता है, यह विचारें। को

स्वयं हाथ से आरंभ करने लगे तो कितना भी करे, वह मर्यादित ही होगा। लेकिन कराने में तो लाखो-करोड़ों से भी करने के लिये कहा जा सकता है। करने में तो दो ही हाथ लगते हैं, परन्तु कराने में लाखों-करोड़ों हाथ लग सकते हैं। करने का समय भी मर्यादित होगा परन्तु कराने में तो समय का भी विचार नहीं रह सकता। करने का क्षेत्र भी मर्यादित होगा, परन्तु कराने का क्षेत्र व्यापक होता है। इस तरह करने का द्रव्य, क्षेत्र और काल मर्यादित होता है जबकि कराने का द्रव्य, क्षेत्र और काल बहुत व्यापक होता है। इस कारण स्वयं करने की अपेक्षा कराने से पाप ज्यादा खुला रहता है। अब अनुमोदन को लीजिये - काम कराने में भी कोई व्यक्ति चाहिये ही, परन्तु अनुमोदन तो यहाँ बैठे हुए ही सारे जगत् के पापों का हो सकता है।

आज के विज्ञापनबाजी के युग में यहाँ बैठे हुए ही दुनियाँ भर के कामों की और आरंभों की अनुमोदना की जा सकती है। भले ही वह वस्तु उपलब्ध न हो तो उसकी प्रशंसा या अनुमोदना तो की जा सकती है। इस तरह अनुमोदन का द्रव्य, क्षेत्र, काल करने-कराने से भी बढ़ जाता है। अनुमोदन का पाप ऐसा होता है कि बिना कुछ किये ही महारम्भ का पाप हो जाता है। इसके लिए भगवती सूत्र के २४वें शतक में अंगुल के असंख्यातवें भाग अवगाहन वाले तंदुलमच्छ का उदाहरण दिया गया है। तंदुलमच्छ ने स्वयं मछलियों की हिंसा नहीं की, नहीं कराई लेकिन उसने केवल दुर्भावना की- यदि इस मत्स्य की जगह मैं होता सब मछलियों को खा जाता, एक को भी बाहर नहीं निकलने देता। ऐसी दुष्ट भावना के कारण वह छोटा सा मत्स्य, मछलियों की हिंसा न करने, कराने पर भी हिंसा के अनुमोदन के कारण सातवीं नरक में गया। इस तरह करने और कराने की अपेक्षा अनुमोदन का क्षेत्र बड़ा है।

कर्मबंध का मुख्य आधार मन होता है। क्रिया समान होने पर भी मनोभावना में अन्तर रहता है। एक व्यक्ति जिन नेत्रों से अपनी बहन को देखता है उन्हीं नेत्रों से अपनी पत्नी को भी देखता है, परन्तु मनोभावना का अन्तर रहता है। बिल्ली अपने मुँह में अपने बच्चे को भी पकड़ती है और चूहे को भी पकड़ती है, परन्तु दोनों की पकड़ में मनोभावना का अंतर रहता है अतएव कर्मबंध का मुख्य आधार मनोभावना है-अध्यवसाय है।

कहा जा सकता है कि शास्त्रकारों ने तो मन-वचन-काय तीनों को कर्मबंध का कारण कहा है, फिर मन को ही क्यों मुख्य आधार माना जाय? इसका समाधान यह है कि वचन और काय के साथ भी तो मन रहता है। अतएव मन की मुख्यता मानी जाती है।

सारांश यह है कि किसी समय करने में पाप ज्यादा होता है, और कराने में कम होता है। कभी कराने में ज्यादा होता है। यह बात विवेक-अविवेक पर निर्भर है। हाँ, यह आवश्यक है कि करने की अपेक्षा कराने का द्रव्य, क्षेत्र, काल ज्यादा है और कराने की अपेक्षा अनुमोदना का ज्यादा है। यही बात पुण्य और धर्म के लिए भी है। प्रत्येक काम में विवेक की आवश्यकता है। विवेक न होने पर अविवेक के कारण अल्पारंभ भी महारम्भ बन जाता है।

कोई यह प्रश्न कर सकता है कि जब पाप का कारण अविवेक ही ठहरा तब यदि करने वाला और जिससे कराया जावे वे दोनों ही विवेकी और उस दशा में स्वयं न करके उस दूसरे से जो कि विवेकी है, कराया जाय तो क्या आपत्ति है? उस दशा में तो कराने में ज्यादा पाप न होगा? फिर चाहे कराया जावे या किया जावे तो समान ही होगा? इसका उत्तर यह है कि विवेक की अपेक्षा तो कराने में ज्यादा पाप नहीं लगेगा, लेकिन कराने में करने की अपेक्षा जो द्रव्य-क्षेत्र-काल ज्यादा खुला हुआ है, उसका पाप तो ज्यादा लगेगा ही। इस विषय में विशेषतः विवेक और मन के भावों पर ही अधिक आश्रित रहना पड़ता है।

एक प्रश्न यह हो सकता है कि गृहस्थ जब सामायिक में बैठता है तब वह करने-कराने का ही पाप त्यागता है। जब अनुमोदना का पाप ज्यादा है तो उसका त्याग क्यों नहीं करता? बड़े पाप का त्याग क्यों नहीं किया जाता? इसका उत्तर यह है कि अनुमोदना का पाप त्यागने की शक्ति न होने के कारण ही इसका त्याग नहीं कराया जाता। प्रत्येक काम अपनी शक्ति के अनुसार ही होता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि करने-कराने की अपेक्षा अनुमोदना का पाप छोटा है। अतएव एकान्त आग्रह को छोड़कर तटस्थ भाव से वस्तु तत्त्व का विचार करना चाहिये।

-'जिणधम्मो' पुस्तक से साभार

15,17 नवम्बर 2006
जिनवाणी, 174

आचार्य हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र में व्रत-निरूपण

श्रीमती हेमलता जैन

आचार्य हेमचन्द्रसूरि (११-१२वीं शती) जैन धर्म के महान् प्रभावशाली आचार्य हुए हैं। उन्होंने आगम की टीकाओं का भी लेखन किया तथा न्याय, साहित्य, व्याकरण, इतिहास, योग आदि विविध विधाओं पर प्रामाणिक कृतियों की रचना की। प्रमाणमीमांसा, प्राकृत-व्याकरण, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, काव्यानुशासन आदि उनकी अनेक प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। योगशास्त्र नामक उनकी प्रसिद्ध कृति में उन्होंने अहिंसादि पाँच व्रतों, दिग्विरति आदि तीन गुणव्रतों एवं सामायिक आदि चार शिक्षाव्रतों का भी निरूपण किया है। लेखिका ने यहाँ पर इनसे सम्बद्ध कतिपय श्लोकों का संकलन कर हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है। -*सम्पादक*

पंच महाव्रत/अणुव्रत

१. अहिंसा-

न यत्प्रमादयोगेन, जीवितव्यपरोपणम्।
त्रसानां स्थावराणां च, तदहिंसाव्रतम् मतम्॥-योगशास्त्र १.२०

प्रमाद के योग से त्रस और स्थावर जीवों के जीवत्व का व्यपरोपण न करना अहिंसा व्रत कहलाता है।

आत्मवत् सर्वभूतेषु सुखदुःखे प्रियाप्रिये।
चिंतयन्नात्मनोऽनिष्टां हिंसामन्यस्य नाचरेत्॥-योगशास्त्र २.२०

सभी जीवों को आत्मवत् व्यवहार और सुख प्रिय व दुःख अप्रिय लगता है, यह चिन्तन करते हुए अन्य जीव के साथ अनिष्ट हिंसात्मक आचरण नहीं करना चाहिए।

२. सत्य-

प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं, सूनृतव्रतमुच्यते।
तत्तथ्यमपि नो तथ्यम् अप्रियं चहितं च यत्॥ -योगशास्त्र १.२१

प्रिय, हितकारी और सत्य वचन बोलना सत्य व्रत कहलाता है। अप्रिय और अहितकर वचन सत्य होते हुए भी सत्य नहीं होते हैं।

सर्वलोकविरुद्धं यद्यद्विश्वसितघातकम्।
यद्विपक्षश्च पुण्यस्य न वदेत्तदसूनृतं॥-योगशास्त्र, २.५५

लोकविरुद्ध मान्यता वाले, विश्वासघात करने वाले और पापकारी असत्य वचन नहीं बोलने चाहिए।

३. अचौर्य-

अनादानमदत्तस्यास्तेयव्रतमुदीरितम्।
बाह्याः प्राणा नृणामथो हरता तं हता हि ते।।-योगशास्त्र १.२२

बिना दिए हुए द्रव्य का ग्रहण करना स्तेय (अचौर्य) व्रत कहलाता है। धन पर ममत्व होने से ये मनुष्य के बाह्य प्राण होते हैं। अतः इसका हरण होने पर मनुष्य के द्रव्य प्राणों का हरण हो जाता है।

पतितं विस्मृतं नष्टं स्थितं स्थापितमाहितम्।
अदत्तं नाददीत स्वं परकीयं क्वचित्सुधीः।।

सुधी व्यक्ति को नीचे गिरी हुई, भूली हुई, खोई हुई, पड़ी हुई, स्थापित की हुई और नहीं दी हुई , सभी परकीय वस्तु या धन को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

अयं लोकः परलोको धर्मो धैर्य धृतिर्मतिः।
मुष्णता परकीयं स्वं मुषितं सर्वमप्यदः।।-योगशास्त्र २.६७

परकीय द्रव्यों का हरणमात्र द्रव्यहरण नहीं होता अपितु वह उस मनुष्य की सभी वस्तुओं को चुरा लेता है, क्योंकि चोरी हो जाने पर उस मनुष्य का वर्तमान भव एवं परभव बिगड़ता है, धर्म की हानि होती है, धीरता का क्षय होता है, शान्ति में बाधा उत्पन्न करती है और बुद्धि का नाश होता है। अतः मात्र एक चोरी इन सबका हरण कर लेती है।

४. ब्रह्मचर्य व्रत

दिव्यौदारिककामानां कृतानुमतिकारितैः।
मनोवाक्कायतस्त्यागो ब्रह्माष्टादशधा मतम्।।-योगशास्त्र १.२३

दिव्य अर्थात् देव-देवी संबंधी और औदारिक अर्थात् मनुष्य तथा तिर्यंच संबंधी विषयों का मन, वचन और काया से करूँ नहीं, कराऊँ नहीं और अनुमोदूँ नहीं इस तरह अठारह प्रकार से त्याग करना ब्रह्मचर्य महाव्रत कहलाता है। (2 x 3 x 3 =18)

५. अपरिग्रह व्रत-

सर्वभावेषु मूर्च्छायाः त्यागः स्यादपरिग्रहः।
यदसत्स्वपि जायेत, मूर्च्छया चित्तविप्लवः।।-योगशास्त्र १.२४

सभी पदार्थों पर से मूर्च्छा या आसक्ति का त्याग करना अपरिग्रह व्रत कहलाता है। मूर्च्छा (आसक्ति) के कारण अविद्यमान या अप्राप्त वस्तुओं के सम्बन्ध में भी चित्त में अशान्ति हो जाती है।

असंतोषमविश्वासमारंभं दुःखकारणम्।
मत्वा मूर्च्छाफलं कुर्यात् परिग्रहनियंत्रणम्।।-योगशास्त्र २.१०६

मूर्च्छा का फल परिग्रह असंतोष, अविश्वास, आरम्भ और दुःख का कारण है, अतः उस परिग्रह पर नियन्त्रण करना चाहिए।

तीन गुणव्रत

१. दिग्विरति गुणव्रत

दशस्वपि कृता दिक्षु यत्र सीमा न लंघ्यते।
ख्यातं दिग्विरतिरिति प्रथमं तद्गुणव्रतं ।।-योगशास्त्र ३.१

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, वायव्य, नैऋत्य, आग्नेय, ऊर्ध्व और अधो इन दसों दिशाओं में व्यापारादि के कार्य प्रसंग से आवागमन करने में सीमा बाँधकर उल्लंघन न करना दिशाविरमण या दिग्विरति व्रत कहलाता है।

२. भोगोपभोग गुणव्रत

भोगोपभोगयोः संख्या शक्त्या यत्र विधीयते।
भोगोपभोगमानं तद् द्वैतीयकं गुणव्रतम्।।
सकृदेव भुज्यते यः स भोगोऽन्नस्रगादिकः।
पुनः पुनः पुनर्भोग्य उपभोगोङ्गनादिकः।।-योगशास्त्र, ३.४-५

जो द्रव्य एक ही बार प्रयोग में आते हैं जैसे अनाज, पुष्पमाला, विलेपन आदि 'भोग' द्रव्य एवं जो पुनः पुनः प्रयोग में आते हैं जैसे वस्त्र, अलंकार, घर, शय्या, आसनादि द्रव्य 'उपभोग' द्रव्य कहलाते हैं। शरीर की सामर्थ्यानुसार भोग-उपभोग के द्रव्यों की संख्या का निर्धारण करना अर्थात् नियम लेना भोगोपभोग गुणव्रत कहलाता है।

३.अनर्थदण्ड गुणव्रत-

आर्त्तरौद्रमपध्यानं पापकर्मोपदेशिता।
हिंसोपकारि दानं च प्रमादाचरणं तथा।।
शरीराद्यर्थदंडस्य प्रतिपक्षतया स्थितः।
योऽनर्थदंडस्तत्त्यागस्तृतीयं तु गुणव्रतम्।।-योगशास्त्र ३.७३-७४

आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान रूपी अशुभ ध्यान करना, पापकारक उपदेश देना, हिंसक उपकरणों को दूसरों को देना और प्रमाद का आचरण करना ये चारों कार्य शरीरादि के प्रयोजन से किए जाने पर अर्थदण्ड हैं तथा उनसे भिन्न अर्थात् निष्प्रयोजन किए जाने से अनर्थदण्ड होता है। अनर्थदण्ड का त्याग तीसरा गुणव्रत कहलाता है।

चार शिक्षाव्रत

१. सामायिक व्रत

त्यक्तार्त्त-रौद्रध्यानस्य त्यक्तसावद्यकर्मणः।
मुहूर्त्तं समता या तां विदुः सामायिकव्रतम्।।-योगशास्त्र ३.८२

आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान एवं सावद्य (सपाप) कार्यों का एक मुहूर्त्त पर्यन्त त्याग करके समभाव में रहना सामायिक व्रत कहलाता है।

२. देशावकासिक व्रत

दिग्व्रते परिमाणं यत्तस्य संक्षेपणं पुनः।

दिने रात्रौ च देशावकासिकव्रतमुच्यते ।।-योगशास्त्र ३.८४

छठे दिशिव्रत में जिन दिशाओं में आवागमन के परिमाण का नियम रखा जाता है उसका दिन और रात्रि के अन्तर्गत संक्षेपण करना देशावकासिक व्रत कहलाता है। अर्थात् एक दिन या रात्रि में दसों दिशाओं में आवागमन को सीमित करना देशावकासिक व्रत है।

३. पौषध व्रत

चतुष्पर्व्यां चतुर्थादि कुव्यापारनिषेधनम्।

ब्रह्मचर्यक्रिया स्नानादित्यागः पौषधव्रतम् ।।-योगशास्त्र ३.८५

अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या इन चार पर्वों पर उपवासादि तप करके, पापकारी सदोष व्यापार का और स्नानादि शरीर की शोभा का त्याग करके ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना पौषधव्रत है।

४. अतिथिसंविभाग व्रत

दानं चतुर्विधाहार-पात्राऽऽच्छादन-सद्मनाम्।

अतिथिभ्योऽतिथिसंविभागव्रतमुदीरितम् ।।-योगशास्त्र ३.८७

देश-काल की अपेक्षा से साधुओं को चार प्रकार के दान कल्पनीय हैं। चार प्रकार के आहार-अशन, पान, खादिम और स्वादिम-पात्र, वस्त्र और रहने का स्थान इन चतुर्विध द्रव्यों का दान साधुओं को करना अतिथि संविभाग व्रत कहलाता है।

-शोध छात्रा, आकांक्षा, १२/३, पावटा बी रोड़, जोधपुर

15,17 नवम्बर 2006
जिनवाणी, 17

श्रावक और कर्मादान

डॉ. जीवराज जैन

आवश्यक सूत्र में सातवें व्रत के साथ पन्द्रह कर्मादान को जानने योग्य बताया है। इसी बात को लक्ष्य में रखते हुए लेखक ने अपने मौलिक चिन्तन को शब्द की ज्योति से दीप्त किया है। श्रावक के जीवन में इसकी आवश्यकता के सभी पक्षों का सरल और ग्राह्य प्रस्तुतीकरण के साथ लेख में आधुनिक धंधों के परिप्रेक्ष्य में भी चर्चा की गई है। सिद्धान्तों की व्यवहारिकता का प्रतिपादन होने से लेख की उपयोगिता सिद्ध है। -सम्पादक

हर गृहस्थ के लिए यह अति आवश्यक है कि वह अपने धंधे, शिल्प या अन्य जीविकोपार्जन के लिए कर रहे कार्य के बारे में पूर्ण जानकारी रखे, जिससे वह अनावश्यक हिंसा व प्रगाढ कर्मबन्धन से बच सके। उसका आचरण व चित्त शुद्ध रह सके। इसके लिए आधुनिक परिप्रेक्ष्य में 'आसक्ति', 'भावना' और 'अहिंसा' के संबंध को ठीक से समझना आवश्यक है।

सावद्य-निरवद्य विवेक :

पदार्थों का सर्वथा परित्याग करना देहधारियों के लिए संभव नहीं होता है। लेकिन पदार्थों के भोग में वे आसक्ति का, ममत्व का तो सर्वथा परित्याग कर सकते हैं।

अनगार साधु यानी श्रमण लोग विवेकपूर्वक सांसारिक प्रवृत्तियों का त्याग करके, विरति धर्म स्वीकार करते हैं। लेकिन श्रावक को तो गृहस्थी के कर्म करने ही पड़ते हैं। किन्तु वह घर-गृहस्थी में रहता हुआ भी धर्म की आराधना कर सकता है। इसके लिए बताया गया है कि श्रावक को पदार्थ-भोग में परिमाण व उससे विरति करनी चाहिए। उनके भोग में अपनी आसक्ति को क्षीण करते रहना चाहिए। जो व्यक्ति केवल पदार्थों का त्याग करता है, किन्तु अपनी वासना को/आसक्तियों को कम नहीं करता है, वह व्यवहार दृष्टि से भले ही त्यागी नजर आता हो, लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। त्यागी वही है जो आसक्ति का त्याग करता है।

गृहस्थ का सत्कर्म

जब तक मनुष्य का शरीर विद्यमान रहता है, तब तक उससे निरन्तर कर्म होता ही रहता है। कर्म दो प्रकार के होते हैं- सत् और असत् अथवा शुभ और अशुभ। सत्कर्म की प्रवृत्ति और अशुभ कर्म की निवृत्ति को धर्म बताया गया है। जो गृहस्थ जितना सत्कर्म करता है तथा अपने आचरण में जितनी समता रखता है, जितनी आसक्ति (ममत्व) क्षीण करता है, उतना ही वह धर्म का अधिकारी बनता है।

कर्मादान

जैन गृहस्थ के लिए अणुव्रत रूप धर्म का विधान किया गया है। उसके १२ व्रतों में ५ मूल गुण रूप अणुव्रत हैं। शेष ७ व्रत-प्रत्याख्यान उत्तरगुण रूप हैं। सातवें उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के अनुसार १५ प्रकार के 'कर्मादान' यानी व्यापार-धंधे नहीं करने का उपदेश है। श्रावक उनका त्याग करता है। यह व्रत एक गुण-व्रत है, जिसका उद्देश्य पहले ५ मूलव्रतों की रक्षा करना है।

कर्मादान क्या है- जिन धन्धों में व उ द्योगों में महाहिंसा होती है तथा ज्ञानावरणीय आदि कर्म का विशेष बंध होता है, उन्हें कर्मादान कहते हैं। ये सब घोर-हिंसा के हेतु हैं। चूंकि जीवन-यापन के लिए व्यापार या उद्योग करना भी आवश्यक है, तब प्रश्न उठता है कि जैन-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में इनके चयन व संचालन के लिए क्या सिद्धांत अपनाने चाहिए? चूंकि हर धंधे में पाप-क्रिया है, हिंसा है, अतः सीधा जवाब यह हो सकता है कि कोई भी धंधा मत करो। लेकिन यह व्यावहारिक नहीं है।

इसके लिए भगवान् महावीर ने सशक्त, व्यावहारिक व प्रायोगिक संदेश दिया है कि गृहस्थ लोग आध्यात्म को अपना कर कैसे व्यापार करें, कैसे उद्योग करें। आज के परिप्रेक्ष्य में भी यह संदेश उतना ही प्रासंगिक है। उतना ही प्रगतिशील है जितना २६०० वर्ष पूर्व था।

हिंसा का विश्लेषण- व्यावहारिक जीवन की सफलता के लिए हिंसा, अहिंसा का विश्लेषण सम्यक् प्रकार से समझना आवश्यक है। हिंसा के तीन रूप बताये गये हैं-

(१) जीवन जीते हुए हिंसा का हो जाना- जीवन जीते हुए प्रतिक्षण अनेकानेक जीवों की हिंसा हो जाती है। जैसे श्वास लेने में, उठने-बैठने में, पाचन-क्रिया में हिंसा होती है। किन्तु यह हिंसा, हिंसा की कोटि में नहीं आती है। इसमें न कोई संकल्प है और न ही इसे रोकने की शक्ति /सामर्थ्य है।

(२) जीवन की रक्षा करते हुए हिंसा का होना (आरम्भजा व प्रतिरक्षात्मक हिंसा)- द्वितीय श्रेणी की हिंसा में जीवन-यापन और संरक्षण का संकल्प है, हिंसा का नहीं। यद्यपि इसमें हिंसा है, किन्तु गृहस्थ-साधक के लिए यह हिंसा अपरिहार्य है।

(३) हिंसा के उद्देश्य से हिंसा करना (संकल्पजा)- हिंसा का जो तृतीय रूप है, वह निकृष्टतम है। इसमें हिंसा विवेकरहित एवं प्रमत्त दशा में होती है।

अशुभ भाव या मन की विषमता को ही आचार्य उमास्वाति ने प्रमत्त योग कहा है। इस योग से होने वाली हिंसा ही दोष रूप है, तथा प्रगाढ कर्म-बंधन करने वाली है। अतः प्रमत्त-योग पूर्वक हिंसा करने का सर्वथा निषेध किया गया है। शेष हिंसा, जैसे- आरम्भजा, उद्योगजा या विरोधजा हिंसा का गृहस्थ के लिए निषेध नहीं है। अपने विवेक को जागृत रखना है। हालांकि विवेकपूर्वक जीवन की आवश्यक क्रियाएँ करते हुए भी हिंसा हो जाती है। लेकिन साधक का संकल्प, हिंसा का नहीं रहता है। वास्तव में यतनापूर्वक करने को ही धर्म कहा है।

मनोरंजन के लिए, स्वाद के लिए, स्वामित्व के अहंकार की पुष्टि के लिए जो हिंसा होती है, वह लोभ आदि कषाय के वश होती है। अतः प्रगाढ कर्म-बंध का कारण बनती है।

जो हिंसा जीवन-यापन के लिए आवश्यक नहीं है, उसे अनर्थ-हिंसा की श्रेणी में रखा गया है। इसके त्याग से या विवेक से, एक साधक आसानी से अहिंसा के मार्ग पर बहुत प्रगति कर सकता है।

जीवन यापन- जीवन-यापन के लिए गृहस्थ कैसा व्यापार करें, कैसा कर्म करे, इसका खुलासा पाने के लिए मुनि मेघकुमार ने भगवान् महावीर से पूछा, "हे भगवन्! कृषि, वाणिज्य, रक्षा, शिल्प आदि विभिन्न प्रकार के कर्म करता हुआ, एक गृहस्थ कैसे सत्प्रवृत्ति कर सकता है।"

भगवान् ने फरमाया, "मैंने हिंसा के २ प्रकार बतलाये हैं-अर्थजा और अनर्थजा। गृहस्थ अनर्थजा यानी अनावश्यक हिंसा का जितनी मात्रा में त्याग कर सकता है, उतनी मात्रा में उसकी प्रवृत्ति सत् हो जाती है। भगवान ने ऐसी सुन्दर आचार नीति का उपदेश दिया है कि जीवन के लिए कोई आवश्यक कार्य भी न रुके और आत्मा बंध से लिप्त भी न हो।

१. अर्थजा हिंसा - अपने लिए, परिवार के लिए, समाज व राज्य के लिए जो हिंसा की जाती है, वह अर्थजा की श्रेणी में आती है। चूंकि एक-दूसरे के लिए परस्पर सहयोग करना समाज का आधारभूत तत्त्व है, अतः समाज के लिए जो हिंसा की जाती है, उसे भी अर्थजा हिंसा कहते हैं। युद्ध के समय स्वयं या देश रक्षा के लिए की गई हिंसा भी इस श्रेणी में आती है। इसमें प्रधान साध्य है 'समभाव'। यद्यपि कोई भी हिंसा, कहीं पर भी निर्दोष नहीं होती है (युद्ध में भी), परन्तु उसकी कर्म-लेप-शक्ति में यानी प्रगाढता में अन्तर होता है। आसक्ति का लेप गाढा और अनासक्त कर्म का लेप मृदु/हल्का होता है। अर्थजा हिंसा करते हुए भी जो व्यक्ति प्रबल आसक्ति या ममत्व नहीं रखता, वह चिकने कर्म-पुद्गलों से लिप्त नहीं होता है। हिंसा चाहे हमें विवशता में करनी पड़े, लेकिन उसके प्रति आत्मग्लानि व हिंसित के प्रति करुणा बनी रहे, ऐसा प्रयास रहना चाहिए।

यानी समाज द्वारा सम्मत कर्म करता हुआ व्यक्ति यदि मन को अनासक्त रखे तो वह दृढ लेप से लिप्त नहीं होता है। कहा है -

सम्यक् दृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल,
अन्तर सुं न्यारो रहे, ज्यूं धाय खिलावे बाल।

२. संकल्पजा हिंसा- मन के संकल्पों से जानबूझ कर की गई भाव हिंसा भी संकल्पजा हिंसा है। यह गृहस्थ, साधु सभी के लिए त्याज्य है। क्योंकि निश्चय या सैद्धांतिक दृष्टि से हिंसा भावों में ही है, बाहर में हिंसा का कर्मबंध से उतना सम्बन्ध नहीं है। इसमें महत्त्वपूर्ण है- व्यक्ति का संकल्प। जैसे डाक्टर के हाथ से इलाज के दौरान यदि मरीज मर भी जाता है तो डॉक्टर संकल्पी हिंसा का दोषी नहीं है। लेकिन एक डाकू की गोली से मारा गया सेठ, उसके लिए प्रगाढ कर्म-बंधन का हेतु है। क्योंकि डाकू की भावना उसे मारने की थी।

अविरति एवं प्रवृत्ति

अविरति में कोई परिमाण नहीं, कोई व्रत नहीं होता है। अविरति-क्रिया निरंतर होती रहती है, जो कर्म-बंधन या हिंसा का अनजाने में ही प्रमुख कारण बनती है। अतः गृहस्थ को परिवार व धंधों में, तथा गमनागमन व उपभोग- परिभोग में हमेशा परिमाण या सीमा निर्धारित करनी चाहिए। इससे अविरति कर्म की यानी अनर्थदण्ड की हिंसा से सहज में ही निवृत्ति हो जाती है।

प्रवृत्ति क्रिया सोच-समझकर व संकल्प से की जाती है। प्रश्न उठता है कि श्रावक को इसमें विवेक कैसे रखना चाहिए? श्रावकों के नियमों के आधार पर इसमें विवेक रखा जाता है। श्रावक के दो प्रकार कहे गये हैं। एक सामान्य दर्जे का श्रद्धालु गृहस्थ और दूसरा विशिष्ट श्रावक।

अर्थोपार्जन के लिए सामान्य श्रावक को भी धंधे व शिल्प का चुनाव करते वक्त यह विवेक रखना चाहिए कि कोई महारम्भी, त्रसकायी हिंसा या पंचेन्द्रिय-हिंसा वाला कर्म न हो। फिर उसके परिपालन में अल्पीकरण व मर्यादा का प्रयास रहे।

विशिष्ट श्रावक तो अर्थोपार्जन की भी मर्यादा रखता है। अपनी आवश्यकताओं व खर्च का इतना अल्पीकरण कर लेता है कि अर्थोपार्जन में वह लोभ से बच सके। उसका चिंतन इस प्रकार चलता है कि उसका अर्थोपार्जन, पुण्य के उदय से, आसानी से हो रहा है। लेकिन इसके कारण उसमें अहंकार व कषाय भाव पैदा न हो, इसके लिए वह निरंतर जागरूक बना रहे।

आजीविकार्थ वर्णव्यवस्था के अनुरूप कर्म

प्राचीनकाल की सामाजिक-व्यवस्था में धंधे और कर्म समाज के विभिन्न वर्गों में बंट गये थे। इसमें वर्ण, कुल व जाति का ध्यान रखा जाता था। उसी के अनुरूप आजीविका हेतु कर्म की व्यवस्था भी की गई थी। विशेष कर्म, जो समाज के लिए आवश्यक थे, विशेष वर्गो के सुपुर्द कर दिये गये थे। जिससे वे उसे अपना धर्म समझकर करते थे। यह उनकी अर्थजा हिंसा थी। फिर भी उसमें वे अपना विवेक एवं अपनी जागरूकता बनाये रखते थे। वे श्रावक भी पूर्ण व्रती श्रावक की श्रेणी में गिने जाते थे। यह जैन दर्शन का सबल व्यावहारिक पक्ष था। गृहस्थी की सामान्य आवश्यकता, जैसे दालें बनाना, मिट्टी के घड़े बनाना, खेती करना आदि भी वर्ग विशेष के ग्राह्य धंधे थे। उनको 'कर्मादान' की श्रेणी में खड़े करके, त्याज्य धंधे या घृणित धंधे नहीं बना दिये गये।

उपासकदशांग सूत्र में वर्णन आता है कि सकडाल श्रावक के बर्तनों की ५०० दुकानें थीं। वह कुम्हार का काम करते हुए भी अच्छा श्रावक गिना गया। जबकि बर्तन बनाने के भट्टों का धंधा पहला कर्मादान 'इंगालकम्मे' बताया गया है।

दंक नामक एक प्रजापति (कुम्हार) भी अच्छा श्रावक हुआ था, जिसने सुदर्शन साध्वीजी की श्रद्धा को अपनी बुद्धि से स्थिर कर दिया था। वह मिट्टी के बर्तन बनाता और बेचता था, लेकिन वह संतोषी था

तथा उसने भोगोपभोग की मर्यादा कर रखी थी।

पन्द्रह कर्मादान का खुलासा

श्रावक के सातवें व्रत में जो १५ कर्मादान बताये हैं, वे प्रगाढ कर्म-बंधन के हेतु बनते हैं। इनमें ७ प्रकार के कर्म (कम्मे) वाले शिल्प व ८ प्रकार के व्यापार-धंधे सम्मिलित हैं। आज के युग में यंत्रीकरण व विशालता का आयाम इनमें जुड़ जाने से, एक ही धंधे में एक से ज्यादा कर्मादान का समावेश हो सकता है।

१. निम्नलिखित धंधे व शिल्प सामान्यतः कर्मादान की श्रेणी में आते हैं-

इंगालकम्मे (अंगार कर्म) - इनमें अग्निकाय व त्रसकाय का महारम्भ होता है, यथा- ढलाई (फाउण्ड्री) लोहार खाना (फोर्ज) व मशीन शॉप। यहाँ बिजली व भट्टियों का खूब उपयोग होता है। यह प्रायः हर उद्योग व मेन्यूफेक्चरिंग इंडस्ट्री का आधारभूत कर्म है। कोयला बनाने के उद्योग के अलावा, विद्युत्-उत्पादन (पन बिजली, अणु विद्युत्) आदि के कर्म प्रत्यक्षतः इसी के अंदर आते हैं। कुछ धंधे परोक्ष रूप से इंगालकम्मे से जुडे हैं, जिनमें कोयला या बिजली का अत्यधिक मात्रा में प्रयोग होता है, यथा- इस्पात, सीमेंट व रिफायनरी उद्योग।

साडी कम्मे - वाहन (गाड़ी, मोटर व उसके कल-पुर्जे) बनाने वाले उद्योगों में काम करने वालों को अंगार कर्म के अलावा शकट (साडी) कर्म भी लगता है। वायुयान, रेल इंजन, बस, ट्रक, कार, स्कूटर आदि वाहन प्रत्यक्षतः साडी कम्मे में आते हैं। इन वाहनों के कलपुर्जे परोक्षतः साडीकम्मे से ही संबंधित हैं।

जंतपीलण कर्म- खाद्यतेल उद्योग, कपास के उद्योग एवं गन्ना-रस के उद्योग में काम करने वालों को आधुनिक युग में अंगार कर्म (बिजली आदि का उपयोग) के अलावा यह जंतपीलण कर्म भी लगता है।

फोडी कम्मे- दालें बनाने व पीसने वाले उद्योग तथा खेती व खनन उद्योग का काम करने वाले फोडी कर्म के अलावा अंगार कर्म के भी भागी बन सकते हैं।

उपर्युक्त सभी उद्योग व शिल्प में अंगार कर्म की मात्रा कम-ज्यादा हो सकती है। जैसे ढलाई, लोहार खाना व बिजली उत्पादन में काम करने वाले सीधे अंगार कर्म का कर्मादान करते हैं। लेकिन अन्य तीनों में ज्यादातर बिजली से चलने वाली मशीनों का ही अंगार-कर्म लगता है।

२. निम्नोक्त धंधों (कर्म) के करने में प्रायः एक ही कर्मादान का योग रहता है -

वणकम्मे- वृक्ष, फल-फूल, पत्ते काटकर व्यापार करने तथा वनस्पति आधारित कर्म करने में वणकम्मे दोष लगता है।

भाडी कर्म- वाहन व मकान आदि भाड़े में देना व उनका फायनेन्स करना आदि व्यापार-कार्यों में भाडी कर्म का दोष लगता है।

निल्लंछण कम्मे- जानवरों के अंगोपांगों का छेदन-भेदन करना। यह कर्म साधारणतया जैन श्रावक नहीं करता है।

३. निम्नोक्त वस्तुओं का व्यापार करने वाले 'वाणिज्य कर्मादान' के महारम्भी बनते हैं -

दंतवाणिज्जे- त्रसकायिक जीवों के अवयवों का व्यापार करने, जैसे दाँत, केश, चमड़ा, शंख आदि के क्रय-विक्रय से दंतवाणिज्जे दोष का भागी होता है।

लक्खवाणिज्जे- जिसमें त्रसकाय जीवों की बहुत विराधना हो, वैसे पदार्थों का व्यापार करना। जैसे- लाख, चपड़ी, रेशम, सड़ा अनाज आदि के व्यापार करने में लक्खवाणिज्जे दोष लगता है।

केसवाणिज्जे- केशवाले जीव जैसे- गाय, भैंस, भेड़, पक्षी, घोड़ा आदि के व्यापार से केसवाणिज्जे दोष लगता है।

रसवाणिज्जे- मदिरा, पेट्रोल, शहद आदि रसवाले या प्रवाही पदार्थ का व्यापार करने में व्यक्ति रसवाणिज्जे दोष का भागी बनता है। रस-पदार्थ के उत्पादन उद्योग में कार्य करने वालों को 'कर्मादान' लगता है।

विस-वाणिज्जे- संखिया आदि विष, तलवार, पिस्तौल आदि अस्त्र-शस्त्र, टिड्डी, मच्छर मारने की दवा, टिकिया आदि के व्यापार में विसवाणिज्जे दोष लगता है।

उपर्युक्त ५ प्रकार के 'व्यापार-कर्मादान' में से ४ कर्मादानों का जैनी श्रावक थोड़े से विवेक व संयम से परहेज कर सकते हैं। केवल चौथे 'रस वाणिज्जे' में मदिरा/शहद जैसे महाविगयी पदार्थों के व्यापार को नहीं करना ही उचित है।

४. निम्नोक्त ३ प्रकार के 'ठेकों' का काम करने से श्रावक लोग परहेज कर सकते है -

दवग्गिदावणया- खेत, जंगल, घास आदि को अग्नि से जलाकर साफ करने का ठेका। यह अग्निकाय से युक्त होने पर भी अंगार कर्म से भिन्न प्रकार का कर्मादान माना गया है।

सरदहतलायसोसणया-तालाब,झील आदि को सुखाकर अपूकाय का महारम्भ तथा उसके आश्रित जलचर-त्रसकायिक जीवों की विराधना का काम नहीं करना ही श्रावक के लिए उचित है।

जैसे फाउण्टेन, एक्वेरियम बनाने का काम। तालाब आदि को सुखाकर खेती लायक बनाना। नहरें आदि बनाकर सिंचाई परियोजना का ठेका भी इसी के अन्तर्गत आता है। आधुनिक जमाने में ऐसे ठेकों की बहुलता है। नहर आदि की परियोजनाओं का ठेका भी इसी के अन्तर्गत आता है। आधुनिक जमाने में ऐसे ठेकों की बहुलता है। नहर आदि परियोजनाओं से जैनी लोग काफी जुड़े हुए हैं।

असईजणपोसणया- शिकारी कुत्ते, वेश्यावृत्ति आदि का पोषण करना आदि कार्य श्रावक के लिए त्याज्य हैं।

उपर्युक्त १५ कर्मादान का विश्लेषण समझने से यह पता चलता है कि देश-विरत श्रावक के लिए उदरपूर्ति के ऐसे अनेक साधन हो सकते हैं, जो अल्पतर पाप वाले हैं। अल्पारम्भ से जब जीवन निर्वाह हो सकता है, तब अनन्त जीवों की घात कर आत्मा को गुरुकर्मी बनाना विवेकशील श्रावक के लिए उचित नहीं है। भगवान् महावीर ने विचार को सम्यक् बनाने पर बल दिया। विचार-शुद्धि होने से आचार आसानी से शुद्ध

होंगे। कुत्सित या लोक निन्दित कर्म करना या घातक पदार्थों का व्यापार करना भी महारम्भ में रखा गया है।

अल्पारम्भी व्यापारों का चुनाव

अल्पारम्भी-अल्पपरिग्रही श्रावक पाप से बचने का अधिकाधिक प्रयास करता है। सांसारिक दायित्वों के निर्वहन के लिए वह व्यापार/व्यवसाय/ उद्योग/पेशा ऐसा चुनने का लक्ष्य रखता है जिससे सांसारिक कार्य करते हुए भी आत्मोत्थान के मार्ग पर चला जा सकता है। जागृति एवं विवेक के साथ इन कार्यों को करने में उसे आर्थिकपूर्ति करते हुए भी अधिक कर्मबंध से बचने में सफलता मिल सकती है। ऐसे कतिपय आजीविका के साधन इस प्रकार हैं -

१. पंसारी का व्यापार - अनाज का व्यापार तथा घी, गुड़ आदि पदार्थ का व्यापार भी व्यवहार सम्मत है।

२. कपड़े का व्यापार

३. सोने-चाँदी का व्यापार

४. शाकाहारी निरामिष दवाइयों एवं अस्पताल का व्यापार-धंधा

५. डॉक्टर, चार्टर्ड एकाउन्टेट, टेक्स कंसलटेन्ट (सेवा प्रदान करने वाला) आदि प्रोफेशन तथा शिक्षा व प्रशिक्षण का कार्य।

उद्योगजा-हिंसा में विवेक

उद्योगजा हिंसा में विवेक तथा व्यापार चुनाव के साधारण नियम हर गृहस्थ को अपने व्यापार में जागरूकता रखने के लिए जानना व समझना बहुत जरूरी है। उद्योग व व्यापार का रास्ता चुनने के पूर्व युवक या श्रावक को सर्वप्रथम हिंसा व अहिंसा के उपर्युक्त आयाम का सापेक्षिक विश्लेषण करके उसे भलीभाँति समझ लेना चाहिए। इसमें साधु महाराज या ज्ञानी श्रावक से मार्गदर्शन भी मिल सकता है। उपलब्ध संभावित उद्योगों या व्यापार में चुनाव के लिए यह विवेक रखे कि अपनी योग्यता व रुचि के अनुसार ऐसा उद्योग व व्यापार करे, जिसमें अपेक्षाकृत कम हिंसा होती हो।

मार्गदर्शन

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर

(अ) निम्न ३ प्रकार के धन्धे सर्वथा त्याज्य हैं-

(१) जिनमें प्रत्यक्ष रूप से त्रसकाय जीवों की हिंसा होती हो। (जैसे बूचड़खाने, रेशम बनाना आदि)

(२) जिन धंधों से उपर्युक्त कार्यों की अनुमोदना होती हो या प्रोत्साहन मिलता हो। जैसे अनजाने काम के लिए जानवर बेचना या रेशम का या माँस का व्यापार करना।

(३) कुव्यसन वाले पदार्थों या सामग्री का व्यापार करना तथा मदिरा बनाना व बेचना आदि कार्यों का त्याग करना।

(ब) अन्य धंधे करने में श्रावक की भूमिका का निर्वहन निम्न रूप में हो सकता है-

बचे हुए धंधों में से जहाँ तक हो सके उन धंधों या उद्योगों को चुनना चाहिए, जिनमें प्रत्यक्ष रूप से स्थावर जीवों की विराधना अपेक्षाकृत कम होती हो। यदि अन्य विकल्प उपलब्ध न हो तो ऐसे धंधों का अल्पीकरण या सीमाकरण करना चाहिए। किसी भी धंधे को मालिकाना रूप में चलाना या एक कर्मचारी रूप में नौकरी करना, दोनों में भिन्न प्रकार के 'भाव' समझ में आते हैं। इस अपेक्षा से हिंसा की मात्रा इस प्रकार है -

स्वामित्व के रूप में धंधा - अ श्रेणी

नौकरी के रूप में पेशा - ब श्रेणी

अन्य अनुमोदक रूप में - स श्रेणी (कंपनी के शेयर रखना)
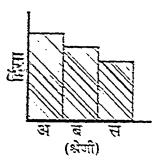
चित्र १. हिंसा की सापेक्ष मात्रा

भट्टे - जहाँ अग्निकाय की प्रत्यक्ष हिंसा निरंतर हो रही है। जैसे बिजली व आग की भट्टी के उद्योग, ब्लास्ट फर्नेस, धातु गलाना आदि। इनमें हिंसा की मात्रा सबसे अधिक है। इनसे परहेज करना अच्छा है। स्टील प्लांट, पावर हाउस आदि को मालिकाना रूप में चलाना, या उनमें नौकरी करना या उनसे संबंधित वस्तुओं का व्यापार करना, उनके शेयरों को रखना- आदि में सापेक्षिक हिंसा को उपर्युक्त चित्र नं. १ के अनुसार समझना चाहिए।

खेती, कंस्ट्रक्सन, खनन आदि- ये भी उपर्युक्त १ ब की तरह कर्मादान हैं। चूंकि इनकी आवश्यकता भी समाज व देश के लिए मूलभूत है, अतः इन धंधों को भी अर्थजा के रूप में अपनाया जा सकता है। लेकिन जैन श्रावक को यह सतत जागरूकता व विवेक रखना चाहिए कि वह इनमें अनर्थजा हिंसा से बचे तथा इनमें हो रही हिंसा का अल्पीकरण करता रहे। जैसे पानी व अग्नि की मात्रा में कमी करना आदि। स्वामित्व, नौकरी आदि में सापेक्ष हिंसा को चित्र १ से समझ लेना चाहिए।

इनसे बेहतर धंधे व उद्योग वे हैं जिनमें प्रत्यक्ष रूप से अग्निकाय व अप्काय 'पानी' की जीव हिंसा भी न हो। जैसे लोहा या धातु का व्यापार, मशीनें चलाना या इनसे संबंधित वस्तुओं का व्यापार करना।

भगवान् के संदेश में यह पक्ष उजागर होता है कि अहिंसा में 'भावना' का महत्त्व ज्यादा है। क्रिया तो कर्म-पुद्गलों को आत्मप्रदेशों के पास लाती है। 'भावना' बंध का कारण बनती है। शुद्ध भावना रखने से यह 'बंध' गाढा नहीं होता।

सावधानी- अपने कार्य अथवा व्यापार में यह विवेक भी रखें कि हमारी किसी भी वृत्ति से, कार्यस्थल से अन्य लोगों को त्रसकाय या स्थावर जीवों की महाहिंसा करने का हमारा प्रोत्साहन या अनुमोदन न दिखाई दे। यदि दिखता है, तो उस कार्य से परहेज रखें। जैसे माँसाहारी होटल या रेस्ट्राँ में बैठकर शाकाहारी भोजन करना। बार/शराबखाने में बैठकर शीतल पेय पीना। अनजाने में कोई दर्शक यह समझने न लगे कि हम माँसाहार या उससे परहेज करना उचित नहीं समझते या शराब को पीना अनुचित नहीं समझते।

(स) जीवन-यापन के धंधों में भी आंतरिक तप -

जैन दर्शन बताता है कि हम अपने जीवन-यापन के धंधे करते हुए भी किस प्रकार सरलता से विनय, तप व पश्चात्ताप जैसे बड़े आंतरिक तप की साधना कर सकते हैं। श्रावक जागरूक रहते हुए यह भावना रखे-

(१) कि मैं अपने घोर हिंसा वाले धंधे में **हिंसा का अल्पीकरण करूँ** तथा निकट भविष्य में योजनाबद्ध तरीके से इसका सीमाकरण करूँ या निवृत्त होऊँ।

(२) कि **यह धंधा मेरी विवशता है।** आत्मग्लानि व करुणा का भाव जागृत रहे।

(३) कि मेरे व्यवहार व भाषा से लोगों को स्पष्ट दिखाई दे कि मैं **'जीव-हिंसा' कम करने या टालने** में सतत **प्रयत्नशील हूँ।** अन्य लोगों को भी जागरूक रहने का संदेश व प्रोत्साहन मुझसे मिलता रहे।

मन में ऐसी भावना रखने से गृहस्थ अनायास उच्च तप का साधक बन जाता है।

आधुनिक विशेष धन्धे- अब कुछ धंधों का विशेष विश्लेषण किया जा रहा है।

(१) गिरवी - इसमें केवल सामान रखकर बदले में ब्याज पर पैसा दिया जाता है।

उद्देश्य - ग्राहक को अपनी रोजमर्रा की वस्तुओं के लिए या कभी-कभी व्यापार के लिए पैसा दिया जाने का उद्देश्य है। ग्राहक की नीयत के बारे में कोई पूछताछ नहीं होती है।

कर्म बन्ध की विवक्षा - १. अपना अर्थ-उपार्जन बिना ज्यादा आरम्भ/समारम्भ के हो जाता है। ग्राहक हो सकता है, शराब पीयेगा, माँस खरीदेगा। लेकिन वैसी तो करुणा-दान में भी संभावना रहती है। अतः यह धंधा कम हिंसा का माना जा सकता है।

(२) फायनेन्स - उपकरण, वाहन खरीदने के लिए सूद पर रुपया देना।

उद्देश्य - ग्राहक अपने अर्थोपार्जन के लिए वाहन या विलासिता के लिए घर सामान खरीदने के लिए पैसा लेता है।

कर्मबंध की विवक्षा - इन उपकरणों का उपयोग आगे हिंसा का निमित्त बनता है, ऐसी जानकारी तो रहती है। अतः परोक्ष रूप में ही हिंसा की अनुमोदना होती है। प्रत्यक्ष में कोई निर्देश व सीधा संबंध नहीं रहता है। लेकिन इस हिंसा की मात्रा का विवेक समझा जा सकता है। 'किसी के जीविकोपार्जन' के लिए पैसा देते समय सोचना है कि वह धंधा अधिक हिंसा का न हो या वह कुव्यसन का पोषण न करता हो, यह ध्यान

गवेषणापूर्वक रखा जा सकता है। जैसे बूचड़खाने के लिए या मदिरा बनाने के लिए उपयोग में न हो, इत्यादि।

(३) शेयर खरीद-फरोख्त- कंपनियों के शेयर खरीदना, जिनके दाम बढ़ने की संभावना हो तथा उनका लाभांश रूप में या मूल्य वृद्धि रूप में मुनाफा प्राप्त करना।

उद्देश्य - केवल कम्पनी की कार्यक्षमता, कुशलता व भविष्य की योजनाएँ नजर में रखी जाती हैं। जिससे लाभ की संभावना ज्यादा हो। केवल उसके उपर्युक्त बिन्दुओं के आधार पर ही लोग निर्णय लेते हैं।

कर्म-बंध की विवक्षा - इन संस्थानों में प्रत्यक्ष भागीदारी व निर्देशन नहीं रहता है। परोक्ष रूप से उनकी अनुमोदना होती है। इसमें केवल एक करण है। करूँ नहीं, कराऊँ नहीं का करण नहीं लगता है। यह व्यापार की श्रेणी का काम है, न कि कम्मे की। अतः श्रावक के करने योग्य है। केवल महाहिंसक कंपनियों से बचने का विवेक रखना है, जिससे उन धंधों की अनुमोदना न हो।

(४) शेयर दलाली - जो भी लोग शेयर खरीद बिक्री करते हैं, उनको सुविधा प्रदान कराना तथा उस सर्विस के बदले में दलाली देना।

उद्देश्य - लोगों को खरीद-बिक्री करने की सुविधा देना। कौनसी कंपनी का शेयर खरीदा जाता है, उस निर्णय में भागीदारी नहीं के बराबर रहती है।

कर्म-बंध की विवक्षा - कम्पनियों के कार्य-निष्पादन में व निर्देशन में भागीदारी नहीं रहती है। प्रत्यक्ष रूप से कम्पनी के कार्य में अनुमोदना नहीं के बराबर रहती है। परोक्ष प्रोत्साहन होता है, लेकिन यह विवेक रखना है कि महाहिंसक कम्पनियों (बूचडखाने व शराब कम्पनी) की अनुशंसा नहीं हो। इस तरह यह श्रावक के करने योग्य व्यापार है, ऐसा समझ में आता है।

(५) ट्रेडिंग टर्मिनल - खुद फाटका नहीं करते हैं, लेकिन कराते हैं। उनकी कभी-कभी अनुमोदना भी करते हैं। अतः उपर्युक्त प्रकार का निमित्त तो बैठता ही है। लेकिन इसके अलावा जुआ के प्रकार का जो काम हो रहा है, उससे कुव्यसन-प्रवृत्ति बढाने का तो काम होता है। हालांकि अर्थशास्त्री इसको जुआ न मानकर एक आवश्यक आर्थिक प्रक्रिया मानते हैं।

(६) वकालत - चूंकि वकील शुद्ध न्याय की प्राप्ति में सहायता देता है, अतः सामान्यतः यह पेशा महारम्भी नहीं लगता है। लेकिन सत्य/असत्य की परवाह न करके केवल आर्थिक लाभ के लिए सत्य को असत्य सिद्ध करना, धन्धे का दुरुपयोग करने रूप महारम्भ है।

(६) इंजीनियरिंग का पेशा या व्यवसाय - सीधे उत्पादन में काम करना, डिजाइन या सलाहकार के रूप में कार्य करना, कम्प्यूटर (सहयोगी काम) में, मानव संसाधन या वस्तु भंडार आदि में कार्य करना।

इन सबमें अलग-अलग प्रकार की परिस्थितियाँ बनती हैं। उनमें प्राथमिक भावनाओं व आसक्ति के अनुरूप कर्म का बंधन होता है। एक मूल सिद्धांत जो सामने उभर कर आया है, वह यह है कि भावना में यदि अनासक्ति एवं अहिंसा का भाव है तो जीवन-निर्वाह के साधन महारम्भ एवं महापरिग्रह से युक्त नहीं होंगे।

उपसंहार

भगवान् महावीर ने आजीविका की नैतिकता के लिए दंडविधान नहीं बल्कि धर्म का सहारा लिया। उन्होंने हृदय परिवर्तन व सम्यक् भावना पर विशेष जोर दिया है। मानव जीवन इतना तुच्छ या सस्ता नहीं है कि दो पैसे कमाने के लिए दुर्व्यसन और हिंसा को प्रोत्साहन दिया जाये। ऐसे धंधों को कुत्सित कर्म करार दिया गया। उन्होंने केवल यही नहीं कहा कि तुम स्वर्ग में जाकर सुख-शांति प्राप्त करो। उन्होंने तो यह भी कहा है कि तुम जहाँ रहते हो, वहीं पर स्वर्ग का वातावरण बनाओ। यदि तुम इस दुनिया में देवता बन सकते हो, तभी तुम्हें देवलोक मिल सकता है। उनका संदेश व्यावहारिक, प्रायोगिक व अपने जीवन में उतारने योग्य है। इसको सरल भाषा में आम आदमी के लिए इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं -

१.अपने कर्तव्य की अवहेलना मत करो, परिश्रम करो, सादगी से रहो।

२.जीवन का संचालन इस प्रकार करो कि अपनी करुणा जागृत रहे तथा आसपास का वातावरण स्वर्ग जैसा बनने में मदद मिले।

३.निरर्थक हिंसा का त्याग करो। कुव्यसन पोषक और महारम्भी धंधों की अनुमोदना तक से बचो।

४.आजीविका के व्यापार को अल्पारम्भ व महारम्भ की तुला पर तौल कर हिंसा के अल्पीकरण का विवेक रखो।

५.लोभ और आसक्ति पर लगाम रखकर समभाव से धंधे करो।

वास्तव में जब महावीर भगवान् के सिद्धांतों के मर्म पर चिंतन करते हैं तो ऐसा लगता है जैसे कि उन्होंने इन सिद्धान्तों का उपदेश इसी युग को लक्ष्य में रख कर दिया हो। यद्यपि धर्म-सिद्धांत का वर्णन शास्त्रों में हुआ है, लेकिन उसका मूर्त व्यावहारिक रूप तो उसके अनुयायियों के आचरण से ही प्रकट होता है।

-40, Kamani Centre, Jameshedpur

15,17 नवम्बर 2006
जिनवाणी 180

प्रतिक्रमण की उत्कृष्ट उपलब्धि- संलेखना

श्रीमती सुशीला बोहरा

बारह व्रतों की निर्मल आराधना करने वाला अपनी मृत्यु के क्षणों को भी साधनामय बना लेता है। अतः प्रतिक्रमण में १२ व्रतों के तत्काल पश्चात् संलेखना के पाठ को स्थान दिया गया है। संथारा और संलेखना के भेदों का प्रतिपादन कर विदुषी लेखिका ने संलेखना-विधि के पाँच सोपानों का वर्णन किया है। इन सोपानों के द्वारा संलेखना का स्वरूप पाठकों के लिए ग्राह्य है। -सम्पादक

संलेखना संथारा श्रावक के तीन मनोरथ में अन्तिम मनोरथ है। हर साधक की यह अन्तिम इच्छा रहती है कि उसे समाधिमरण प्राप्त हो। इस संलेखनापूर्वक समाधिमरण के पाठ को प्रतिक्रमण के चौथे आवश्यक में स्थान दिया गया है। प्रतिक्रमण करने का यह भी एक उच्च लक्ष्य है।

प्रतिक्रमण जैन साधना का प्राण तत्त्व है। यह साधक जीवन की एक अपूर्व क्रिया है, जिसे साधु-साध्वी आवश्यक रूप से करते हैं तथा श्रावक-श्राविका को भी आवश्यक रूप से करना चाहिये। यह वह पद्धति है जिसमें साधक अपने दोषों की आलोचना कर उनसे मुक्त होने का उपक्रम करता है। कुशल व्यापारी वही कहलाता है जो प्रतिदिन सायंकाल दिनभर के हिसाब को मिलाता है और अपने आय-व्यय को देखकर सोचता है कि कैसे अपव्ययों को रोककर आय को और बढ़ाया जाय। इसी प्रकार साधक भी प्रतिक्रमण के माध्यम से दिनभर की क्रियाओं का हिसाब देखता है कि मैंने अपने नियमों की परिपालना में कितनी दृढ़ता रखी है और कहाँ त्रुटि की है। पुनः त्रुटियों को न करने की प्रतिज्ञा के साथ उन गलतियों की आलोचना वह प्रतिक्रमण में करता है। सोचता है कि मैंने प्रमादवश कौनसे व्रतों का खण्डन किया तथा १८ पापों में से किनका सेवन किया, इस प्रकार भूलों का स्मरण कर वह उनका परिष्कार करने का प्रयास करता है। नित्य प्रतिक्रमण करने का परिणाम मृत्यु के समय में समभावों का रहना है। क्योंकि मृत्यु के क्षणों की भावना को ही सम्पूर्ण जीवन का व भावी जीवन का दर्पण माना गया है। अतः संलेखना- पाठ को प्रतिक्रमण में सम्मिलित कर साधक को प्रतिदिन अन्तिम मनोरथ याद दिलाकर जीवमात्र से क्षमायाचना करके मरण के समय इसे ग्रहण करने के लिए प्रेरणा दी गई है। इस पाठ का स्मरण भी प्रतिक्रमण में १२ व्रतों के तत्काल बाद रखा गया है, वह भी तीन बार जिससे अपने सभी व्रतों का पालन करते समय उसे ध्यान में रहे कि जीवन यात्रा का यह अन्तिम पड़ाव, शाश्वत शांति प्रदान करने वाला है।

संलेखना कब किया जाता है

संलेखना जीवन के अन्तिम समय में किया जाता है। जब साधक शारीरिक दृष्टि से इतना अशक्त हो जाय कि चलने-फिरने की क्षमता कम हो जाय, तप-त्याग करने की शारीरिक क्षमता समाप्त हो जाए,

ग्रहण करता है। जैसे सुदर्शन श्रावक ने अर्जुनमाली के उपसर्ग को जानकर अथवा साधक रात को सोने से पहले यह संथारा कर लेता है। यह संथारा आगार/छूट के साथ किया जाता है। यदि इस स्थिति में प्राणान्त हो भी जाए तो सत्परिणामों में वह सद्गति का अधिकारी बन जाता है और उपसर्ग टल जाय तो संथारा पाल लिया जाता है। यह संथारा प्रतिदिन रात्रि में शयन के पूर्व भी किया जाता है।

२. मरणान्तिक संथारा- यावज्जीवन के लिये किया जाता है। यह तिविहार एवं चौविहार त्याग के साथ होता है। यह मृत्यु पर्यन्त स्वीकार किया जाता है।

संलेखना दो प्रकार की होती है- १. काय संलेखना २. कषाय संलेखना। काय संलेखना का अर्थ है काया को कृश करना और कषाय संलेखना का तात्पर्य है क्रोधादि कषायों को कृश करना। कषाय संलेखना अंतरंग संलेखना है, जिसके बिना काय संलेखना अधूरी है। काय संलेखना बाह्य संलेखना है।

पहले कषायों को त्यागना है, फिर काया को साधते हुए चित्त के भावों को निर्मलतम बनाना है। साधक सोचता है कि जन्म के साथ ही जब मृत्यु सुनिश्चित है तब मृत्यु से भयभीत क्यों? जीर्ण-शीर्ण देह या वस्त्र छोड़ने में डर कैसा? यह तो छोड़ना ही पड़ता है, तभी नूतन देह धारण की जा सकती है।

काय संलेखना क्रमशः की जाती है। जिसमें अनुक्रम से आहार, दूध, छाछ, कांजी अथवा गरम जल का भी त्याग करते हुए शक्ति अनुसार उपवास किया जाता है। तदनन्तर सर्व प्रकार के यत्नों से पंच नमस्कार मंत्र को मन में धारण करते हुए शरीर को छोड़ा जाता है। आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. ने निमाज में तेले की तपस्या के साथ संलेखना एवं फिर संथारा स्वीकार कर एक आदर्श उदाहरण समाज के सम्मुख रखा।

संलेखना विधि

संलेखनापूर्वक संथारा विधि बड़ी मनोवैज्ञानिक है। यह आत्मदमन की नहीं आत्मशोधन की विधि है। साधक के मनोबल, परिस्थिति, चिकित्सक, परामर्शक तथा पारिवारिक जनों की भावना को समझ कर सर्वप्रथम चतुर्विध संघ की अनुमति ली जाती है। संत-मुनिजन या महासतियाँ जी संघ प्रमुख की आज्ञा लेकर पंच परमेष्ठी और अपनी आत्मा, इन छहों की साक्षी से आलोचना, निन्दा और गर्हा करते हैं। इनमें मुख्य सोपान निम्नानुसार हैं -

संलेखना की तैयारी- मारणान्तिक संलेखना-संथारा के समय पौषधशाला का प्रतिलेखन कर, पौषधशाला का प्रमार्जन कर, दर्भ (घास, तृण) आदि का बिछौना बिछा कर, पूर्व या उत्तर दिशा में मुख करके पर्यंक तथा पद्मासन आदि आसन से बैठकर, दसों अंगुलियाँ सहित दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर अंजलि करके इस प्रकार बोले-

देव, गुरु को वन्दना- नमस्कार हो सिद्ध भगवन्त को, नमस्कार हो महाविदेह क्षेत्र में विचरने वाले सभी अरिहन्त भगवन्तों को, नमस्कार हो मेरे धर्माचार्य को।

तत्पश्चात् सभी साधु भगवन्तों को तथा समस्त जीव राशि से अपने द्वारा किये गये दोषों हेतु अपने द्वारा पूर्व में किये गये व्रतों में लगने वाले अतिचारों हेतु क्षमा माँगते हुए प्रतिज्ञा की जाती है।

बैठना दूभर हो जाय तब संलेखना संथारा किया जाता है। असाध्य रोग होने पर भी संलेखना संथारा किया जा सकता है। शरीर पर ममत्व कम होना इसकी प्राथमिकता है। संलेखना आसन्न मृत्यु का स्वागत है। जो मृत्यु से घबराता है, जिसकी जीने की चाह समाप्त नहीं हुई है, विषयों के प्रति राग समाप्त नहीं हुआ है वह संथारा नहीं ले सकता। दूसरे इसकी प्रेरणा दे सकते हैं, लेकिन संथारा साधक की स्वयं की भावना होने पर ही किया जा सकता है, अथवा कराया जा सकता है।

चित्त की सरलता, मन की निर्मलता और आत्मा की पवित्रता लिये हुए जो साधक अहिंसा, संयम और तप की सुगन्ध में अपने जीवन को सुरभित करना चाहते हैं, वे मौत से डरते नहीं, अपितु मौत को गले लगाते हैं, मौत का हँसते-हँसते आलिंगन करते हैं। संलेखना मृत्यु को महोत्सव बनाना है।

संलेखना आत्महत्या नहीं

मरण की तलवार हमारे जीवन रूपी गर्दन पर प्रतिपल लटकती रहती है, आपातकालीन मरण भी हो सकता है, आत्महत्या के रूप में भी मरण हो सकता है, किन्तु वह बालमरण है। आत्महत्या पाप ही नहीं, अपितु महापाप है। जल में गिरकर, अग्नि में प्रवेश कर, विष-भक्षण कर, शस्त्र का प्रयोग कर आत्मघात करना आत्महत्या ही है। इसके विपरीत अशन, पान, खादिम, स्वादिम चारों प्रकार के आहार का सर्वथा परित्याग कर जीवन को निर्मल बनाते हुए कषायों को कृश करना संलेखना है। संलेखना पूर्वक संथारा स्वीकार किया जाता है। आदमी आत्महत्या राग या द्वेषवश करता है लेकिन संथारा बिना किसी कामना के समाधिभाव से हँसते-हँसते स्वीकार किया जाता है।

आत्महत्या एकान्त में छिपकर की जाती है। इसमें कर्ता दुःखी एवं शोकग्रस्त होता है। वह होश-हवास के बिना, अविवेक अवस्था में आत्महत्या करता है। संलेखना में साधक की भावना शुद्ध, निर्मल व पवित्र होती है। इसमें साधक आत्मलीन होकर शरीर से ममत्व का त्याग करता है एवं सब जीवों से क्षमायाचना करता है। संलेखना एक व्रत है, जो जीवन के अन्तिम समय में सार्वजनिक रूप से गुरुजनों या बड़े श्रावक-श्राविकाओं के श्रीमुख से ग्रहण किया जाता है।

अतः संथारा आत्महत्या नहीं, अपितु आत्म-साधना की एक कनक कसौटी है। अनेक आचार्यों, ऋषि-मुनियों, कृष्ण महाराज की पटरानियों, श्रेणिक की रानियों, श्रावकों ने इस उच्च कोटि की साधना से जीवन को स्वर्ण सदृश निर्मल बनाया तथा सिद्ध गति प्राप्त की थी।

संथारा एवं संलेखना के प्रकार

जीवन की सांध्यकालीन आराधना पद्धति को बोलचाल की भाषा में संलेखना एवं संथारा के नामों से पहिचाना जाता है। संलेखना का तात्पर्य है कषायों एवं शरीर को कृश करना तथा संथारा वह अन्तिम बिछौना है जो साधक को तारने वाला होता है। संथारा के दो भेद हैं-१.सागारी संथारा (अल्पकालीन संथारा)- विकट परिस्थिति के उत्पन्न होने पर जब लगे कि गृहीत व्रतों का, आचार नियमों का निर्दोष पालन असंभव है, ऐसी अवस्था में श्रमण या त्यागी पुरुष अपने व्रतों की आलोचना करके प्रतिक्रमण करता है तथा आत्मशुद्धि हेतु का मोह छोड़कर उपसर्ग व परीषहों को समता भाव से सहता हुआ, मृत्यु से निरपेक्ष रहता हुआ संथारा

ग्रहण करता है। जैसे सुदर्शन श्रावक ने अर्जुनमाली के उपसर्ग को जानकर अथवा साधक रात को सोने से पहले यह संथारा कर लेता है। यह संथारा आगार/छूट के साथ किया जाता है। यदि इस स्थिति में प्राणान्त हो भी जाए तो सत्परिणामों में वह सद्गति का अधिकारी बन जाता है और उपसर्ग टल जाय तो संथारा पाल लिया जाता है। यह संथारा प्रतिदिन रात्रि में शयन के पूर्व भी किया जाता है।

२. मरणान्तिक संथारा- यावज्जीवन के लिये किया जाता है। यह तिविहार एवं चौविहार त्याग के साथ होता है। यह मृत्यु पर्यन्त स्वीकार किया जाता है।

संलेखना दो प्रकार की होती है- १. काय संलेखना २. कषाय संलेखना। काय संलेखना का अर्थ है काया को कृश करना और कषाय संलेखना का तात्पर्य है क्रोधादि कषायों को कृश करना। कषाय संलेखना अंतरंग संलेखना है, जिसके बिना काय संलेखना अधूरी है। काय संलेखना बाह्य संलेखना है।

पहले कषायों को त्यागना है, फिर काया को साधते हुए चित्त के भावों को निर्मलतम बनाना है। साधक सोचता है कि जन्म के साथ ही जब मृत्यु सुनिश्चित है तब मृत्यु से भयभीत क्यों? जीर्ण-शीर्ण देह या वस्त्र छोड़ने में डर कैसा? यह तो छोड़ना ही पड़ता है, तभी नूतन देह धारण की जा सकती है।

काय संलेखना क्रमशः की जाती है। जिसमें अनुक्रम से आहार, दूध, छाछ, कांजी अथवा गरम जल का भी त्याग करते हुए शक्ति अनुसार उपवास किया जाता है। तदनन्तर सर्व प्रकार के यत्नों से पंच नमस्कार मंत्र को मन में धारण करते हुए शरीर को छोड़ा जाता है। आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. ने निमाज में तेले की तपस्या के साथ संलेखना एवं फिर संथारा स्वीकार कर एक आदर्श उदाहरण समाज के सम्मुख रखा।

संलेखना विधि

संलेखनापूर्वक संथारा विधि बड़ी मनोवैज्ञानिक है। यह आत्मदमन की नहीं आत्मशोधन की विधि है। साधक के मनोबल, परिस्थिति, चिकित्सक, परामर्शक तथा पारिवारिक जनों की भावना को समझ कर सर्वप्रथम चतुर्विध संघ की अनुमति ली जाती है। संत-मुनिजन या महासतियाँ जी संघ प्रमुख की आज्ञा लेकर पंच परमेष्ठी और अपनी आत्मा, इन छहों की साक्षी से आलोचना, निन्दा और गर्हा करते हैं। इनमें मुख्य सोपान निम्नानुसार हैं -

संलेखना की तैयारी- मारणान्तिक संलेखना-संथारा के समय पौषधशाला का प्रतिलेखन कर, पौषधशाला का प्रमार्जन कर, दर्भ (घास, तृण) आदि का बिछौना बिछा कर, पूर्व या उत्तर दिशा में मुख करके पर्यंक तथा पद्मासन आदि आसन से बैठकर, दसों अंगुलियाँ सहित दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर अंजलि करके इस प्रकार बोले-

देव, गुरु को वन्दना- नमस्कार हो सिद्ध भगवन्त को, नमस्कार हो महाविदेह क्षेत्र में विचरने वाले सभी अरिहन्त भगवन्तों को, नमस्कार हो मेरे धर्माचार्य को।

तत्पश्चात् सभी साधु भगवन्तों को तथा समस्त जीव राशि से अपने द्वारा किये गये दोषों हेतु अपने द्वारा पूर्व में किये गये व्रतों में लगने वाले अतिचारों हेतु क्षमा माँगते हुए प्रतिज्ञा की जाती है।

प्रतिज्ञा- अब मैं सर्व प्रकार के प्राणातिपात का, मृषावाद का, अदत्तादान का, मैथुन और परिग्रह का त्याग करता/करती हूँ। इसी प्रकार क्रोध से यावत् मिथ्यादर्शन शल्य तक १८ पाप रूप अकरणीय सावद्य योगों का त्याग करता/करती हूँ। जीवनभर के लिये इन पापों को तीन करण और तीन योग से न करूँगा, न करवाऊँगा और न करते हुए का अनुमोदन मन, वचन और काया से करूँगा। साथ ही अशन, पान, खादिम एवं स्वाद से संबंधित समस्त चार आहारों/तीन आहार (अशन, खादिम एवं स्वादिम) का त्याग करता/करती हूँ।

आलोचना- जीवन पर्यन्त मैंने अपने इस शरीर का पालन एवं पोषण किया है। जो मुझे इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मनोरम, अवलम्बन रूप, विश्वास योग्य, सम्मत-अनुमत, आभूषणों की पेटी के समान प्रिय रहा है और जिसकी मैंने सर्दी से, गर्मी से, भूख से, प्यास से, सर्प से, चोर से, डाँस से, मच्छर, वात-पित्त-कफ एवं सन्निपात आदि अनेक प्रकार के रोग तथा आतंक से, परीषह और देव एवं तिर्यंच के उपसर्ग आदि से रक्षा की है, ऐसे शरीर का मैं अन्तिम समय तक त्याग करता हूँ। इस प्रकार शरीर के ममत्व को त्याग कर, संलेखना रूप तप में अपने आप को समर्पित करके एवं जीवन और मरण की आकांक्षा रहित होकर विहरण करूँगा/करूँगी।

अतिचार- मारणांतिक संलेखना के पाँच अतिचार हैं जो साधक एवं श्रमणोपासक के जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं हैं। अतः साधक चिन्तन करता है कि मैंने इस लोक के सुखों की इच्छा की हो, परलोक में देवता, इन्द्र आदि बनने की इच्छा की हो, बहुत काल जीने की इच्छा या रोग से घबरा कर शीघ्र मरने की इच्छा की हो, काम भोग की अभिलाषा की हो तो उसका पाप मेरे लिये निष्फल हो।

इस प्रकार जीवन भर की अच्छी-बुरी क्रियाओं का लेखा-जोखा लगा कर अन्त समय में समस्त पापवृत्तियों का त्याग करना, मन-वचन और काया को संयम में रखना, ममत्व भाव से मन को हटाकर, आत्म-चिन्तन में लगाना, भोजन, पानी तथा अन्न सभी उपाधियों को त्याग कर आत्मा को निर्द्वन्द्व और निस्पृह बनाना संथारा का महान् आदर्श है, जैन धर्म का आदर्श है। जब तक जीओ विवेकपूर्वक धर्माराधन करते हुए आनन्द से जीओ और जब मृत्यु आ जाए तो विवेक पूर्वक धर्माराधन में आनन्द से ही मरो, यही पंडित मरण का संदेश है। यही प्रतिक्रमण का सर्वोच्च लक्ष्य है, सर्वोत्तम उपलब्धि है। प्रतिदिन प्रातः, सायं, पक्खी, चौमासी या संवत्सरी का प्रतिक्रमण करते हुए साधक के मनोबल को पुष्ट करते हुए संलेखना संथारा के लिये प्रेरणा मिलती रहती है। ऐसे साधक की भावना होती है कि मैं संलेखना का अवसर आने पर अनशनपूर्वक संलेखना-संथारा करता हुआ शुद्ध बनूँ तथा अन्त में मोक्ष का वरण करूँ।

आरम्भ परिग्रह छोड़कर, शुद्ध संयम लूँ धार।
करके शुद्ध आलोचना, करूँ संथारा सार।।
मोक्ष की है लगन पूरी, न कोई अन्य आशा है।
देह छूटे समाधि से, अंत शुभभाव चाहता हूँ।।

-अध्यक्ष, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
-जी २१ शास्त्री नगर, जोधपुर

उत्कीर्तन सूत्र : एक विवेचन

श्री प्रेमचन्द जैन चपलोद

चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति या गुणानुवाद करना 'उत्कीर्तन' है। इस उत्कीर्तन से दर्शन (सम्यग्दर्शन) की विशुद्धि होती है। तीर्थंकरों का गुणानुवाद आध्यात्मिक शान्ति एवं आनन्द की प्राप्ति में सहायक होता है तथा साधना के उच्च शिखर पर आरोहण का मनोबल प्रदान करता है। सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के मंत्री श्री प्रेमचन्द जी जैन के इस लेख में लोगस्स के पाठ की महत्ता उजागर हुई है। *-सम्पादक*

वीतराग वाणी समग्रता लिए हुए है। उसी वीतराग वाणी को स्थानकवासी जैन परम्परा ३२ आगम प्रमाणरूप मानती है। चरम आगम आवश्यक सूत्र त्रिकाल साधना का परिचायक है। इसमें अतीत की आलोचना, वर्तमान में समभाव की साधना व अनागत के प्रत्याख्यान द्वारा कर्मों की निर्जरा की जाती है।

अनुयोगद्वारचूर्णि में 'आवश्यक' शब्द को परिभाषित करते हुए कहा है- 'सुण्णमप्पाणं तं पसत्थभावेहिं आवासेतीति आवासं' अर्थात् जो आत्मा गुणों से शून्य है उसे प्रशस्त भावों (गुणों) से आवासित करे वह आवश्यक कहलाता है।

आत्मा के हितार्थ जो क्रिया प्रतिदिन की जाती है, वह ही आवश्यक है। अनुयोगद्वार सूत्र में कहा गया है-

समणेण सावएण य अवस्सं कायव्वं हवइ जम्हा।
अंते अहो-निसस्स य तम्हा आवस्सं नाम।।

अर्थात् साधु एवं श्रावक द्वारा नियमित रूप से दिन व रात्रि के अन्तिम मुहूर्त्त में जो साधना की जाती है वह आवश्यक है। आवश्यक के छः भेद किये गये हैं-

१. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव (उत्कीर्तन) ३. वन्दना
४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग ६. प्रत्याख्यान

इन षडावश्यकों में प्रथम आवश्यक के बाद दूसरा आवश्यक है- उत्कीर्तन आवश्यक। आम बोलचाल की भाषा में इसको 'लोगस्स' का पाठ भी कहते हैं। उत्कीर्तन का सामान्य अर्थ होता है- गुणगान या प्रशंसा। इस आवश्यक में किसी सामान्य पुरुष के गुणगान या प्रशंसा न करके उन महापुरुषों का गुणगान या प्रशंसा की गई है जिन्होंने रागादि आत्मरिपुओं का नाश करके केवलज्ञान प्रकट करते हुए अपनी आत्मा

उत्कीर्तन सूत्र : एक विवेचन

श्री प्रेमचन्द जैन चपलोद

चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति या गुणानुवाद करना 'उत्कीर्तन' है। इस उत्कीर्तन से दर्शन (सम्यग्दर्शन) की विशुद्धि होती है। तीर्थंकरों का गुणानुवाद आध्यात्मिक शान्ति एवं आनन्द की प्राप्ति में सहायक होता है तथा साधना के उच्च शिखर पर आरोहण का मनोबल प्रदान करता है। सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के मंत्री श्री प्रेमचन्द जी जैन के इस लेख में लोगस्स के पाठ की महत्ता उजागर हुई है। *-सम्पादक*

वीतराग वाणी समग्रता लिए हुए है। उसी वीतराग वाणी को स्थानकवासी जैन परम्परा ३२ आगम प्रमाणरूप मानती है। चरम आगम आवश्यक सूत्र त्रिकाल साधना का परिचायक है। इसमें अतीत की आलोचना, वर्तमान में समभाव की साधना व अनागत के प्रत्याख्यान द्वारा कर्मों की निर्जरा की जाती है।

अनुयोगद्वारचूर्णि में 'आवश्यक' शब्द को परिभाषित करते हुए कहा है- 'सुण्णमप्पाणं तं पसत्थभावेहिं आवासेतीति आवासं' अर्थात् जो आत्मा गुणों से शून्य है उसे प्रशस्त भावों (गुणों) से आवासित करे वह आवश्यक कहलाता है।

आत्मा के हितार्थ जो क्रिया प्रतिदिन की जाती है, वह ही आवश्यक है। अनुयोगद्वार सूत्र में कहा गया है-

समणेण सावएण य अवस्सं कायव्वं हवइ जम्हा।
अंते अहो-निसस्स य तम्हा आवस्सं नाम ।।

अर्थात् साधु एवं श्रावक द्वारा नियमित रूप से दिन व रात्रि के अन्तिम मुहूर्त्त में जो साधना की जाती है वह आवश्यक है। आवश्यक के छः भेद किये गये हैं-

१. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव (उत्कीर्तन) ३. वन्दना
४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग ६. प्रत्याख्यान

इन षडावश्यकों में प्रथम आवश्यक के बाद दूसरा आवश्यक है- उत्कीर्तन आवश्यक। आम बोलचाल की भाषा में इसको 'लोगस्स' का पाठ भी कहते हैं। उत्कीर्तन का सामान्य अर्थ होता है-
या प्रशंसा। इस आवश्यक में किसी सामान्य पुरुष के गुणगान या प्रशंसा न करके उन
या प्रशंसा की गई है जिन्होंने रागादि आत्मरिपुओं का नाश करके केवलज्ञान प्रकट **करते**

प्रतिज्ञा- अब मैं सर्व प्रकार के प्राणातिपात का, मृषावाद का, अदत्तादान का, मैथुन और परिग्रह का त्याग करता/करती हूँ। इसी प्रकार क्रोध से यावत् मिथ्यादर्शन शल्य तक १८ पाप रूप अकरणीय सावद्य योगों का त्याग करता/करती हूँ। जीवनभर के लिये इन पापों को तीन करण और तीन योग से न करूँगा, न करवाऊँगा और न करते हुए का अनुमोदन मन, वचन और काया से करूँगा। साथ ही अशन, पान, खादिम एवं स्वाद से संबंधित समस्त चार आहारों/तीन आहार (अशन, खादिम एवं स्वादिम) का त्याग करता/करती हूँ।

आलोचना- जीवन पर्यन्त मैंने अपने इस शरीर का पालन एवं पोषण किया है। जो मुझे इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मनोरम, अवलम्बन रूप, विश्वास योग्य, सम्मत-अनुमत, आभूषणों की पेटी के समान प्रिय रहा है और जिसकी मैंने सर्दी से, गर्मी से, भूख से, प्यास से, सर्प से, चोर से, डाँस से, मच्छर, वात-पित्त-कफ एवं सन्निपात आदि अनेक प्रकार के रोग तथा आतंक से, परीषह और देव एवं तिर्यंच के उपसर्ग आदि से रक्षा की है, ऐसे शरीर का मैं अन्तिम समय तक त्याग करता हूँ। इस प्रकार शरीर के ममत्व को त्याग कर, संलेखना रूप तप में अपने आप को समर्पित करके एवं जीवन और मरण की आकांक्षा रहित होकर विहरण करूँगा/करूँगी।

अतिचार- मारणांतिक संलेखना के पाँच अतिचार हैं जो साधक एवं श्रमणोपासक के जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं हैं। अतः साधक चिन्तन करता है कि मैंने इस लोक के सुखों की इच्छा की हो, परलोक में देवता, इन्द्र आदि बनने की इच्छा की हो, बहुत काल जीने की इच्छा या रोग से घबरा कर शीघ्र मरने की इच्छा की हो, काम भोग की अभिलाषा की हो तो उसका पाप मेरे लिये निष्फल हो।

इस प्रकार जीवन भर की अच्छी-बुरी क्रियाओं का लेखा-जोखा लगा कर अन्त समय में समस्त पापवृत्तियों का त्याग करना, मन-वचन और काया को संयम में रखना, ममत्व भाव से मन को हटाकर, आत्म-चिन्तन में लगाना, भोजन, पानी तथा अन्न सभी उपाधियों को त्याग कर आत्मा को निर्द्वन्द्व और निस्पृह बनाना संथारा का महान् आदर्श है, जैन धर्म का आदर्श है। जब तक जीओ विवेकपूर्वक धर्माराधन करते हुए आनन्द से जीओ और जब मृत्यु आ जाए तो विवेक पूर्वक धर्माराधन में आनन्द से ही मरो, यही पंडित मरण का संदेश है। यही प्रतिक्रमण का सर्वोच्च लक्ष्य है, सर्वोत्तम उपलब्धि है। प्रतिदिन प्रातः, सायं, पक्खी, चौमासी या संवत्सरी का प्रतिक्रमण करते हुए साधक के मनोबल को पुष्ट करते हुए संलेखना संथारा के लिये प्रेरणा मिलती रहती है। ऐसे साधक की भावना होती है कि मैं संलेखना का अवसर आने पर अनशनपूर्वक संलेखना-संथारा करता हुआ शुद्ध बनूँ तथा अन्त में मोक्ष का वरण करूँ।

आरम्भ परिग्रह छोड़कर, शुद्ध संयम लूँ धार।
करके शुद्ध आलोचना, करूँ संथारा सार।।
मोक्ष की है लगन पूरी, न कोई अन्य आशा है।
देह छूटे समाधि से, अंत शुभभाव चाहता हूँ।।

-अध्यक्ष, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
-जी २१ शास्त्री नगर, जोधपुर

उत्कीर्तन सूत्र : एक विवेचन

श्री प्रेमचन्द जैन चपलोद

चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति या गुणानुवाद करना 'उत्कीर्तन' है। इस उत्कीर्तन से दर्शन (सम्यग्दर्शन) की विशुद्धि होती है। तीर्थंकरों का गुणानुवाद आध्यात्मिक शान्ति एवं आनन्द की प्राप्ति में सहायक होता है तथा साधना के उच्च शिखर पर आरोहण का मनोबल प्रदान करता है। सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के मंत्री श्री प्रेमचन्द जी जैन के इस लेख में लोगस्स के पाठ की महत्ता उजागर हुई है। *-सम्पादक*

वीतराग वाणी समग्रता लिए हुए है। उसी वीतराग वाणी को स्थानकवासी जैन परम्परा ३२ आगम प्रमाणरूप मानती है। चरम आगम आवश्यक सूत्र त्रिकाल साधना का परिचायक है। इसमें अतीत की आलोचना, वर्तमान में समभाव की साधना व अनागत के प्रत्याख्यान द्वारा कर्मों की निर्जरा की जाती है।

अनुयोगद्वारचूर्णि में 'आवश्यक' शब्द को परिभाषित करते हुए कहा है- 'सुण्णमप्पाणं तं पसत्थभावेहिं आवासेतीति आवासं' अर्थात् जो आत्मा गुणों से शून्य है उसे प्रशस्त भावों (गुणों) से आवासित करे वह आवश्यक कहलाता है।

आत्मा के हितार्थ जो क्रिया प्रतिदिन की जाती है, वह ही आवश्यक है। अनुयोगद्वार सूत्र में कहा गया है-

समणेण सावएण य अवस्सं कायव्वं हवइ जम्हा।
अंते अहो-निसस्स य तम्हा आवस्सं नाम॥

अर्थात् साधु एवं श्रावक द्वारा नियमित रूप से दिन व रात्रि के अन्तिम मुहूर्त्त में जो साधना की जाती है वह आवश्यक है। आवश्यक के छः भेद किये गये हैं-

१. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव (उत्कीर्तन) ३. वन्दना
४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग ६. प्रत्याख्यान

इन षडावश्यकों में प्रथम आवश्यक के बाद दूसरा आवश्यक है- उत्कीर्तन आवश्यक। आम बोलचाल की भाषा में इसको 'लोगस्स' का पाठ भी कहते हैं। उत्कीर्तन का सामान्य अर्थ होता है- गुणगान या प्रशंसा। इस आवश्यक में किसी सामान्य पुरुष के गुणगान या प्रशंसा न करके उन महापुरुषों का गुणगान या प्रशंसा की गई है जिन्होंने रागादि आत्मरिपुओं का नाश करके केवलज्ञान प्रकट करते हुए अपनी आत्मा

को उज्ज्वल और प्रकाशमान बनाया है।

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी लोक के प्रकाश पुंज, धर्म तीर्थ स्थापक, वीतराग भगवन्त जो त्याग, वैराग्य और संयम-साधना में उत्कृष्ट आदर्श रूप हैं, राग-द्वेष विजेता, काम-क्रोधादि अंतरंग शत्रुओं के नाशक, केवलज्ञानी हैं ऐसे चौबीसों तीर्थंकरों की स्तुति करना या गुणानुवाद करना या उनके गुणों का कीर्तन करना, उत्कीर्तन सूत्र या चतुर्विंशतिस्तव सूत्र कहलाता है।

हमारा अन्तिम लक्ष्य अरिहन्त दशा को प्राप्त करना है और लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन महापुरुषों का आलम्बन आवश्यक है जिन्होंने लक्ष्य को प्राप्त किया है। क्योंकि जो स्वयं अपूर्ण है उससे कभी दूसरे को पूर्णता की प्राप्ति की कल्पना नहीं की जा सकती है। पूर्ण ज्ञानी एवं कषायरहित आत्मा की भक्ति करने हेतु उत्कीर्तन सूत्र का विधान किया गया है। इसमें उन्हीं महापुरुषों का वर्णन है जिनके कि राग का दाग नहीं व द्वेष का लवलेश नहीं है। उत्कीर्तन (प्रशंसा) अरिहन्त भगवन्तों का हो इसलिए दूसरे आवश्यक से पूर्व सामान्य आवश्यक में सावद्य योगों से निवृत्त हुआ जाता है। पाप रूपी कीचड़ से सना व्यक्ति पहले आवश्यक 'सामायिक' में पापों को विराम लगा दे, तभी तीर्थंकरों की स्तुति करने की योग्यता प्राप्त करता है। तीर्थंकर भगवन्तों के नाम व गुणों की स्तुति करना उत्कृष्ट भक्ति को परिलक्षित करता है, इसलिए इसे 'भक्ति आवश्यक' भी कहा जाता है। मोक्षमार्ग के उपाय- सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र में प्रमुख 'सम्यग्दर्शन' भक्ति से ही संबंधित है। वैदिक दर्शन भी ज्ञानयोग, भक्तियोग व कर्मयोग का निरूपण करता है। इसलिए साधक के जीवन में 'भक्ति' साधना का महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रशंसनीय की प्रशंसा करना ही भक्ति है।

तीर्थंकर भगवन्तों के गुणों की स्तुति करने से श्रावक को भी उनके गुणों को प्राप्त करने का मनोबल प्राप्त होता है। अहंकार कम होता जाता है और गुणों की प्राप्ति में अभिवृद्धि होती है। साधनामार्ग में साधक आगे बढ़ता है। शुभ भावों की प्राप्ति से दर्शन-ज्ञान प्राप्त होता है और उससे आत्मा में लगे कर्ममल की सफाई होने लगती है तथा अन्ततः वह निर्मल होकर वीतरागता को प्राप्त करती है। चतुर्विंशतिस्तव का मूल पाठ निम्न प्रकार है-

चतुर्विंशतिस्तव

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसंपि केवली।।१।।
उसभमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे।।२।।
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीयलसिज्जंस वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि।।३।।

कुंथुं अरं च मल्लिं वंदे, मुणिसुव्वयं नमिजिणं च।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च।।४।।
एवं मए अभिथुआ, विहूयरयमला पहीणजरमरणा।
चउवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु।।५।।
कित्तिय-वंदिय-महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुग्ग-बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु।।६।।
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवर-गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।।७।।

(By uttering the above lesson we offer our worship to Twenty Four Tirthankar Gods. By constant chanting of the Lord's names, our evils are destroyed and it purifies the mind. A pure mind only can receive virtues.)

(लोगस्स के उपर्युक्त पाठ द्वारा चौबीसों तीर्थंकरों की स्तुति की जाती है। बार-बार प्रभु का नाम स्मरण करने से हमारे कर्म क्षय होते हैं व आत्मा निर्मल होती है। निर्मल आत्मा ही सद्गुणों को ग्रहण करती है)

चतुर्विंशतिस्तव का मनोयोग पूर्वक गाथा छन्द में भावसहित उच्चारण करते हुए रोम-रोम का पुलकित होना उत्कृष्ट कर्म-निर्जरा का हेतु बनता है। प्रत्येक गाथा तीर्थंकरों की विशेषताओं को प्रकट करने वाली है। प्रथम गाथा में तीर्थंकरों के चार अतिशयों का वर्णन किया गया है। **लोगस्स उज्जोयगरे**- लोक में उद्योत करने वाले अर्थात् इस विषय-वासना से पूरित संसार में वीतराग वाणी का उद्योत करने वाले तीर्थंकर भगवन्त प्रकाश पुंज के समान हैं। **धम्मतित्थयरे**- धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले अर्थात् तीर्थंकर जब चार धर्मतीर्थों अर्थात् साधु, साध्वी, श्रावक व श्राविका रूप तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं तभी से तीर्थंकर संज्ञा से उपमित होते हैं। **जिणे**- जीतने वाले। अर्थात् जयतीति जिनः। जिन्होंने स्वरूपोलब्धि में बाधक राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि भाव कर्मो को तथा ज्ञानावरणीयादि द्रव्यकर्मों को जीत लिया है, वे जिन होते हैं। **अरिहन्ते**- अरिहन्त अर्थात् अरि+हन्त =आन्तरिक शत्रुओं के नाशक, जिनके अन्दर केवलज्ञान रूपी अलौकिक सूर्य प्रकाशमान है। प्रथम गाथा में तीर्थंकरों के इन चार अतिशयों का वर्णन करते हुए उनकी स्तुति करने के लिए साधक प्रतिज्ञाबद्ध होता है।

दूसरी से चौथी गाथा में वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकरों का नाम सहित गुण वर्णन किया गया है। इसमें यह विशेषता है कि प्रत्येक तीर्थंकर का नाम उनके जीवन से संबंधित घटना विशेष के आधार पर अथवा विशेष अर्थ रूप में वर्णित है। नौवें तीर्थंकर के दो नाम श्री सुविधिनाथ जी तथा पुष्पदंत जी इसमें प्रयुक्त हुए हैं। १९वें तीर्थंकर श्री मल्लीनाथ जी स्त्री पर्याय में हुए। ये तीन गाथाएँ अशाश्वत होती हैं। क्योंकि जिस काल में जो चौबीसी होती है, उसी के अनुसार इनकी रचना मानी गई है।

पाँचवीं गाथा में तीर्थंकर भगवन्तों को कर्मरूपी रजमैल से रहित वृद्धावस्था व मृत्यु के विजेता बताते हुए कहा है कि ऐसे परमाराध्य मुझ पर प्रसन्न होवें। तीर्थंकर किसी पर न तो प्रसन्न होते हैं न ही किसी से नाराज होते हैं, यह शाश्वत नियम है। फिर भी इस गाथा में अपेक्षा को ध्यान में रखते हुए कहा है कि जिस प्रकार सूर्य की पहली किरण के साथ कमल का फूल खिल जाता है, उसी प्रकार तीर्थंकरों के गुणानुवाद से मुझे आत्मिक उल्लास प्राप्त हो, मेरे भाव शुद्ध बनें, मैं शिवपदगामी बनूँ यही मुझ पर तीर्थंकरों की प्रसन्नता है।

छठी गाथा में त्रियोगों को स्तुत्य क्रम से समायोजित कर कहा है कि सर्वप्रथम में वचन योग से आपका कीर्तन करता हूँ तत्पश्चात् काय योग से नमन करता हूँ और फिर मनोयोग से आदर-बहुमान करता हूँ। क्योंकि आप लोक में उत्तम हैं। जैसा कि भक्तामर स्तोत्र की एकादश गाथा प्रकट करती है-

यैः शान्त-राग-रुचिभिः परमाणुभिस्त्वं।
निर्मापितस्त्रिभुवनैक - ललाम - भूतः।।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्याम्।
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति।।

अर्थात् हे त्रिभुवन के एकमात्र ललामभूत भगवन्! जिनशान्ति भावों के धारक कान्तिमान परमाणुओं से आप बनाये गये हैं, वे परमाणु भी निश्चित ही उतने ही थे, क्योंकि आप जैसा उत्तम इस लोक में कोई नहीं है।

आगे तीर्थंकरों से आरोग्य (आत्म-शान्ति), बोधिलाभ (सम्यग्ज्ञान) तथा श्रेष्ठ समाधि की अभिलाषा की गई है। तीर्थंकर कुछ देते नहीं है, लेकिन उनका गुणानुवाद करने से सहज ही उपर्युक्त अभिलाषा की पूर्ति हो जाती है। जैसे अंजन नहीं चाहता है कि मैं किसी की नेत्र ज्योति बढ़ाऊँ तथापि उसके उपयोग से नेत्र की ज्योति बढ़ती है ठीक उसी प्रकार निष्काम, निस्पृह वीतराग परमात्मा भले ही किसी को लाभ पहुँचाना न चाहें, किन्तु उनके स्तवन से लाभ अवश्य ही प्राप्त होता है।

अन्तिम गाथा में तीर्थंकरों को चन्द्र, सूर्य व महासमुद्र से अधिक क्रमशः निर्मल, प्रकाशक व गंभीर बताकर अन्तिम लक्ष्य सिद्धि की चाहना की गई है। 'अपि' शब्द महाविदेह क्षेत्र में विचरण करने वाले तीर्थंकरों (विहरमानों) को समाहित करता है। तीर्थंकरों के जीवन में निरूपित गुणों को धारण कर सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

लोगस्स के उपर्युक्त पाठ में सात गाथाओं में से प्रथम, पंचम, षष्ठ एवं सप्तम गाथा शाश्वत है अपरिवर्तनीय है, लेकिन गाथा द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ परिवर्तनीय है। जब तीर्थंकर-चौबीसी बदलती है तो इन गाथाओं में आने वाले तीर्थंकर प्रभुओं के नाम भी बदलते रहते हैं। उपर्युक्त पाठ में वर्तमान चौबीसी के नाम आये हुए हैं।

चतुर्विंशतिस्तव के फल के बारे में उत्तराध्ययन सूत्र के अध्याय २९ में श्री गौतमस्वामी के द्वारा

पृच्छा-

'चउव्वीसत्थएणं भंते! जीवे किं जणयइ?'

हे प्रभु! चतुर्विंशतिस्तव से आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है।

भगवान् ने फरमाया- 'चउवीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ।'

हे गौतम! चतुर्विंशतिस्तव से जीव के दर्शन (श्रद्धा) में बाधा उत्पन्न करने वाले कर्म दूर हो जाते हैं और सम्यक्त्व में रहे हुए चल-मल अगाढ़ दोष दूर होकर शुद्ध सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

प्रथम आवश्यक सामायिक में समभाव में स्थिर होने पर आत्मा, वीतराग भगवंतों के गुणों को जान सकती है व उनका गुणानुवाद कर सकती है। अर्थात् जब आत्मा समभाव में स्थिर हो जाती है तब ही भावपूर्वक तीर्थंकरों का गुणानुवाद किया जा सकता है, इस कारण से सामायिक के बाद दूसरे आवश्यक के रूप में चतुर्विंशतिस्तव रखा गया है।

आवश्यक निर्युक्ति में षडावश्यक के निरूपण में दूसरे अध्ययन चतुर्विंशतिस्तव में नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छः निक्षेपों की दृष्टि से उत्कीर्तन सूत्र पर प्रकाश डाला गया है। चूर्णि साहित्य में स्तव, लोकउद्योत, धर्मतीर्थंकर आदि पदों पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया गया है।

उत्कीर्तन सूत्र में परमोच्च शिखर पर पहुँचे हुए तीर्थंकरों के गुणों का अवलम्बन लेकर मोक्षमार्ग की साधना का मार्ग प्रशस्त होता है।

इस उत्कीर्तन सूत्र में चौबीसों तीर्थंकरों की स्तुति के अलावा २० विहरमान एवं सिद्ध आत्माओं को भी वन्दन करते हुए उनका आलम्बन लेकर स्वयं प्रेरणा प्राप्त कर सिद्ध बनने की कामना व्यक्त की गई है।

-मंत्री, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल,

२२, गीजगढ़ विहार, हवा सड़क, जयपुर

15,17 नवम्बर 2006
जिनवाणी, 198

'वन्दना' आवश्यक

उपाध्याय श्री अमरमुनि जी महाराज

'वन्दना' तृतीय आवश्यक है। इसमें 'इच्छामि खमासमणो' का पाठ गुरुदेव के वन्दन हेतु दो बार बोला जाता है। उपाध्याय श्री अमरमुनि जी म.सा. ने 'श्रमण सूत्र' नामक अपनी कृति में श्रमण-प्रतिक्रमण एवं षडावश्यकों का सुन्दर विवेचन किया है। यहाँ पर उसी अमरकृति से 'वन्दना आवश्यक' से सम्बद्ध सामग्री संकलित की गई है। 'इच्छामि खमासमणो' पाठ से सम्बद्ध कुछ शब्दों यथा 'क्षमाश्रमण', 'अहोकायं काय-संफासं', 'आशातना', 'बाहर आवर्त' एवं 'वन्दन विधि' पर भी विवेचन यहाँ संगृहीत है। यथाजात मुद्रा, यापनीया आदि शब्दों पर प्रकाश इस विशेषांक के विशिष्ट प्रश्नोत्तरों में उपलब्ध है। *-सम्पादक*

गुरुदेव को वन्दन करने का अर्थ है- गुरुदेव का स्तवन और अभिवादन।[1] मन, वचन और शरीर का वह प्रशस्त व्यापार, जिसके द्वारा गुरुदेव के प्रति भक्ति और बहुमान प्रकट किया जाता है, वन्दन कहलाता है।

वन्दन आवश्यक की शुद्धि के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि वन्दनीय कैसे होने चाहिए? वे कितने प्रकार के हैं? अवन्दनीय कौन हैं? अवन्दनीय लोगों को वन्दन करने से क्या दोष होता है? वन्दन करते समय किन-किन दोषों का परिहार करना जरूरी है? जब तक साधक उपर्युक्त विषयों की जानकारी न व लेगा, तब तक वह कथमपि वन्दनावश्यक के फल का अधिकारी नहीं हो सकता।

जैनधर्म गुणों का पूजक है। वह पूज्य व्यक्ति के सद्गुण देखकर ही उसके आगे सिर झुकाता है आध्यात्मिक क्षेत्र की तो बात ही और है। यहाँ जैन इतिहास में तो गुणहीन साधारण सांसारिक व्यक्ति क वन्दन करना भी हेय समझा जाता है। असंयमी को, पतित को वन्दन करने का अर्थ है- पतन को और अधिक उत्तेजन देना। जो समाज इस दिशा में अपना विवेक खो देता है, वह पापाचार, दुराचार को निमंत्रण देता है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति में कहते हैं कि- 'जो मनुष्य गुणहीन अवंद्य व्यक्ति को वन्दन करता है, न तो उसके कर्मों की निर्जरा होती है और न कीर्ति ही। प्रत्युत असंयम का, दुराचार का अनुमोदन करने से कर्मों का बंध होता है। वह वन्दन व्यर्थ का कायक्लेश है'-

पासत्थाई वंदमाणस्स, नेव कित्ती न निज्जरा होई।
काय-किलेसं एमेव, कुणई तह कम्मबंधं च॥

अवन्द्य को वन्दन करने से वन्दन करने वाले को ही दोष होता है और वन्दन कराने वाले को कुछ भी दोष नहीं होता, यह बात नहीं है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी आवश्यक निर्युक्ति में कहते हैं कि यदि अवन्दनीय

व्यक्ति गुणी पुरुषों द्वारा वन्दन कराता है तो वह असंयम में और भी वृद्धि करके अपना अधः पतन करता है।

जैन धर्म के अनुसार द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के चारित्र से संपन्न त्यागी, वीतराग, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर एवं गुरुदेव आदि ही वन्दनीय हैं। इन्हीं को वन्दना करने से भव्य साधक अपना आत्मकल्याण कर सकता है, अन्यथा नहीं। साधक के लिए वही आदर्श उपयोगी हो सकता है, जो बाहर में भी पवित्र एवं महान् हो और अन्दर में भी।

वन्दन आवश्यक का यथाविधि पालन करने से विनय की प्राप्ति होती है, अहंकार अर्थात् गर्व का (आत्म-गौरव का नहीं)नाश होता है, उच्च आदर्शों की झाँकी का स्पष्टतया भान होता है, गुरुजनों की पूजा होती है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन होता है और श्रुत धर्म की आराधना होती है। यह श्रुत धर्म की आराधना आत्मशक्तियों का क्रमिक विकास करती हुई अन्ततोगत्वा मोक्ष का कारण बनती है। भगवती सूत्र में बतलाया गया है कि- 'गुरुजनों का सत्संग करने से शास्त्र-श्रवण का लाभ होता है; शास्त्र श्रवण से ज्ञान होता है, ज्ञान से विज्ञान होता है और फिर क्रमशः प्रत्याख्यान, संयम, अनास्रव, तप, कर्मनाश, अक्रिया अथ च सिद्धि का लाभ होता है।'

सवणे णाणे य विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी।।-भगवती २/५/११२

गुरु-वन्दन की क्रिया बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। साधक को इस ओर उदासीन भाव नहीं रखना चाहिए। मन के कण-कण में भक्ति-भावना का विमल स्रोत बहाये बिना वन्दन द्रव्य वन्दन हो जाता है और वह साधक के जीवन में किसी प्रकार की भी उत्क्रान्ति नहीं ला सकता। जिस वन्दन की पृष्ठ भूमि में भय हो, लज्जा हो, संसार का कोई स्वार्थ हो, वह कभी-कभी आत्मा का इतना पतन करता है कि कुछ पूछिए नहीं। इसीलिए द्रव्य वन्दन का जैन धर्म में निषेध किया गया है। पवित्र भावना के द्वारा उपयोगपूर्वक किया गया भाव वन्दन ही तीसरे आवश्यक का प्राण है। आचार्य मलयगिरि आवश्यकवृत्ति में, द्रव्य और भाव-वन्दन की व्याख्या करते हुए कहते हैं- 'द्रव्यतो मिथ्यादृष्टेरनुपयुक्त-सम्यग्दृष्टेश्च, भावतः सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तस्य।'

आचार्य जिनदासगणि ने आवश्यक चूर्णि में द्रव्य वन्दन और भाव वन्दन पर दो कथानक दिए हैं। एक कथानक भगवान् अरिष्टनेमि के समय का है। भगवान् नेमि के दर्शनों के लिए वासुदेव कृष्ण और उनके मित्र वीरककौलिक पहुँचे। श्रीकृष्ण ने भगवान् नेमि और अन्य साधुओं को बड़े ही पवित्र श्रद्धा एवं उच्च भावों से वन्दन किया। वीरककौलिक भी श्रीकृष्ण की देखादेखी उन्हें प्रसन्न करने के लिए पीछे-पीछे वन्दन करता रहा। वन्दन-फल के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् नेमि ने कहा कि- 'कृष्ण! तुमने भाव वन्दन किया है, अतः तुमने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त की और तीर्थंकर गोत्र की शुभ प्रकृति का बंध किया। इतना ही नहीं, तुमने सातवीं, छठी, पाँचवीं और चौथी नरक का बंधन भी तोड़ दिया है। परन्तु वीर ने केवल देखा-देखी भावनाशून्य वन्दन किया है, अतः उसका वन्दन द्रव्यवन्दन होने से निष्फल है। उसका उद्देश्य तुम्हें प्रसन्न करना है और कुछ नहीं।

दूसरा कथानक भी इसी युग का है। श्रीकृष्णचन्द्र के पुत्रों में से शाम्ब और पालक नामक दो पुत्र वन्दना के इतिहास में सुविश्रुत हैं। शाम्ब बड़ा ही धर्म-श्रद्धालु एवं उदार प्रकृति का युवक था। परन्तु पालक बड़ा ही लोभी एवं अभव्य प्रकृति का स्वामी था। एक दिन प्रसंगवश श्रीकृष्ण ने कहा कि - 'जो कल प्रातःकाल सर्वप्रथम भगवान् नेमिनाथ जी के दर्शन करेगा, वह जो माँगेगा, दूँगा।' प्रातःकाल होने पर शाम्ब ने जागते ही शय्या से नीचे उतर कर भगवान् को भाववन्दन कर लिया। परन्तु पालक राज्य-लोभ की मूर्च्छा से घोड़े पर सवार होकर जहाँ भगवान् का समवसरण था वहाँ वन्दन करने के लिए पहुँचा। ऊपर से वन्दन करता रहा, किन्तु अन्दर में लोभ की आग जलती रही। सूर्योदय के पश्चात् श्रीकृष्ण ने पूछा कि भगवन्! आज आपको पहले वन्दना किसने की? भगवान् ने उत्तर दिया- 'द्रव्य से पालक ने और भाव से शाम्ब ने।' उपहार शाम्ब को प्राप्त हुआ।

उक्त कथानकों से द्रव्य वन्दन और भाव वन्दन का अन्तर स्पष्ट है। भाववन्दन ही आत्मशुद्धि का मार्ग है। केवल द्रव्य वन्दन तो अभव्य भी कर सकता है। परन्तु अकेले द्रव्य वन्दन से होता क्या है? द्रव्य वन्दन में जब तक भाव का प्राण न डाला जाए, तब तक आवश्यक शुद्धि का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता।

हितोपदेशी गुरुदेव को विनम्र हृदय से अभिवन्दन करना और उनकी दिन तथा रात्रि संबंधी सुखशांति पूछना, शिष्य का परम कर्त्तव्य है। अंधकार में भटकते हुए, ठोकरें खाते हुए मनुष्य के लिए दीपक की जो स्थिति है, ठीक वही स्थिति अज्ञानान्धकार में भटकते हुए शिष्य के प्रति गुरुदेव की है। अतएव जैन संस्कृति में कृतज्ञता-प्रदर्शन के नाते पद-पद पर गुरुदेव को वन्दन करने की परम्परा प्रचलित है। अरिहन्तों के नीचे गुरुदेव ही आध्यात्मिक साम्राज्य के अधिपति हैं। उनको वन्दन करना भगवान् को वन्दन करना है। इस महिमाशाली गुरुवन्दन के उद्देश्य को एवं इसकी सुन्दर पद्धति को प्रस्तुत पाठ में बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रदर्शित किया गया है।

गुरुचरणों का स्पर्श मस्तक पर लगाने से ही भारतीय शिष्यों को ज्ञान की विभूति मिली है। गुरुदेव के प्रति विनय, भक्ति ही हमारी कल्याण-परम्पराओं का मूल स्रोत है। आचार्य उमास्वाति की वाणी सुनिए, वह क्या कहते हैं-

विनयफलं शुश्रूषा, गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम्।
ज्ञानस्य फलं विरतिः विरतिफलं चास्रवनिरोधः ।।
संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम्।
तस्मात् क्रियानिवृत्तिः, क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ।।
योगनिरोधाद् भवसंततिक्षयः संततिक्षयान्मोक्षः।
तस्मात्कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः ।।

'गुरुदेव के प्रति विनय का भाव रखने से सेवाभाव की जागृति होती है, गुरुदेव की सेवा से शास्त्रों के गंभीर ज्ञान की प्राप्ति होती है, ज्ञान का फल पापाचार से निवृत्ति है और पापाचार की निवृत्ति का फल

आस्रव-निरोध है।'

'आस्रवनिरोध रूप संवर का फल तपश्चरण है, तपश्चरण से कर्ममल की निर्जरा होती है; निर्जरा के द्वारा क्रिया की निवृत्ति और क्रियानिवृत्ति से मन, वचन तथा काययोग पर विजय प्राप्त होती है।'

'मन, वचन और शरीर के योग पर विजय पा लेने से जन्ममरण की लम्बी परंपरा का क्षय होता है, जन्ममरण की परंपरा के क्षय से आत्मा को मोक्षपद की प्राप्ति होती है। यह कार्यकारणभाव की निश्चित शृंखला हमें सूचित करती है कि समग्र कल्याणों का एकमात्र मूल कारण विनय है।'

प्राचीन भारत में विनय के सिद्धान्त पर अत्यधिक बल दिया गया है। आपके समक्ष 'इच्छामि खमासमणो' के रूप में गुरुवन्दन का पाठ है, देखिए कितना भावुकतापूर्ण है? 'विणओ जिणसासणमूलं' की भावना का कितना सुन्दर प्रतिबिम्ब है? शिष्य के मुख से एक-एक शब्द प्रेम और श्रद्धा के अमृत रस में डूबा निकल रहा है।

वन्दना करने के लिए पास में आने की भी क्षमा माँगना, चरण छूने से पहले अपने संबंध में 'निसीहियाए' पद के द्वारा सदाचार से पवित्र रहने का गुरुदेव को विश्वास दिलाना, चरण छूने तक के कष्ट की भी क्षमायाचना करना, सायंकाल में दिन संबंधी और प्रातःकाल में रात्रि संबंधी कुशलक्षेम पूछना, संयम-यात्रा की अस्खलना भी पूछना, अपने से आवश्यक क्रिया करते हुए जो कुछ भी आशातना हुई हो तदर्थ क्षमा माँगना, पापाचारमय पूर्वजीवन का परित्याग कर भविष्य में नये सिरे से संयम-जीवन के ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना, कितना भावभरा एवं हृदय के अन्तस्तम भाग को छूने वाला वन्दन का क्रम है। स्थान-स्थान पर गुरुदेव के लिए 'क्षमाश्रमण' संबोधन का प्रयोग, क्षमा के लिए शिष्य की कितनी अधिक आतुरता प्रकट करता है; तथा गुरुदेव को किस ऊँचे दर्जे का क्षमामूर्ति संत प्रमाणित करता है।

क्षमाश्रमण

'श्रमु' धातु तप और खेद अर्थ में व्यवहृत होती है। अतः जो तपश्चरण करता है एवं संसार से सर्वथा निर्विण्ण रहता है, वह श्रमण कहलाता है। क्षमाप्रधान श्रमण क्षमाश्रमण होता है। क्षमाश्रमण में क्षमा से मार्दव आदि दशविध श्रमण-धर्म का ग्रहण हो जाता है।[2] जो श्रमण क्षमा, मार्दव आदि महान् आत्मगुणों से सम्पन्न हैं, अपने धर्मपथ पर दृढ़ता के साथ अग्रसर हैं, वे ही वन्दनीय हैं। यह क्षमाश्रमण शब्द, किसको वन्दन करना चाहिए- इस पर बहुत सुन्दर प्रकाश डालता है।

शिष्य, गुरुदेव को वन्दन करने एवं अपने अपराधों की क्षमा याचना करने के लिए आता है, अतः क्षमाश्रमण संबोधन के द्वारा प्रथम ही क्षमादान प्राप्त करने की भावना अभिव्यक्त करता है। आशय यह है कि 'हे गुरुदेव! आप क्षमाश्रमण हैं, क्षमामूर्ति हैं। मुझ पर कृपाभाव रखिए। मुझसे जो भी भूलें हुई हों, उन सबके लिए क्षमा प्रदान कीजिए।'

अहोकायं काय-संफासं

'अहोकायं' का संस्कृत रूपान्तर 'अधःकायं' है, जिसका अर्थ 'चरण' होता है। अधःकाय का

मूलार्थ है काय अर्थात् शरीर का सबसे नीचे का भाग। शरीर का सबसे नीचे का भाग चरण ही है, अतः अधःकाय का भावार्थ चरण होता है। 'अधःकायः पादलक्षणस्तमधः कायं प्रति।' -आचार्य हरिभद्र

'काय संफासं' का संस्कृत रूपान्तर 'कायसंस्पर्श' होता है। इसका अर्थ है 'काय से सम्यक्तया स्पर्श करना।' यहाँ काय से क्या अभिप्राय है ? यह विचारणीय है। आचार्य जिनदास काय से हाथ ग्रहण करते हैं। ''अप्पणो काएण हत्थेहिं फुसिस्सामि।'' आचार्य श्री का अभिप्राय यह है कि आवर्तन करते समय शिष्य अपने हाथ से गुरु चरणकमलों को स्पर्श करता है, अतः यहाँ काय से हाथ ही अभीष्ट है। कुछ आचार्य काय से मस्तक लेते हैं। वंदन करते समय शिष्य गुरुदेव के चरण-कमलों में अपना मस्तक लगाकर वन्दना करता है, अतः उनकी दृष्टि से काय-संस्पर्श से मस्तक संस्पर्श ग्राह्य है। आचार्य हरिभद्र काय का अर्थ सामान्यतः निज देह ही करते है- 'कायेन निजदेहेन संस्पर्शः कायसंस्पर्शस्तं करोमि।'

परन्तु शरीर से स्पर्श करने का अभिप्राय हो सकता है? यह विचारणीय है। सम्पूर्ण शरीर से तो स्पर्श हो नहीं सकता, वह होगा मात्र हस्त-द्वारेण या मस्तकद्वारेण। अतः प्रश्न है कि सूत्रकार ने विशेषोल्लेख के रूप में हाथ या मस्तक न कहकर सामान्यतः शरीर ही क्यों कहा? जहाँ तक विचार की गति है, इसका यह समाधान है कि शिष्य गुरुदेव के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण करना चाहता है, सर्वस्व के रूप में शरीर के कण-कण से चरणकमलों का स्पर्श करके धन्य-धन्य होना चाहता है। प्रत्यक्ष में हाथ या मस्तक स्पर्श भले हो, परन्तु उनके पीछे शरीर के कण-कण में स्पर्श करने की भावना है। अतः सामान्यतः काय-संस्पर्श कहने में श्रद्धा के विराट् रूप की अभिव्यक्ति रही हुई है। जब शिष्य गुरुदेव के चरणकमलों में मस्तक झुकाता है, तो उसका अर्थ होता है गुरु चरणों में अपने मस्तक की भेंट अर्पण करना। शरीर में मस्तक ही तो मुख्य है। अतः जब मस्तक अर्पण कर दिया गया तो उसका अर्थ है अपना समस्त शरीर ही गुरुदेव के चरणकमलों में अर्पण कर देना। समस्त शरीर को गुरुदेव के चरण-कमलों में अर्पण करने का भाव यह है कि अब मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ आपकी आज्ञा में चलूँगा, आपके चरणों का अनुसरण करूँगा। शिष्य का अपना कुछ नहीं है। जो कुछ भी है, सब गुरुदेव का है। अतः काय के उपलक्षण से मन और वचन का अर्पण भी समझ लेना चाहिए।

आशातना

'आशातना' शब्द जैन आगम-साहित्य का एक प्राचीन पारिभाषिक शब्द है। जैन धर्म अनुशासन-प्रधान धर्म है। अतः यहाँ पद-पद पर अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु और गुरुदेव का, किंबहुना, ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप धर्म-साधना तक का भी सम्मान रखा जाता है। सदाचारी गुरुदेव और अपने सदाचार के प्रति किसी भी प्रकार की अवज्ञा एवं अवहेलना, जैन धर्म में स्वयं एक बहुत बड़ा पाप माना गया है। अनुशासन जैनधर्म का प्राण है।

आशातना के व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ है- 'ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही वास्तविक आय-लाभ है, उसकी शातना-खण्डना, आशातना है।' गुरुदेव आदि का अविनय ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र रूप आत्मगुणों के लाभ

का नाश करने वाला है। प्रतिक्रमण सूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य तिलक का अभिमत। 'आयस्य ज्ञानादिरूपस्य शातना=खण्डना आशातना। निरुक्त्या यलोपः।'

आशातना के भेदों की कोई इयत्ता नहीं है। आशातना के स्वरूप-परिचय के लिए दशाश्रुतस्कन्ध-सूत्र में तैंतीस आशातनाएँ वर्णन की गई हैं। यहाँ सक्षेप में द्रव्यादि चार आशातनाओं का निरूपण किया जाता है, आचार्य हरिभद्र के उल्लेखानुसार इनमें तैंतीस का ही समावेश हो जाता है। 'तित्तीसं पि चउसु दव्वाइसु समोयरंति।'

द्रव्य आशातना का अर्थ है- गुरु आदि रात्निक के साथ भोजन करते समय स्वयं अच्छा-अच्छा ग्रहण कर लेना और बुरा-बुरा रात्निक को देना। यही बात वस्त्र, पात्र आदि के संबंध में भी है।

क्षेत्र आशातना का अर्थ है- अड़कर चलना, अड़कर बैठना इत्यादि।

काल आशातना का अर्थ है- रात्रि या विकाल के समय रात्निकों के द्वारा बोलने पर भी उत्तर न देना, चुप रहना।

भाव आशातना का अर्थ है- आचार्य आदि रात्निकों को 'तू' करके बोलना, उनके प्रति दुर्भाव रखना, इत्यादि।

बारह आवर्त[3]

प्रस्तुत पाठ में आवर्त क्रिया विशेष ध्यान देने योग्य है। जिस प्रकार वैदिक मंत्रों में स्वर तथा हस्त-संचालन का ध्यान रखा जाता है, उसी प्रकार इस पाठ में भी आवर्त के रूप में स्वर तथा चरण-स्पर्श के लिए होने वाली हस्त-संचालन क्रिया के संबंध में लक्ष्य दिया गया है। स्वर के द्वारा वाणी में एक विशेप प्रकार का ओज एवं माधुर्य पैदा हो जाता है, जो अन्तःकरण पर अपना विशेष प्रभाव डालता है।

आवर्त के संबंध में एक बात और है। जिस प्रकार वर और कन्या अग्नि की प्रदक्षिणा करने के बाद पारस्परिक कर्तव्य-निर्वाह के लिए आबद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार आवर्त-क्रिया गुरु और शिष्य को एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य-बंधन में बाँध देती है। आवर्तन करते समय शिष्य गुरुदेव के चरणकमलों का स्पर्श करने के बाद दोनों अंजलिबद्ध हाथों को अपने मस्तक पर लगाता है; इसका हार्द है कि वह गुरुदेव की आज्ञाओं को सदैव मस्तक पर वहन करने के लिए कृतप्रतिज्ञ है।

प्रथम के तीन आवर्त- 'अहो'-'कायं'-'काय' इस प्रकार दो-दो अक्षरों से पूरे होते हैं। कमलमुद्रा से अंजलिबद्ध दोनों हाथों से गुरु-चरणों को स्पर्श करते हुए मन्द स्वर से 'अ' अक्षर कहना, तत्पश्चात् अंजलिबद्ध हाथों को मस्तक पर लगाते हुए उच्च स्वर से 'हो' अक्षर कहना, यह पहला आवर्तन है। इसी प्रकार 'का...यं' और 'का...य' के शेष दो आवर्तन भी किए जाते हैं।

अगले तीन आवर्त- 'ज त्ता भे' 'जवणि'- 'ज्जं च भे' इस प्रकार तीन-तीन अक्षरों के होते हैं। कमल मुद्रा से अंजलि बाँधे हुए दोनों हाथों से गुरु चरणों को स्पर्श करते हुए अनुदात्त- मन्द स्वर से...'ज' अक्षर कहना, पुनः हदय के पास अंजलि लाते हुए स्वरित-मध्यम स्वर से ....'त्ता' अक्षर कहना, पुनः अपने

मस्तक को छूते हुए उदात्त स्वर से...'भे' अक्षर कहना, प्रथम आवर्त है। इसी पद्धति से 'ज...व...णि' और 'ज्जं...च...भे' ये शेष दो आवर्त भी करने चाहिए। प्रथम 'खमासमणो' के छह और इसी भाँति दूसरे 'खमासमणो' के छह कुल बारह आवर्त होते हैं।

वन्दन विधि

वन्दन आवश्यक बड़ा ही गंभीर एवं भावपूर्ण है। आज परंपरा की अज्ञानता के कारण इस ओर लक्ष्य नहीं दिया जा रहा है और केवल येन-केन प्रकारेण मुख से पाठ का पढ़ लेना ही वन्दन समझ लिया गया है। परन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि बिना विधि के क्रिया फलवती नहीं होती। अतः पाठकों की जानकारी के लिए स्पष्ट रूप से विधि का वर्णन किया जाता है-

गुरुदेव के आत्मप्रमाण क्षेत्र-रूप अवग्रह के बाहर आचार्य तिलक ने क्रमशः दो स्थानों की कल्पना की है, एक 'इच्छा- निवेदन स्थान' और दूसरा 'अवग्रहप्रवेशाज्ञायाचना स्थान।' प्रथम स्थान में वन्दन करने की इच्छा का निवेदन किया जाता है, फिर जरा आगे अवग्रह के पास जाकर अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा माँगी जाती है।

वन्दनकर्ता शिष्य, अवग्रह के बाहर प्रथम इच्छानिवेदन स्थान में यथाजात मुद्रा से दोनों हाथों में रजोहरण लिए हुए अर्द्धावनत होकर अर्थात् आधा शरीर झुका कर नमन करता है और 'इच्छामि खमासमणो' से लेकर 'निसीहियाए' तक का पाठ पढ़ कर वन्दन करने की इच्छा निवेदन करता है। शिष्य के इस प्रकार निवेदन करने के पश्चात् गुरुदेव यदि अस्वस्थ या किसी कार्य-विशेष में व्याक्षिप्त होते हैं तो 'तिविहेण' 'त्रिविधेन'[4] ऐसा शब्द कहते हैं, जिसका अर्थ होता है- 'अवग्रह से बाहर रह कर ही संक्षिप्त वन्दन करना।' अतः अवग्रह से बाहर रह कर ही तिक्खुत्तो के पाठ के द्वारा संक्षिप्त वन्दन कर लेना चाहिए। यदि गुरुदेव स्वस्थ एवं अव्याक्षिप्त होते हैं तो 'छंदेणं' - 'छन्दसा' ऐसा शब्द कहते हैं; जिसका अर्थ होता है- 'इच्छानुसार वन्दन करने की सम्मति देना।

गुरुदेव की ओर से उपर्युक्त पद्धति के द्वारा वन्दन करने की आज्ञा मिल जाने पर, शिष्य आगे बढ़ कर, अवग्रह क्षेत्र के बाहर, किन्तु पास ही 'अवग्रह-प्रवेशाज्ञा याचना' नामक दूसरे स्थान में पुनः अर्द्धावनत होकर नमन करता है और गुरुदेव से 'अणुजाणह मे मिउग्गहं' इस पाठ के द्वारा अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा माँगता है। आज्ञा माँगने पर गुरुदेव अपनी ओर से 'अणुजाणामि' पद के द्वारा आज्ञा प्रदान करते हैं।

आज्ञा मिलने के बाद यथाजात मुद्रा- जन्मते समय बालक की अथवा दीक्षा लेने के समय शिष्य की जैसी मुद्रा होती है वैसी दोनों हाथ अंजलिबद्ध कपाल पर रखने की मुद्रा से 'निसीहि'[5] पद कहते हुए अवग्रह में प्रवेश करना चाहिए। बाद में रजोहरण से भूमि प्रमार्जन कर, गुरुदेव के पास गोदोहिका (उकडू) आसन से बैठकर, प्रथम के तीन आवर्त 'अहो कायं काय' पूर्वोक्त विधि के अनुसार करके 'संफासं' कहते हुए गुरु चरणों में मस्तक लगाना चाहिए।

तदनन्तर 'खमणिज्जो भे किलामो' के द्वारा चरण स्पर्श करते समय गुरुदेव को जो बाधा होती है,

उसकी क्षमा माँगी जाती है। पश्चात् 'अप्पकिलंताणं बहु सुभेण भे दिवसो वइक्कंतो' कहकर दिन संबंधी कुशलक्षेम पूछा जाता है। अनन्तर गुरुदेव भी 'तथा' कह कर अपने कुशल क्षेम की सूचना देते हैं और शिष्य का कुशल क्षेम भी पूछते हैं।

तदनन्तर शिष्य 'ज त्ता भे' 'ज व णि' 'ज्जं च भे' इन तीन आवर्तों की क्रिया करे एवं संयम यात्रा तथा इन्द्रिय-संबंधी और मन-संबंधी शांति पूछे। उत्तर में गुरुदेव भी 'तुब्भं पि वट्टइ' कहकर शिष्य से उसकी यात्रा और यापनीय संबंधी सुख शांति पूछे।

तत्पश्चात् मस्तक से गुरु चरणों का स्पर्श करके 'खामेमि खमासमणो' देवसियं वइक्कमं' कहकर शिष्य विनम्र भाव से दिन संबंधी अपने अपराधों की क्षमा माँगता है। उत्तर में गुरु भी 'अहमपि क्षमयामि' कहकर शिष्य से स्वकृत भूलों की क्षमा माँगते हैं। क्षामणा करते समय शिष्य और गुरु के साम्य-प्रधान सम्मेलन में क्षमा के कारण विनम्र हुए दोनों मस्तक कितने भव्य प्रतीत होते हैं? जरा भावुकता को सक्रिय कीजिए। वन्दन प्रक्रिया में प्रस्तुत शिरोनमन आवश्यक का भद्रबाहु श्रुतकेवली बहुत सुन्दर वर्णन करते हैं।

इसके बाद 'आवस्सियाए' कहते हुए अवग्रह से बाहर आना चाहिए।

अवग्रह से बाहर लौट कर- 'पडिक्कमामि' से लेकर 'अप्पाणं वोसिरामि' तक का सम्पूर्ण पाठ पढ़ कर प्रथम खमासमणो पूर्ण करना चाहिए। दूसरा खमासमणो भी इसी प्रकार पढ़ना चाहिए। केवल इतना अन्तर है कि दूसरी बार 'आवस्सियाए' पद नहीं कहा जाता है और अवग्रह से बाहर न आकर वहीं संपूर्ण खमासमणो पढ़ा जाता है तथा अतिचार चिन्तन एवं श्रमण सूत्र नमो चउवीसाए-पाठान्तर्गत 'तस्स धम्मस्स' तक गुरु चरणों में ही पढ़ने के बाद 'अब्भुट्ठिओमि' कहते हुए उठ कर बाहर आना चाहिए।

प्रस्तुत पाठ में जो 'बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो' के अंश में 'दिवसो वइक्कंतो' का पाठ है उसके स्थान में रात्रिक प्रतिक्रमण में 'राई वइक्कंता' पाक्षिक प्रतिक्रमण में 'पक्खो वइक्कंतो' चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में 'चउमासी वइक्कंता' तथा सांवत्सरिक प्रतिकमण में 'संवच्छरो वइक्कंतो' ऐसा पाठ पढ़ना चाहिए।

संदर्भ

१. 'वदि' अभिवादनस्तुत्योः, इति कायेन अभिवादने वाचा स्तवने। -आवश्यक चूर्णि
२. 'खमागहणे य मद्दवादयो सूइता' -आचार्य जिनदास
३. 'सूत्राभिधानगर्भाः काय-व्यापारविशेषाः' -आचार्य हरिभद्र, आवश्यक वृत्ति
   'सूत्र-गर्भा गुरुचरणकमलन्यस्तहस्तशिरःस्थापनरूपाः।' -प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, वन्दनक द्वार
४. 'त्रिविधेन' का अभिप्राय है कि यह समय अवग्रह में प्रवेश कर द्वादशावर्त वन्दन करने का नहीं है। अतः तीन बार तिक्खुत्तो के पाठ के द्वारा, अवग्रह से बाहर रह कर ही संक्षिप्त वन्दन कर लेना चाहिए। 'त्रिविधेन' शब्द मन, वचन, काय योग की एकाग्रता पर भी प्रकाश डालता है। तीन बार वन्दन अर्थात् मन, वचन एवं काय योग से वन्दन।
५. 'निसीह' बाहर के कार्यों से निवृत्त होकर गुरु चरणों में उपस्थित होने रूप नैषेधिकी समाचारी का प्रतीक है। इसीलिए आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत प्रसंग पर कहते हैं- 'ततः शिष्यो नैषेधिक्या प्रविश्य।' अर्थात् शिष्य, अवग्रह में 'निसीह' कहता हुआ प्रवेश करे।

पंच-परमेष्ठी के प्रति भाव-वंदना का महत्त्व

श्री जशकरण डागा

प्रतिक्रमण में पाँच पदों की भावपूर्वक वन्दना की जाती है। वन्दन द्रव्य और भाव रूप से दो प्रकार का है। लेखक ने भाव-वन्दन की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा है कि भावों की उत्कृष्टता के साथ किया गया वन्दन पापनाशक, पुण्यार्जन में हेतु एवं मुक्तिसदृश अध्यात्म के उच्चतम स्तर की प्राप्ति कराने में सहायक होता है। *-सम्पादक*

'विणओ जिणसासणमूलो'[1] के अनुसार धर्म का मूल विनय है। विनयपूर्वक नमन को जिनशासन में 'वन्दन' कहा गया है। पंच परमेष्ठी के पाँचों पदों के आरम्भ में 'णमो' शब्द वंदन का ही पर्याय है। मोक्ष मार्ग में गति हेतु भावपूर्वक परमेष्ठी का वंदन आवश्यक है, कारण कि इसके बिना ज्ञान व क्रिया भी फलीभूत नहीं होते हैं। कहा है- 'जे नमे ते गमे' अर्थात् नमता है वह ज्ञान प्राप्त करता है।

वंदना के प्रकार

द्रव्य और भाव की अपेक्षा वंदना के मुख्य दो भेद हैं। शरीर से पंचांग झुकाकर नमन करना द्रव्य-वंदना है, जबकि पूज्य भाव से भक्तिपूर्वक मन से नमन को भाव-वंदना कहा है। वंदना के तीन प्रकार भी कहे हैं। यथा-

१. जघन्य वंदना- हाथ जोड़कर मुख से मात्र 'मत्थएण वंदामि' कहना। मार्ग में साधु-साध्वियों के मिलने पर यह वंदना की जाती है।

२. मध्यम वंदना- यह स्थानक/उपाश्रय आदि स्थानों में विराजित साधु-साध्वियों को पंचाग नमाकर 'तिक्खुत्तो' के पाठ से की जाती है।

३. उत्कृष्ट वंदना- यह प्रतिक्रमण में 'इच्छामि खमासमणो' के पाठ से गुरुदेव को की जाती है।

पंच परमेष्ठी को भाव वंदना में तिक्खुत्तो के पाठ से पंचाग झुकाकर मध्यम वंदना का प्रयोग होता है। वर्तमान में प्रचलित 'पंच परमेष्ठी भाव वंदना' जो पूज्य तिलोकऋषि जी म.सा. द्वारा विरचित है; भाषा, भाव और भक्ति की दृष्टि से बहुत उत्तम है। इसे बोलने और सुनने वाले सभी परमेष्ठी की भक्ति में तन्मय हो जाते हैं, जो इसकी एक बड़ी विशेषता है।

वंदना कैसे व किसे?

वंदना द्रव्य से यथाविधि पंचांग नमा कर भावपूर्वक की जानी चाहिए। बिना भाव के वंदना का कोई

लाभ नहीं होता है। प्रभु ने कहा है-

पढिएणवि किं कीरइ, किं वा सुणिएण भावरहिएण।

भावो कारणभूदो, सायारणायारभूदाण।।[२]

अर्थात् भाव रहित होकर पढ़ने व सुनने से क्या लाभ? चाहे गृहस्थ हो यां त्यागी, सभी की उन्नति का मूल कारण भाव है।

जो द्रव्य वंदन मात्र व्यवहार के पालनार्थ, लोकलज्जा या स्वार्थ अथवा शिष्टाचार से किया जाता है, वह आत्मकल्याण का कारण नहीं होता है। इस संदर्भ में एक ऐतिहासिक उदाहरण उल्लेखनीय है। एक बार श्री कृष्णवासुदेव भगवान् अरिष्टनेमि व उनके श्रमणों के दर्शनार्थ आए एवं उन्हें विशुद्ध भावों से श्रद्धा भक्तिपूर्वक सविधि वंदन किया। दूसरी ओर श्रीकृष्ण के साथ आए उनके भक्त वीरक कौलिक भी अपने स्वामी श्रीकृष्ण को खुश करने हेतु उनके पीछे-पीछे उनकी तरह ही (द्रव्य से) वंदना करते गये। तभी प्रभु से वंदना का फल पूछा गया। प्रभु ने फरमाया श्रीकृष्ण वासुदेव ने भाव सहित श्रद्धापूर्वक सविधि वंदना करने से क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर तीर्थंकर गोत्र अर्जित कर लिया है तथा सातवीं से चौथी नरक तक के कर्म-बंधन तोड़ दिये हैं। किन्तु वीरक ने जो अपने स्वामी की देखादेखी मात्र द्रव्य से वंदन किया है, उसका प्रतिफल मात्र श्री कृष्ण वासुदेव की संतुष्टि एवं प्रसन्नता मात्र है। उत्तम वंदना हेतु वंदना के अनादृत (अनादर), स्तब्ध (मद) आदि ३२ दोषों[३] को टालकर वंदना की जानी चाहिए।

वंदना का महत्त्व

भावभक्ति एवं श्रद्धापूर्वक सविधि परमेष्ठी वंदना का बड़ा महत्त्व है, यथा-

१. **मुक्ति प्राप्ति का सहज सर्वोत्तम साधन**- श्री देवचन्द्र जी म. सा. ने कहा है-

एक बार प्रभु वंदना रे, आगम रीते थाय।

कारण सत्ये कार्यनी रे, सिद्धि प्रतीत कराय।।

अर्थात् एक बार आगम विधि अनुसार की गई प्रभु (परमेष्ठी) वंदना, सत्य (मोक्ष) का कारण होकर, उसकी सिद्धि कराने में समर्थ होती है।

२. **तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन का मुख्य हेतु**- सर्वोत्कृष्ट पुण्य प्रकृति तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन बीस बोलों की आराधना से होता है।[४] पंचपरमेष्ठी की भक्तिभावपूर्वक वंदना स्तुति करने से बीस बोलों में से आठ बोलों की आराधना निम्न प्रकार हो जाती है- १. अरिहंतों की भक्ति २. सिद्धों की भक्ति ३. प्रवचन-ज्ञान-धारक संघ की भक्ति ४. गुरु महाराज की भक्ति ५. स्थविरों की भक्ति ६. बहुश्रुत मुनियों की भक्ति ७. तपस्वी मुनियों की भक्ति ८. परमेष्ठी व गुणियों का विनय। शेष बारह बोलों की भी भाव वंदना से देश आराधना हो जाती है।

३. **स्वर्ग प्राप्ति का प्रमुख हेतु**- शास्त्रकार कहते हैं-

स्मृतेन येन पापोऽपि, जन्तुः स्यान्तियतं सुरः।
परमेष्ठि - नमस्कार-मंत्र तं स्मर मानसे ॥

अर्थात् जिसके स्मरण मात्र से पापी प्राणी भी निश्चित रूप से देवगति को प्राप्त करता है, उस परमेष्ठी महामंत्र को प्रथम स्मरण करो। इससे स्पष्ट है कि जब पापी जीव भी स्मरण मात्र से देवगति प्राप्त करता है, तो जो भक्तिपूर्वक परमेष्ठी की स्तुति वंदना करता है, उसे निःसंदेह स्वर्ग (वैमानिक देव गति) या मोक्ष की प्राप्ति होती है।

४. पुण्यानुबंधी पुण्य अर्जन का उत्तम हेतु- परमेष्ठी भाववंदना में साध्य व साधन दोनों श्रेष्ठ व सर्वोत्तम होने से उत्कृष्ट श्रद्धा व भक्ति पैदा कर वंदनाकर्त्ता के लिए यह निर्जरा के साथ पुण्यानुबंधी पुण्य अर्जन का हेतु भी होता है, जो उसे उत्तम निमित्त प्राप्त करा कर परम्परा से मोक्ष उपलब्धि में सहायक होता है।

५. आत्मिक सुप्त शक्तियों को जाग्रत करने में उत्तम हेतु- प्रत्येक मनुष्य में अनंत शक्तियाँ सत्ता में विद्यमान हैं। जब तक वह सुप्त दशा (अज्ञान व मोह से ग्रसित दशा) में रहता है, वे शक्तियाँ भी सुप्त रहती हैं। परमेष्ठी भाव वंदना भक्तिपूर्वक करने से, वे आत्म शक्तियाँ अनेक रूपों में जाग्रत हो जाती हैं।

६. अनिष्टरोधक और ग्रहशान्ति करने में सहायक- परमेष्ठी के स्मरण-वंदन स्तुति का महत्त्व दर्शाते हुए शास्त्रकारों ने कहा है-

जिण सासणसारो, चउदस पुव्वाण जो समुद्धरो।
जस्स मणे नवकारो, संसारो तस्स किं कुणइ ॥

अर्थात् जिनशासन का सार चौदह पूर्व के उद्धार रूप नवकार मंत्र जिसके मन में है, उसका संसार क्या कर सकता है अर्थात् संसार के उपद्रव उसे किसी भी प्रकार की पीड़ा नहीं पहुँचा सकते हैं। ज्योतिषशास्त्र के अनुसार परमेष्ठी के नियिमित विधिपूर्वक जाप, स्तुति आदि से ग्रह शान्ति भी शीघ्र हो जाती है।

७. लौकिक सिद्धियों की प्राप्ति-यद्यपि परमेष्ठी महामंत्र लोकोत्तर सिद्धि प्रदायक है, तथापि इसकी भक्तिपूर्वक स्तुति वंदना से लौकिक सिद्धियाँ भी वैसे ही स्वतः प्राप्त हो जाती हैं जैसे गेहूँ की खेती करने वाले को खाखला प्राप्त हो जाता है।

८. सर्व पापनाशक- परमेष्ठी के पाँच पदों की स्तुति वंदना में समस्त पापों का नाश करने की अद्भुत शक्ति समाहित है। इसकी पुष्टि आचार्य मानतुंग स्वामी द्वारा रचित भक्तामर स्तोत्र के सातवें श्लोक से होता है, जिसमें कहा गया है-

त्वत्संस्तवेन भवसंतति-सन्निबद्धं,
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीर-भाजाम्।
आक्रान्त - लोकमलिनीलमशेषमाशु,
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ॥

अर्थात् हे भगवन्! (जो परमेष्ठी के देव पद में समाहित है) आपकी स्तुति का चमत्कार अलौकिक

है। कोटि-कोटि जन्मों से बँधा हुआ संसारी जीवों का पाप कर्म आपकी स्तुति के प्रभाव से क्षणभर में विनाश को उसी तरह प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार समग्र विश्व पर छाया हुआ, भौंरे के समान अत्यन्त काला अमावस्या की रात्रि का सघन अंधकार, प्रातःकालीन् सूर्य की उज्ज्वल किरणों के उदय होने से विनाश को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार जब मात्र आदिनाथ स्वामी की स्तुति में इतना चमत्कार है, तो जिस परमेष्ठी में अनंत तीर्थंकर, सिद्ध आदि समाहित हैं उनकी स्तुति वंदना करने से सर्व पापों का नाश हों, इसमें क्या संदेह हो सकता है?

९. साधना का सशक्त साधन- परमेष्ठी भाव वंदना से न केवल परमेष्ठी का पवित्र स्वरूप ध्यान में आता है, वरन् स्वयं परमेष्ठी रूप होने की, आत्मा से परमात्मा होने की प्रेरणा मिलती है। भाव से परमेष्ठी का साक्षात्कार भी होता है, जिससे उनके गुण वंदना-कर्त्ता के अंतर में विकसित होते हैं और वह बहिरात्मा से अंतरात्मा, अंतरात्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा की भूमिका को उपलब्ध हो जाता है।

अंत में यह ध्यान देने योग्य है कि कर्मास्रव पाँच हैं- मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग। इनमें मिथ्यात्व के दोषों की निवृत्ति दर्शन समकित के पाठ से, अव्रत के दोषों की निवृत्ति पाँच अणुव्रतों के पाठों से, प्रमाद के दोषों की निवृत्ति तीन गुणव्रतों के पाठों से, चार कषायों के दोषों की निवृत्ति चार शिक्षाव्रत के पाठों से और अशुभ योग के दोषों की निवृत्ति भाव वंदना के पाठों से होती है।卐 इससे प्रतिक्रमण में भाव वंदना बोलने की उपयोगिता और अनिवार्यता स्पष्ट ध्यान में आती है। अतः विना भाव वंदना के प्रतिक्रमण अधूरा है। भावभक्ति एवं विधि पूर्वक पंच परमेष्ठी की भाव वंदना का महत्त्व अध्यात्म क्षेत्र में सर्वोपरि है। कारण कि परमेष्ठी की भक्ति में बड़ी अद्भुत शक्ति निहित है। जिसके अनेक उदाहरण जैसे सेठ सुदर्शन, सती सोमा आदि।

महात्मा कबीर ने भी भक्ति को सबसे बड़ी शक्ति बताते हुए कहा है-

माला बड़ी न तिलक बड़ो, न कोई बड़ो शरीर।
सब ही से भक्ति बड़ी, कह गए दास कबीर।।

चूँकि परमेष्ठी की भक्ति सर्वोत्तम है, अतएव परमेष्ठी के महत्त्व और उसकी भक्ति की गरिमा को ध्यान में लेकर उभयकाल पंचपरमेष्ठी की भाव वंदना प्रतिक्रमण के साथ एकाग्र भाव से बोली जानी चाहिए।

संदर्भ

१. विशेषावश्यक भाष्य
२. भावपाहुड, ६६
३. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग ७, पृष्ठ ४३-४४
४. ज्ञातासूत्रकथांग अध्ययन ८/ प्रवचनसारोद्धार, द्वार १०, गाथा ३१०-३१९

-डागा सदन, संघपुरा मोहल्ला टोंक (राज.)

卐 मिथ्यात्वादि दोषों की निवृत्ति के पाठों हेतु द्रष्टव्य प्रश्नोत्तर खण्ड।

कायोत्सर्ग : एक विवेचन

श्री विमल कुमार चोरडिया

कायोत्सर्ग एक महती साधना है जो कर्म-निर्जरा के साथ केवलज्ञान एवं मुक्ति की प्राप्ति सहायक है। कायोत्सर्ग के प्रयोजन, स्वरूप, कायोत्सर्ग मुद्रा, कायोत्सर्ग के दोष, कायोत्सर्ग के लाभ आदि पर पूर्व सांसद श्री चोरडिया जी ने सम्यक् प्रकाश डाला है। -सम्पादक

कायोत्सर्ग का सीधा अर्थ है, काया का उत्सर्ग अर्थात् त्याग।

अध्यात्म की अपेक्षा से देहत्याग का आशय देह के प्रति जो अनुराग है, देहाध्यास है, उसका परित्याग करना। इस देहाध्यास का त्याग करने के लक्ष्य से निम्नलिखित हेतुओं से कायोत्सर्ग किया जाता है:-

१. रास्ते में चलने-फिरने आदि से जो विराधना होती है उससे लगने वाले अतिचार से निवृत्त होने के लिए, उस पापकर्म को नीरस करने के लिए (इरियावहियं सूत्र के अनुसार) तथा तस्सउत्तरी सूत्र के अनुसार-
२. उत्तरीकरणेणं- पाप मल लगने से आत्मा मलिन है। आत्मा की विशेष शुद्धि के लिए, उसको अधिक निर्मल बनाने के लिए, उस पर अच्छे संस्कार डालकर उसको उत्तरोत्तर उन्नत बनाने के लिए।
३. पायच्छित्तकरणेणं- प्रायश्चित्त करने के लिए, पाप का छेद-विच्छेद करने के लिए, आत्मा को शुद्ध बनाने के लिए।
४. विसोहिकरणेणं- विशोधिकरण के लिए, आत्मा के परिणामों की विशेष शुद्धि करने के लिए। आत्मा के अशुभ व अशुद्ध अध्यवसायों के निवारण के लिए।
५. विसल्लीकरणेणं- विशल्यीकरण, आत्मा को माया शल्य, निदान शल्य एवं मिथ्यात्व शल्य से रहित बनाने के लिए कायोत्सर्ग करते हैं।
६. अरिहंत प्रभु एवं श्रुत धर्म के वन्दन, पूजन, सत्कार, सम्मान के निमित्त; बोधि लाभ एवं मोक्ष प्राप्ति के लिए- वड्ढमाणीए=बढ़ती हुई- १. सद्धाए=श्रद्धा से, २. मेहाए=बुद्धि से ३. धिईए=धृति से= विशेष प्रीति से, ४. धारणाए=धारणा से=स्मृति से ५. अणुप्पेहाए=अनुप्रेक्षा से=चिन्तन से कायोत्सर्ग करते हैं। ये कायोत्सर्ग भावधारा की शुद्धि के लिए आवश्यक हैं।
७. इनके अतिरिक्त जो देव शासन की सेवा-शुश्रूषा करने वाले हैं, शान्ति देने वाले हैं; सम्यक्त्वी जीवों को समाधि पहुँचाने वाले हैं उनकी आराधना के लिए, दोषों के परिहार के लिए, क्षुद्र उपद्रव के परिहार के लिए, तीर्थ-उन्नति, गुरुवन्दन आदि के लिए भी कायोत्सर्ग किए जाते हैं।

मुख्यतः कायोत्सर्ग जिनमुद्रा में होना चाहिए। उसके लिए उल्लेख है-

चतुरङ्गुलमग्रतः पादयोरन्तरं किंचिन्न्यूनं च पृष्ठतः।
कृत्वा समपादकायोत्सर्गेण जिनमुद्रा॥

दोनों पाँवों के बीच चार अंगुल और पीछे की ओर कुछ कम अन्तर रखकर कायोत्सर्ग करना जिनमुद्रा कहलाती है।

प्रलम्बितभुजद्वन्द्वमूर्ध्वस्वथस्वासितस्य वा।
स्थानं कायानपेक्षं यत् कायोत्सर्गः स कीर्तितः॥

खड़े होकर दो लटकती भुजाएँ रखकर अथवा बैठकर शरीर की अपेक्षा आसक्ति से रहित रहना कायोत्सर्ग है।

देवस्सियणियमादिसु, जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि।
जिणगुण-चिंतण-जुत्तो, काउसग्गो तणुविसग्गो॥

दैवसिक प्रतिक्रमण आदि शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार सत्ताईस श्वासोच्छ्‌वास तथा उपयुक्त काल तक जिनेन्द्र भगवान के गुणों का चिन्तन करते हुए शरीर का ममत्व त्याग देना, कायोत्सर्ग नामक आवश्यक है।

जे केइ उवसग्गा, देवमाणुस-तिरिक्खऽचेदणिया।
ते सव्वे अधिआसे, काउसग्गे ठिदो संतो॥

कायोत्सर्ग में स्थित सन्त देवकृत, मनुष्कृत तिर्यंचकृत तथा अचेतन कृत होने वाले समस्त उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करता है।

श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यक निर्युक्ति में बताया है-

वासीचन्दनकप्पो, जो मरणे जीविए य सममणो।
देहे य अपडिबद्धो, काउसग्गं हवइ तस्स॥

चाहे कोई भक्ति भाव से चन्दन लगाये, चाहे कोई द्वेष वश बसोले से छीले, चाहे जीवन रहे, चाहे इसी क्षण मृत्यु हो जावे; परन्तु जो व्यक्ति देह में आसक्ति नहीं रखता, वस्तुतः उसी का कायोत्सर्ग समीचीन है।

युवाचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार पैर से सिर तक शरीर को छोटे-छोटे हिस्सों में बाँटकर, प्रत्येक भाग पर चित्त को केन्द्रित कर स्वतः सूचन (auto suggestion) के द्वारा शिथिलता का सुझाव देकर पूरे शरीर को शिथिल करना है। पूरे ध्यान काल तक इस कायोत्सर्ग की मुद्रा को बनाये रखना है तथा शरीर को अधिक से अधिक स्थिर और निश्चल रखने का अभ्यास करना है। यह प्रेक्षा ध्यान की अपेक्षा से कायोत्सर्ग है।

विपश्यना पद्धति के अनुसार- 'सम्मा वायामो, सम्मासति, सम्मा समाधि' बताये हैं। सम्मा वायामो का अर्थ है, सम्यक् व्यायाम। मन का विशुद्धीकरण करने के लिए मन का व्यायाम। इसके लिए मन का निरीक्षण

करना, मन की बुराई निकालना, बुराई को आने न देना, अच्छाई को कायम रखने का प्रयत्न करना, उसका संवर्द्धन करना, जो सद्गुण अपने में नहीं हैं, उन्हें प्राप्त करना, यह सम्यक् व्यायाम है। इस प्रकार स्थूल-स्थूल बातें पहले जानना अर्थात् मोटा-मोटा श्वास का नाक से आना-जाना जानना, फिर जरा सूक्ष्म श्वास जानना, फिर श्वास का छूना जानना, इसके बाद नाक के त्रिकोण पर ध्यान केन्द्रित कर वहाँ क्या हो रहा है, जानना। श्वास के स्पर्श की कुछ न कुछ प्रतिक्रिया हो रही है, यह वर्तमान की सच्चाई है। धीरे-धीरे अन्य सच्चाइयाँ प्रकट होने लगती हैं। ज्यों-ज्यों मन सूक्ष्म होने लगता है, शरीर के अन्दर जो जैविक, रासायनिक, विद्युत चुम्बकीय प्रतिक्रियाएँ हो रही हैं उनका अनुभव होने लगता है। जागरूक रहकर वर्तमान की सच्चाई को जानना है। इसके द्वारा हम अनुभूतियों के स्तर पर ज्ञात से अज्ञात क्षेत्र को जानने लगते हैं। इसके बाद 'सम्मा समाधि' =सम्यक् समाधि =चित्त की समाधि होती है।

कायोत्सर्ग में द्रव्य उत्सर्ग और भाव उत्सर्ग आवश्यक है। जब तक द्रव्य और भाव से काया का उत्सर्ग नहीं किया जाता तब तक वह केवल द्रव्य कायोत्सर्ग ही कहलायेगा, औपचारिकता रहेगी।

कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा में, प्रतिज्ञा भंग का दोष न लगे इस हेतु से 'अन्नत्थ ऊससिएणं' सूत्र के अनुसार अपवाद रखें हैं। वे अपवाद हैं-श्वास लेना, श्वास छोड़ना, खाँसी आना, छींक आना, जम्हाई आना, डकार आना, अपान वायु छूटना, चक्कर आना, मूर्च्छा आना, सूक्ष्म अंगों का संचार होना, सूक्ष्म कफ का संचार तथा सूक्ष्म दृष्टि का संचार होना आदि।

उपर्युक्त अपवाद होने पर भी निम्नलिखित दोष न लग जायें, इसकी सावधानी आवश्यक है। १. घोड़क दोष- एक पैर टेढ़ा या ऊँचा रखना। २. लता दोष- लता की तरह शरीर कम्पित होना। ३. स्तंभादिक दोष-खंभे या दीवार का सहारा लेना। ४. माल दोष- छत का मस्तक से स्पर्श करना। ५. उद्धि दोष- दोनों पैर जोड़ देना। ६. निगड दोष- पैर अधिक चौड़े रखना। ७. शबरी दोष- भीलनी की तरह गुह्यांग पर हाथ रखना। ८. खलिन दोष- लगाम की तरह हाथ में रजोहरण या चरवला पकड़ना। ९. वधूदोष- बहू की तरह मस्तक नीचे रखना। १०. लंबुत्तर दोष- चोलपट्टा या धोती को नाभि से चार अंगुल से अधिक ऊँचा पहनना। ११. स्तन दोष- स्त्री की तरह स्तन पर कपड़ा ढाँकना। १२. संयती दोष- मस्तक को व अंगों को साध्वी या स्त्री की तरह सम्पूर्ण ढँकना। १३. भ्रमितांगुलि दोष- मंत्र गिनते-गिनते अंगुली अथवा नेत्र की भवों को घुमाना। १४. कौआ दोष- कौए की तरह इधर-उधर देखना। १५. कपित्थ दोष- धोती के मलिन होने के भय से, धोती को पटली को गोल बनाकर पैरों के बीच में दबाकर रखना। १६. सिरकम्प दोष- मस्तक हिलाते रहना। १७. मूक दोष- गूंगे की तरह हूँ-हूँ करना। १८. वारुणी दोष- जैसे शराब पकती है और बुड़-बुड़ की आवाज आती है वैसी आवाज करना। १९. प्रेक्षा दोष- बन्दर की तरह ऊपर-नीचे दृष्टि घुमाना आदि।

लंबुत्तर, स्तन व संयती दोष साध्वीजी को नहीं लगते, कारण उन्हें अपने सभी अंग वस्त्र से ढके रखना चाहिये। श्राविकाओं के लिए उपर्युक्त तीन एवं वधू दोष नहीं लगते, क्योंकि लज्जा स्त्री का भूषण होने

से उन्हें मस्तक व दृष्टि नीची रखनी चाहिये।

मानव के १६ संज्ञाएँ हैं- १. आहार २. भय ३. मैथुन ४. परिग्रह ५. क्रोध ६. मान ७. माया ८. लोभ ९. ओघ १०. लोक ११. सुख १२. दुःख १३. मोह १४. विचिकित्सा १५. शोक और १६. धर्म।

इन संज्ञाओं के कारण मानव के आंकांक्षा, मिथ्या दृष्टिकोण, प्रमाद, कषाय, मन-वचन-काया की चंचलता ये आन्तरिक संक्लेश हैं। इसके परिणामस्वरूप मानव को ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा, घृणा, भय का भाव, सत्ता और सम्पत्ति के लिए संघर्ष, लालसाएँ आदि कुविकल्प व भाव होते हैं। इनका दबाव मनुष्य पर सतत बना रहता है। इस प्रकार के दबाव=तनाव=Tension के कारण मनुष्य के शरीर के- १. अवचेतक (हाइपोथेलेमस) २. पीयूष ग्रन्थि (Pitutary gland) ३. अधिवृक्क (एड्रीनल ग्लेण्डस्), ४. स्वायत्त नाड़ी संस्थान के अनुकंपी विभाग आदि पर कुप्रभाव पड़ता है, जिसके परिणाम में १. पाचन क्रिया मंद होते-होते धीरे-धीरे स्थगित होजाती है। २. लार ग्रन्थियों के कार्य स्थगन से मुँह सूखने लगता है। ३. चयापचय की क्रिया में अव्यवस्था होने लगती है। ४. यकृत द्वारा संगृहीत शर्करा अतिरिक्त रूप से रक्त-प्रवाह में छोड़ी जाती है मधुमेह की बीमारी का हेतु बनती है। ५. श्वास तेजी से चलने लगता है, हांपनी चढ़ती है। ६. हृदय की धड़कन बढ़ जाती है ७. रक्तचाप बढ़ जाता है... आदि आदि। इसके परिणामस्वरूप नींद न आना, रक्तचाप ऊँचा-नीचा होना, हृदयाघात, पक्षाघात, हेमरेज, रक्त अल्पता, वायु-विकार आदि हो जाते हैं। धीरे-धीरे व्यक्ति संकल्पविहीन, इन्द्रियों का दास, चंचल वृत्ति वाला एवं अस्थिर हो जाता है। उसकी बीमारियों का सामना करने की अवरोधक शक्ति कम हो जाती है। उसकी स्वयं की और परिवार की शांति भंग हो जाती है। उसकी शारीरिक एवं मानसिक स्थिति खराब हो जाती है। उसकी भावधारा विकृत हो जाती है। वह मोक्षमार्ग से विपरीत दिशा का राही हो जाता है।

जब कायोत्सर्ग पुष्ट हो जाता है, तब शरीर और आत्मा के भेद का स्पष्ट अनुभव होने लगता है। कायोत्सर्ग भेदविज्ञान की साधना है। इस भेदविज्ञान से आत्मोपलब्धि की यात्रा का प्रारम्भ हो जाता है।

हमारे मन में मूर्च्छा, मोह, राग-द्वेष, वासना, कषाय और अनगिनत बुराइयों का मेल है। उनको हटाना है तो कायोत्सर्ग उसके लिए सर्वोत्कृष्ट उपाय है।

समणसुत्त के अनुसार कायोत्सर्ग से निम्नलिखित स्थिति बनती है-

देह मइ जड्ड सुद्धी, सुह दुक्ख तितिक्खया अणुप्पेहा।
झायइ य सुह झाणं, एगग्गो काउसग्गम्मि।। -समणसुत्तं, ४८१

कायोत्सर्ग करने से निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं-

१. देहजाड्यशुद्धि- श्लेष्म आदि दोषों के क्षीण होने से देह की जड़ता नष्ट होती है।
२. मतिजाड्यशुद्धि- जागरूकता के कारण बुद्धि की जड़ता नष्ट होती है।
३. सुख-दुःख तितिक्षा- सुख-दुःख सहने की शक्ति का विकास होता है।
४. अनुप्रेक्षा- भावनाओं के लिए समुचित अवसर का लाभ होता है।

५. एकाग्रता- शुभध्यान के लिए चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग से मानसिक, स्नायविक, भावात्मक तनाव समाप्त हो जाते हैं, ममत्व का विसर्जन हो जाता है, सभी नाड़ी तंत्रीय कोशिकाएँ प्राण-शक्ति से अनुप्राणित होती हैं। तनाव के कारण होने वाले ऊपर वर्णित दोष व बीमारियाँ उत्पन्न नहीं होती और यदि वे दोप और बीमारियाँ हों तो धीरे-धीरे समाप्त हो जाती हैं।

दीर्घकालीन अशान्त निद्रा की अपेक्षा स्वल्पकालीन कायोत्सर्ग व्यक्ति को अधिक स्फूर्ति और शक्ति प्रदान करता है। जिन्हें उच्च रक्तचाप आदि के कारण हृदय रोग होने की संभावना रहती है, वे कायोत्सर्ग के नियमित अभ्यास से अपनी प्रतिकार करने की शक्ति को बढ़ाकर इस खतरे से बच सकते हैं।

कायोत्सर्ग भेदविज्ञान की साधना है। अभ्यास करते-करते जब कायोत्सर्ग पुष्ट हो जाता है तब शरीर और आत्मा का भेद स्पष्ट अनुभव होने लगता है।

कायोत्सर्ग आत्मा तक पहुँचने का द्वार है। स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा करने का योग है। श्वास स्थूल है और प्राण सूक्ष्म है। प्राण पर नियन्त्रण होने से अनासक्ति, अपरिग्रहवृत्ति, ब्रह्मचर्य आदि व्रत सहज में सध जाते हैं और दुष्टवृत्तियों में परिवर्तन आ जाता है। घृणा नष्ट हो जाती है। क्रोध की अग्नि शान्त हो जाती है और क्षमा की वर्षा होने लगती है।

श्वास के शिथिल होने से शरीर निष्क्रिय बन जाता है। प्राण शान्त हो जाते हैं और मन निर्विचार हो जाता है। श्वास की निष्क्रियता ही मन की शान्ति और समाधि है। धीमी श्वास धैर्य की निशानी है।

कायोत्सर्ग से प्रज्ञा का जागरण हो जाता है। बुद्धि और प्रज्ञा में इतना ही अन्तर है कि बुद्धि चुनाव करती है कि यह प्रिय है, यह अप्रिय है; किन्तु प्रज्ञा में चुनाव समाप्त हो जाता है। उसके सामने प्रियता और अप्रियता का प्रश्न ही नहीं उठता । उसके सामने समता ही प्रतिष्ठित होती है। जब प्रज्ञा जागती है तो जीवन में समता स्वतः प्रकट होती है और लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, निंदा-प्रशंसा, जीवन-मरण आदि द्वन्द्वों में सम रहने की क्षमता विकसित होती है।

इस मुद्रा व भाव के अभ्यास से आत्मरमणता क्रमशः इतनी बढ़ जाती है कि एक दिन साधक शैलेशी अवस्था प्राप्त कर केवलज्ञानी बनकर मोक्ष सुख प्राप्त कर सकता है। शास्त्रों में इसके उदाहरण विद्यमान हैं। कायोत्सर्ग की स्थिति में महावीर स्वामी के कान में कीलें ठोके जाने पर, संगम द्वारा उपसर्ग करने पर भी वे अविचल रहे। गजसुकुमाल मुनि के सिर पर दहकते अंगारे रखे गए, अवन्तिसुकुमाल का हिंसक पशुओं ने भक्षण किया, किन्तु वे अविचल रहे।

कायोत्सर्ग उसी का सार्थक है जो धर्मध्यान और शुक्लध्यान में किया जाए। कायोत्सर्ग करने वालों को शत-शत वन्दन, हार्दिक अभिनन्दन और मन-वचन-काया से उनका अनुमोदन।

-पूर्व सांसद एवं विधायक

भानपुरा-४५८७७५, जिला-मन्दसौर (म.प्र.)

कायोत्सर्ग : काया से असंगता

श्री कन्हैयालाल लोढा

साधक के आत्मिक गुणों के घात को जैनागमों में अतिचार कहा है। अतिचारों के शोधन के लिए प्रतिक्रमण में पाँचवें आवश्यक के रूप में कायोत्सर्ग का विधान किया गया है। आदरणीय लोढ़ा सा. के अनुसार कायोत्सर्ग का तात्पर्य है काया से अपने को पृथक् समझना, असंग हो जाना, देहातीत हो जाना। लेख में कायोत्सर्ग पर सूक्ष्म चिन्तन प्रस्फुटित हुआ है। *-सम्पादक*

प्रतिक्रमण के साथ कायोत्सर्ग का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रतिक्रमण चतुर्थ आवश्यक है तो कायोत्सर्ग पाँचवाँ आवश्यक। कार्योत्सर्ग षडावश्यक का एक अंग है। कायोत्सर्ग का अर्थ है- काया का उत्सर्ग करना, देहातीत अवस्था का अनुभव करना। अनुयोगद्वार सूत्र में कायोत्सर्ग को 'व्रण-चिकित्सा' कहा है, जो उपयुक्त ही है। कारण कि भोगासक्ति, मोह, असंयम आदि दोषों के कारण आत्मा के ज्ञानदर्शन-चारित्र गुणों का घात करने रूप घाव हो जाते हैं। उन घावों का उपचार (चिकित्सा) कायोत्सर्ग है। साधक के आत्मिक गुणों के घात (घाव) को जैनागमों में अतिचार कहा है। इन अतिचारों के विशोधन के लिये ही कायोत्सर्ग का विधान है, जैसा कि आवश्यक सूत्र के पाँचवें आवश्यक कायोत्सर्ग के प्रतिज्ञा पाठ में कहा है :-

"आवस्सं हि इच्छाकारेणं संदिसह भगवं! देवसिय-पडिक्कमणं ठाएमि देवसिय-णाण-दसण-चरित्त-तव-अइयार-विसोहणट्ठं करेमि काउस्सग्गं।"

अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के अतिचारों के विशोधनार्थ कायोत्सर्ग करता हूँ। अतिचारों से रहित होना, निर्दोष होना है। इस प्रतिज्ञा पाठ के पश्चात् सामायिक सूत्र 'करेमि भंते का पाठ', प्रतिक्रमण सूत्र (इच्छामि ठामि काउसग्गं का पाठ) तथा कायोत्सर्ग सूत्र (तस्स उत्तरीकरणेणं का पाठ) बोले जाते हैं, जो कायोत्सर्ग अर्थात् देहातीत होने के लिये साधन रूप हैं।

कायोत्सर्ग अर्थात् देहातीत अवस्था का अनुभव करने के लिये अंतर्मुखी होना और बहिर्मुख प्रवृत्ति रहित होना आवश्यक है। बहिर्मुख वह ही होता है, जिसकी मन, वचन व शरीर की क्रियाएँ बहिर्गमन कर रही हैं। इसे आगम में सावद्य योग कहा है। सावद्य योग में कर्तृत्व, भोक्तृत्व (फलाकांक्षा) भाव होने से राग-द्वेष उत्पन्न होता है, जिससे समत्वभाव भंग होता है। समत्व के अभाव में कोई भी साधना व चारित्र संभव नहीं है। अतः 'करेमि भंते' के पाठ से समत्व को ग्रहण करने के लिये सावद्य योग का त्याग किया जाता है। इसे ही

सामायिक चारित्र कहा है। पाठ का भावार्थ है- "हे भगवन्! मैं पापकारी सावद्य प्रवृत्तियों को त्यागकर सामायिक (समत्व) ग्रहण करता हूँ। मैं मन, वचन, और शरीर से पाप कर्म न स्वयं करूँगा, न दूसरों से कराऊँगा और न पाप कर्म करते हुए को भला मानूँगा। हे भगवन्! मैं पाप कर्मों का प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा करता हूँ, त्याग करता हूँ और अपने को पापकारी क्रियाओं से अलग (असंग) करता हूँ।

प्रतिक्रमण द्वारा पापों से मुँह मोड़े (विमुख हुए) बिना कायोत्सर्ग साधना संभव नहीं है। अतः इसके लिए प्रतिक्रमण सूत्र का विधान है, जिसका भावार्थ है :-

मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ। मैंने दिन में जो कायिक, वाचिक तथा मानसिक अतिचार (दोष) किए हों, जो सूत्र से, मार्ग से, आचार से विरुद्ध है, नहीं करने योग्य है, दुर्ध्यान रूप है, अनिष्ट व अनाचरणीय है, साधु के लिये अनुचित है, इन अतिचारों से तीन गुप्ति, चार कषायों की निवृत्ति, पाँच महाव्रत, छह जीव निकायों की रक्षा, सात पिण्डैषणा, आठ प्रवचन माता, नौ ब्रह्मचर्य, दशविध श्रमण धर्म संबंधी कर्त्तव्य, यदि खण्डित हुए हों अथवा विराधित हुए हों तो वे सब पाप मेरे लिए मिथ्या अर्थात् निष्फल हों।

इसके पश्चात् कायोत्सर्ग के विधान का सूत्र पाठ है, जिसका पाठ निम्न प्रकार है, यथा- तस्सउत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं विसोहिकरणेणं विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं......... तावकायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि।

"आत्मा की उत्कृष्टता-श्रेष्ठता के लिये, दोषों के प्रायश्चित्त के लिये, विशेष शुद्धि करने के लिये, शल्य रहित होने के लिए, पाप कर्मों का पूर्णतया विनाश करने के लिये मैं कायोत्सर्ग करता हूँ। कायोत्सर्ग में श्वासोच्छ्वास, खाँसी, छींक, जंभाई, डकार, अपानवायु, चक्कर, पित्त की मूर्च्छा, अंग, कफ व दृष्टि के सूक्ष्म संचार से, अर्थात् शारीरिक क्रियाओं के अशक्य परिहार के अतिरिक्त काया के व्यापारों से निश्चल व स्थिर रहकर, वाणी से मौन रहकर, मन से ध्यानस्थ होकर अपने को शरीर से परे करता हूँ। यहाँ हमें स्मरण रखना चाहिए कि 'अप्पाणं वोसिरामि' का अर्थ आत्मा का विसर्जन करना नहीं है, अपितु देह के प्रति अपनेपन के भाव का विसर्जन करना है, क्योंकि विसर्जन व परित्याग आत्मा का नहीं, अपनेपन के भाव अर्थात् ममत्व बुद्धि का होता है। जब कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो जाता है तभी ध्यान की सिद्धि होती है और जब ध्यान सिद्ध हो जाता है तो आत्मा अयोग दशा अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अतः यह स्पष्ट है कि ध्यान मोक्ष का अन्यतम कारण है।" -आगार सूत्र (श्रमणसूत्र-अमरमुनि), पृष्ठ ३७६

देह, शरीर एवं तन काया के ही पर्यायवाची शब्द हैं। वर्तमान में काया के स्थान पर देह तथा शरीर शब्द का अधिक प्रयोग होता है। इस दृष्टि से 'कायोत्सर्ग' का अर्थ हुआ देह का उत्सर्ग, शरीर का उत्सर्ग।

जीव का सबसे अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध देह (काया) से है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि देह के ही अंग हैं। देह

से भिन्न इनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इसलिये देहान्त होते ही इनका भी अन्त हो जाता है। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन इन्द्रियाँ एवं मन जब अपने विषयों में प्रवृत्ति करते हैं, तब इनका वस्तुओं से अर्थात् संसार से सम्बन्ध होता है।

इस प्रकार शरीर का इन्द्रिय तथा वस्तुओं से एवं संसार से संबंध स्थापित होता है। अतः शरीर, इन्द्रियाँ, मन तथा इनकी विषय-वस्तुएँ एवं संसार, इन सबमें जातीय एकता है। ये सब एक ही जाति 'पुद्‌गल' के रूप में हैं। पुद्‌गल उसे कहते हैं जिसमें जल के बुद्‌बुदे की तरह उत्पत्ति और विनाश हो, जो क्षणभंगुर हो। विनाशी होने से देह से सम्बन्धित इन्द्रियाँ, मन, विषय एवं संसार की समस्त दृश्यमान वस्तुएँ नश्वर, परिवर्तनशील, अनित्य, अध्रुव, क्षणभंगुर हैं और एकही जाति की हैं। इनका परस्पर में घनिष्ठ संबंध है। इनमें जातीय एकता है, प्रवृत्ति की भिन्नता है; परन्तु देह में निवास करने वाली आत्मा जो इन सबके परिवर्तनशील रूप व नश्वरता की ज्ञाता है, वह अपरिवर्तनशील, अविनाशी, ध्रुव व नित्य है। इस प्रकार शरीर और संसार के समस्त पदार्थ विनाशी होने से अविनाशी आत्मा से भिन्न स्वभाव वाले होते हैं। इन पदार्थों की अधीनता पराधीनता है।

आत्मा देह से दो प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करती है - अभेद भाव का तथा भेदभाव का। मेरी देह है, मेरी इन्द्रियाँ हैं ऐसा ममता रूप सम्बन्ध स्वीकार करना भेदभाव का संबंध है। मैं देह हूँ, देह का अस्तित्व ही मेरा अस्तित्व है। देह में ऐसा अहंभाव, अहंकार, अभिमान होना अभेदभाव का सम्बन्ध है। 'मैं' (अहन्ता) अभेद भाव के सम्बन्ध का और 'मेरापन' (ममता) भेदभाव के सम्बन्ध का द्योतक है।

देह या शरीर संसार की जाति का होने से संसार का ही अंग है। अंग अंगी से अभिन्न होता है। अतः देह से सम्बन्ध स्थापित करते ही संसार से सम्बन्ध हो जाता है। यह नियम है कि जिससे संबंध हो जाता है उससे जुड़ाव हो जाता है। जुड़ाव होना, अर्थात् किसी से जुड़ना ही उससे बन्धना है। सम्बन्ध शब्द बना ही 'बन्ध' शब्द से है। इन्द्रियाँ देह की अंग हैं। अतः देह से सम्बन्ध होने से इन्द्रियों से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इन्द्रियों का कार्य शब्द, रूप आदि विषयों में प्रवृत्ति व कर्म करना है। विषयों का संबंध वस्तु से है और वस्तुओं का सम्बन्ध संसार से है। इस प्रकार देह का इन्द्रियों से, इन्द्रियों का विषयों से, विषयों का वस्तुओं से और वस्तुओं का संसार से सम्बन्ध स्थापित होता है। अतः देह से सम्बन्ध स्थापित करना समस्त संबंधों का एवं समस्त बन्धनों का कारण है।

बन्धन-मुक्त होने के लिए सम्बन्ध-मुक्त होना आवश्यक है। संबंध-मुक्त होने के लिए देह से सम्बन्ध विच्छेद करना आवश्यक है। देह (काया) से सम्बन्ध विच्छेद होना कायोत्सर्ग है। काया का इन्द्रियों से अंग-अंगी संबंध है। अतः कायोत्सर्ग से इन्द्रियों से और उनके विषयों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है जिससे विषयासक्ति (कषाय) से और विषयों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। विषयासक्ति से रहित होने पर कर्तृत्व व भोक्तृत्व भाव का अन्त हो जाता है। जिससे कर्मबन्धन का कार्य बन्द हो जाता है और कर्मोदय का

प्रभाव बलहीन हो जाता है। अर्थात् कर्म का व्युत्सर्ग हो जाता है। भोगासक्ति या कषाय का विच्छेद (क्षीण होना) कषाय-व्युत्सर्ग है। संसार से सम्बन्ध-विच्छेद होना संसार-व्युत्सर्ग है। आशय यह है कि कायोत्सर्ग से, देहाभिमान रहित होने से शरीर, संसार, कषाय व कर्म का व्युत्सर्ग हो जाता है। अर्थात् इनके बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है।

कर्तृत्वभाव से की गई प्रवृत्ति श्रमयुक्त होती है। श्रम काया के आश्रय के बिना, पराधीन हुए बिना नहीं हो सकता। काया के आश्रित तथा पराधीन रहते हुए काया से असंग होना सम्भव नहीं है। काया से असंग हुए बिना कायोत्सर्ग नहीं है। कायोत्सर्ग के बिना अर्थात् काया से जुड़े रहते जन्म-मरण, रोग-शोक, अभाव, तनाव, हीनभाव, द्वन्द्व आदि दुःखों से मुक्ति कदापि सम्भव नहीं है। अतः समस्त श्रमसाध्य प्रयत्नों एवं क्रियाओं या प्रवृत्तियों से रहित होने पर कायोत्सर्ग होता है। कायोत्सर्ग से ही निवार्ण प्राप्त होता है एवं सर्व दुःखों से मुक्ति होती है।

-८२/१४१, मानसरोवर, जयपुर

कायोत्सर्ग : प्रतिक्रमण का मूल प्राण

श्री रणजीतसिंह कूमट

सेवानिवृत्त आई.ए.एस. श्री रणजीतसिंह जी कूमट चिन्तनशील साधक विद्वान् हैं। आपका आलेख कायोत्सर्ग के स्वरूप, महत्त्व एवं वर्तमान में प्रचलित परिपाटी में संशोधन पर प्रकाश डालता है। -सम्पादक

पाँचवाँ आवश्यक 'कायोत्सर्ग' जैन साधना-पद्धति का विशिष्ट शब्द है जिसका अर्थ है-काया का उत्सर्ग या त्याग। यहां शरीर त्याग का अर्थ मृत्यु नहीं है, वरन् देहासक्ति या शरीर के प्रति ममता का त्याग है।

प्रतिक्रमण का मूल उद्देश्य कायोत्सर्ग है, क्योंकि यही एक माध्यम है जिससे हम अपने अन्तर्मन में या स्वभाव में स्थित हो सकते हैं। प्रतिक्रमण प्रारम्भ करने पर अनुमति लेने का पाठ जो निम्न प्रकार बोला जाता है, उससे भी स्पष्ट है कि प्रतिक्रमण का मूल उद्देश्य कायोत्सर्ग ही है-

"इच्छामि णं भंते! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे देवसियं (रायसियं) पडिक्कमणं ठाएमि देवसियं (रायसियं) नाणदंसणचरित्ताचरित्ततव-अइयार-चिंतणत्थं करेमि काउस्सग्गं"

अर्थ- भंते! आपकी आज्ञा का सम्मान करते हुए मेरी इच्छा है कि मैं दिन के लिये (रात्रि के लिये) प्रतिक्रमण में स्थापित होकर दिन भर में (रात्रि में) ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप के आराधन में हुए अतिचारों के संबंध में चिन्तन करने के लिये कायोत्सर्ग करूं।

हमारे दुःखों का मूल कारण है शरीर व इन्द्रिय-सुख के प्रति ममता, जिसके लिए हम क्या-क्या उपाय और परिश्रम नहीं करते? सुख के साधनों को एकत्र करने में ही सारा जीवन बिता देते हैं। शरीर के साथ शरीर के सुख के साधनों के प्रति आसक्ति बढ़ जाती है। और कभी-कभी ये सुख के साधन शरीर से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं, साधन ही लक्ष्य बन जाते हैं। साधनों के संग्रह एवं संरक्षण के लिए अत्यधिक परिश्रम कर शरीर का भी होम कर देते हैं। एक कामना की पूर्ति अनेक नई कामनाओं को जन्म देती है और सभी कामनाओं की पूर्ति असंभव है। कामना अपूर्ति से उत्पन्न तनाव से शरीर में अनेक बीमारियाँ घर कर लेती हैं, जिससे साधनों से सुख प्राप्त करने की बजाय दुःख का दौर शुरू हो जाता है।

धर्म के जो भी पैगम्बर, अवतार या तीर्थंकर हुए, वे बहुत बड़े चिकित्सक साबित हुए हैं.

क्योंकि उन्होंने यह जान लिया कि मनुष्य के दुःख का मूल कारण है- "बीमार मन" और मन का इलाज ही सही व स्थायी इलाज है। जब तक मन बाहरी साधनों या वस्तुओं से आसक्त है, मन का इलाज संभव नहीं है। साधनों से आसक्ति हटाने के लिये शरीर से ममता या आसक्ति हटाना आवश्यक है, क्योंकि साधनों का संग्रह शरीर के लिये ही किया जाता है। शरीर के प्रति ममता साधना में सबसे बड़ी बाधा है। शरीर से ममता भाव हटाना, देह में रहकर भी देहातीत स्थिति में हो जाना अर्थात् कायोत्सर्ग करना है। कायोत्सर्ग को व्रणचिकित्सा अर्थात् घावों की चिकित्सा भी कहा है। मन में उत्पन्न विकारों से हुए घावों को ठीक करने के लिये कायोत्सर्ग एक प्रकार का मरहम है। जैन आगम के महत्त्वपूर्ण सूत्र 'आवश्यक सूत्र' में कायोत्सर्ग में स्थापित होने का सूत्र निम्न प्रकार है-

"तस्स उत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं, विसोहीकरणेणं, विसल्लीकरणेणं, पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं"-आवश्यकसूत्र

अर्थ– जीवन को अधिकाधिक परिष्कृत करने, प्रायश्चित्त करने, विशुद्धि करने, शल्य से मुक्ति पाने और पाप कर्म का निर्घात अर्थात् नाश करने के लिये कायोत्सर्ग करता हूँ।

दैनिक जीवन में जो भी कार्य किये जाते हैं और जिनके पीछे हमारे कषाय यथा- क्रोध, मान, माया, लोभ की प्रेरणा होती हैं, वे मन पर संस्कार कायम करते हैं, अपराध भाव को जन्म देते हैं और क्रिया-प्रतिक्रिया की शृंखला को जन्म देते हैं। ये ही कर्म संस्कार हमारे मन के शल्य या कांटे बन कर मन को बीमार करते हैं। इन शल्यों से मुक्ति पाना ही विशुद्धीकरण एवं कर्म का निवारण है। यह कायोत्सर्ग से संभव है।

प्रायश्चित्त का साधारण अर्थ है- गलत किये का पश्चात्ताप और भविष्य में पुनः न करने का संकल्प। परन्तु सही अर्थ है चित्त में स्थित होकर चित्त को देखना। प्रायश्चित्त करने से मन का विशुद्धीकरण होता है और इसी से मन के शल्य यानी कांटे निकल जाते हैं और व्यक्ति शल्य से मुक्त हो जाता है। इससे जीवन परिष्कृत होता है और व्यक्ति उत्तरोत्तर प्रगति करता है।

यह कार्य अन्तर्मुखी हुये बिना संभव नहीं है। अन्तर्मुखी होने का अर्थ है बाहर से अपने आपको मोड़ कर अन्दर झांकना या स्वनिरीक्षण करना। हम दूसरों की त्रुटियाँ तो बहुत आसानी से देखते हैं व चर्चा भी करते हैं, परन्तु अपनी ओर कम ही देखते हैं और कोई हमारे दोष इंगित करे तो आगबबूला हो जाते हैं या तिलमिला उठते हैं। स्वनिरीक्षण वह विधि है जिससे हम स्वयं को देख कर स्वयं ही अपना सुधार करते हैं।

कायोत्सर्ग वह विधि है जिससे अवचेतन मन तक पहुंच कर मन की गहराइयों तक जा सकें और संस्कार मुक्त हो सकें। कायोत्सर्ग अर्थात् काया का उत्सर्ग। शरीर का ममत्व कम होने पर शरीर का शिथिलीकरण होता है और तनावों से मुक्ति पाते हैं। देह की ममता से हट कर देह पर उठने वाली संवेदनाओं को निष्पक्ष भाव से देखने लगते हैं और मन ऐसी स्थिति में आ जाता है जैसे देह

ये संवेदनाएँ अनित्य हैं और इनके प्रति क्या राग और क्या द्वेष। यों संवेदनाएं देखते-देखते संस्कारों व देह के व्यापार से पार हो जाते हैं, परन्तु असावधानी होने पर या देखने की प्रक्रियाा न जानने पर प्रतिक्रिया कर बैठते हैं और संस्कार बनाने की नई शृंखला प्रारम्भ कर लेते हैं, प्रतिक्रिया में जीना बंधन का मार्ग है और सजगता से देख कर द्रष्टा भाव में रहना वीतरागता की ओर बढ़ने का मार्ग है।

पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं सम्वत्सरी के प्रतिक्रमण में अपेक्षाकृत अधिक समय लगता है, क्योंकि कायोत्सर्ग में लोगस्स का पाठ आमतौर पर चार बोला जाता है, परन्तु पाक्षिक प्रतिक्रमण में आठ बार, चातुर्मासिक में १२ बार व सम्वत्सरी प्रतिक्रमण में २० बार या ४० बार बोलने या मन ही मन उच्चारने की परिपाटी है। मन्दिरमार्गी प्रथा में सम्वत्सरी के प्रतिक्रमण में करीब तीन से चार घंटे लगते हैं।

प्रतिक्रमण का मूल प्राण है कायोत्सर्ग और परिपाटी में उसे मात्र पांचवें आवश्यक में समेट कर रख दिया गया। वह भी मात्र चार से २० लोगस्स के पाठ मन में गुनगुनाने के लिये। कायोत्सर्ग की मूल भावना को ही भुला दिया गया और इससे प्रतिक्रमण के मूल उद्देश्य की प्राप्ति से हम वंचित हो गये।

अतः आवश्यक है कि वर्तमान परिपाटी एवं व्यवहार की समीक्षा की जाय व मौलिक संकल्पना के अनुरूप व्यवहार को सुधारा जाय। सभी आचार्यों व विद्वद्जनों से प्रार्थना है कि प्रतिक्रमण की मूल भावना के अनुरूप परिपाटी की समीक्षा एवं सुधार कर साधकों को सही रूप से कायोत्सर्ग में स्थित होने की कला सिखायें और प्रतिक्रमण से अपेक्षित लाभ, "निःशल्यीकरण, विशुद्धिकरण" प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करें। *(जिनवाणी, अगस्त 2002 से संकलित अंश)*

—सेवानिवृत्त आई.ए.एस., सी—303, हीरानन्दानी गार्डन,
डेफोडिल, पवई, मुम्बई (महा.)—400076

मूलाचार में प्रतिक्रमण एवं कायोत्सर्ग

संकलन : डॉ. श्वेता जैन

वट्टकेरकृत मूलाचार ग्रंथ शौरसेनी भाषा में रचित दिगम्बर/यापनीय कृति है। इसके षडावश्यकाधिकार में लगभग १९० गाथाएँ हैं। यहाँ प्रतिक्रमण एवं कायोत्सर्ग आवश्यक से सम्बद्ध कतिपय गाथाएँ हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत हैं। प्रारम्भिक गाथाओं पर वसुनन्दिकृत आचारवृत्ति का हिन्दी अर्थ भी दिया गया है। *-सम्पादक*

दव्वे खेत्ते काले भावे य कयावराहसोहणयं।
णिंदणगरहणजुत्तो मणवचकायेण पडिक्कमणं।।

-मूलाचार, मूलगुणाधिकार, गाथा २६

गाथार्थ- निन्दा और गर्हापूर्वक मन-वचन-काय के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विषय में किये गये अपराधों का शोधन करना प्रतिक्रमण है।

आचारवृत्ति (वसुनन्दिकृत)- आहार, शरीर आदि द्रव्य के विषय में; वसतिका (ठहरने का स्थान), शयन, आसन, गमन-आगमन मार्ग इत्यादि क्षेत्र के विषय में; पूर्वाह्न-अपराह्न, दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, संवत्सर तथा भूत-भविष्यत्-वर्तमान आदि काल के विषय में और परिणाम- मन के व्यापार रूप भाव के विषय में जो अपराध हो जाता है अर्थात् इन द्रव्य आदि विषयों में या इन द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावों के द्वारा व्रतों में जो दोष उत्पन्न हो जाते हैं उनका निन्दा-गर्हापूर्वक निराकरण करना। अपने दोषों को प्रकट करना निन्दा है और आचार्य आदि गुरुओं के पास आलोचना-पूर्वक दोषों का कथन गर्हा है। निन्दा में आत्मसाक्षीपूर्वक ही दोष कहे जाते हैं तथा गर्हा में गुरु आदि पर के समक्ष दोषों को प्रकाशित किया जाता है- यही इन दोनों में अन्तर है। इस तरह शुभ मन-वचन-काय की क्रियाओं के द्वारा, अपने द्वारा किये गये अशुभ योग से प्रतिनिवृत्त होना- वापस अपने व्रतों में आ जाना अर्थात् अशुभ परिणामपूर्वक किये गये दोषों का परित्याग करना इसका नाम प्रतिक्रमण है।

तात्पर्य यह है कि निन्दा और गर्हा से युक्त होकर साधु मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव के विषय में अथवा इन द्रव्यादिक के द्वारा किये गये व्रत विषयक अपराधों का जो शोधन करते हैं, उसका नाम प्रतिक्रमण है।

पढमं सव्वदिचारं विदियं तिविहं भवे पडिक्कमणं।
पाणस्स परिच्चयणं जावज्जीवायणुत्तमट्ठं च।।

-मूलाचार, [illegible]

ये संवेदनाएँ अनित्य हैं और इनके प्रति क्या राग और क्या द्वेष। यों संवेदनाएं देखते-देखते संस्कारों व देह के व्यापार से पार हो जाते हैं, परन्तु असावधानी होने पर या देखने की प्रक्रिया न जानने पर प्रतिक्रिया कर बैठते है और संस्कार बनाने की नई शृंखला प्रारम्भ कर लेते हैं, प्रतिक्रिया में जीना बंधन का मार्ग है और सजगता से देख कर द्रष्टा भाव में रहना वीतरागता की ओर बढ़ने का मार्ग है।

पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं सम्वत्सरी के प्रतिक्रमण में अपेक्षाकृत अधिक समय लगता है, क्योंकि कायोत्सर्ग में लोगस्स का पाठ आमतौर पर चार बोला जाता है, परन्तु पाक्षिक प्रतिक्रमण में आठ बार, चातुर्मासिक में १२ बार व सम्वत्सरी प्रतिक्रमण में २० बार या ४० बार बोलने या मन ही मन उच्चारने की परिपाटी है। मन्दिरमार्गी प्रथा में सम्वत्सरी के प्रतिक्रमण में करीब तीन से चार घंटे लगते है।

प्रतिक्रमण का मूल प्राण है-कायोत्सर्ग और परिपाटी में उसे मात्र पांचवें आवश्यक में समेट कर रख दिया गया। वह भी मात्र चार से २० लोगस्स के पाठ मन में गुनगुनाने के लिये। कायोत्सर्ग की मूल भावना को ही भुला दिया गया और इससे प्रतिक्रमण के मूल उद्देश्य की प्राप्ति से हम वंचित हो गये।

अतः आवश्यक है कि वर्तमान परिपाटी एवं व्यवहार की समीक्षा की जाय व मौलिक संकल्पना के अनुरूप व्यवहार को सुधारा जाय। सभी आचार्यों व विद्वद्जनों से प्रार्थना है कि प्रतिक्रमण की मूल भावना के अनुरूप परिपाटी की समीक्षा एवं सुधार कर साधकों को सही रूप से कायोत्सर्ग में स्थित होने की कला सिखायें और प्रतिक्रमण से अपेक्षित लाभ, "निःशल्यीकरण, विशुद्धिकरण" प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करें। *(जिनवाणी, अगस्त 2002 से संकलित अंश)*

—सेवानिवृत्त आई.ए.एस., सी—303, हीरानन्दानी गार्डन,
डेफोडिल, पवई, मुम्बई (महा.)—400076

मूलाचार में प्रतिक्रमण एवं कायोत्सर्ग

संकलन : डॉ. श्वेता जैन

वट्टकेरकृत मूलाचार ग्रंथ शौरसेनी भाषा में रचित दिगम्बर/यापनीय कृति है। इसके षडावश्यकाधिकार में लगभग १९० गाथाएँ हैं। यहाँ प्रतिक्रमण एवं कायोत्सर्ग आवश्यक से सम्बद्ध कतिपय गाथाएँ हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत हैं। प्रारम्भिक गाथाओं पर वसुनन्दिकृत आचारवृत्ति का हिन्दी अर्थ भी दिया गया है। *-सम्पादक*

दव्वे खेत्ते काले भावे य कयावराहसोहणयं।
णिंदणगरहणजुत्तो मणवचकायेण पडिक्कमणं।।

-मूलाचार, मूलगुणाधिकार, गाथा २६

गाथार्थ- निन्दा और गर्हापूर्वक मन-वचन-काय के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विषय में किये गये अपराधों का शोधन करना प्रतिक्रमण है।

आचारवृत्ति (वसुनन्दिकृत)- आहार, शरीर आदि द्रव्य के विषय में; वसतिका (ठहरने का स्थान), शयन, आसन, गमन-आगमन मार्ग इत्यादि क्षेत्र के विषय में; पूर्वाह्ण-अपराह्ण, दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, संवत्सर तथा भूत-भविष्यत्-वर्तमान आदि काल के विषय में और परिणाम- मन के व्यापार रूप भाव के विषय में जो अपराध हो जाता है अर्थात् इन द्रव्य आदि विषयों में या इन द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावों के द्वारा व्रतों में जो दोष उत्पन्न हो जाते हैं उनका निन्दा-गर्हापूर्वक निराकरण करना। अपने दोषों को प्रकट करना निन्दा है और आचार्य आदि गुरुओं के पास आलोचना-पूर्वक दोषों का कथन गर्हा है। निन्दा में आत्मसाक्षीपूर्वक ही दोष कहे जाते हैं तथा गर्हा में गुरु आदि पर के समक्ष दोषों को प्रकाशित किया जाता है- यही इन दोनों में अन्तर है। इस तरह शुभ मन-वचन-काय की क्रियाओं के द्वारा, अपने द्वारा किये गये अशुभ योग से प्रतिनिवृत्त होना- वापस अपने व्रतों में आ जाना अर्थात् अशुभ परिणामपूर्वक किये गये दोषों का परित्याग करना इसका नाम प्रतिक्रमण है।

तात्पर्य यह है कि निन्दा और गर्हा से युक्त होकर साधु मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव के विषय में अथवा इन द्रव्यादिक के द्वारा किये गये व्रत विषयक अपराधों का जो शोधन करते हैं, उसका नाम प्रतिक्रमण है।

पढमं सव्वदिचारं बिदियं तिविहं भवे पडिक्कमणं।
पाणस्स परिच्चयणं जावज्जीवायमुत्तमट्ठं च।।

-मूलाचार, संक्षेपप्रत्याख्यानाधिकारः, गाथा १२०

गाथार्थ- आराधना में तीन ही प्रतिक्रमण होते हैं। पहला सर्वातिचार प्रतिक्रमण है। दूसरा त्रिविध आहारत्याग प्रतिक्रमण है। यावज्जीवन पानक आहार का त्यागना उत्तमार्थ नाम का तीसरा प्रतिक्रमण होता है।

आचारवृत्ति (वसुनन्दिकृत)- क्रम को बतलाने के लिए यह गाथा है। दीक्षाकाल का आश्रय लेकर आज तक जो भी दोष हुए हैं, उन्हें सर्वातिचार कहा गया है। संलेखना ग्रहण करके यह क्षपक पहले सर्वातिचार प्रतिक्रमण करता है। पुनः तीन प्रकार के आहार का त्याग करना द्वितीय प्रतिक्रमण है और अन्त में यावज्जीवन मोक्ष के लिए पानक वस्तु का भी त्याग कर देना उत्तमार्थ नामक तृतीय प्रतिक्रमण कहलाता है।

अर्थात् प्रथम सर्वातिचार प्रतिक्रमण, द्वितीय त्रिविधाहार का प्रतिक्रमण और तृतीय यावज्जीवन पानक के त्याग रूप उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।

मिच्छत्तपडिक्कमणं तह चेव असंजमे पडिक्कमणं।
कसाएसु पडिक्कमणं जोगेसु य अप्पसत्थेसु।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६१९

गाथार्थ- मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण, असंयम का प्रतिक्रमण, कषायों का प्रतिक्रमण और अप्रशस्त योगों का प्रतिक्रमण, यह भाव प्रतिक्रमण है।

भावेण अणुवजुत्तो दव्वीभूदो पडिक्कमदि जो दु।
जस्सट्ठं पडिकमदे तं पुण अट्ठं ण साधेदि।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६२६

गाथार्थ- जो भाव से उपयुक्त न होता हुआ द्रव्यरूप प्रतिक्रमण करता है, वह जिस प्रयोजन से प्रतिक्रमण करता है उस प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर पाता है।

भावेण संपजुत्तो जदत्थजोगो य जंपदे सुत्तं।
सो कम्मणिज्जराएविउलाए वट्टदे साधू।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६२७

गाथार्थ- भाव से युक्त होता हुआ जिस प्रयोजन के लिए सूत्र को पढ़ता है, वह साधु विपुल कर्मनिर्जरा में प्रवृत्त होता है।

मुक्खट्ठी जिदणिद्दो सुत्तत्थविसारदो करणसुद्धो।
आदबलविरियजुत्तो काउस्सग्गी विसुद्धप्पा।।

-मूलाचार, षडावश्यका[illegible] गाथा ६५३

गाथार्थ- मोक्ष का इच्छुक, निद्राविजयी, सूत्र और उसके अर्थ में प्रवीण, क्रिया से शुद्ध, अ[illegible] वीर्य से युक्त, विशुद्ध आत्मा कायोत्सर्ग को करने वाला होता है।

संवच्छरमुक्कस्सं भिण्णमुहुत्तं जहण्ण
सेसा काओसग्गा होंति अणेगेसु

गाथार्थ- एक वर्ष तक का कायोत्सर्ग उत्कृष्ट है और अन्तर्मुहूर्त का जघन्य होता है। शेष कायोत्सर्ग अनेक स्थानों में होते हैं।

अट्ठसदं देवसियं कल्लद्धं पक्खियं च तिण्णिसया।
उस्सासा कायव्वा णियमंते अप्पमत्तेण।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६५९

गाथार्थ- अप्रमत्त साधु को दैवसिक के एक सौ आठ, रात्रिक के इससे आधे- चौवन और पाक्षिक के तीन सौ उच्छ्वास करना चाहिए।

चादुम्मासे चउरो सदाइं संवत्थरे य पंचसदा।
काओसग्गुस्सासा पंचसु ठाणेसु णादव्वा।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६६०

गाथार्थ- चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में चार सौ और सांवत्सरिक में पाँच सौ, इस तरह इन पाँच स्थानों में कायोत्सर्ग के उच्छ्वास जानना चाहिए।

पाणिवह मुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहे चेय।
अट्ठसदं उस्सासा काओसग्गह्मि कादव्वा।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६६१

गाथार्थ- हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह- इन दोषों के हो जाने पर कायोत्सर्ग में एक सौ आठ उच्छ्वास करना चाहिए।

भत्ते पाणे गामंतरे य अरहंतसमणसेज्जासु।
उच्चारे पस्सवणे पणवीसं होंति उस्सासा।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६६२

गाथार्थ- भोजन-पान में, ग्रामान्तर गमन में, अर्हंत के कल्याणक स्थान व मुनियों की निषद्या वन्दना में और मल-मूत्र विसर्जन में पच्चीस उच्छ्वास होते हैं।

उद्देसे णिद्देसे सज्झाए वंदणे य पणिधाणे।
सत्तावीसुस्सासा काओसग्गह्मि कादव्वा।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६६३

गाथार्थ- ग्रन्थ के प्रारम्भ में, समाप्ति में, स्वाध्याय में, वन्दना में और अशुभ परिणाम के होने पर कायोत्सर्ग करने में सत्ताईस उच्छ्वासपूर्वक कायोत्सर्ग करना चाहिए।

काओसग्गं इरियावहादिचारस्स मोक्खमग्गम्मि।
वोसट्ठचत्तदेहा करंति दुक्खक्खयट्ठाए।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६६४

गाथार्थ- मोक्षमार्ग में स्थित होकर ईर्यापथ के अतिचार शोधन हेतु शरीर से ममत्व छोड़कर साधु दुःखों के

गाथार्थ- आराधना में तीन ही प्रतिक्रमण होते हैं। पहला सर्वातिचार प्रतिक्रमण है। दूसरा त्रिविध आहारत्याग प्रतिक्रमण है। यावज्जीवन पानक आहार का त्यागना उत्तमार्थ नाम का तीसरा प्रतिक्रमण होता है।

आचारवृत्ति (वसुनन्दिकृत)- क्रम को बतलाने के लिए यह गाथा है। दीक्षाकाल का आश्रय लेकर आज तक जो भी दोष हुए हैं, उन्हें सर्वातिचार कहा गया है। संलेखना ग्रहण करके यह क्षपक पहले सर्वातिचार प्रतिक्रमण करता है। पुनः तीन प्रकार के आहार का त्याग करना द्वितीय प्रतिक्रमण है और अन्त में यावज्जीवन मोक्ष के लिए पानक वस्तु का भी त्याग कर देना उत्तमार्थ नामक तृतीय प्रतिक्रमण कहलाता है।

अर्थात् प्रथम सर्वातिचार प्रतिक्रमण, द्वितीय त्रिविधाहार का प्रतिक्रमण और तृतीय यावज्जीवन पानक के त्याग रूप उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।

मिच्छत्तपडिक्कमणं तह चेव असंजमे पडिक्कमणं।
कसाएसु पडिक्कमणं जोगेसु य अप्पसत्थेसु।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६११

गाथार्थ- मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण, असंयम का प्रतिक्रमण, कषायों का प्रतिक्रमण और अप्रशस्त योगों का प्रतिक्रमण, यह भाव प्रतिक्रमण है।

भावेण अणुवजुत्तो दव्वीभूदो पडिक्कमदि जो दु।
जस्सट्ठं पडिकमदे तं पुण अट्ठं ण साधेदि।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६२६

गाथार्थ- जो भाव से उपयुक्त न होता हुआ द्रव्यरूप प्रतिक्रमण करता है, वह जिस प्रयोजन से प्रतिक्रमण करता है उस प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर पाता है।

भावेण संपजुत्तो जदत्थजोगो य जंपदे सुत्तं।
सो कम्मणिज्जराएविउलाए वट्टदे साधू।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६२७

गाथार्थ- भाव से युक्त होता हुआ जिस प्रयोजन के लिए सूत्र को पढ़ता है, वह साधु विपुल कर्मनिर्जरा में प्रवृत्त होता है।

मुक्खट्ठी जिदणिद्दो सुत्तत्थविसारदो करणसुद्धो।
आदबलविरियजुत्तो काउस्सग्गी विसुद्धप्पा।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६५३

गाथार्थ- मोक्ष का इच्छुक, निद्राविजयी, सूत्र और उसके अर्थ में प्रवीण, क्रिया से शुद्ध, आत्मा के बल और वीर्य से युक्त, विशुद्ध आत्मा कायोत्सर्ग को करने वाला होता है।

संवच्छरमुक्कस्सं भिण्णमुहुत्तं जहण्णयं होदि।
सेसा काओसग्गा होंति अणेगेसु ठाणेसु।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६५८

गाथार्थ- एक वर्ष तक का कायोत्सर्ग उत्कृष्ट है और अन्तर्मुहूर्त का जघन्य होता है। शेष कायोत्सर्ग अनेक स्थानों में होते हैं।

अट्ठसदं देवसियं कल्लद्धं पक्खियं च तिण्णिसया।
उस्सासा कायव्वा णियमंते अप्पमत्तेण।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६५९

गाथार्थ- अप्रमत्त साधु को दैवसिक के एक सौ आठ, रात्रिक के इससे आधे- चौवन और पाक्षिक के तीन सौ उच्छ्वास करना चाहिए।

चादुम्मासे चउरो सदाइं संवत्थरे य पंचसदा।
काओसग्गुस्सासा पंचसु ठाणेसु णादव्वा।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६६०

गाथार्थ- चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में चार सौ और सांवत्सरिक में पाँच सौ, इस तरह इन पाँच स्थानों में कायोत्सर्ग के उच्छ्वास जानना चाहिए।

पाणिवह मुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहे चेय।
अट्ठसदं उस्सासा काओसग्गह्मि कादव्वा।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६६१

गाथार्थ- हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह- इन दोषों के हो जाने पर कायोत्सर्ग में एक सौ आठ उच्छ्वास करना चाहिए।

भत्ते पाणे गामंतरे य अरहंतसमणसेज्जासु।
उच्चारे पस्सवणे पणवीसं होंति उस्सासा।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६६२

गाथार्थ- भोजन-पान में, ग्रामान्तर गमन में, अर्हंत के कल्याणक स्थान व मुनियों की निषद्या वन्दना में और मल-मूत्र विसर्जन में पच्चीस उच्छ्वास होते हैं।

उद्देसे णिद्देसे सज्झाए वंदणे य पणिधाणे।
सत्तावीसुस्सासा काओसग्गह्मि कादव्वा।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६६३

गाथार्थ- ग्रन्थ के प्रारम्भ में, समाप्ति में, स्वाध्याय में, वन्दना में और अशुभ परिणाम के होने पर कायोत्सर्ग करने में सत्ताईस उच्छ्वासपूर्वक कायोत्सर्ग करना चाहिए।

काओसग्गं इरियावहादिचारस्स मोक्खमग्गम्मि।
वोसट्ठचत्तदेहा करंति दुक्खक्खयट्ठाए।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६६४

गाथार्थ- मोक्षमार्ग में स्थित होकर ईर्यापथ के अतिचार शोधन हेतु शरीर से ममत्व छोड़कर साधु दुःखों के

क्षय के लिए कायोत्सर्ग करते हैं।

णिक्कूडं सविसेसं बलाणरूवं वयाणुरूवं च।
काओसग्गं धीरा करंति दुक्खक्खयट्ठाए।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६७३

गाथार्थ- धीर मुनि मायाचार रहित, विशेष सहित, बल के अनुरूप और उम्र के अनुरूप कायोत्सर्ग को दुःखों के क्षय हेतु करते हैं।

त्यागो देहममत्वस्य तनूत्सृतिरुदाहृता।
उपविष्टोपविष्टादिविभेदेन चतुर्विधा।।
आर्त्तरौद्रद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते।
उपविष्टोपविष्टाख्या कथ्यते सा तनूत्सृतिः।।
धर्मशुक्लद्वयं यत्रोपविष्टेन विधीयते।
तामुपविष्टोत्थि तांकां निगदंति महाधियः।।
आर्त्तरौद्रद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते।
तामुपविष्टोत्थितांकां निगदंति महाधियः।।
धर्मशुक्लद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते।
उत्थितोत्थितनाम्ना तामाभाषन्ते विपश्चितः।।

-मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६७५, की आचारवृत्ति में उद्धृत श्लोक

श्लोकार्थ- देह से ममत्व का त्याग कायोत्सर्ग कहलाता है। उपविष्टोपविष्ट आदि के भेद से वह चार प्रकार का हो जाता है।।१।।

जिस कायोत्सर्ग में बैठे हुए मुनि आर्त्त और रौद्र इन दो ध्यानों का चिन्तन करते हैं वह उपविष्टोपविष्ट कायोत्सर्ग कहलाता है।।२।।

जिस कायोत्सर्ग में बैठे हुए मुनि धर्म और शुक्ल ध्यान का चिन्तन करते हैं बुद्धिमान् लोग उसको उपविष्टोत्थित कहते हैं।।३।।

जिस कायोत्सर्ग में खड़े हुए साधु आर्त्त-रौद्र का चिन्तन करते हैं उसको उत्थितोपविष्ट कहते हैं।।४।।

जिस कायोत्सर्ग में खड़े होकर मुनि धर्म-ध्यान या शुक्ल ध्यान का चिन्तन करते हैं, विद्वान् लोग उसको उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग कहते हैं।।५।।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान : पारस्परिक सम्बन्ध

श्री चाँदमल कर्णावट, उदयपुर

भूतकालीन भूलों की शुद्धि का सरल उपाय प्रतिक्रमण है और भविष्यकालीन पापों से बचाने वाला प्रत्याख्यान है। प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान दोनों एक-दूसरे की अपेक्षा रखने से पूरक हैं। लेखक ने विभिन्न बिन्दुओं में प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान के पारस्परिक संबंध को सुस्पष्ट किया है। प्रत्याख्यान की प्रेरणा से सम्पूरित यह लेख पाठकों के जीवन में चेतना लाने वाला है।

-सम्पादक

प्रतिक्रमण जैन धर्म का एक प्रमुख अनुष्ठान है। प्रत्याख्यान भी प्रतिक्रमण (आवश्यक) में किये जाने वाला एक महत्त्वपूर्ण आवश्यक है, जिसे धारण कर भविष्य काल के पापों से साधक बचता है। पहले इन दोनों के विषय में संक्षेप में समझ लेना आवश्यक होगा, जिससे इनका पारस्परिक सम्बन्ध समझा जा सके।

प्रतिक्रमण क्या है?

प्रतिक्रमण दैनन्दिन होने वाली भूलों/पापों/दोषों से शुद्ध होने की क्रिया है। दिनभर में होने वाली भूलों का चिंतन कर दूसरे दिन इनके न दुहराने का संकल्प प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण का शब्दार्थ है प्रति-क्रमण अर्थात् पापों से पीछे हटना और अपने शुद्ध स्वरूप में आना। आवश्यक चूर्णि में कहा गया है- "पडिक्कमणं पुनरावृत्तिः" अर्थात् जिन प्रवृत्तियों से साधक सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र रूप स्वस्थान से (आत्मस्वभाव से) हटकर मिथ्यात्व, अज्ञान एवं असंयममय स्थान में जाने के पश्चात् पुनः उसका अपने आपमें (आत्मस्वभाव में) लौट आना प्रतिक्रमण या पुनरावृत्ति है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में और आचार्य हरिभद्र ने आवश्यकवृत्ति में शुभयोगों से अशुभयोगों में जाने पर पुनः शुभ योगों में लौटने को प्रतिक्रमण माना है। प्रतिक्रमण आलोचनापूर्वक 'मिच्छामि दुक्कडं' रूप पश्चात्ताप या प्रायश्चित्त है। यह एक तप है और शुद्धि का कारण है। साध्वी मृगावती ने इसी पश्चात्ताप अथवा प्रायश्चित्त से समस्त कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया था।

प्रतिक्रमण आत्मा का स्नान है, जो अनेक जन्मों के कर्ममल को धोकर आत्मा को शुद्ध बनाता है। हमें उपयोगपूर्वक पापों की आलोचना या पश्चात्ताप स्वरूप भाव-प्रतिक्रमण करने का प्रयास करना चाहिए।

आवश्यक निर्युक्ति (१२३३) में आचार्य भद्रबाहु ने प्रतिक्रमण के ८ पर्यायवाची शब्दों में निन्दा,

गर्हा, शुद्धि आदि को भी प्रतिक्रमण का पर्याय बताया है।

प्रत्याख्यान क्या है?

सामायिकादि छः आवश्यकों में प्रत्याख्यान छठा और अंतिम आवश्यक है। इसका अर्थ है- असीम इच्छाओं पर नियंत्रण करने हेतु द्रव्य,क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादापूर्वक कुछ व्रत, नियम या प्रतिज्ञा ग्रहण करना, प्रवचनसारोद्धारवृत्ति में कहा गया- ''अविरति और असंयम के प्रतिकूल रूप में मर्यादा के साथ प्रतिज्ञा ग्रहण करना। मर्यादा के साथ अशुभ योग से निवृत्ति और शुभयोग में प्रवृत्ति का आख्यान करना प्रत्याख्यान है। अनुयोगद्वारसूत्र में प्रत्याख्यान का नाम गुणधारण प्रयुक्त हुआ है। गुण मुख्यतः मूलगुण और उत्तरगुण दो हैं। मूलगुणों में साधु-साध्वी के ५ महाव्रत और श्रावक-श्राविका के अहिंसादि ५ अणुव्रत हैं और उत्तर गुणों में साधु-साध्वी के नवकारसी आदि १० पच्चक्खाण और श्रावक-श्राविका के लिए ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत तथा १० प्रत्याख्यान हैं। उत्तराध्ययन २९/३७ में ९ प्रकार के प्रत्याख्यानों में कषाय का प्रत्याख्यान भी बताया है।

प्रत्याख्यान पापों से सुरक्षा का एक कवच है। यह साधक को भविष्य कालीन पापों से बचाता है।

'आवश्यक निर्युक्ति' में आचार्य भद्रबाहु ने प्रत्याख्यान के लाभों की एक शृंखला दी है। प्रत्याख्यान से संयम, सयंम से आस्रव-निरोध, आस्रव-निरोध से तृष्णा का अन्त, उससे उपशमभाव व उपशम भाव से चारित्रधर्म, उससे कर्म-निर्जरा, कर्म-निजर्रा से केवल ज्ञान-दर्शन और उससे साधक अंत में मुक्ति प्राप्त करता है।

साधक को सुप्रत्याख्यान और दुष्प्रत्याख्यान का स्वरूप समझकर इनका शुद्धिपूर्वक पूर्ण पालन करना चाहिए।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान द्वारा पापों से निवृत्ति

प्रतिक्रमण भूतकाल का एवं प्रत्याख्यान भविष्य काल का होता है। प्रतिक्रमण भूतकाल की भूलों और दोषों की शुद्धि के लिए किया जाता है, जबकि प्रत्याख्यान भविष्यकाल में दोष न करने हेतु किया जाता है। आचार्य भद्रबाहु के अनुसार भविष्यकाल के प्रति आ-मर्यादा के साथ अशुभ योगों से निवृत्ति और शुभ योगों में प्रवृत्ति का आख्यान होने से प्रत्याख्यान भविष्यकाल का प्रतिक्रमण है। प्रत्याख्यान ग्रहण करने से भविष्य काल में होने वाले पापों पर रोक लग जाती है, साधक अशुभयोगों से निवृत्त होकर शुभ में स्थित होता है, यही प्रतिक्रमण है जो भविष्यकाल की दृष्टि से होता है। वर्तमान में तो साधक सामायिक संवर में होता ही है, वह वर्तमान काल का प्रतिक्रमण है। इस प्रकार प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमण दोनों मिलकर पापों से लौटने की क्रिया को सम्पन्न करते हैं।

प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान से परिपुष्ट

मूलगुणों एवं उत्तरगुणों के प्रत्याख्यान से प्रतिक्रमण का अनुष्ठान अधिक पुष्ट बनता है। मूलगुण

यह महत्त्वपूर्ण क्रिया है। अतः प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान का रक्षक है। इससे दोष उत्पन्न ही नहीं हो सकते। यह साधक को जागरूक बनाता है और साधक प्रत्याख्यानों का निरतिचार पालन करते हुए अपने लक्ष्य/गंतव्य तक पहुँच जाता है।

प्रतिक्रमण से प्रत्याख्यान पालन में शुद्धि एवं जागरूकता

प्रतिक्रमण भूलशुद्धि की प्रभावी प्रक्रिया है। यदि दोषों की शुद्धि नहीं की गई, उन्हें अन्दर ही दबाकर रखा गया तो अन्दर ही अन्दर विष बढता चला जायेगा और साधक के जीवन को वर्बाद कर देगा, इसलिए दोषों की गर्हा निन्दा करनी चाहिए। यही प्रतिक्रमण है। इससे अर्थात् प्रतिक्रमण से भूलों की दूरी बढ़ेगी और एक दिन साधक उनसे मुक्त हो सकता है अन्यथा विषाक्त स्थिति असाध्य रोग को जन्म दे सकती है। (द्रष्टव्य, आवश्यक सूत्र, प्रस्तावना, श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री)

प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमण की पारस्परिक पूरकता

प्रत्याख्यान न हो तो प्रतिक्रमण किसका किया जाय और प्रतिक्रमण मर्यादा के अतिक्रमण का न किया जाय तो कैसा प्रत्याख्यान- इस प्रकार दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। प्रत्याख्यानों से प्रतिक्रमण की सार्थकता है और प्रतिक्रमण से प्रत्याख्यानों की सार्थकता है। जीवन में दोनों आवश्यक हैं। जब तक जीवन में दोष लगने संभव हैं तब तक प्रतिक्रमण एवं प्रत्याख्यान आवश्यक हैं। संसारी रागद्वेषग्रस्त आत्मा के लिए ये दोनों आवश्यक हैं। लक्ष्य फिर भी वीतरागता का ही होना चाहिए। वीतरागता के राजमार्ग पर आगे बढने के क्रम में प्रतिक्रमण एवं प्रत्याख्यान दोनों का मिलाजुला योगदान है।

प्रत्याख्यान प्रतिक्रमण पुनः पुनः मलिनता से बचाव हेतु-

प्रतिक्रमण का लक्ष्य है कि पुनः पुनः अतिचार या दोषों का सेवन न हो। प्रत्याख्यान भी इसी लक्ष्य से किए जाते हैं। सामायिकादि से आत्मशुद्धि की जाती है, किन्तु पुनः आसक्तिरूपी तस्करराज अन्तर्मानस मे प्रविष्ट न हो, इसके लिए प्रत्याख्यान अत्यन्त आवश्यक है। जैसे एक बार वस्त्र को स्वच्छ बना दिया गया वह पुनः मलिन न हो इसके लिए वस्त्र को कपाट में रखा जाता है, इसी प्रकार मन में मलिनता न आए इसके लिए भी प्रत्याख्यान किया जाता है। (देवेन्द्रमुनि शास्त्री, आवश्यक सूत्र की प्रस्तावना पृ.५०) इस प्रका प्रत्याख्यान प्रतिक्रमण की लक्ष्य प्राप्ति में और प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान की सिद्धि में सहायक है।

सम्बन्धों में शाश्वतता/चक्रवत् आवर्तनवत् -

जब तक जीवन में प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान की आवश्यकता है तब तक ये दोनों चक्रवत् क्रमश प्रयुक्त होते रहेंगे। प्रतिक्रमण किया जायेगा तो समाप्ति में छठे आवश्यक/अंतिम आवश्यक में प्रत्याख्यान भ किए जायेंगे और प्रत्याख्यान के उपरान्त पुनः प्रतिक्रमण भी दूसरे दिन किया जायेगा। स्पष्ट करें तो कहन होगा कि जब-जब प्रत्याख्यान किये जायेंगे तब तब उनमें लगे दोषों या मर्यादा के अतिक्रमण का प्रतिक्रम भी किया ही जायेगा। जब-जब प्रतिक्रमण किया जाएगा तो अंतिम आवश्यक में प्रत्याख्यान भी ग्रहण कि

ही जायेंगे।

विशेष कथनीय -

प्रतिक्रमण जीवन में आगे बढने एवं आत्म-कल्याण हेतु आवश्यक है। इसके लिए आवश्यक है कि हमारा प्रतिक्रमण द्रव्य प्रतिक्रमण न होकर भाव प्रतिक्रमण हो। अनुयोगद्वार सूत्र में प्रतिक्रमण के इन दोनों भेदों पर प्रकाश डाला गया है। प्रतिक्रमण करते हुए व्रतों में लगे अतिचारों का चिंतन करें उनके प्रति पश्चात्ताप करें और भविष्य में उन्हें न दुहराने का संकल्प करें तथा "तच्चित्ते तम्मणे तल्लेस्से" आदि के अनुसार एकाग्रचित्त होकर इसे संपन्न करें।

इसी प्रकार प्रत्याख्यान के विषय में 'आवश्यक दिग्दर्शन' में उपाध्यायश्री अमरमुनिजी ने प्रत्याख्यान या त्याग के द्रव्य और भाव दो भेद किए। अगर भावपूर्वक त्याग नहीं हुआ और द्रव्य का ही त्याग रहा तो वह विशेष फलदायक कैसे हो सकता है? इन्द्रिय विषयों पर एवं कषायादि पर विजय तथा कर्मनिर्जरा के लिए ही प्रत्याख्यान काल उचित होगा। कोई भी प्रत्याख्यान भली-भाँति उसका स्वरूप समझकर किया जाय तभी वह सुप्रत्याख्यान हो सकेगा।

प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमण दोनों केवल आध्यात्मिक लाभ के ही कारण नहीं, वे इस लोक में भी समता, नम्रता, क्षमाभाव आदि सद्गुणों की वृद्धि होने से शान्ति और सुख प्रदायक बनते हैं। (आवश्यक सूत्र, प्रस्तावना- देवेन्द्रमुनि शास्त्री)

मूलगुणों की सुरक्षार्थ उत्तर गुण हैं। उत्तरगुण न भी हों और मूलगुण हों तो धर्म, गुरु की शोभा होगी। व्यवहार में हिंसादि का त्याग होगा। इस प्रकार मूलगुणों के साथ उत्तरगुणों की शोभा हेतु प्रत्याख्यान में मूलगुणों और उत्तरगुणों को धारण किया जा सकता है। (सम्यक्त्व पराक्रम, जवाहराचार्य, पृ. १६९-१७०)

-३५, अहिंसापुरी, फतहपुरा, उदयपुर (राज.)

15.17 नवम्बर 2006
जिनवाणी, 232
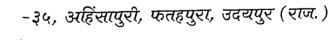
कषाय-प्रतिक्रमण : भावशुद्धि का सूचक

मधुरव्याख्यानी श्री गौतममुनि जी म.सा.

आज धर्मक्रियाएँ भी हो रही हैं और प्रतिक्रमण भी किया जा रहा है, किन्तु राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया एवं लोभ कषायों में कितनी कमी हो रही है, इस पर ध्यान ही नहीं जाता। मिथ्यात्वादि से सम्बद्ध पंचविध प्रतिक्रमण में कषाय-प्रतिक्रमण का विशेष महत्त्व है। कषाय के बढ़ते वेग को रोककर विभाव से स्वभाव में तथा विषमभाव से समता भाव में आना ही कषाय-प्रतिक्रमण का स्वरूप है। आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा. के आज्ञानुवर्ती मधुरव्याख्यानी श्री गौतममुनि जी म.सा. ने लक्ष्मीनगर स्थानक, जोधपुर में २० जून २००६ को कषाय प्रतिक्रमण पर प्रवचन फरमाया था, जिसका संकलन जिनवाणी के सह-सम्पादक श्री नौरतन जी मेहता द्वारा किया गया है।

-सम्पादक

श्रमण भगवान महावीर स्वामी का शासन सदा जयवन्त है। प्रभु महावीर के शासन में धर्म-साधना का सुन्दर अवसर प्राप्त हो रहा है, साथ ही साथ वीतराग वाणी श्रवण करने का दुर्लभ अवसर भी प्राप्त हो रहा है। एक सच्चा साधक जिसको आत्म-धर्म पर पूर्ण विश्वास है, पुण्य-पाप पर विश्वास है, स्वर्ग-नरक पर विश्वास है ऐसा जागरूक साधक वीतराग वाणी पर निश्चय ही विश्वास करता है। वीतराग वाणी के माध्यम से आत्म-साधना के लिए साधक के कुछ आवश्यक कर्त्तव्य बताये हैं उनमें एक आवश्यक कार्य है- प्रतिक्रमण।

प्रतिक्रमण आवश्यक सूत्र है तो वह साधक की आत्म-डायरी भी है। प्रतिक्रमण आत्म-शुद्धि का सर्वोत्तम साधन है। सरलता और सौम्यता का राजमार्ग है। मर्यादित जीवन का सुरक्षित कवच है। कथनी-करनी की एकरूपता का सेतु है। भवरोग-निवारक अचूक औषधि है। साधना की निर्मलता का श्रेष्ठतम सोपान है। शल्यमुक्त जीवन का मंत्र है। श्रद्धा और आस्था का संवाहक है। संयमी जीवन की दीप्तिमान ज्योति है।

भगवान ने पाँच प्रकार के प्रतिक्रमण बताये हैं- मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण, अव्रत का प्रतिक्रमण, प्रमाद का प्रतिक्रमण, कषाय का प्रतिक्रमण और अशुभयोग का प्रतिक्रमण। हर एक प्रतिक्रमण एक-दूसरे का पूरक है। किसी प्रतिक्रमण को हम न छोटा कह सकते हैं, न बड़ा। एक को महत्त्वपूर्ण बताकर दूसरे को कम नहीं कह सकते। आज हम कषाय प्रतिक्रमण पर विचार करेंगे।

कषाय का प्रतिक्रमण भाव शुद्धि का सूचक है। कषाय का प्रतिक्रमण हमारे जीवन-शुद्धि की

प्रयोगशाला है। आत्म-शुद्धि के लिए कषाय का प्रतिक्रमण आवश्यक है क्योंकि कषाय ही जन्म-मरण रूप संसार वृक्ष को हरा-भरा रखने वाला है, कषाय ही समस्या में वृद्धि करने वाला है। इस कषाय के कारण से ही घर, परिवार और समाज में दूरियाँ बढ़ती जाती हैं और व्यक्तिशः जीवन अशान्त बनता जाता है। यदि गहराई से सोचें तो शारीरिक रोगों का मूल कारण भी कषाय ही है। प्रसन्नता के बाग में आग लगाने वाला, समरसता की सरिता में विष घोलने वाला, धैर्य की धरती में भूकम्प लाने वाला यदि कोई है तो वह कषाय ही है। जीवन शान्त, प्रशान्त, समाधिवन्त बना रहे, इह लोक-परलोक का वातावरण सुखद बना रहे तो उसका एकमात्र उपाय कषाय प्रतिक्रमण ही है। आज बाह्य धर्म-साधना तो बहुत बढ़ती जा रही है। आप देखते हैं, अनुभव भी करते हैं कि हमारे भाई धर्म-स्थान में बहुत बड़ी संख्या में आते हैं। हम पुराने समय की वर्तमान से तुलना करें तो लगेगा कि आज धर्म-साधना के प्रति पहले से ज्यादा सजगता है। पहले इतनी तपश्चर्याएँ नहीं होती थीं, जितनी आज हो रही हैं। प्रवचन-सभा में भी आज उपस्थिति पहले की अपेक्षा अधिक रहती है। दया-संवर और पौषध की साधना में भी इजाफा हुआ है। पुस्तकों का प्रकाशन भी पहले से ज्यादा हो रहा है। धर्म-साधनाएँ पहले भी होती थीं, किन्तु आज पहले की अपेक्षा चाहे दया हो, चाहे संवर हो, बढ़ी ही हैं। पहले इतने शिविर नहीं लगते थे, जितने आज जगह-जगह पर लग रहे हैं।

हम विचार करें- एक तरफ धर्म-साधना बढ़ रही है, बढ़नी चाहिए लेकिन इसका दूसरा पक्ष भी विचारणीय है। हमारी बात कषाय के प्रतिक्रमण को लेकर चल रही हैं। इतनी-इतनी तपश्चर्या, साधना-आराधना, सामायिक-स्वाध्याय, दया-संवर के चलते हुए जीवन में कितना परिवर्तन हुआ है, कितना हो रहा है? इस पर भी हमें कुछ विचार करना चाहिये। मूल्य गणना का नहीं, मूल्य गुणात्मक स्वरूप का है। संख्या कितनी है इसका उतना महत्त्व नहीं जितना साधना कितनी निर्दोष की जा रही है, उसका महत्त्व है। संख्या के बजाय जीवन में परिवर्तन का मूल्य है। आप पाँच सामायिक करें, हम सामायिक-साधना की प्रेरणा करते हैं पर पाँच सामायिक करने वाले को सोचना चाहिये कि मेरी कषायें कमजोर हुई हैं या नहीं? यदि कषायें मन्द नहीं हुई तो कहना होगा साधना का जितना लाभ मिलना चाहिये वह नहीं मिल रहा है। आज साधन को ही साध्य समझने की भूल हो रही है। आत्मलक्ष्यी धर्म क्रियाएँ गौण हो रही हैं। मात्र बाह्य क्रियाओं को ही प्रधानता देकर आदमी संतुष्ट हो जाता है कि हो गया धर्म। कभी-कभी तो बाह्य धर्म-क्रियाओं की परम्परा को लेकर इतना विवाद हो जाता है कि धर्म का मूल क्षमा, समत्वभाव ही पीछे छूट जाता है अर्थात् कषाय घटने की बजाय बढ़ जाता है, धर्म तक बदनाम हो जाता है। लोगों की धर्म के प्रति अनास्था जग जाती है। यद्यपि धर्म तो शुद्ध था, शुद्ध है और शुद्ध ही रहेगा मगर धर्मक्रिया करते हुए भी कषाय नहीं छूटता तो धर्म प्रभावशाली नहीं बन पाता। कषाय प्रतिक्रमण इस बात का सूचक है कि जो धर्मक्रियाएँ हम कर रहे हैं वे कितनी आत्मलक्ष्यी बन पाई है? कितना कषाय मंद हुआ? कितना उपशांत भाव जगा? कितनी अनासक्ति जगी? संसार के प्रति उदासीनता का भाव कितना जगा? द्रव्य रूप से तो इस जीव ने धर्म-क्रियाएँ करने में

अनेक भवों में अनेक बार प्रयास किये, लेकिन भाव शुद्धि के सूचक कषाय प्रतिक्रमण को लेकर अन्तरात्मा में जागृति नहीं रही। यही कारण है धर्म-क्रियाएँ करते हुए भी साधना की सिद्धि में मंजिल नहीं मिल रही है। स्वयं सिद्धसेन दिवाकर ने कल्याणमंदिर स्तोत्र की रचना करते हुए भगवान पार्श्वनाथ की स्तुति में अपने अन्तर्मन के उद्‌गारों को प्रकट करते हुए कहा-

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि, नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव! दुःखपात्रं, यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्या।।

हे प्रभो! मेरे इस जीव ने आपके दर्शन किए, आपका प्रवचन सुना, आपकी महिमा गाई। हे भगवन्! मैंने इतना सब-कुछ किया, लेकिन मैंने आपकी वाणी को अन्तर्हृदय में नहीं उतारा, इसलिए दुःख का भाजन बना हुआ हूँ। उचित ही है कि भाव के बिना क्रियाएँ सफल नहीं होती है।

श्रावक विनयचन्दजी ने भी इसी बात को पुष्ट करते हुए कहा-

साधुपणो नहीं संग्रह्यो, श्रावक व्रत न किया अंगीकार के।
आदर्‌या तो न आराधिया, तेहथी रूलियो हूँ अनन्त संसार के ।।

श्री मुनिसुव्रत साहिबा....

कितनी सुन्दर बात कही है। कवि श्री विनयचन्द जी ने २०वें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत भगवान की महिमा गाते हुए कहा- ''आदर्‌या तो न आराधिया'' अर्थात् व्रत और महाव्रत स्वीकार तो अनेक बार किये, मगर आराधकता नहीं जगी। आराधकता का मतलब है प्रतिपल जागरूकता। सम्यक्त्व के समय आयुष्य का बंध। कषाय की मन्दता में हमारा चिन्तन और तदनुरूप जीवन को ढालना। एक बार जीव आराधक हो जाय तो वह पन्द्रहवें भव का उल्लंघन नहीं करता। इसके विपरीत बाह्य व्यवहार में भगवान गौतम के समान कठोर क्रिया करने वाले एवं अनेक पूर्वधर भी आज निगोद में बैठे हैं। कारण क्या? कारण है ज्ञान सीखा, क्रिया की, पालना भी की, पर कषाय भाव नहीं छूटा तो मानो बिना अंक के सारे शून्य व्यर्थ हो गए।

कषाय का सरलार्थ भी है- कष+आय, जिसमें पापों का आगमन हो, वह कषाय। पापों से भारी हुई आत्मा तो निश्चय ही अधोगति की ओर ही प्रयाण करेगी। कषाय, आत्मा का स्वभाव नहीं है। कषाय में, विकारों में रहना आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा क्रोध में नहीं रह सकता। आप व्यवहार में देख सकते हैं। आप हमेशा क्रोध में रहना चाहें तो रह नहीं सकते। क्यों? तो यह आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसका मतलब जीव जब-जब क्रोध करता है, दूसरों के प्रति द्वेष बुद्धि रखता है, बदले की भावना से ग्रस्त रहता है, दूसरों की उन्नति से ईर्ष्या में दग्ध रहता है, जरा सी प्रतिकूलता में उबल पड़ता है, तकरार कर बैठता है, दूरियाँ बढ़ा लेता है। आने-जाने का, मिलने तक का व्यवहार बंद कर देता है, विद्वेष भावना के साथ अगले की निन्दा-विकथा करने से नहीं चूकता, सदा दूसरे के दोष देखकर बुराई में लिप्त रहता है तो यह सब प्रवृत्तियाँ विभाव दशा की सूचक हैं अर्थात् शुद्ध आत्मस्वभाव का अतिक्रमण है। अतः जरूरत इस बात की है कि कषाय प्रतिक्रमण से

समरसता, माधुर्य, करुणा, सेवा, सौम्यता, आत्मीयपन जैसे मौलिक गुणों की वृद्धि हो। जीवन में स्व-पर का उपकार हो। स्व-जीवन के साथ सर्वत्र अपनत्व व प्रसन्नता का वातावरण निर्मित हो। जीवन में निर्दोष भाव जगे, स्वयं के लिए कर्मनिर्जरा का अनुकूल वातावरण निर्मित हो और कर्मबंध से जीव बचे। जरूरत है कषाय प्रतिक्रमण के लिए सतत विवेक एवं जागरूकता की। आपको ध्यान है मध्य के २२ तीर्थंकरों के शासनवर्ती श्रमणों के लिए उभयकाल प्रतिक्रमण करना अनिवार्य नहीं था। उन श्रमणों को जब भी दोष दृष्टिगत होता वे तत्काल प्रतिक्रमण कर लेते, अर्थात् दोषों का परिमार्जन कर लेते, क्योंकि वे प्राज्ञ एवं ऋजुभाव युक्त होते थे। उस समय के साधु सतत जागरूक रहते। हम भी कषाय प्रतिक्रमण से संबंधित जागरूकता का परिचय देने के लिए प्रति समय विवेक का नेत्र खुला रखें।

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जवभावेण, लोहं संतोसओ जिणे।।

अर्थात् जब-जब भी कषाय का प्रसंग उपस्थित हो, उस समय इस गाथा के माध्यम से विधेयात्मक दृष्टिकोण को विकसित करें जिससे कषाय के प्रति ग्लानि का भाव जग सके और विचार व आचार में कषाय मुक्त संस्कार जग सकें।

आज अहिंसा पर जितना विश्वास है, कषाय मुक्ति को लेकर कहना होगा अभी संस्कार जमे ही नहीं हैं। किसी भावुक भक्त के हाथ से कभी कोई चूहा या चिड़ी का बच्चा अचानक मर जाता है तो आदमी ग्लानि से भर जाता है। कभी-कभी तो हम संतों के पास आकर कुछ भाई कहते भी हैं- गुरुदेव! आज गलती से चूहा मर गया। इसलिए असावधानी से हुई इस जीव हिंसा के लिए आप प्रायश्चित्त फरमाओ।

प्रायश्चित्त लेना अच्छी बात है। प्रायश्चित्त लेना चाहिये, पर समझने की बात है कि जीव हिंसा को लेकर आपको जितना मलाल है, हिंसा के कारण मन में जो ग्लानि पैदा हुई है तो क्या क्रोध होने पर भी इसी तरह प्रायश्चित्त लेने की भावना आती है? एक-दूसरे का एक-दूसरे के साथ टकराव हो गया। क्या उस समय मन में ग्लानि का अनुभव होता है? क्या प्रायश्चित्त लेने की इच्छा होती है? बहुत कम लोग हैं जो क्रोध, मान, माया, लोभ के उत्पन्न होने पर इस तरह विचार करते हैं। हाँ, ऐसे तो बहुत मिल जायेंगे जो ईंट का जवाब पत्थर से देने में ही अपना गौरव समझते हैं, क्रोध में किसी पर रोब जमाकर संतुष्ट होते हैं, उसी में अपनी शान समझते हैं, बदले की भावना से अवसर की फिराक में रहते हैं और मौका मिलते ही बदला लेकर उसी में जीवन की जीत समझते हैं।

आज सहनशीलता घटती जा रही है। क्या अमीर क्या गरीब, क्या सत्ताधीश क्या कर्मचारी, क्या छोटा क्या बड़ा, क्या बच्चा क्या बूढ़ा, हर एक की नाक पर जैसे गुस्सा बैठा ही रहता है। किसी ने ठीक ही कहा- "ना हम बहरे हैं ना हम गहरे हैं, सच पूछो तो हम नए जमाने के चेहरे हैं। इसीलिए हमारे जीवन में अविवेक और गुस्से के पहरे हैं।" क्या बताऊँ आपको, एक बार किसी घर में गोचरी जाने का प्रसंग वना-

देखा, एक मुन्ना कौने में उदास खड़ा था। मैंने बच्चे से पूछ लिया- क्या नाम है? बच्चा बोला नहीं। इतने में मेरी आवाज को सुनकर बच्चे की मम्मी आ गई। वह कहने लगी- गुरुदेव! मुन्ने का आज मूड ऑफ है। मैंने विचार किया कि- "मुन्ने के अभी दूध के दाँत भी नहीं सूखे फिर उसका मूड ऑफ होना क्या अर्थ रखता है?" यानी घर-परिवार में कषाय रंजित वातावरण होगा तो छोटे या बड़े का कब मूड ऑफ हो जाय, पता नहीं। क्षमा के संस्कार न होने के कारण छोटी-छोटी बातों में आदमी उलझ जाता है, धैर्य खो बैठता है, संबंधों में दरार आ जाती है, एक-दूसरे के प्रति कटुता का भाव बढ़ जाता है और कठोर-कर्कश भाषा में एक-दूसरे पर बौछार कर बैठते हैं। एक बार किसी एक बच्चे ने पापाजी से पूछा- पापाजी युद्ध शब्द का क्या अर्थ है? पापाजी बच्चे को 'युद्ध' शब्द का अर्थ समझा रहे थे, इतने में बच्चे की मम्मी आ गई। मम्मी ने कहा- इसमें क्या यह तो मैं ही बता दूँ। बच्चे का पापा बोला- तूं क्या ज्यादा जानती है? पत्नी बोली- क्या आप ही सारा जानते हैं? एक-दूसरा, एक-दूसरे को कहने लगा। दोनों का विवाद देखकर बच्चा बोला- मुझे युद्ध शब्द का अर्थ समझ में आ गया। वहाँ कोई बँटवारा नहीं था, लेन-देन भी नहीं था। हाँ जमीन-जायदाद के बँटवारे में फिर भी कहा-सुनी हो सकती है, कोर्ट कचहरी तक पहुँच सकते हैं, लेकिन पति-पत्नी एक शब्द में उलझ जाय, हद हो गई अर्थात् इस कदर सहनशीलता घटती जा रही है। कभी-कभी संत-भगवंत प्रेरणा देते हैं- आपस में राग-द्वेष नहीं रखना। अगर कभी किसी से कहा-सुनी या मनमुटाव हो जाय तो खमतखामणा कर लें। मगर ध्यान रखें- खमतखामणा इस तरह हो कि समरसता बढ़े, मधुरता बढ़े, मैत्री और अपनत्व में वृद्धि हो। इस तरह क्षमायाचना न हो कि गये तो खमतखामणा करने और ज्यादा उलझ पड़े। एक बार एक संत की प्रेरणा पाकर एक भाई खमतखामणा करने गया और अगले से कहने लगा- भाई! महाराज साहब की प्रेरणा से तेरे से खमतखामणा करने आया हूँ वरना तूने मेरे साथ क्या-क्या किया मेरा जीव जानता है। यह सुनकर अगला कहने लगा- रहने दे, रहने दे मैं भी जानता हूँ तूने मेरे साथ क्या-क्या किया। देखा, आपने गया तो था क्षमायाचना के लिए मगर पुनः उलझ पड़ा।

खमतखामणा कार्ड से नहीं, हार्ट से होना चाहिये- "लड़ाई तो हो भाई से और खमतखामणा ब्याही से।" तो यह कैसा खमतखामणा? झगड़ा भाई-भाई में हो सकता है। सगे-संबंधियों में कहा-सुनी हो सकती है। अड़ौसी-पड़ौसी से मन-मुटाव हो सकता है। कभी कोई बोलने में ऊँचा-नीचा कह दे तो आदमी का पारा चढ़ सकता है। मगर गाँठ बाँधकर नहीं रखें, लेकिन देखा जाता है कि गाँठ इस तरह बाँध कर रखते हैं कि आपस में आना-जाना बंद, बोलचाल बंद, सब तरह के आपसी व्यवहार भी बंद कर देते हैं।

भगवान् ने हम साधुओं को उपदेश दिया- तुम्हें अनुभव हो जाय कि तुम्हारे व्यवहार से सामने वाले का दिल दुःखा है तो तत्काल क्षमायाचना कर लें। जब तक क्षमायाचना नहीं कर लें, गोचरी के लिए नहीं जायें, तब तक स्वाध्याय भी नहीं करें, लेकिन पहले जिसका दिल दुःखाया है उससे जाकर क्षमायाचना करें। किसी के घर में कभी आग लग जाय तो आदमी क्या करता है? क्या वह पहले खाना खाता है? नहीं, वह सब

काम छोड़कर पहले आग बुझाता है। संत भी सब काम छोड़कर क्षमायाचना करे। यदि संत पन्द्रह दिन का उल्लंघन करता है तो वह भगवान की दृष्टि में साधुत्व के योग्य नहीं। किसी के चार महीने निकल जायें और उसके द्वेष की गाँठ भीतर में बनी रहे तो उसका श्रावकपना नहीं रहता। साल भर बीत जाने पर भी द्वेष की गाँठ नहीं खोले, खमतखामणा करके शुद्धीकरण नहीं करे तो उसकी समकित का ठिकाना नहीं रहता अर्थात् वह मिथ्यात्व में आ जाता है। वह फिर चाहे जितनी सामायिक करे उसकी सामायिक सच्ची सामायिक नहीं कहलाती। सामायिक नहीं सो नहीं, तपस्या भी तपस्या नहीं रहती। व्रत, व्रत नहीं रहता। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा- "निःशल्यो व्रती" मिथ्यात्व भी एक शल्य है और इस मिथ्यात्व शल्य के रहते किसी भी प्रकार का धार्मिक अनुष्ठान फिर भले ही वह व्रत, नियम, तपश्चर्या आदि हो, लेकिन कर्म-निर्जरा के खाते में नहीं जाता। अतः किसी प्रकार का शल्य नहीं रखें। भले ही अगला द्वेष रखता हो, मगर आप अपने भीतर क्षमाभावना, मैत्री भावना, करुणा भावना, सेवा और अनुकम्पा को स्थान दें यह आपका सच्चा कषाय प्रतिक्रमण कहलायेगा।

तपस्वी बहन के दीर्घतपःपूर्ति के प्रसंग पर जयपुर में उस आयोजन में आचार्य भगवन्त (हस्तीमल जी म.सा.) ने स्पष्ट और खरी टिप्पणी की राजनेताओं पर। यह बात उपस्थित राजनेता को जरा अखर गई और उन्होंने भी अपने भाषण के दौरान भाषा का विवेक नहीं रखा, परिणामस्वरूप श्रद्धालु भक्त अवज्ञा को देख आवेश में थे, पर गुरुदेव शान्त-सौम्य स्वभाव में स्थित रहे। सायंकाल इसी प्रसंग को लेकर डागाजी ने गुरुदेव से कहा- "गुरुदेव आप लब्धिधारी महापुरुष हैं आज तो महादेव की तरह तीसरा नेत्र खोल देते।" षट्काय प्रतिपाल, मैत्री व करुणा के सागर, समत्व के आराधक उन महापुरुष का प्रत्युत्तर था- "भोलिया! क्यों ऐसा चिन्तन कर पंचेन्द्रिय वध के पाप का पाप बंध कर रहा है। कुछ करना तो दूर मेरे मन में ऐसी बात भी आ जाती तो मेरी साधुता ही चली जाती।"

इसे कहते हैं- सच्चा समत्व व सच्ची साधुता। जहाँ इस प्रकार की अवज्ञा रूप प्रतिकूलता में उन्होंने अपने आत्मस्वभाव में स्थित रहते हुए कषाय को प्रवेश तक नहीं होने दिया। अर्थात् शुद्ध आत्मिक दशा का अतिक्रमण नहीं होने दिया।

आपको ज्यादा दूर जाने की जरूरत नहीं है। यह शरीर भी हमको प्रेरणा दे रहा है। बाहर का तापमान चाहे '०' डिग्री हो चाहे '४८' डिग्री, स्वस्थ दशा में इस शरीर का तापमान एक-सा बना रहता है। आप जानते हैं स्वस्थ शरीर की निशानी है ९८.६ डिग्री फारेनाइट तापमान। जब आपके शरीर का तापमान एक-सा रहता है तो दिल-दिमाग का तापमान क्यों नहीं एक-सा रखते। आप बात-बात में उखड़ेंगे नहीं तो आपमें समरसता रहेगी, वातावरण भी विषाक्त नहीं होगा।

आप प्रतिक्रमण आवश्यक में विभिन्न व्रतों, दोषों व अतिचारों का चिन्तन करने के अनन्तर प्रभु की भाव-वन्दना करके 'खामेमि सव्वे जीवा....' का पाठ बोलते हैं। क्या इसके भावार्थ का भी हमने चिन्तन किया है- साधक कायोत्सर्ग प्रत्याख्यान से पूर्व यह पाठ बोलते हुए चिन्तन करता है- मैं सभी जीवों को क्षमा

करता हूँ यानी मेरे क्रोध भाव का शमन करता हूँ, दूसरों के दोष की स्मृति व कल्पना को ही निःशेष करता हूँ। (खामेमि सव्वे जीवा)। आगे वह चिन्तन करता है सभी जीव मुझे क्षमा करें। प्रथम भावार्थ तो यही कि दूसरों में दोष देखने वाला, दूसरों के अपवाद, अवर्णवाद को याद न रखने वाला ही विनम्र भाव से क्षमायाचना करने का अधिकारी है। क्रोध भाव छूटा तो व्यक्ति अपने को सामान्य समझेगा, अपने में ही दोष देखेगा तो मान, अहंकार, अभिमान स्वतः छूटेगा और वह विनम्र बन छोटे से छोटे व्यक्ति के समाने झुक कर अनुनय करेगा- आप मुझे क्षमा करें, मेरे द्वारा हुए अपराधों के लिए मुझे क्षमा प्रदान करें। (सव्वे जीवा खमन्तु मे) क्रोध छूटा, अभिमान विगलित हुआ, व्यक्ति अपने को दोषी व दूसरों को गुणी मानने की ओर बढ़ा, तो भला माया को स्थान कहाँ। परगुणदर्शन, परगुणवर्णन व परगुण चिन्तन आते ही जीवमात्र के साथ बंधुत्वभाव, मैत्रीभाव विकसित हुआ। जीव सहज ही बोल पड़ता है- सभी जीव मेरे मित्र हैं (मित्ती मे सव्वभूएसु)।

अधिकांश व्यक्तियों की दृष्टि स्वार्थपूर्ति की ओर संलग्न रहती है। उस स्वार्थपूर्ति में जो वस्तु/व्यक्ति बाधक बनता है, साधक उसके साथ वैर कर लेता है, लेकिन जहाँ मैत्रीभाव विकसित हो जाता है तो ऐसे मैत्रीभाव से सिक्त साधक संतोष को भीतर में जगाता हुआ अर्थात् लोभ का परिहार करता हुआ किसी के प्रति वैर नहीं पालता और उसका अन्तर्मन बोल उठता है- वेरं मज्झं न केणई।

जरा जैन इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठों की ओर दृष्टिपात करें। श्रावक श्रेष्ठ सिन्धु सौवीर नरेश उदयन पौषध में प्रतिक्रमण के पश्चात् चौरासी लक्ष जीवयोनि के साथ क्षमायाचना करते हुए क्या चिन्तन करता है- मैंने चौरासी लक्ष जीवयोनि से क्षमायाचना की है। बंदीगृह में बंद सम्राट् चन्द्रप्रद्योत भी तो चौरासी लक्ष जीवयोनि में शामिल है, उनसे क्षमायाचना नहीं की तो मेरी क्षमायाचना, मेरा प्रतिक्रमण, मेरी पौषध-साधना अधूरी है। पहुँचे चन्द्रप्रद्योत के सामने, क्षमायाचना की। बंदीगृह में पड़े चन्द्रप्रद्योत ने श्रावक शिरोमणि को ललकारा। यह कैसी क्षमायाचना, यह कैसा ढोंग। अगर क्षमायाचना ही करनी है तो पहले मुझे मुक्त करो, मुझे स्वर्णगुलिका व अनलगिरी (हाथी) व मेरा राज्य लौटाओ। कैसी परीक्षा की घड़ी थी, पर श्रमण भगवान महावीर का सच्चा श्रावक वहाँ भी उत्तीर्ण हुआ व क्षमा का सच्चा आदर्श प्रस्तुत कर चन्द्रप्रद्योत का बन्दीगृह से मुक्त करते हुए इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर अपनी छाप अंकित कर गया। यह कषाय प्रतिक्रमण का उत्कृष्ट अनुकरणीय प्रेरक उदाहरण है जिसे हृदयंगम कर, अनुसरण कर आप भी सच्चा प्रतिक्रमण कर सकते हैं।

प्रतिक्रमण से आत्म-शुद्धि होती है। आप जब भी प्रतिक्रमण करें और 'मिच्छा मि दुक्कडं' दें तो आत्मा की आवाज के साथ दें। यही कषाय प्रतिक्रमण है। आत्मा की शुद्धि के लिये समत्व का गुण बढ़ाएँ और कषायों को दूर करें, ऐसा करने पर निश्चय ही जीवन सार्थक हो सकेगा।

कषाय और प्रतिक्रमण

साध्वी डॉ. अमितप्रभा
(महासती श्री उमरावकुंवर जी म.सा. 'अर्चना' की शिष्या)

अनादिकाल से आत्मा व कर्म का संबंध क्षीर-नीरवत् बना हुआ है। इसका मूल कारण कषाय है। 'संसारस्स उ मूलं कम्मं, तस्स वि हुंति य कसाया'[1] अर्थात् संसार का मूल है कर्म और कर्म का मूल है-कषाय। भगवती सूत्र में कषाय और योग के निमित्त से कर्म का बंध बतलाया है। आत्मा जिसके द्वारा अपवित्र, भारी या मलिन हो रही है, उसका कारण कषाय है।

कषाय का शाब्दिक अर्थ है- कष+आय। **कष**-संसार, **आय**-वृद्धि अर्थात् संसार-भ्रमण की वृद्धि जिससे हो वह कषाय। जीव का चार गति चौरासी लाख जीवयोनि में परिभ्रमण कषाय से होता है। आत्मा के परिणामों को जो कलुषित करता है, वह कषाय है। इसके द्वारा आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप नष्ट होता है, यह आत्म-धन को लूटने वाला तस्कर है। सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध के षष्ठ अध्ययन में गणधर सुधर्मा स्वामी ने कषाय को अध्यात्म दोष कहा है।

जैन दर्शन ने जीव के संसार-परिभ्रमण एवं सुख-दुःख की प्राप्ति में कर्म को मूल आधार माना है। कर्म के मूल भेद आठ बतलाये हैं- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन अष्ट कर्मों में मुख्य मोहनीय कर्म है। इस मोहनीय कर्म के उदय से कषाय उत्पन्न होता है और इसके कारण आत्मा वीतराग पद को प्राप्त नहीं कर पाता। कषाय के क्षीण होने पर ही वीतराग-पद की प्राप्ति होती है। मोहनीय कर्म के मूल भेद दो हैं- दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय। उत्तर भेद अट्ठाईस हैं-

उक्त भेद-प्रभेदों का सारांश है कि दर्शन मोहनीय के उदय से सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन आध्यात्मिक जीवन का प्राण है। समकित प्राप्ति पश्चात् चारित्र धर्म की प्राप्ति होती है। चारित्रधर्म की परिपालना में चारित्र मोहनीय कर्म साधक की साधना में बाधक है। अनंतानुबंधी-कषाय एवं दर्शन मोहनीय के रहते समकित, अप्रत्याख्यान कषाय के रहते श्रावक धर्म, प्रत्याख्यानावरण के रहते संयतपना और संज्वलन-कषाय के रहते यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं होता।
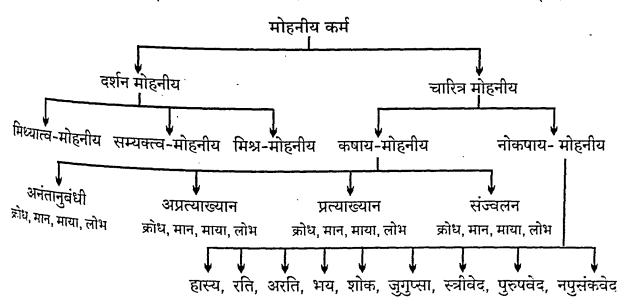
कषाय की उत्पत्ति का मूल कारण जानकर आत्म-स्वभाव में स्थित होने के लिये कषाय से मुक्त होना होगा। आत्मा ज्ञान का घन पिण्ड और आनन्द का केन्द्र है, अपने स्वभाव से स्वयं परिपूर्ण है। लेकिन कुछ विकृतियाँ/ विकारों के कारण विभाव दशा में आ गई है। इस विभाव दशा से स्वभाव में लौटने के लिये अनेकानेक मार्ग हैं। उनमें से एक है- प्रतिक्रमण, आत्म-शोधन या आत्म-निरीक्षण।

अध्यात्म प्रधान जिनशासन में आत्म-शुद्धि को सर्वोपरि महत्त्व प्राप्त है। प्रतिक्रमण जीवन-साधना की एक प्रक्रिया है, अध्यात्म-साधना का मूल आधार है। अपने अन्दर ही अपनी खोज को प्रतिक्रमण कहा गया है। आत्मा जब क्षयोपशम भाव से निकलकर उदय भाव में प्रविष्ट हो जाता है, तो उस आत्मा को पुनः उदय भाव से हटाकर क्षायोपशमिक भाव में स्थापित करना अर्थात् सम्यक् मार्ग को छोड़कर उन्मार्गगामी बनी आत्मा को उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर लाना ही प्रतिक्रमण कहा जाता है-

स्वस्थानाद्यत्परस्थानं प्रमादस्य वशंगतः।
तस्यैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते॥

प्रतिक्रमण पर आचार्यो ने बड़ी विस्तृत व्याख्याएँ की हैं। बहुत ही सूक्ष्म व गंभीर दृष्टि से चिन्तन-मनन-विवेचन किया है। प्रतिक्रमण के दो भेद किये हैं - द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण। द्रव्य प्रतिक्रमण बाह्य परिप्रेक्ष्य में मुँहपत्ति, आसन, शब्दोच्चारण, काल-विधि आदि के द्वारा किया जाता है। भाव प्रतिक्रमण अन्तर्मन से आत्मशुद्धि की भावना से किया जाता है। भाव-प्रतिक्रमण के विषयभेद की दृष्टि से स्थानांगसूत्र में पाँच प्रकार बताये हैं[2]- 'पंचविहे पडिक्कमणे पण्णत्ते तं जहा- आसवदारपडिक्कमणे, मिच्छत्तपडिक्कमणे, कसाय-पडिक्कमणे, जोगपडिक्कमणे, भावपडिक्कमणे।' साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग ये पाँच दोष माने गये हैं। साधक प्रतिदिन साधनाकाल में जानते-अजानते दोषों के प्रतिक्रमण के दौरान स्व-निरीक्षण करता है कि यदि मैं मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग में चला गया तो मुझे पुनः सम्यक्त्व, व्रत, अकषाय, अप्रमाद और शुभ योग में प्रवृत्त होना चाहिये।

स्थानांग सूत्र में वर्णित पंच-प्रतिक्रमण एवं साधनाकाल में लगे पाँच दोषों में कषाय भाव भी आत्मा को कलुषित करने वाले कहे गये हैं। कषाय प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार से आत्मा के उपयोग गुण या शुद्ध-स्वरूप को आच्छादित करते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में भ. महावीर ने कषाय को अग्नि कहा है और उसको बुझाने के लिये श्रुत (ज्ञान), शील, सदाचार और तप रूपी जल बताया है।[3]

कषाय के मूल भेद चार बतलाये हैं- क्रोध, मान, माया और लोभ। ये कषाय पुनर्जन्म रूपी बेल को प्रतिक्षण सींचते रहते हैं- 'चत्तारि कसाया सिंचति मूलाइं पुणब्भवस्स'[४] तथा इन चार कषायों- क्रोध, मान, माया, लोभ से क्रमशः चार प्रीति, विनय, सरलता, संतोष, सद्गुणों का नाश होता है।[५] सद्गुणों के नाश होने पर आत्मा सर्वगुण को प्राप्त नहीं करता।

जैनागम में जहाँ आत्म-गुणों के घात की चर्चा हुई है, वहाँ आत्म-गुणों के प्रकटीकरण के उपाय भी दर्शाये हैं-

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे।।

क्रोध को शान्ति(क्षमा) से, मान को मृदुता से, माया को ऋजुता से और लोभ को संतोष से जीतना चाहिये। यदि अन्तर्मन से क्षमा-शांति, मृदुता-विनम्रता, ऋजुता-सरलता, संतोष-संयम को सम्यग् रूप से धारण किया जाये तो निश्चय ही जीवात्मा कषाय रहित हो सकता है।

१. क्रोध के प्रतिक्रमण से क्षमा गुण का आविर्भाव- क्रोध आत्मा की एक ऐसी विकृति है, कमजोरी है, जिसके कारण उसका विवेक समाप्त हो जाता है। क्रोध शांति भंग करने वाला मनोविकार है। यह मानसिक अशान्ति के साथ ही वातावरण को भी कलुषित और अशान्त कर देता है। कहा गया है- 'क्रोधोदयाद् भवति कस्य न कार्यहानिः'[६] अर्थात् क्रोध के उदय में किसकी कार्यहानि नहीं होती, सभी की हानि होती है। जैन ग्रंथों में अनेकानेक महापुरुषों ने क्रोध-कषाय से अपनी भव-परम्परा बढ़ाई है, लेकिन जब स्व-विवेक से स्वयं का निरीक्षण-परीक्षण करते हैं तो स्वयं के पश्चात्ताप से संसार की यात्रा समाप्त या सीमित हो जाती है। उल्लेखनीय है चण्डकौशिक का प्रसंग। चण्डकौशिक ने अपनी विषमयी ज्वाला से अगणित राहगीरों को भस्मात् कर डाला। हजारों पेड़-पौधे, लतायें, विषैली फूंकारों से जलकर राख हो गईं। इस कारण वह भू-भाग प्राणिमात्र से शून्य हो गया। उसी विकट, भयावह स्थान पर प्रभु महावीर पधारे व बांबी के पास ध्यानस्थ हो गये। जब चंडकौशिक ने उन्हें अपने बिल के नजदीक देखा तो अपनी क्रोधित विषाक्त आँखों से तीव्र ज्वालाएँ निकालने लगा और क्रोधाविष्ट होकर डंक मारा तो दुग्ध सी श्वेत धारा बह निकली। यह अनुपम दृश्य देखकर वह आश्चर्यचकित और भ्रमित सा हो उठा। भगवान् महावीर ने 'बुज्झसि! बुज्झसि!' कहा। यह शब्द सुनकर चंडकौशिक की सुप्तावस्था जाग्रत हो उठी और तत्क्षण जातिस्मरण ज्ञान से यह अनुभव किया कि पूर्वभव के क्रोध के वशीभूत होकर मेरी यह दुर्दशा हुई। मैंने तीव्र क्रोध के कारण कितने कष्ट उठाये और इसी कारण दुर्गति को प्राप्त हुआ। वह चंडकौशिक शान्त होकर अन्तर्मन से पूर्वकृत दुष्कृत्यों का पश्चात्ताप करने लगा। भगवान् महावीर के समक्ष किये हुए पाप (क्रोध-कषाय) की क्षमायाचना की। निश्चल शांत मुद्रा में स्थिर हो गया। उसके शरीर पर कीड़ियों ने डेरे डाल दिये। शरीर को छिद्र युक्त कर दिया, पर वह क्षमा रूपी अचूक शस्त्र से क्रोध रूपी महाशत्रु को परास्त करता है, फलस्वरूप क्रोध का

प्रतिक्रमण करके क्षमा-भाव धारण करके आठवें देवलोक सहस्रार स्वर्ग में उत्पन्न होता है।

२. मान कषाय के शमन से मृदुता गुण- मान-कषाय से आत्म-स्वभाव में विद्यमान ऋजुता का अभाव होता है। क्रोध एवं मान दोनों द्वेष रूप हैं, लेकिन दोनों की प्रकृति में भिन्नता है। प्रतिकूलता में क्रोध का एवं अनुकूलता में मान का आगमन होता है। असफलता क्रोध और सफलता मान की जननी है। इसी कारण असफल व्यक्ति क्रोधी एवं सफल व्यक्ति मानी होता है। ये अवस्थाएँ आत्मा को विकारमय बना देती हैं। अभिमान से विनय, सेवा, सहकारिता, मृदुता इत्यादि गुण नष्ट होते हैं। मान की उत्पत्ति के कारण तथा इससे होने वाली हानि पर चिंतन-मनन से आत्मा का पर-पदार्थों से ममत्व हटता है और साम्य भाव प्रकट होता है। 'विणय मूले धम्मे पण्णत्ते'[7] अर्थात् धर्म का मूल विनय है, इसी कारण आभ्यन्तर तप में प्रथम विनय को रखा है। मान कषाय का प्रतिक्रमण कर मृदुता गुण अपनाकर बाहुबली ने मुक्ति प्राप्त की।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के सौ पुत्र तथा दो पुत्रियाँ थीं। ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना उत्तराधिकारी बनाया, शेष निन्यानवे पुत्रों को पृथक्-पृथक् राज्य देकर स्वयं आत्म-कल्याणार्थ साधना-पथ पर बढ़ गये। भरत ने पूर्व भव में चक्रवर्ती नामकर्म का उपार्जन किया था। फलस्वरूप सभी भ्राताओं को अपने अधीनस्थ करने का संदेश भिजवाया। उनमें अट्ठानवें भाइयों ने ऋषभदेव के चरणों में संयम ग्रहण कर लिया। बाहुबली ने भरत की अधीनता स्वीकार नहीं की और ज्येष्ठ भ्राता भरत के साथ दृष्टि-युद्ध, वाक्-युद्ध, बाहु- युद्ध में विजयी हुए। मुष्टि-युद्ध में जैसे ही बाहुबली ने भरत चक्रवर्ती पर प्रहार करने के लिए अपनी प्रबल मुष्टि उठाई लेकिन देव (शक्रेन्द्र)के मना करने पर उठी हुई ऊर्ध्व मुष्टि से स्व का केश-लुंचन कर लिया। वे अब श्रमण बन गये। पिता ऋषभदेव के चरण में जाने का विचार करने लगे, पर मन के किसी कोने से आवाज आई- 'वहाँ गया तो अपने से वय में छोटे, परन्तु दीक्षा वय में बड़े अपने भ्राताओं को वन्दन करना होगा।' मान-कषाय पर विजय प्राप्त न होने के कारण बढ़ते कदम मुड़ गये और एकांत शांत कानन की ओर चले, वहाँ जाकर हिमालय की भाँति अडोल, निश्चल, अटल ध्यान-मुद्रा में अवस्थित (खड़े) हो गये। पर उन्हें लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हुई। बारह माह के दीर्घ काल तक एक मुद्रा में रहने से शरीर पर मिट्टी जम गई, लताएँ लिपट गईं, पक्षियों ने घोसलें बना लिए, पर सिद्धि प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि मान-कषाय की शुद्धि नहीं हुई। ध्यानस्थ बाहुबली के कर्ण में 'वीरा म्हारा गज थकी उतरो, गज चढ्या मुक्ति न होसी रे' आवाज आई। चिन्तन का प्रवाह चल पड़ा कि मैं मान रूपी गज पर चढ़ा हूँ, वे वास्तविकता को समझकर अहं भाव का प्रतिक्रमण करने लगे- मैं बाह्य राज-पाट छोड़कर संन्यस्त हो गया, लेकिन अन्तर्जगत के राज्य रूपी मान को नहीं त्यागा। उनके इस आत्मशोधन ने अपने भीतर के अहं को नष्ट कर दिया। अशुभ भाव से शुभ भाव एवं तदनन्तर शुद्ध भावों की निर्मल धारा प्रवाहित हो उठी। नमन-वन्दन हेतु जैसे ही आगे कदम बढ़ाए उसी क्षण केवली अवस्था को प्राप्त हो गए- 'कदम बढ़ाता केवल पायो'।

३. माया प्रतिक्रमण से ऋजुता- जहाँ क्रोध और मान दोनों द्वेष के फल हैं, वहाँ माया और लो

राग के फल हैं। राग का प्रथम फल- माया, छल, कपट, झूठ, चोरी, धोखा, दगा, ठगाई आदि वृत्तियाँ हैं। इस प्रवृत्ति वाला व्यक्ति सशंक बना रहता है, क्योंकि दुर्नीति प्रकट हो जाने का भय रहता है। सशंकित भयाक्रान्त मानव कदापि निराकुल नहीं रहता। ज्ञानार्णव ग्रंथ में माया कषाय को अविद्या की जन्मभूमि, अपयश का घर, पाप रूपी कीचड़ का गर्त, मुक्ति द्वार की अर्गला, नरक रूपी घर का द्वार और शील रूपी शाल वृक्ष के वन को जलाने के लिए अग्नि कहा है।[6] माया को मत्सर भाव कहा है। जैसे मच्छर मधुर राग कानों में सुनाकर डंक मारता है। अभिमन्यु को चक्रव्यूह में माया से ही मौत के घाट उतारा गया था। मायावी के भावों में विरूपता रहती है, लेकिन आत्मार्थी माया-कषाय का त्याग कर 'जहा अंतो तहा बाहि, जहा बाहि तहा अंतो' एकरूपता को स्वीकार करता है।

'सोही उज्जूयभूयस्स' शुद्धि ऋजुभूत (सरल) की होती है। स्पष्ट है आत्म-शुद्धि होगी तभी आत्म-सिद्धि होगी। शुद्धि के अभाव में सिद्धि प्राप्त नहीं होती। तीर्थंकरों का जन्म पुरुष के रूप में होता है, किन्तु मल्लीकुमारी (मल्लीनाथ) का जन्म महिला के रूप में होना अद्भुत एवं आश्चर्यजनक घटना है। इसका कारण था मल्लीनाथ भगवान् ने पूर्वभव में तप-साधना में अपने साथियों के साथ माया कषाय का आचरण किया और उसकी बाद में आलोचना (प्रतिक्रमण) नहीं की, उसके फल रूप में तीर्थंकर नाम का उपार्जन तो हुआ, पर स्त्रीलिङ्ग में उसका प्रतिफलन हुआ।

४. लोभ प्रतिक्रमण से परम संतोष- 'लोभमूलानि पापानि', 'लोभ पापों का मूल', 'लोभ पाप का बाप' है। ऐसे सूत्रों से स्पष्ट है लोभ-कषाय सबसे मजबूत कषाय है। क्रोध, मान, माया कषाय के पूर्णतः चले जाने पर भी आत्मा में पूर्ण रूप से पवित्रता प्रकट नहीं होती है। साधक चौदह गुणस्थानों में से ग्यारहवें गुणस्थान में आकर लोभ-कषाय (संज्वलन) के पुनः उदय होने पर मिथ्यात्व दशा-प्रथम गुणस्थान तक भी आ सकती है।

लोभ-कषाय की उत्पत्ति असंयम, तृष्णा, अभिलाषा, आसक्ति आदि है। बाहर से जलती हुई अग्नि को थोड़े से जल से शान्त किया जा सकता है, किन्तु तृष्णा रूपी अग्नि को समस्त समुद्र के जल से भी शान्त नहीं किया जा सकता है। ये इच्छाएँ आकाश के समान अनंत है, असीम हैं।[7] तृष्णा रूपी बेल के कारण जीवात्मा दुःख प्राप्त करती है। यदि यह निरासक्ति, संयम, संतोष आदि को अपने स्व-स्वभाव में लेकर आ जाये तो क्षण मात्र में परम सुख को प्राप्त करती है।

कपिल ब्राह्मण दो मासा स्वर्ण प्राप्त करने के लिए अर्द्धरात्रि में घर से निकल गया। नगर-रक्षकों ने मध्यरात्रि में घूमते देख पकड़ लिया। प्रातःकाल राजा ने अर्द्धरात्रि में राजपथ पर अकेले घूमने का वास्तविक कारण जानना चाहा तो कपिल ने निर्भयता, सरलता से स्पष्ट बात कह दी। जिससे प्रसेनजित राजा ने प्रसन्न होकर कहा- निःसंकोच जितना धन माँगों, मैं तुम्हें दूँगा। कपिल राजोद्यान में बैठकर चिन्तन करने लगा- दो मासा सोने से क्या होगा। सौ स्वर्ण मुद्राएँ, लाख, करोड़ मुद्राएँ माँग लेता हूँ। इससे भी संतुष्ट न होकर राज्य

मिथ्यात्वादि का प्रतिक्रमण : कतिपय प्रेरक प्रसंग

श्रीमती हुकम कुँवरी कर्णावट

मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण राजा श्रेणिक ने, अव्रत का प्रतिक्रमण परदेशी राजा ने, प्रमाद का प्रतिक्रमण शैलक राजर्षि ने, कषाय का प्रतिक्रमण चंडकौशिक सर्प ने और अशुभयोग का प्रतिक्रमण प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने किया। इन पाँच घटनाओं के प्रसंग से लेख में प्रत्येक प्रतिक्रमण की महनीयता का प्रतिपादन हुआ है। *-सम्पादक*

प्रतिक्रमण अनेक आत्माओं ने किया, कर रही हैं और कई आत्माएँ करती रहेंगी, परन्तु भावात्मक रूप में भी पाँचों प्रतिक्रमण की साधना आवश्यक है। पाँचों प्रतिक्रमण हैं- मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण, अव्रत का प्रतिक्रमण, प्रमाद का प्रतिक्रमण, कषाय का प्रतिक्रमण और अशुभ योग का प्रतिक्रमण। यहाँ इनमें से प्रत्येक प्रतिक्रमण का एक-एक उदाहरण प्रस्तुत है।

मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण

मगध सम्राट् श्रेणिक ने मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण किया था। एक दिन महाराजा श्रेणिक भ्रमण करते हुए मंडिकुक्ष उद्यान में आ निकले। वहाँ एक मुनि को देखा। उनकी शांत सौम्य मुखमुद्रा देखकर बहुत प्रभावित हुए। इस तरुण अवस्था के मुनि से पूछ लिया- "आप इस तरुणावस्था में मुनि कैसे बने?"

मुनि - राजन्! मैं अनाथ था।

राजा - मैं आपका नाथ बनता हूँ। मेरे महलों में पधारें और सुखपूर्वक रहें।

मुनि - राजन्! आप स्वयं अनाथ हैं।

मगध सम्राट् ने अपने राज्य, धन से भरे भंडार आदि का परिचय दिया।

मुनि बोले- "राजन्! मेरे भी धन माल का भण्डार था। भरापूरा परिवार था, पत्नी थी। एक बार भयंकर नेत्रवेदना हुई। मेरे पिता ने सभी प्रकार के इलाज किए। धन पानी की तरह बहाया। परन्तु मेरा रोग ठीक नहीं हुआ। एक दिन मैंने मन में विचार किया - यदि मैं अच्छा हो जाऊँ तो प्रातः होते ही मुनि बनकर दीक्षा ले लूँगा, मेरा रोग ठीक हो गया। प्रातः होते ही मैंने अपने संकल्प के अनुसार संयम ले लिया। हे राजन्! यह मेरी अनाथता थी।"

राजा श्रेणिक समझ गया कि वास्तव में धन परिवार कोई किसी की रक्षा नहीं कर सकता। धर्म ही हमारा सच्चा रक्षक है। ये बाहरी पुद्गल, परिवार, महल, बंगले नहीं धर्म ही हमारा सच्चा साथी है। इस प्रकार

माँगने की इच्छा करता है। तृष्णा बढ़ती गई, लेकिन तृप्ति नहीं। जैसे ही अन्तर्मन में झांका की दो मासा से राज्य तक पहुँच गया फिर भी संतोष नहीं पाया। लाभ के साथ लोभ बढ़ रहा है-

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ।

दो मासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ।।[१०]

यह जानकार कपिल ब्राह्मण ज्ञानचक्षु से लोभ कषाय को हितकारी न जानकर, आत्मग्लानि पूर्वक पश्चात्ताप कर अपने भावों को परिष्कृत कर आत्म स्नान कर केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर लेते हैं।

कषाय के दुष्परिणाम से जीवात्मा की संसारवृद्धि होती है और अपने स्वभाव से हट जाती है। कषाय के कारण भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही तरह से संत्रस्त आत्मा दिव्य भावों में नहीं पहुँच पाती। स्वस्थान में लौटाने का एक मार्ग प्रतिक्रमण है। कषाय प्रतिक्रमण द्वारा साधक स्वयं अतीत काल में लगे दोषों का शोधन कर वर्तमान में पश्चात्ताप कर, भविष्य में नये पाप कर्म न करने का संकल्प करता है- 'छूटूँ पिछला पाप से, नया न बाँधू कोय।' आत्मशुद्धि में यदि उत्कृष्ट रसायन आ जाय तो तीर्थंकर नाम कर्म का बंध हो जाता है।

आत्म-साधक अपने जीवन का कोना-कोना प्रतिक्रमण के प्रकाश से प्रकाशित करता है। प्रतिक्रमण कर लेने से आत्मा में अप्रमत्तभाव जाग्रत होकर अपूर्व आत्मशुद्धि का पथ प्रशस्त होता है और अज्ञान, अविवेक का अन्त होता है।

संदर्भ-

१. आचारांगनिर्युक्ति, १८९

२. स्थानांगसूत्र ५/३

३. उत्तराध्ययन सूत्र २३/५३

४. दशवैकालिक सूत्र ८/४०

५. दशवैकालिक सूत्र ८/३८

६. आत्मानुशासन २१६

७. ज्ञाताधर्मकथा, १/५

८. ज्ञानार्णव, सर्ग १९, श्लोक ५८, ५९

९. उत्तराध्ययन सूत्र ९/४८

१०. उत्तराध्ययन सूत्र ८/१८

मिथ्यात्वादि का प्रतिक्रमण : कतिपय प्रेरक प्रसंग

श्रीमती हुक्म कुँवरी कर्णावट

मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण राजा श्रेणिक ने, अव्रत का प्रतिक्रमण परदेशी राजा ने, प्रमाद का प्रतिक्रमण शैलक राजर्षि ने, कषाय का प्रतिक्रमण चंडकौशिक सर्प ने और अशुभयोग का प्रतिक्रमण प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने किया। इन पाँच घटनाओं के प्रसंग से लेख में प्रत्येक प्रतिक्रमण की महनीयता का प्रतिपादन हुआ है। *-सम्पादक*

प्रतिक्रमण अनेक आत्माओं ने किया, कर रही हैं और कई आत्माएँ करती रहेंगी, परन्तु भावात्मक रूप में भी पाँचों प्रतिक्रमण की साधना आवश्यक है। पाँचों प्रतिक्रमण हैं- मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण, अव्रत का प्रतिक्रमण, प्रमाद का प्रतिक्रमण, कषाय का प्रतिक्रमण और अशुभ योग का प्रतिक्रमण। यहाँ इनमें से प्रत्येक प्रतिक्रमण का एक-एक उदाहरण प्रस्तुत है।

मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण

मगध सम्राट् श्रेणिक ने मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण किया था। एक दिन महाराजा श्रेणिक भ्रमण करते हुए मंडिकुक्ष उद्यान में आ निकले। वहाँ एक मुनि को देखा। उनकी शांत सौम्य मुखमुद्रा देखकर बहुत प्रभावित हुए। इस तरुण अवस्था के मुनि से पूछ लिया- ''आप इस तरुणावस्था में मुनि कैसे बने?''

मुनि - राजन्! मैं अनाथ था।

राजा - मैं आपका नाथ बनता हूँ। मेरे महलों में पधारें और सुखपूर्वक रहें।

मुनि - राजन्! आप स्वयं अनाथ हैं।

मगध सम्राट् ने अपने राज्य, धन से भरे भंडार आदि का परिचय दिया।

मुनि बोले- ''राजन्! मेरे भी धन माल का भण्डार था। भरापूरा परिवार था, पत्नी थी। एक बार भयंकर नेत्रवेदना हुई। मेरे पिता ने सभी प्रकार के इलाज किए। धन पानी की तरह बहाया। परन्तु मेरा रोग ठीक नहीं हुआ। एक दिन मैंने मन में विचार किया - यदि मैं अच्छा हो जाऊँ तो प्रातः होते ही मुनि बनकर दीक्षा ले लूँगा, मेरा रोग ठीक हो गया। प्रातः होते ही मैंने अपने संकल्प के अनुसार संयम ले लिया। हे राजन्! यह मेरी अनाथता थी।''

राजा श्रेणिक समझ गया कि वास्तव में धन परिवार कोई किसी की रक्षा नहीं कर सकता। धर्म ही हमारा सच्चा रक्षक है। ये बाहरी पुद्गल, परिवार, महल, बंगले नहीं धर्म ही हमारा सच्चा साथी है। इस प्रकार

राजा की जो राज्यादि की झूठी मान्यता थी, वह दूर हो गई। राजा ने सही समझ प्राप्त कर मिथ्यात्व या झूठी मान्यता का प्रतिक्रमण किया।

अव्रत का प्रतिक्रमण

परदेशी राजा ने अव्रत का प्रतिक्रमण किया था। राजा परदेशी शरीर और आत्मा को अलग-अलग नहीं मानता था। उसने अनेक जीवों को कोठी में बंद करके रखा था। वे प्राणरहित बन गए। वह नहीं जान सका कि उनकी आत्मा कहाँ से निकली और कैसे?

एक दिन परदेसी राजा के नगरवासी चित्त सारथी ने सोचा कि राजा को प्रतिबोध दिलाना जरूरी है। राजा इतना पाप कर रहा है, यह तभी बंद होगा। सारथी चित्त ने केशी मुनि से निवेदन किया। मुनि ने राजा को सेवा में लाने की बात कही। साथी राजा को घोडों की परीक्षा के बहाने बगीचे में ले आया। मुनि पहले से ही पधारे हुए थे। राजा की नजर मुनि पर पड़ी- पूछा यह कौन?

सारथी- ये शरीर और आत्मा को अलग-अलग मानते हैं।

राजा तुरन्त उनकी सेवा में पहुँचा।

राजा - क्या आप जीव और शरीर को अलग-अलग मानते हैं?

मुनि - हाँ, मृत्यु के बाद जीव दूसरी गति में जाकर पुण्य-पाप का फल भोगता है।

राजा - मेरे दादा बहुत पापी थे। आपके कथनानुसार वे नरक में गए होंगे। वे यहाँ आकर मुझसे कहते - बेटा, पाप मत कर नहीं तो मेरी तरह नरक के दुःख भोगेगा। तो मैं शरीर और जीव को अलग मान लेता।

मुनि - तुम अपनी सूर्यकान्ता रानी के साथ किसी पापी को व्यभिचार करते देखो तो क्या करोगे? राजा - मैं उसकी जान ले लूँगा। मुनि - यदि वह थोड़ी देर के लिए घरवालों को कहने हेतु जाना चाहे तो? राजा - ऐसा कौन मूर्ख होगा?

मुनि- इसी प्रकार अनेक पाप करते-करते तुम्हारे दादा को नरक से छुट्टी कैसे मिलेगी?

राजा- मैंने एक अपराधी को कोठी में बंद किया। कोठी पूरी बन्द थी। थोड़ी देर बाद कोठी में देखा। वह मर चुका था। किन्तु मैंने जीव को निकलते नहीं देखा।

मुनि- राजन्! गुफा का द्वार बन्द कर कोई अन्दर ढोल बजावे तो आवाज बाहर आयेगी। राजा - आयेगी। इसी प्रकार आत्मा शरीर से निकल जाता है, परन्तु दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार लोहे के गोले में आग प्रवेश कर जाती है, परन्तु पता नहीं चलता।

श्रावस्ती का राजा परदेसी समझ गया। वह जैन धर्म का अनुयायी बन गया। बेले-बेले तप करते हुए धर्मसाधना करने लगा। दानशाला खोल दी। रानी सूर्यकान्ता ने उसे भोजन में विष दे दिया। राजा ने समता रखी, मृत्यु पाकर देव बना और महाविदेह में जन्म लेकर वह मोक्ष जायेगा। इस प्रकार राजा परदेसी ने अव्रत

का प्रतिक्रमण किया।

प्रमाद का प्रतिक्रमण

प्रमाद का प्रतिक्रमण करने के उदाहरण हैं- शैलक राजर्षि। शैलकपुरी के राजा शैलक किस प्रकार मुनि बन गए, यह वर्णन ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र के शैलक अध्ययन में आता है।

एक बार शैलकपुर में भगवान् अरिष्टनेमि की परम्परा के शुक मुनि का पदार्पण हुआ। राजा शैलक भी वन्दनार्थ गए। धर्मोपदेश सुनकर राजा को प्रतिबोध हुआ। मंत्रीवर्ग से सलाह की। पंथक आदि ५०० मंत्री भी संयम लेने हेतु तैयार हो गए। जब राजा इस मार्ग पर जा रहे हों तो हम क्यों पीछे रहें। राजा ने राजकुमार को राज्य में स्थापित कर पंथक आदि मंत्रीगण के साथ संयम ग्रहण कर लिया।

कर्मगति की विचित्रता। शैलक राजर्षि अस्वस्थ हो गए, विचरण नहीं कर रहे थे। एक स्थान पर विराज रहे थे। इलाज चल रहा था। शुभकर्म योग से स्वास्थ्य लाभ किया, परन्तु बहुत प्रमादी बन चुके थे। साधु के आचार को भूलकर शिथिलाचारी बन गए। पंथक आदि मुनियों ने देखा कि शैलक राजर्षि विहार नहीं कर रहे और शिथिलाचारी बन रहे हैं। उन्होंने पंथक मुनि को सेवा में रखकर विहार कर दिया।

पंथक मुनि देवसिय प्रतिक्रमण पूर्ण कर चौमासी प्रतिक्रमण की आज्ञार्थ शैलक राजर्षि की सेवा में आए। वन्दन कर चरण स्पर्श किया। शैलक राजर्षि अपने आराम में व्यवधान से नाराज हुए। पंथक मुनि ने सारी स्थिति स्पष्ट की और प्रतिक्रमण की आज्ञार्थ चरणस्पर्श का निवेदन किया। भविष्य में मैं आपके विश्राम में बाधक नहीं बनूँगा-क्षमायाचना की पंथक मुनि ने।

शैलक राजर्षि सावधान बने। प्रमाद का परिहार कर पश्चात्तापपूर्वक विहार करने लगे। साधुचर्या का सम्यक् पालन करने लगे। इस प्रकार शैलक राजर्षि ने प्रमाद का प्रतिक्रमण किया और अप्रमादी बनकर साधु समाचारी का पुनः पालन किया।

कषाय का प्रतिक्रमण

कषाय का प्रतिक्रमण किया था- चंडकौशिक सर्प ने। तीर्थंकर महावीर प्रभु साधनाशील थे। शीत, ताप आदि परीषहों को सहन करते हुए एक बार भयंकर वन प्रदेश में पहुँच गए। वहाँ एक भयानक विषधर चंडकौशिक रहता था। ग्वालों ने महावीर को उधर जाने से बहुत मना किया। चण्डकौशिक ने अपनी जहरीली फुँफकार से और विषभरी नजर से हजारों प्राणियों को मौत के घाट उतार दिया था। प्रभु महावीर घबराए नहीं, वे तो कर्म काटने के लिए उसी मार्ग पर बढ़ रहे थे, आखिर पहुँच गए सर्प की बाँबी के निकट। चण्डकौशिक अपनी बाँबी पर आए मनुष्य को देखकर क्रोध में जलने लगा। वह महावीर के पाँव में डंक मारने लगा, परन्तु आश्चर्य यहाँ तो लाल नहीं सफेद खून था। वह उसे मीठा लगा। महावीर ने चण्डकौशिक को जगाया और कहा- "बोध प्राप्त करो। बोध क्यों नहीं पाते हो?" मन वाला चण्डकौशिक महावीर के कथन को समझ गया। सोच लिया कि अब किसी को नहीं काटेगा। उसका क्रोध शांत बना। उसे पूर्वभव में मुनि बनने का

स्मरण हो आया। मुँह बाँबी में डालकर वह निश्चेष्ट सा पड़ गया। भगवान् उसे बोध देकर आगे बढ़ गए। ग्वाले यह देखकर उसकी पूजा करने लगे। दूध, मिठाई आदि से पूजा करने से चींटियाँ आईं और उन्होंने चण्डकौशिक के शरीर को छलनी बना दिया, परन्तु चण्डकौशिक ने समता धारण कर ली थी। वह मरकर शुभभावों के कारण आठवें देवलोक में गया। इस प्रकार चण्डकौशिक ने क्रोधादि कषायों का प्रतिक्रमण किया। इन्हें त्याग कर उसने समता/क्षमा धारण की।

अशुभ योग का प्रतिक्रमण

अशुभयोग का प्रतिक्रमण करने के उदाहरण हैं- प्रसन्नचंद्र राजर्षि। प्रसन्नचन्द्र पोतनपुर नगर के राजा थे। एक बार श्रमण भगवान् महावीर का यहाँ पदार्पण हुआ। प्रसन्नचन्द्र राजा प्रभु को वन्दन करने आए और उनका वीतरागतापूर्ण उपदेश सुना। उन्हें संसार से वैराग्य हुआ और प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। विनयपूर्वक ज्ञानाराधना करते हुए सूत्रार्थ के पाठी बने।

भगवान् से आज्ञा लेकर एकान्त में ध्यानस्थ हो गए। मगध सम्राट् श्रेणिक भी संयोगवश भगवान को वन्दन करने आए। रास्ते में मुनि को एक पैर पर ध्यान में खड़े देखा, उन्हें विनयपूर्वक नमन किया। फिर भगवान् की सेवा में पहुँचे। भगवान् को सविनय वंदन कर पूछा - भगवन्! नगरी के बाहर मुनि ध्यान में खड़े हैं, अभी काल प्राप्त करें तो कौनसी गति में जायें? प्रभु ने कहा - सप्तम नरक में। श्रेणिक चकित रहे। कुछ देर बाद फिर पूछा तो उत्तर मिला - सर्वार्थसिद्ध देव विमान में। श्रेणिक ने पूछा - भगवन्! इतना अन्तर क्यों? महावीर प्रभु बोले - तुमने पहले पूछा तब ध्यानस्थ मुनि शत्रु के साथ मानसिक युद्ध कर रहे थे और बाद में आलोचना कर भूल का पश्चात्ताप कर उच्च श्रेणी में आरूढ बने।

श्रेणिक ने राजर्षि प्रसन्नचन्द्र की इस स्थिति का मूल कारण जानना चाहा। प्रभु ने बताया - राजन्! वंदन को आते समय तुम्हारे दो सेनापतियों ने उन्हें ध्यानमग्न देखा। सुमुख सेनापति ने उन्हें स्वर्ग का अधिकारी बताया। दूसरे सेनापति दुर्मुख ने कहा - इन्होंने पाप किया है। छोटे पुत्र को राज्य सुपुर्दकर साधु बन गए। उधर इनके राज्य पर आक्रमण हो रहा है। संभव है बालवय राजा से शत्रु राजा राज्य छीन ले और उसे बन्दी बनाले। इस सेनापति की बात कान में आने पर प्रसन्नचंद्र मुनि विचलित हो गए और मन ही मन युद्ध करने लगे। सभी शस्त्रों के समाप्त हो जाने पर उनका हाथ सिर पर मुकुट प्रहार करने के लिए गया, पर सिर तो मुँडा हुआ था। मुनि अवस्था का भान हुआ और आलोचना की, पश्चात्ताप किया। इसलिए सर्वार्थसिद्धि गति के योग्य बने। प्रसन्नचन्द्र मुनि को उसके कुछ देर बाद केवलज्ञान हो गया। इस प्रकार मन को अशुभ से हटाकर शुभ में लगाने से इस प्रतिक्रमण का फल केवलज्ञान तक पहुँच गया।

इस प्रकार मिथ्यात्वादि में से एक-एक प्रतिक्रमण करने वाली आत्मा का भी जीवन सफल हो गया, जो पाँचों प्रकार के प्रतिक्रमण की सम्यक् साधना कर लेता है उसका तो जीवन स्वतः धन्य एवं सार्थक हो सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं।

प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त का मनोवैज्ञानिक पक्ष

आचार्य श्री कनकनंदी जी

अपराध निराकरण हेतु किया गया अनुष्ठान प्रायश्चित्त है। दिगम्बराचार्य श्री कनकनन्दी जी महाराज ने प्रायश्चित्त के धार्मिक पहलू के साथ मनोवैज्ञानिक पहलू पर भी प्रकाश डाला है। लेख में प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त के द्वारा मानसिक और शारीरिक रोगों को दूर करने के उपाय उदाहरण सहित दिये गये हैं। प्रायश्चित्त के दस भेदों के माध्यम से की गई प्रतिक्रमण की विस्तृत मनोवैज्ञानिक व्याख्या पाठकों के लिए ग्रहणीय है। *-सम्पादक*

षट्खण्डागम में प्रतिपादित है कि अपराध करने वाला साधु संवेग और निर्वेद से युक्त होकर अपने अपराध का निराकरण करने के लिए जो अनुष्ठान करता है, वह प्रायश्चित्त नाम का तप कर्म है।[1] इस विषय में एक श्लोक इस प्रकार कहा गया है -

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत्।
तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्।। -धवला टीका

'प्रायः' पद लोकवाची है अर्थात् व्यक्ति का बोधक है। और 'चित्त' से अभिप्राय उसका मन है। इसलिए उस चित्त की शुद्धि को करने वाला कर्म प्रायश्चित्त है, ऐसा समझना चाहिए।

जब एक मनुष्य से किसी प्रकार का दोष हो जाता है तो उस दोष के कारण उसकी अन्तरात्मा मलिन, दूषित और अपवित्र हो जाती है। अन्तरात्मा के दूषित होने के साथ-साथ अन्य लोग भी उसके प्रति मलिन एवं अपवित्र मनोभाव को धारण करते हैं। इस प्रकार दोषी अन्तर्लोक (आत्मा) और बहिर्लोक (बाह्य जनसाधारण) में दूषित माना जाता है। जब तक वह दोषी अपना दोष परिमार्जन नहीं करता है तब तक वह दोनों तरफ से मलिन होकर पतित हो जाता है। इससे उसके धैर्य, साहस, आत्मगौरव आदि का नाश होने से आध्यात्मिक शक्ति क्षीण हो जाती है। उपर्युक्त दोष से अपना उद्धार करने के लिए वह दोषी यथायोग्य स्वसाक्षी, गुरुसाक्षी, परसाक्ष्य पूर्वक दोषानुकूल प्रायश्चित्त लेकर आत्मविशुद्धि करता है। आत्मविशुद्धि के अनन्तर अंतरात्मा निर्मल या पवित्र हो जाने से उसका धैर्य, साहस, वीर्य, आत्मगौरव वृद्धिंगत होता है जिससे उसकी आध्यात्मिक शक्ति स्वतः वृद्धि को प्राप्त होती है। दोष स्वीकार करके, दोषपरिमार्जन करने से साधारण लोग भी उसकी प्रामाणिकता से प्रेरित होकर पहले जो उसके प्रति दोषजनित दूषित भाव मन में था उसको निकाल फेंकते हैं। इस प्रकार प्रायश्चित्त से स्वशुद्धि के साथ-साथ लोगों की चित्तशुद्धि भी हो जाती है।

शुद्धिकारक होने से प्रायश्चित्त 'तप' कहलाता है।

प्रायश्चित्त के १० भेद

यह प्रायश्चित्त आभ्यन्तर तप का एक भेद है। प्रायश्चित्त १. आलोचना २. प्रतिक्रमण ३. उभय ४. विवेक ५. व्युत्सर्ग ६. तप ७. छेद ८. मूल ९. परिहार १०. श्रद्धान के भेद से दस प्रकार का है।[२] इस विषय में प्रसिद्ध गाथा है-

आलोयण पडिकमणे उभय-विवेगे तहा विउसग्गो।
तवछेदो मूलं पि य परिहारो चेव सद्दहणा।।१।।

इन दस भेदों का संक्षेप में वर्णन करने के साथ प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त का मनोवैज्ञानिक पक्ष प्रस्तुत किया गया है-

(१)आलोचना (स्वदोष प्रकाशन) प्रायश्चित्त- अपरिस्राव अर्थात् आस्रव से रहित, श्रुत के रहस्य को जानने वाले, वीतराग और रत्नत्रय में मेरु के समान स्थिर ऐसे गुरुओं के सामने अपने दोषों का निवेदन करना आलोचना नामक प्रायश्चित्त है।[३]

(२) प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त- गुरुओं के सामने आलोचना किये बिना संवेग और निर्वेद से युक्त साधु का 'फिर से कभी ऐसा न करूँगा' यह कहकर अपराध से निवृत्त होना प्रतिक्रमण नाम का प्रायश्चित्त है।[४]

शंका- यह प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त कहाँ पर होता है?

समाधान- जब अपराध छोटा सा हो और गुरु समीप न हो, तब यह प्रायश्चित्त होता है।[५]

विश्व एवं काल अनादि है। इसलिए जीव भी अनादिकाल से है। जीव के अनादिकाल से होने से कर्मबंध भी अनादिकालीन है। जीव में भी अनन्त शक्ति है एवं जीव को बाँधने वाले कर्म में भी अनंत शक्ति है, क्योंकि यदि कर्म में अनंत शक्ति नहीं होती है तो अनंत शक्ति संपन्न जीव को कर्म बाँध नहीं सकता है। अनादि काल से कर्म में बँधा हुआ, कर्म से रचा हुआ एवं कर्म से संस्कारित जीव पर कर्म का अनुशासन अनादिकाल से चला आ रहा है। उस कर्म की प्रेरणा शक्ति इतनी तीव्र है कि वह कभी-कभी भेदविज्ञान-सम्पन्न आत्मसाधक महासत्त्व वाले अंतरात्मा मुनि को भी पदस्खलित, पथचलित कर देती है। महान् तत्त्ववेत्ता दार्शनिक संत पूज्यपाद स्वामी ने इस अभिप्राय को लेकर कहा है-

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रांतिं भूयोऽपि गच्छति।। -समाधितंत्र, ४५

अंतरात्मा आत्मतत्त्व को जानती हुई भी तथा शरीर से भिन्न आत्मा की भावना करती हुई भी, मानती हुई भी पुराने बहिरात्मावस्था के मिथ्यासंस्कार से शरीर को आत्मा समझ लेने के भ्रम को कर बैठती है।

आत्मसाधक अनिच्छापूर्वक कर्म की तीव्र शक्ति से घात-प्रतिघात को प्राप्त करके कदाचित्,

कथंचित् स्वलक्ष्य मार्ग से स्खलित होने पर प्रमादी होकर नीचे पड़ा नहीं रहता है। वह पुनः नवचेतना, नवस्फूर्ति, नवशक्ति लेकर खड़ा हो जाता है। वह अपना पश्चात्ताप स्वसाक्षी, परसाक्षी पूर्वक करता हुआ दोष का परिमार्जन करता है। त्रुटि होने पर त्रुटि को स्वीकार करना, पुनः त्रुटि नहीं होवे तदनुकूल सतत पुरुषार्थ करना प्रतिक्रमण एवं प्रायश्चित्त है। इससे साधक की सरलता व आत्मविशुद्धि की भावना स्पष्ट व्यंजित होती है एवं पुष्ट होती है। आत्मा की दुर्बलता नष्ट होती है एवं आत्मा दृढ़ हो जाती है। मनुष्य में उन्नति करने की जितनी प्रणालियाँ हैं उनमें सर्वप्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है स्व-दोष स्वीकार करना, परिमार्जन करना एवं उस दोष को आगे नहीं होने देना। प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदि से उसकी प्रामाणिकता अधिक से अधिक निखर उठती है। आत्मविश्वास के साथ-साथ यह लोक विश्वास का भी सम्पादन करता है।

वर्तमान मनोवैज्ञानिक चिकित्सक भी अनेक मानसिक एवं शारीरिक रोगों की चिकित्सा प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त, स्वदोष-स्वीकार करना आदि विधि से करते हैं। अनेक मानसिक एवं शारीरिक रोग तनाव से उत्पन्न होते हैं। तनाव का मूल कारण असत् आचरण, अनैतिक आचार-विचार, दूसरों के प्रति ईर्ष्या, घृणा, द्वेष के साथ प्रगट एवं अप्रगट रूप में दोषयुक्त कार्य करना है। उपर्युक्त कारण से मन में, अन्तश्चेतना में, अवचेतन मन में एक प्रकार का मानसिक असंतुलन व विक्षोभ उत्पन्न होकर कुण्ठित मानसिकता की एवं विकृत भावनाओं की ग्रंथि पड़ जाती है। ये ग्रंथियाँ ही शारीरिक एवं मानसिक रोगों का कारण बन जाती हैं। जब तक आत्म-निरीक्षण, स्वदोष स्वीकार, आत्म-विश्लेषण, पश्चात्ताप, निंदा, गर्हा नहीं की जाती है तब तक मानसिक तनाव भावनात्मक ग्रंथियाँ, मानसिक एवं शारीरिक रोग विभिन्न भौतिक एवं शारीरिक चिकित्सा से दूर नहीं हो सकते हैं। निन्दा, गर्हा, पश्चात्ताप आदि के बिना इनका पूरा इलाज नहीं हो सकता। इसका विशेष वर्णन मेरे द्वारा लिखित 'धर्म एवं स्वास्थ्य विज्ञान' के मनोवैज्ञानिक चिकित्साप्रकरण में किया गया है। इसी प्रकार प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदि का आचरण स्वकृत दोष निवारण के साथ-साथ दूसरों के विश्वास भाजन बनने एवं शारीरिक-मानसिक रोग-निवारण के लिए अमोघ उपाय है।

यदि किसी पुरुष के शरीर में काँटा लग गया और वह उससे बहुत कष्ट पा रहा है तो जब तक वह काँटा उसके शरीर से नहीं निकलेगा तब तक वह सुखी नहीं हो सकता है। उस काँटे को निकालकर जैसे वह पुरुष सुखी होता है, उसी तरह आत्म-हितैषी व्यक्ति वीतरागी साधुओं की शरण लेकर अपनी आत्मा को कष्ट पहुँचाने वाले पापकर्म रूपी काँटे को आलोचना द्वारा निकाल फेंकते हैं और वे फिर कभी नाश न होने वाली आत्मिक लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं।

भाव परिष्कार : सही उपचार (उदाहरण १)- एक स्त्री अपने पति के कटु-व्यवहार से अत्यन्त दुःखी थी। इस दुःख के कारण उस स्त्री की मृत्यु हो गयी। इससे पति को बहुत बड़ा मानसिक (आघात) धक्का लगा, जिससे वह क्षयरोग से ग्रस्त हो गया। मनोवैज्ञानिक परीक्षण हुआ। परीक्षण से पता चला कि इस रोग का कारण शारीरिक न होकर मानसिक है और मानसिक कारण है आत्मग्लानि। डाक्टरों ने योग्य मानसिक

चिकित्सालय में उसको भेज दिया। मानसिक चिकित्सा से कुछ ही दिनों में वह क्षयरोग से मुक्त हो गया।

'प्रायश्चित्त' एक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा विधि (उदाहरण २)- एक बहुत बड़े मनोवैज्ञानिक चिकित्सक 'डॉ. कलेरे संलीव' जब सिरदर्द, अनिद्रा, हाइपर एसिडिटी आदि रोग से ग्रस्त व्याधि के कारण का शारीरिक दृष्टिकोण से शोध कर न सके तब उन्होंने आत्मीय एवं प्रेमभाव से रोगी को कहा- "बेटे, सच बताओ, तुम्हारे मन में क्या दबा हुआ है? तुम्हारें अन्तरंग की बात बताने पर ही संभव है कि मैं रोग का सही-सही निदान एवं उपचार कर सकूँ।"

तब रोगी बोला- "मेरा एक भाई विदेश में रहता है उसे धोखा देने का पाप मेरे मन में आ गया। फलतः मैं पैतृक सम्पत्ति में जो मेरे भाई का हिस्सा है, उसे हड़पने के षड्यंत्र में (जालसाजी) संलग्न हूँ।" डॉ. संलीव ने रोग का वैज्ञानिक कारण खोज निकाला। डॉक्टर ने रोगी को नीरोग हो जाने का आश्वासन दिया। उससे भाई के नाम एक पत्र लिखवाया। उस पत्र में रोगी ने अपने कृत कारनामों को स्पष्ट स्वीकार किया और उस त्रुटि के लिए भाई से क्षमा माँगी। डॉक्टर ने प्रायश्चित्त के स्वरूप उससे हड़पने की राशि का चेक लिखवाया और लेटर बॉक्स तक रोगी के साथ जाकर पत्र पेटी में डलवा दिया। पत्र डालते ही रोगी फूट-फूटकर रोने लगा। उसने कहा कि धन्यवाद डॉ. साहब! अब मेरी सभी बीमारियाँ दूर हो गयी हैं। तब से वह रोगी सम्पूर्ण रूप से नीरोगी हो गया।

धार्मिक दृष्टिकोण से इसी को प्रायश्चित्त कहते हैं। प्रायश्चित्त विधि प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय में है, विशेष करके जैन धर्म में। प्रातःकाल एवं संध्या के समय प्रायश्चित्त लेने का विधान है। रात्रि में किये गये ज्ञात, अज्ञात या प्रमादवशतः निम्नश्रेणीय कीटपतंग से लेकर उच्च स्तरीय मानव तक किसी के भी प्रति किसी भी प्रकार मन, वचन, काया से अपराध होने पर परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से स्व-साक्षी अथवा परसाक्षी पूर्वक क्षमायाचना पूर्वक प्रायश्चित्त प्रातःकाल लेते हैं। इसी प्रकार दैवसिक अपराध के लिए संध्या के समय प्रायश्चित्त लेते हैं। जैनों के प्रतिक्रमण में आद्य पाठ निम्न प्रकार है-

जीवे प्रमादजनिताः प्रचुरा प्रदोषाः।
यस्मात् प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रयान्ति।। -प्रतिक्रमण पाठ

प्रमाद (असावधानी) वशतः जीवों के प्रति प्रचुर रूप से जो दोष होते हैं, वे दोष प्रतिक्रमण के माध्यम से नष्ट हो जाते हैं। प्रतिक्रमण का अर्थ है- कृत दोष को स्वीकार करना। अन्यायपूर्ण अनुचित, अनैतिक, अधार्मिक कार्य करते ही किसी व्यक्ति की अन्तश्चेतना जान लेती है कि कुछ विपरीत व अप्राकृतिक कार्य हुआ है। इससे मानसिक शांति व संतुलन बिगड़ जाता है, जिससे शरीर का नाडीतंत्र व ग्रंथितंत्र प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। फलतः मानसिक अस्वस्थता हो जाती है। उस मानसिक अस्वस्थता के कारण शरीर भी अस्वस्थ हो जाता है और जब तक भूल का सुधार नहीं हो जाता तब तक यह मानसिक और शारीरिक अस्वस्थता बनी रहती है। भूल का सुधार होते ही रोगी स्वस्थ हो जाता है। पहले धर्मात्मा लोग

दोष होने के बाद इसीलिए क्षमायाचना करते थे।

खम्मामि सव्व जीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूदंसु वैरं मज्झं ण केणवि।। -प्रतिक्रमण पाठ

मैं सहृदय, सम्पूर्ण जीव-जगत् को क्षमा करता हूँ, सर्व जीव-जगत् मुझे भी क्षमा करे। सम्पूर्ण जीवों के प्रति मेरी मैत्री भावना है अर्थात् सम्पूर्ण जीव मेरे मित्र के समान हैं। किसी के भी प्रति मेरा वैर भाव नहीं है।

उदाहरण ३- न्यूजीलैंड के डॉ. नारमन वीसेर पील एक चिकित्सक, मनावैज्ञानिक और न्यूजमी चर्च के प्रवक्ता हैं। एक युवती ने डॉ. साहब से कहा- चर्च में आते ही मेरे शरीर में बुरी तरह से खुजली चलने लगती है और शरीर में लाल चकते हो जाते हैं। यदि यही हालत रही तो मुझे चर्च में आना छोड़ना पड़ेगा।

अन्तर्मन की पर्तों को कुरेदने से (जाँच करने पर) डॉ. साहब ने पाया कि यह 'इण्टरनल एग्जिमा' से पीड़ित है। इसका कारण शारीरिक और बाह्य नहीं है, इसका मानसिक एवं अन्तरंग कारण है। 'इमोशनल टेन्सन' भावात्मक तनाव के कारण इस प्रकार हुआ है। जब डॉ. ने युवती से पूछा तब युवती बोली- मैं एक बड़ी कम्पनी में एकाउण्टेन्ट का काम कर रही थी, उस अवधि में मैं गोल-माल करके थोड़ा धन चुराया करती थी। हर बार सोचती थी कि चुराई हुई रकम वापिस कर दूँगी, लेकिन मैं ऐसा नहीं कर सकी। ऐसा कहकर वह फफक-फफक कर रोने लगी। तब डॉ. बोले- तुम्हारे मन में अपराध की भावना घर क़र गयी है, जब चर्च के पवित्र वातावरण में आती हो तब उसमें तीव्रता आ जाती है। यह रोग भावना क्षोभजनित है। इससे छूटने का एक ही उपाय है- मालिक के सामने अपना अपराध स्वीकार कर लेना। तुम जाओ, मालिक के सामने अपना अपराध स्वीकार करो। इससे संभवतः तुम्हें मालिक कार्य से निकाल भी सकता है। युवती वहाँ से मालिक के पास गई तथा पदवी को नहीं चाहते हुए समस्त वृत्तान्त स्पष्ट रूप से मालिक से कहकर क्षमा माँगी तब से उसका एग्जिमा रोग समाप्त हो गया तथा उसकी पदोन्नति हो गयी।

भय से अतिसार रोग हो जाता है, चिंता से अपस्मार रोग होता है, रक्तचाप बढ़ जाता है, तीव्र ईर्ष्या और घृणा से अल्सर रोग हो जाता है, आत्मग्लानि से क्षयरोग (टी.बी.) हो जाता है, अति स्त्री-संभोग से टी.बी., कुष्ठ रोग, नपुंसकता आदि रोग हो जाते हैं। चिंता, क्रोध, घृणाभाव आदि से मानसिक विकृतियाँ हो जाती हैं जिससे मनुष्य को अनेक शारीरिक रोगों के साथ-साथ पागलपन जैसा मानसिक रोग भी हो जाता है।

गुस्सा, उदासी, चिन्ता, घृणादि भाव हमारी त्वचा पर गहरा असर डालते हैं। जिस समय हमें क्रोध आता है उस समय शरीर में एक ऐसे रस का संचार होने लगता है जो चेहरे की तरफ के रक्त संचार को रोकता है, इसके कारण त्वचा का रंग पीला या विवर्ण हो जाता है। अधिक क्रोध आने पर चेहरे पर झुर्रियाँ जल्दी पड़ जाती हैं। खुश-संतोषी रहने पर चेहरे पर लाली और चमक रहती है, इस प्रकार चिंता या तनाव से केवल शारीरिक क्षति ही नहीं होती, बल्कि आन्तरिक व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त हो जाती है। फलतः पाचन क्रिया पर भी दुष्प्रभाव पड़ता है और पाचन क्रिया बिगड़ने लगती है। अन्ततः हृदय की अन्यान्य बीमारियाँ पैदा हो

जाती हैं। इस प्रकार मानसिक दूषित भाव शरीर, मन, आत्मा और पर के प्रति भी दूषित प्रभाव डालते हैं। इन दूषित भावों से केवल इहलोक नहीं, किन्तु परलोक में भी अनेक कष्टों को सहना पड़ता है।

(३) उभय प्रायश्चित्त- अपने अपराध की गुरु के सामने आलोचना करके गुरु की साक्षीपूर्वक अपराध से निवृत्त होना- उभय नाम का प्रायश्चित्त है।[६]

शंका- यह उभय प्रायश्चित्त कहाँ पर होता है?

समाधान- यह दुःस्वप्न देखने आदि अवसरों पर होता है।[७]

(४) विवेक प्रायश्चित्त- गण, गच्छ, द्रव्य और क्षेत्र आदि से अलग करना- विवेक नाम का प्रायश्चित्त है।[८]

शंका- यह विवेक प्रायश्चित्त कहाँ पर होता है?

समाधान- जिस दोष के होने से उसका निराकरण नहीं किया जा सकता, उस दोष के होने पर यह प्रायश्चित्त होता है।

उभय शब्द की अनुवृत्ति होने से उपवास आदि के साथ जो गच्छादि के त्याग का विधान किया जाता है, उसका अन्तर्भाव इसी विवेक प्रायश्चित्त में हो जाता है।[९]

(५) काय-ममत्व त्याग (कायोत्सर्ग) प्रायश्चित्त- काया का उत्सर्ग करके ध्यानपूर्वक एक मुहूर्त, एक दिन, पक्ष और महीना आदि काल तक स्थित रहना व्युत्सर्ग नाम का प्रायश्चित्त है। यहाँ पर भी द्विसंयोग आदि की अपेक्षा भंगों की उत्पत्ति कहनी चाहिए। क्योंकि उभय शब्द देशामर्षक है।[१०]

शंका- यह व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त किसके होता है ?

समाधान- जिसने अपराध किया है, किन्तु जो अपने विमल ज्ञान से नौ पदार्थों को समझता है, वज्र संहनन वाला है, शीतपात और आताप को सहन करने में समर्थ है तथा सामान्य रूप से शूर है, ऐसे साधु के होता है।[११]

काय संबंधी ममत्व, मोह, राग, सुखासीनता का त्याग करना कायोत्सर्ग है। शरीर से ममत्वादि त्याग करने से मन स्थिर हो जाता है। मन स्थिरता से ध्यान-साधन सुचारु रूप से होता है। उस ध्यान से पूर्वोपार्जित पापकर्म धुल जाते हैं। अतः कायोत्सर्ग कर्म नष्ट करने के लिए साधनभूत है।

समस्त शरीर को सहज रूप से ढीला छोड़कर एवं मानसिक संकल्प-विकल्प आदि को त्यागकर कायोत्सर्ग करने से शारीरिक तनाव दूर हो जाता है। केवल शारीरिक तनाव ही दूर नहीं होता है, बल्कि उसके साथ-साथ मानसिक ग्रंथियाँ ढीली हो जाती हैं। इससे मन तनाव मुक्त होकर स्वच्छ निर्मल हो जाता है। इससे पापकर्म भी धुल जाते हैं।

वर्तमान मनोवैज्ञानिक चिकित्सक भी मानसिक रोग दूर करने के लिए कायोत्सर्ग, शरीर-

शिथिलीकरण, शवासन आदि करवाते हैं, जिससे मानसिक तनाव के साथ-साथ शारीरिक तनाव भी दूर होते हैं और रोगी अनेक रोगों से मुक्त हो जाता है। इतना ही नहीं, कायोत्सर्ग से एक नवचेतना, नवस्फूर्ति मन में जाग उठती है।

कायोत्सर्ग की अवस्था में शरीर स्थिर एवं मन निस्पंद होने से पूर्वोपार्जित दोष जो कि अचेतन में सुप्त-रूप में संचित रहता है, वह अवसर प्राप्त करके सचेतन मन में उभर उठता है। जिससे दोषी को अपना दोष स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता है। तब वह साधक अपने दोष को दोष जानकर उससे अपनी आत्मिक क्षति पहचान कर दोषों का त्याग करता है। कुछ देशों में अपराधी जब अपराध लेकर न्यायाधीश के पास जाता है तब न्यायाधीश उसको शांत चित्त से बैठने के लिए कहता है। वह जब कुछ समय स्थिर होकर बैठता है तब उसका तनाव, ईर्ष्या-द्वेष कम होने से अपनी भूल को स्वीकार कर लेता है। इस तरह कुछ अपराधी बिना प्रतिवाद किए ही समाधान पाकर वापस भी चले जाते हैं।

मनुष्य आवेश और तनाव की स्थिति में गलत सोच लेता है। उस स्थिति में वह कभी भी सही निर्णय नहीं ले पाता है। यदि यह बात पूर्णतः समझ ली जाती है तो वकीलों और जजों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। तनाव के कारण ही व्यक्ति न्यायालय की शरण में जाता है। वहाँ जाने वाला भी पछताता है और नहीं जाने वाला भी पछताता है। वह बूर का लड्डू है। उसे न खाने वाला भी ललचाता है और खाने वाला भी पछताता है। यदि आवेश की स्थिति समाप्त हो जाए तो न्यायालय में चलने वाले ७० प्रतिशत मुकदमे वैसे ही समाप्त हो जाते हैं। आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं-

''मैंने सुना है कि पश्चिम जर्मनी में एक प्रयोग किया जा रहा है। जो व्यक्ति क्रिमिनल केस लेकर आता है, उसे ५-६ घंटे बिठाया जाता है। फिर उससे पूछताछ की जाती है। निष्कर्ष के रूप में उन्होंने बताया कि ७० प्रतिशत व्यक्ति तो बिना शिकायत किए ही लौट जाते हैं, क्योंकि वे आवेश के वशीभूत होकर न्यायालय में आए थे। आवेश मिटा और वे शांत हो गए। (कैसे सोचें? -आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. २१)

(६) तप (कायेन्द्रिय दमन) प्रायश्चित्त- उपवास, आचाम्ल, निर्विकृति, दिवस के पूर्वार्द्ध में एकाशन आदि तप के रूप में प्रायश्चित्त दिये जाते हैं। यहाँ द्विसंयोगी भंगों की योजना कर लेनी चाहिए।''

शंका- यह प्रायश्चित्त किसे दिया जाता है?

समाधान- जिसकी इन्द्रियाँ तीव्र हैं, जो जवान है, बलवान् है और सशक्त है, ऐसे अपराधी साधु को दिया जाता है।''

(७) संयमकाल ह्रास (छेद) प्रायश्चित्त- एक दिन, एक पक्ष, एक मास, एक ऋतु, एक अयन और एक वर्ष आदि की दीक्षा पर्याय का छेद कर इच्छित पर्याय से नीचे की भूमिका में स्थापित करना छेद नाम का प्रायश्चित्त है।''

शंका-यह प्रायश्चित्त किसे दिया जाता है?

समाधान- जिसने अपराध किया है तथा जो उपवास आदि करने में समर्थ है, सब प्रकार से वलवान् है, स प्रकार से शूर है और अभिमानी है, ऐसे साधु को दिया जाता है।[१५]

(८) (सम्पूर्ण संयम काल विच्छेद) प्रायश्चित्त- समस्त पर्याय का विच्छेद कर पुनः दीक्षा देना मूल ना का प्रायश्चित्त है।[१६]

शंका- यह मूल प्रायश्चित्त किसे दिया जाता है?

समाधान- अपरिमित अपराध करने वाला जो साधु पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील और स्वच्छन्द आदि होव कुमार्ग में स्थित है, उसे दिया जाता है।[१७]

(९) परिहार (अनवस्थाप्य और पाराञ्चिक) प्रायश्चित्त- राजा के विरुद्ध आचरण करने पर जो प्रायश्चि दिये जाते हैं, वह परिहार प्रायश्चित्त कहलाता है। परिहार दो प्रकार का है- अनवस्थाप्य और पाराञ्चिक। उन से अनवस्थाप्य परिहार का जघन्य काल ६ महीना और उत्कृष्ट काल १२ वर्ष है। वह कायभूमि से दूर रहक विहार करता है, प्रतिवन्दना से रहित होता है,गुरु के सिवाय अन्य सब साधुओं के साथ मौन का नियम रखत है तथा उपवास, आचाम्ल, दिन के पूर्वार्द्ध में एकासन और निर्विकृति आदि तपों द्वारा शरीर के रस, रुधि और माँस को शोषित करता है।

पाराञ्चिक तप भी इसी प्रकार होता है। किन्तु इसे साधर्मी पुरुषों से रहित क्षेत्र में आचरण कर चाहिये। इसमें उत्कृष्ट रूप से छह मास के उपवास का भी उपदेश दिया गया है। ये दोनों ही प्रकार प्रायश्चित्त राजा के विरुद्ध आचरण करने पर और दस पूर्वों को धारण करने वाले आचार्य करते हैं।[१८]

(१०) श्रद्धान प्रायश्चित्त- मिथ्यात्व को प्राप्त होकर स्थित हुए जीव के महाव्रतों को स्वीकार कर आप्त, आग और पदार्थों का श्रद्धान करने पर श्रद्धान नाम का प्रायश्चित्त होता है।[१९]

संदर्भ

निम्नांकित सभी संदर्भ षट्खण्डागम, पुस्तक १३, खण्ड ५, कर्मानुयोगद्वार, सूत्र २६ की धवला टीका, पृष्ठ ५ से ६३ तक से उद्धृत हैं-

१. कयावराहेण ससंवेयणिव्वेएण सगावराहणिरायणट्ठं जमणुट्ठाणं कीरदि तप्पायच्छित्तं णाम तवोकम्मं।

२. तं च पायच्छित्तमालोयणा-प्पडिक्कमण-उभय-विवेग -विउसग्ग-तव-च्छेद-मूल-परिहार-सद्दहणभेदे दसविहं।

३. गुरूणमपरिस्सवाणं सुदरहस्साणं वीयरायाणं तिरयणे मेरुव्व थिराणे सगदोलणिवेयणमालोयणा णाम पायच्छित्तं

४. गुरूणमालोयणाए विणा ससंवेग-णिव्वेयस्स पुणो ण करेमि त्ति जमवराहादो णियत्तणं पडिक्कमणं णा पायच्छित्तं।

५. एदं कत्थ होदि? अप्पावराहे गुरूहि विणा वट्टमाणम्हि होदि।

६. सगावराहं गुरुणमालोचिय गुरुसक्खिया अवराहादो पडिणियत्ती उभयं णाम पायच्छित्तं।

७. एदं कत्थ होदि? दुस्सुमिणदंसणादिसु।

८. गण-गच्छ-दव्व खेत्तादीहिंतो ओसारणं विवेगो णाम पायच्छित्तं।

९. एदं कत्थं होदि? जम्हि संते अणियत्तदोसो सो तम्हि होदि। उववासादीहि सह गच्छादिचागविहाणमेत्थेव णिवददि, उभयसद्दाणुवुत्तीदो।

१०. झाणेण सह कायमुज्झिदूण मुहूत्त-दिवस-पक्ख-मासादिकालमच्छणं विउस्सग्गो णाम पायच्छित्तं। एत्थ वि दुसंजोगादीहि भंगुप्पत्ती वत्तव्वा; उभय-सद्दस्स देसामासियत्तादो।

११. सो कस्स होदि? कयावराहस्स णाणेण दिट्ठणवट्ठस्स वज्जसंघडणस्स सीदवादादवसहस्सओघसूरस्स साहुस्स होदि।

१२. खवणायंबिल-णिव्वियडि-पुरिमंडलेयट्ठणाणि तवो णाम। एत्थ दुसंजोगा जोजेयव्वा।

१३. एदं कस्स होदि? तिव्विंदियस्स जोव्वणभरत्थस्स बलवंतस्स सत्तसहायस्स कयावराहस्स होदि।

१४. दिवस-पक्ख-मास-उदु-अयण-संवच्छरादिपरियायं छेत्तूण इच्छिद- परियायादो हेट्ठिमभूमीए ठवणं छेदोणाम पायछित्तं।

१५. एदं कस्स होदि? उववासादिखमस्स ओघबलस्स ओघसूरस्स गव्वियस्स कयावराहस्स साहुस्स होदि।

१६. सव्वं परियायमवहारिय पुणो दीक्खणं मूलं णाम पायच्छित्तं।

१७. एदं कस्स होदि? अवरिमिय अवराहस्स पासत्थोसण्ण-कुसील-सच्छंदादि-उव्वट्टट्ठियस्स होदि।

१८. परिहारो दुविहो अणवट्ठओ परंचिओ चेदि। तत्थ अणवट्ठओ जहण्णेण छम्मास कालो उक्कस्सेण वारसवासपेरंतो। कायभूमीदो परदो चेव कयविहरो पडिवंदणविहिदो गुरुवदिरित्तासेसजणेसु कयमोणाभिग्गहो खवणायंबिलपुरिमड्ढेयट्ठणणिव्वियदीहि सोसिय-रसरूहिर-मांसो होदि। जो सो पारंचिओ सो एवंविहो चेव होदि, किन्तु साधम्मियवज्जियक्खेत्ते समाचरेयव्वो। एत्थ उक्कस्सेण छम्मासक्खवणं पि उवइट्ठं। एदाणि दो वि पायच्छित्ताणि णरिंदविरुद्धाचरिदे आइरियाणं णव-दसपुव्वहराणं होदि।

१९. मिच्छत्तं गंतूण ट्ठियस्स महव्वयाणि घेत्तूण अत्तागम-पयत्थसद्दहणा चेव (सद्दहणं) पायच्छित्तं।

15,17 नवम्बर 2006
जिनवाणी, 258

प्रतिक्रमण और स्वास्थ्य

श्री चंचलमल चोरडिया

आत्मशुद्धि हेतु किया गया प्रतिक्रमण स्वतः ही मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य की प्राप्ति करा देता है। दूसरी तरफ बिना मानसिक संतुलन या स्वस्थता के भावपूर्वक प्रतिक्रमण करना भी संभव नहीं है। प्रतिक्रमण केवल आत्मा से ही जुड़ा हुआ नहीं है, इसका सीधा प्रभाव मन व शरीर के स्वास्थ्य पर भी पड़ता है। इस दृष्टिकोण से लेखक ने यहाँ छहों आवश्यकों का सुन्दर विवेचन किया है। *-सम्पादक*

प्रतिक्रमण क्या है?

प्रतिक्रमण स्वयं द्वारा स्वयं के दोषों का निरीक्षण, परीक्षण और समीक्षा की व्यवस्थित प्रक्रिया है। गलती होना मानव का स्वभाव है। उसको स्वीकारना मानवता है। प्रतिक्रमण गलती को गलती मानने, जानने और छोड़ने का पुरुषार्थ है। गलती को गलती मानने से भविष्य में पुनः गलतियाँ होने की संभावनाएँ कम रहती हैं। गलती को गलती न मानने वाला अन्दर ही अन्दर भयभीत, तनावग्रस्त एवं दुःखी रहता है। क्रोध एवं चिड़चिड़ेपन से लीवर और गालब्रेडर, भय से गुर्दे एवं मूत्राशय, तनाव एवं चिन्ता से तिल्ली, पेंक्रियाज और आमाशय तथा अधीरता एवं आवेग से हृदय एवं छोटी आँत तथा दुःख से फेंफड़े एवं बड़ी आँत की क्षमता घटती है।

स्वस्थ कौन एवं स्वास्थ्य क्या?

स्वस्थ का अर्थ होता है स्व में स्थित होना अर्थात् स्वयं पर स्वयं का नियंत्रण। स्वास्थ्य का अर्थ है रोगमुक्त जीवन। स्वास्थ्य तन, मन और आत्मोत्साह के समन्वय का नाम है अर्थात् शरीर, मन और आत्मा तीनों जब ताल से ताल मिलाकर कार्य करें, शरीर की सारी प्रणालियाँ एवं सभी अवयव सामान्य रूप से स्वतंत्रता पूर्वक कार्य करें, किसी के कार्य में कोई अवरोध न हो और उसको चलाने में किसी बाह्य वस्तु की आवश्यकता भी न पड़े तब व्यक्ति स्वस्थ होता है।। मन, वचन और काया आत्मा की अभिव्यक्ति के तीन सशक्त माध्यम हैं। आत्मा ही जीवन का आधार होती है। आत्मा की अनुपस्थिति में शरीर, मन और मस्तिष्क का कोई अस्तित्व नहीं होता और न स्वास्थ्य की कोई समस्या होती है। आत्मा के विकार ही रोग के प्रमुख कारण होते हैं। आत्मा के विकार मुक्त होने से शरीर, मन, वाणी और मस्तिष्क स्वतः स्वस्थ होने लगते हैं।

इस दुनियाँ में इतने कष्ट नहीं हैं जितने आदमी भोगता है। वह भोगता है अपने अज्ञान के कारण। ज्ञानी के लिये शरीर में समाधान है, प्रकृति में समाधान है, वातावरण में समाधान है, वनस्पति जगत् में

समाधान है, आहार-पानी-हवा और धूप के सम्यक् उपयोग एवं मन, वचन और काया द्वारा सम्यक् जीवन शैली जीने में समाधान है। समाधान बहुत हैं, किन्तु उस व्यक्ति के लिये कोई समाधान नहीं जिसमें अज्ञान भरा हो। प्रतिक्रमण उस अज्ञान को दूर करने में सहायक है।

प्रतिक्रमण में छः आवश्यकों का स्वास्थ्य की दृष्टि से महत्त्व

अच्छे स्वास्थ्य के लिये रोग होने के कारणों को जानना एवं उनसे बचने का प्रयास आवश्यक होता है। जो पूर्ण रूप से स्वस्थ हैं उनकी जीवन शैली को समझ उसके अनुरूप प्रेरणा लेना एवं उनसे सम्पर्क रख आवश्यक परामर्श लेना तथा भविष्य में रोग न हो उस हेतु शरीर की प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाना आवश्यक है।

प्रतिक्रमण के प्रथम सामायिक आवश्यक में ध्यान के माध्यम से ९९ अतिचारों का सूक्ष्मता से चिन्तन कर अपने दोषों की समीक्षा की जाती है अर्थात् रोग होने के कारणों का निदान किया जाता है। दूसरे चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक में जो सभी रोगों से पूर्ण रूप से मुक्त हो चुके हैं उन तीर्थंकरों का आलम्बन सामने रखकर स्तुति करने से स्वस्थ बनने का उपाय समझ में आता है। हमारा पुरुषार्थ मन को चन्द्रमा के समान निर्मल, हृदय को सूर्य के समान तेजस्वी और विचारों में सागर के समान गंभीरता लाने का होता है। तीसरे वन्दना आवश्यक में तीर्थंकरों के प्रतिनिधि के रूप में वर्तमान में हमारे सामने उपस्थित पंच महाव्रत धारी आत्म-चिकित्सक साधु-साध्वियों से विनयपूर्वक वंदन कर स्वस्थ रहने का मार्गदर्शन प्राप्त कर आत्मा को विकार मुक्त बनाने के लिये प्रयास किया जाता है। वे ही सच्चे चिकित्सक हैं जो आत्मशुद्धि का उपचार बताते हैं। वन्दना करने से जोड़ों का दर्द होने की संभावना कम रहती है। खमासमणो द्वारा नमस्कार मुद्रा में पंजों पर बैठने से शरीर का संतुलन होता है एवं स्नायु संस्थान स्वस्थ हो जाता है। चतुर्थ आवश्यक प्रतिक्रमण में मन, वचन और काया के योगों से जिन दोषों का सेवन स्वयं से किया जाता है, दूसरों से कराया जाता है एवं दूसरों द्वारा किये गये अकरणीय कार्यों का अनुमोदन किया जाता है उन सब दोषों से निवृत्त होने के लिए कृत दोषों की निन्दा, आलोचना करना इस प्रतिक्रमण आवश्यक का उद्देश्य है। इसके लिए ९९ अतिचारों एवं १८ पापों में जो-जो अतिक्रमण हुआ है उसकी आलोचना कर पश्चात्ताप किया जाता है। भविष्य में वे दोष पुनः न लगें उस हेतु पुनः संकल्प लिया जाता है। पंच परमेष्ठी के पाँचों पदों पर विराजमान पूज्य जनों के गुणों का स्मरण कर वैसा बनने की भावना अभिव्यक्त की जाती है। प्राणिमात्र के साथ प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से किसी भी दुर्व्यवहार हेतु क्षमा माँगकर मैत्री भाव को विकसित किया जाता है, जिससे तनाव, चिन्ता, भय दूर होते हैं एवं व्यक्ति को मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है। पाँचवें आवश्यक में लगे हुए दोषों के उपचार हेतु कायोत्सर्ग किया जाता है। व्रतों में अतिचार लगना संयम रूप शरीर के घाव तुल्य होता है। कायोत्सर्ग उन घावों के लिए मरहम का कार्य करता है। अनुयोगद्वार सूत्र में कायोत्सर्ग को व्रण चिकित्सा बतलाया गया है। कायोत्सर्ग में आत्मा विशुद्ध हो शल्य रहित हो जाती है। द्रव्य दृष्टि से भी कायोत्सर्ग से शरीर की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती

है। कायोत्सर्ग सभी प्रकार के थकान से मुक्त होने की साधना है। व्यक्ति को अंदर से हल्कापन अनुभव होने लगता है। चैतन्य की अवस्था का बोध होने से कायोत्सर्ग आत्मा तक पहुँचने का द्वार है। अन्तिम छठे प्रत्याख्यान आवश्यक से व्यक्ति भविष्य में रोग के कारणों से बचने एवं स्वयं की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने हेतु प्रायश्चित्त के रूप में प्रत्याख्यान द्वारा आत्मा का अहित करने वाली इच्छाओं का निरोध करता है। इन्द्रियों के विषय भोगों से अनासक्त होने का संकल्प लेकर प्राणों का अपव्यय रोकता है। प्रत्याख्यान से आवेग, उद्वेग, उन्माद छूट जाते हैं और मन शांत होने लगता है।

प्रतिक्रमण के विविध आसनों का स्वास्थ्य से संबंध

प्रतिक्रमण करते समय विविध पाठों का उच्चारण करते समय अलग-अलग आसन से बैठने अथवा खड़ा होने के पीछे भी स्वास्थ्य का रहस्य समाया हुआ है। प्रत्येक आवश्यक के प्रारंभ में आज्ञा लेने हेतु की जाने वाली वंदना से जोड़ों का दर्द कम होता है। माँसपेशियों में लचीलापन बना रहता है। शरीर में ऊर्जा का प्रवाह संतुलित होता है एवं शरीर की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है।

ध्यान एवं आसन में मन के सारे आवेग शांत हो जाते हैं एवं प्राणों का अपव्यय रुक जाता है। सहनशक्ति बढ़ती है। तन, मन और वाणी शांत होते है।

बायाँ घुटना खड़ा रखकर जो पाठ बोले जाते हैं, उससे हमारा अहंकार शांत होता है जिससे सकारात्मक सोच विकसित होती है। गुणग्राहकता विकसित होती है।

दाहिना घुटना खड़ा करने से मनोबल दृढ़ होता है एवं लिये गये संकल्पों के पालन के प्रति उत्साह, जोश एवं सजगता आती है। खड़े रहने से प्रमाद में कमी एवं सजगता आती है। शरीर का संतुलन बना रहता है।

प्रतिक्रमण के प्रकार एवं उनका स्वास्थ्य से सम्बन्ध

अज्ञान एवं प्रमादवश किए गये वे सारे अकरणीय कार्य जो कषाय बढ़ाते हैं अथवा पाप की प्रवृत्तियाँ जो अशुभ कर्मों का बंध कर हमारी आत्मा को विकारी बनाती हैं, बंधन में डालती हैं एवं हमें रोगी बनाने में सहयोग करती हैं, उनका प्रतिक्रमण करना चाहिए। अध्यात्म में ऐसी प्रवृत्तियों को आस्रव अथवा पाप कहते हैं तथा स्वास्थ्य की भाषा में ये रोग के मुख्य कारण होते हैं। इन्हें मुख्यतया पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है।

मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण- सत्य को सत्य मानकर स्वीकार करना, असत्य को असत्य मानकर छोड़ने का सम्यक् पुरुषार्थ करने का संकल्प करना ही मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण होता है। इन मिथ्या धारणाओं का प्रतिक्रमण नहीं हो तो ये रोग का कारण बन जाती हैं। मेरे दुःखों का कारण मैं स्वयं हूँ। मुझे कोई अन्य रोगी या दुःखी नहीं बना सकता। मेरा अज्ञान अथवा अधूरा ज्ञान एवं उसके अनुसार की गई अशुभ प्रवृत्तियाँ ही मेरे समस्त दुःखों एवं रोग के मुख्य कारण हैं। स्वदोषों को स्वीकार करने से व्यक्ति में सहनशीलता एवं धैर्य बढ़ता

है। प्रतिकूलता में दूसरों पर दोषारोपण की प्रवृत्ति समाप्त होती है। व्यक्ति स्वयं के प्रति सजग होने लगता है और रोग होने पर उपचार कराने से पूर्व अहिंसक-उपचारों को सर्वाधिक प्राथमिकता देता है। करणीय-अकरणीय का विवेक जागृत होने से मन, वचन और काया की गलत प्रवृत्तियाँ छूटने लगती हैं, जिससे रोग होने की संभावनाएँ समाप्त हो जाती हैं और पूर्व की भूलों के परिणामस्वरूप यदि रोग हो भी जाता है तो व्यक्ति अधिक परेशान नहीं होता। उसका संकल्पबल दृढ़ हो जाता है। अनाथी मुनि ने अपने दृढ़ संकल्प से असाध्य रोगों से मुक्ति प्राप्त की। सनत्कुमार चक्रवर्ती मुनि अवस्था में अपने रोगों से विचलित नहीं हुए। गजसुकुमाल मुनि सिर पर जलते हुए अंगारों की वेदना समभाव से सहन कर सके। मिथ्यात्व के प्रतिक्रमण से शरीर एवं आत्मा का भेदज्ञान होने लगता है और सम्यग्दृष्टि स्थिर होती है।

अव्रत का प्रतिक्रमण- व्रत से शरीर एवं इन्द्रियाँ संयमित होती हैं। स्वच्छन्दता पर नियन्त्रण होता है। संयम एवं मर्यादित जीवन ही स्वास्थ्य का मूलाधार होता है एवं स्वच्छन्दता रोगों का प्रमुख कारण। अतः जो व्रतों में अपना जीवन जीते हैं वे अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ होते हैं। व्रत मुख्यतया पाँच होते हैं। साधु उनका पूर्ण रूप से (३ करण एवं ३ योग से) पालन करते हैं, जबकि संसारी व्यक्ति उनको आंशिक रूप से पालन करने का संकल्प ले सकता है। अतः साधु के व्रतों को महाव्रत और श्रावकों के व्रतों को अणुव्रत कहा जाता है। पतंजलि के अष्टांग योग में इनको यम कहा गया है। हिंसा नहीं करना, असत्य नहीं बोलना, चोरी अथवा अनैतिकता का आचरण नहीं करना, कुशील सेवन नहीं करना और अपरिग्रह नहीं रखना, ये पाँच यम या व्रत हैं। इन व्रतों में जो-जो स्खलनाएँ (दोष लगे हों) हुई हों उनकी अनुप्रेक्षा कर भविष्य में वे दोष पुनः न लगें इस हेतु संकल्पबद्ध होना अव्रत का प्रतिक्रमण होता है। श्रावक के क्षेत्र का परिमाण करना, उपभोग-परिभोग की वस्तुओं की निश्चित सीमा रखना तथा अनावश्यक, अनुपयोगी प्रवृत्तियों से दूर रहना गुणव्रत कहलाते हैं। सामायिक और पौषध की आंशिक अथवा पूर्ण साधना करना निश्चित देश एवं काल तक गमनागमन आदि का त्याग करना तथा पंच महाव्रतधारी साधुओं को सुपात्र दान देना श्रावक के चार शिक्षा व्रत कहलाते हैं। इन बारह व्रतों के सम्यक् पालन में जो दोष लगे हैं, वे अव्रत प्रतिक्रमण से दूर हो जाते हैं। व्रतों का पालन ही संयम है। संयम ही जीवन है। संयमित जीवन ही स्वस्थ जीवन का मूलाधार होता है।

हमें छह पर्याप्तियों एवं दस प्राणों का दुरुपयोग न करके संयम करना चाहिए। इन पर संयम करने से रोग उत्पन्न होने की संभावना कम हो जाती है।

प्रमाद का प्रतिक्रमण- मैंने कितना समय अनावश्यक, अनुपयोगी, व्यर्थ कार्यों में बर्बाद किया। अपनी क्षमताओं का पूर्ण सदुपयोग नहीं किया। आत्मोत्थान के प्रति कितना सजग रहा। इस प्रकार प्रमाद के प्रतिक्रमण से आत्म-जागृति होने लगती है, आत्म-विकार दूर होने लगते हैं। जागृत मालिक के घर में रोग रूपी चोर के प्रवेश की संभावना नहीं रहती। रोग का कारण दूर होते ही स्वास्थ्य प्राप्त होने लगता है।

कषाय का प्रतिक्रमण- क्रोध, मान, माया, लोभ के चिन्तन से इन आवेगों के दुष्प्रभावों का बोध होता है।

ये आवेग तनाव, भय, अधीरता, असंतोष एवं अनावश्यक कामनाओं को पैदा करते हैं जो हमारी वृत्तियों, भावों को प्रभावित करते हैं। अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ अपना कार्य बराबर नहीं कर पातीं एवं व्यक्ति नकारात्मक सोच एवं मानसिक रोगों का शिकार बन जाता है। कषाय के प्रतिक्रमण से कषायों में मंदता आती है। कर्मों की निर्जरा होने से आत्मा विशुद्ध होने लगती है, मानसिक रोग नहीं होते।

अशुभयोग का प्रतिक्रमण- मन, वचन और काया के योगों के चिन्तन से अकरणीय अशुभ प्रवृत्तियाँ कम होने लगती हैं तथा करणीय शुभ प्रवृत्तियाँ होने लगती हैं। परिणामस्वरूप करणीय कार्य में प्रवृत्ति होने के साथ-साथ अन्य को भी उसकी प्रेरणा देने तथा सम्यक् पुरुषार्थ करने वालों की अनुमोदना करने का सहज मानस बन जाता है। अकरणीय कार्य ही रोगों के मुख्य कारण होते हैं। अतः अशुभ से शुभ में प्रवृत्ति करना स्वास्थ्य को अच्छा बनाने में सहायक होता है। इस प्रकार पाँचों आस्रवों के प्रतिक्रमण द्वारा आत्म-विकारों के दूर होने से व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है।

आधुनिक स्वास्थ्य विज्ञान की सीमाएँ

आधुनिक स्वास्थ्य विज्ञान एवं अधिकांश चिकित्सक बाह्य कारणों से उत्पन्न शरीर में रोग के कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए तो प्रयत्नशील रहते हैं, परन्तु मन में उत्पन्न आत्मा को कलुषित करने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसा, राग-द्वेष, असत्य, अनैतिकता, घृणा, चिन्ता, भय, तनाव, असंयम आदि अशुभ प्रवृत्तियों के विकारों की गन्दगी से उत्पन्न रोग के कीटाणुओं को नष्ट करने के लिये न तो उनका ध्यान ही जाता है और न उनके पास इसको दूर करने का कोई सरल उपाय है। ये ही घुन या कीट हैं जो रोगोत्पत्ति का मुख्य कारण बन हमारे दिल, दिमाग और देह को दुर्बल बनाते हैं।

उपसंहार

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि प्रतिक्रमण से कषाय मंद होते हैं, आत्मा की विशुद्धि होती है, भावों में निर्मलता आती है, सकारात्मक सोच विकसित होती है। स्वविवेक एवं स्वदोष-दृष्टि जागृत होने से आचरण में सजगता आती है, परिणामस्वरूप शरीर में स्थित सभी ऊर्जा चक्र सक्रिय रहने लगते हैं और अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ आवश्यकतानुसार संतुलित अनुपात में स्रावों का सृजन करने लगती हैं, जिससे शरीर, मन, मस्तिष्क और आत्मा ताल से ताल मिलाकर पूर्ण समन्वय से कार्य करने लगते हैं। मानसिक रोगों को पैदा करने वाले प्रमुख कारण क्रोध, भय, तनाव, अधीरता आदि दूर हो जाते हैं, सहनशीलता और रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ने लगती है। इसी कारण श्रावक एवं साधुओं के लिए प्रतिक्रमण को आवश्यक करणीय कहा है। इस प्रकार सही विधि द्वारा भावपूर्वक किया गया प्रतिक्रमण स्वास्थ्य का सरलतम, सहज, सस्ता, स्वावलंबी, अहिंसक दुष्प्रभावों से रहित, पूर्णतः वैज्ञानिक, प्रभावशाली, निर्दोष उपचार है जिससे न केवल शरीर अपितु मन एवं आत्मा भी स्वस्थ होता हैं।

-चोरडिया भवन, जालोरी गेट के बाहर, जोधपुर

आत्मसुधार का साधन-प्रतिक्रमण

श्री मोफतराज मुणोत

जो श्रावक-श्राविका विधिपूर्वक प्रतिक्रमण नहीं कर पाते हैं, उनके लिए माननीय श्री मुणोत साहब ने आत्मावलोकन, कृत दोष की स्वीकृति, प्रायश्चित्त, क्षमाभाव एवं पुनः दोष न दोहराने के संकल्पपूर्वक आत्मसुधार हेतु इस लेख में महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन किया है। *-सम्पादक*

प्रतिक्रमण जैनधर्म में आत्मशुद्धि हेतु एक उच्च आध्यात्मिक प्रक्रिया है। जो श्रावक-श्राविका नियमित रूप से विधिपूर्वक प्रतिक्रमण करते हैं वे धन्य है। मैं विधिपूर्वक नियमित प्रतिक्रमण नहीं कर पाता हूँ, किन्तु यह अवश्य स्वीकार करता हूँ कि आत्मशुद्धि के लिए प्रतिदिन प्रतिक्रमण आवश्यक है। दिनभर की घटनाओं के पश्चात् रात्रि में जब विश्राम का समय हो तो उससे पूर्व शान्त अवस्था में यह चिन्तन करना चाहिए कि मैंने दिनभर में क्या भूलें की और क्यों की? क्या मैं ऐसा संकल्प ले सकता हूँ कि आगे से ऐसी भूल न करूँ? प्रतिदिन आत्मसुधार (Self Correction) हेतु इन तीन अवस्थाओं से हमें गुजरना चाहिए-

१. आत्मावलोकनपूर्वक अपनी भूल, दोष या गलती का अनुभव।

२. उसकी शुद्धि हेतु पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त या क्षमाभाव।

३. पुनः वैसी भूल, दोष या गलती न करने का संकल्प।

प्रतिक्रमण का पाठ बोलकर प्रतिक्रमण भले ही किया जाए, किन्तु जब तक आत्म-विश्लेषण एवं दोष को पुनः न करने का संकल्प शान्त चित्त से न हो, तब तक व्यक्ति आत्मशोधन के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता। बारह व्रतों में लगे दोषों की विशुद्धि करने के साथ आत्मोन्नति हेतु प्रतिदिन आत्म-विश्लेषण भी आवश्यक है।

व्यक्ति को यह पता होना चाहिए कि उसकी क्या कमजोरियाँ हैं, तभी वह उनके निवारण का प्रयत्न कर सकता है एवं आत्मशुद्धि की दिशा में आगे बढ़ सकता है। जो अपने दोषों को देखने का प्रयास ही नहीं करता, वह उन्हें न करने का संकल्प भी नहीं ले सकता तथा उसकी आत्मशुद्धि भी नहीं हो सकती। अपनी भूल स्वीकार करने की हिम्मत न हो तो सुधार संभव नहीं, क्योंकि अपनी भूल को व्यक्ति स्वयं ही सुधार सकता है। यदि मैं अपनी भूल को स्वीकार करने की हिम्मत नहीं रखता हूँ तो मुझमें सकारात्मक परिवर्तन की संभावना ही नहीं है। दोष की सहज स्वीकृति होने पर एवं पुनः उस दोष को न दोहराने का संकल्प होने पर व्यक्ति में परिवर्तन अवश्य आएगा। कई व्यक्ति कहते हैं- मुझे गुस्सा आता ही नहीं, जबकि वे गुस्सा करते

रहते हैं, तो ऐसी स्थिति में व्यक्ति में सुधार नहीं हो सकता।

आत्मसुधार के लिए अपने दोष को स्वीकार कर उसका विश्लेषण करना चाहिए। सोचना चाहिए कि यह दोष अभी भी मैं क्यों करता हूँ? गलत विचार अभी भी मेरे मस्तिष्क में क्यों आता है? क्यों ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार एवं लोभ जागते हैं? इस प्रकार आत्म-चिन्तन आवश्यक है।

दुनिया में कुछ तो ऐसे लोग भी हैं जो सारी जिन्दगी इस बात को सिद्ध करने में ही लगा देते हैं कि वे गलत नहीं हैं, जबकि वे गलत होते हैं। जिद्दीपन एवं दुराग्रह के कारण व्यक्ति आत्मशुद्धि की ओर अथवा कहें कि प्रतिक्रमण की ओर उन्मुख नहीं हो पाता।

अहंकार और लोभ के कारण कभी हम किसी पर क्रोध करते हैं, किसी के साथ छल-कपट करते हैं, किसी को नीचा दिखाने का प्रयास करते हैं। कभी अपने कमजोर पक्ष को भी बलवान बनाने की कोशिश करते हैं। कभी झूठ का सहारा लेते हैं तो कभी हिंसा पर उतर आते हैं। दिनभर में इस प्रकार का व्यवहार हम आवेश में आकर कर बैठते हैं। किन्तु शाम को जब कुछ शान्त हों, तो अपने आपकी आलोचना अवश्य करनी चाहिए। उसी से बोध होता है कि मैं कहाँ गलत था और कहाँ नहीं। अपनी गलती को गलती मान लेने में अपना हित है। वही आत्मशुद्धि का सूत्र है।

कभी-कभी आग्रह के कारण सही बात को स्वीकार न करके अहंकार के कारण दूसरे को दबाने की सोचते हैं, किन्तु बाद में ठण्डे दिमाग से सोचना चाहिए कि क्या उसका कहना सही था? यदि सही हो तो उसे स्वीकार कर लेने के लिए तत्पर रहना चाहिए। अहं के टकराव के कारण सत्य से विमुख होना उचित नहीं। अनेकान्तवाद की दृष्टि से सोचना चाहिए- क्या दूसरे के दृष्टिकोण में सत्य का बल है? यदि दूसरा सही हो तो अपनी भूल को स्वीकार करने में विलम्ब नहीं करना चाहिए। ऐसा न हो कि हम एक भूल को छिपाने के लिए अन्य अनेक भूलें करते रहें। अहंकारी एवं जिद्दी प्रवृत्ति के लोग अपनी भूल को स्वीकार करने की हिम्मत नहीं जुटा पाते, अतः उनमें सुधार की भी कोई गुंजाइश नहीं रहती।

भावना शुद्ध हो तो दोष की संभावना कम रहती है। दोष पहले भावों में आता है, फिर वह क्रियात्मक रूप लेता है इसलिए भावों को शुद्ध रखने के लिए प्रत्याख्यान स्वरूप संकल्प की भी आवश्यकता होती है।

मैं प्रतिदिन इस प्रकार का प्रतिक्रमण करने का प्रयास करता हूँ और सोचता हूँ कि मेरी क्या कमजोरियाँ हैं। उन कमजोरियों एवं दोषों को दूर करने का प्रयत्न भी करता हूँ। मैं तो यह समझता हूँ कि Pratikramana is the tool for self correction (प्रतिक्रमण आत्मसुधार का साधन है)।

-संयोजक, संरक्षक-मण्डल, अ.भा. श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ

मुणोत विला, वेस्ट कम्पाउण्ड लेन,

६३-के, भुलावाई देसाई रोड़, मुम्बई(महा.)

कषाय का प्रतिक्रमण

श्री सम्पतराज डोसी

जहाँ अतिक्रमण है वहाँ प्रतिक्रमण की आवश्यकता है। जब तक व्यक्ति राग-द्वेष एवं कषायों से युक्त है तब तक अतिक्रमण है। इस अतिक्रमण का प्रतिक्रमण करने पर ही राग-द्वेषादि से रहित हुआ जा सकता है। यही कषाय प्रतिक्रमण है। मिथ्यात्वादि के प्रतिक्रमण का लक्ष्य कषाय का क्षय या उसकी मन्दता है। लेखक ने पाठकों में लक्ष्य के अनुरूप संकल्प जगाने का प्रयास किया है।

-सम्पादक

'प्रतिक्रमण' शब्द का अर्थ तथा भाव बड़ा गम्भीर एवं सारगर्भित है। इसका दूसरा नाम 'आवश्यक सूत्र' है। अर्थात् प्रत्येक साधक के लिये सुबह एवं शाम अवश्य करणीय है, परन्तु आज के युग में यह प्रायः मात्र औपचारिक तौर पर ही किया जाता है। अन्यथा जैसा इसका अर्थ और भाव है उस प्रकार से पापों का और दोषों का निरीक्षण-परीक्षण करके उन दोषों की बार-बार पुनरावृत्ति को रोकने के लिये दृढ़ संकल्प किया जाये तो जीवन अवश्य विषमता से समता की ओर अग्रसर हो सकता है।

'प्रतिक्रमण' शब्द अतिक्रमण का विलोम शब्द है। अतिक्रमण का अर्थ होता है मर्यादा या सीमा से बाहर चले जाना। इसके विपरीत प्रतिक्रमण का अर्थ होता है अगर मर्यादा या सीमा के बाहर चला गया तो पुनः मर्यादा या सीमा में आ जाना।

प्रतिक्रमण के अर्थ और भाव को समझने के लिए पहले अतिक्रमण के अर्थ एवं भाव को समझना आवश्यक है।

अतिक्रमण क्या है और कैसे होता है ?

प्रत्येक आत्मा का स्वभाव हर समय परम सुख एवं पूर्ण शांति में रहने का है। परम सुख (अव्याबाध सुख) और पूर्ण शान्ति के साधन रूप पूर्ण समभाव में रहना अर्थात् राग, द्वेष और मोह रहित वीतराग भाव में रहना आत्मा का असली और निज स्वभाव है। जब तक आत्मा वीतराग भाव अथवा पूर्ण समभाव में रहती है तब तक वह पूर्ण शान्ति और आनन्द में रहती है।

जब तक कोई भी आत्मा राग, द्वेष एवं मोह का पूर्ण नाश नहीं करती तब तक वह पूर्ण सुखी भी नहीं हो सकती। जैसा कि शास्त्रकारों ने कहा है- "दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो"-उत्तराध्ययन ३२.८। इस मोह के दो रूप होते हैं- राग एवं द्वेष। ये राग एवं द्वेष सभी प्रकार के दुःखों के कारण रूप कर्म के बीज या मूल हैं।

''रागो य दोसो य बिय कम्मबीयं'' -उत्तराध्ययन सूत्र ३२.७

राग एवं द्वेष दोनों न करना ही समभाव है। प्रत्येक आत्मा का स्वभाव ही पूर्ण समभाव या समता में रहना है। राग अथवा द्वेष करना विषम भाव है और विषम भाव में जाना या रहना यही समता का अतिक्रमण है। व्यक्ति जब तक पूरा वीतराग नहीं बन जाता तब तक वह निरन्तर कभी राग एवं कभी द्वेष करता ही रहता है।

राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया व लोभ इन सबको अठारह पापों में गिना जाता है। पापों में कुछ पाप जैसे मृषावाद , अदत्तादान, मैथुन आदि का त्याग करने पर वे पाप नहीं भी किये जायें ऐसा हो सकता है, परन्तु क्रोध, मान, माया, लोभ, राग एवं द्वेष आदि ऐसे पाप हैं जिनके करने का त्याग करने पर भी उनका होना रुक नहीं सकता। उदाहरण के तौर पर प्रत्येक साधु दीक्षा लेते समय अठारह ही पापों का तीन करण तीन योग से त्याग तो करता है, परन्तु साधु जब तक वीतराग नहीं बनता तब तक यानी दसवें गुणस्थान तक तो पाप के होने को रोका नहीं जा सकता। शास्त्रकारों ने वीतराग होने के बाद पाप का लगना नहीं माना। कारण कि पाप कषाय के बिना होता नहीं। जब तक कषाय का सद्भाव या उदय है तब तक पाप से कोई भी जीव बच नहीं सकता। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो कषाय का पूरा प्रतिक्रमण तो वीतराग अवस्था में ही हो सकता है।

अतिक्रमण करना व होना- जिस प्रकार पाप का करना और पाप का होना- दोनों में भिन्नता है उसी प्रकार अतिक्रमण करना और होना भी भिन्न है। परन्तु जब तक करना होने में बदल नहीं जाता तब तक प्रयास करते रहना भी परम आवश्यक है। साथ में यह भी आवश्यक है कि साधन और साध्य के स्वरूप को अच्छी तरह समझने का प्रयास किया जाए। ज्ञान और क्रिया जो वीतरागता के साधन हैं आज हमने उन्हीं साधनों को साध्य मान लिया है। ज्ञान सीख कर एवं अनेक प्रकार की धार्मिक क्रियाएँ करके यह समझ लिया जाता है कि हमने धर्म कर लिया, परन्तु वीतरागता की ओर कितना कदम बढ़े प्रायः यह नहीं देखा जाता। परन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि पूर्वो तक का ज्ञान और मन, वचन व काया से शुद्ध साधुत्व की पालना अनन्त बार कर लेने पर भी अगर कषाय कम नहीं हुए तो जीव मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। यह आवश्यक नहीं कि मात्र शास्त्रों का ज्ञान सीखने अथवा अमुक-अमुक त्याग कर लेने पर कषाय अथवा राग-द्वेष कम पड़ ही जाय। क्योंकि जैसा प्रायः देखा जाता है कि ज्ञान और क्रिया करते हुए भी अहं आदि कषाय बढ़ भी जाते हैं। आज ज्ञान और क्रिया का इतना प्रचार-प्रसार होने पर भी साम्प्रदायिक द्वेष, निन्दा, ईर्ष्या, असहिष्णुता आदि घटने के बजाय बढ़ रहे हैं। साधु-साध्वियों के लिये तो प्रतिक्रमण प्रातः एवं सायं अवश्यकरणीय माना गया है, परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है कि आज का प्रतिक्रमण मात्र औपचारिकता रह गयी है। इस प्रतिक्रमण सूत्र के छः आवश्यक माने गये हैं यथा १. सामायिक, २. चउवीसत्थव, ३. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५. कायोत्सर्ग तथा ६. प्रत्याख्यान।

प्रतिक्रमण के पाठों में व विधि में अलग-अलग सम्प्रदायों व फिरकों में काफी मतभेद है। मात्र स्थानकवासी परम्परा में भी पाठों व विधि के बारे में एकरूपता नहीं है।

वैसे प्रतिक्रमण दो तरह से पाँच-पाँच प्रकार का माना जाता है। प्रथम काल की अपेक्षा- १. देवसिय २. राइय ३. पाक्षिक ४. चातुर्मासिक एवं ५. सांवत्सरिक। दूसरे रूप में आस्रव की अपेक्षा से- १. मिथ्यात्व का २. अव्रत का, ३. प्रमाद का ४. कषाय का तथा ५. अशुभ योग का।

कषाय एवं उसका प्रतिक्रमण

कर्म-बन्ध अथवा आस्रव के मुख्य दो भेद माने गये हैं - प्रथम कषाय दूसरा योग। मिथ्यात्व, अव्रत तथा प्रमाद इन तीनों का समावेश कषाय में हो जाता है। कषाय के चार रूप या भेद माने गये हैं, यथा- १. अनन्तानुबन्धी, २. अप्रत्याख्यानी, ३. प्रत्याख्यानावरण व ४. संज्वलन। मिथ्यात्व अवस्था अथवा मिथ्यात्व गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय नियम से माना गया है। अव्रती सम्यग्दृष्टि अवस्था में अप्रत्याख्यानी का, देशव्रती अवस्था में प्रत्याख्यानावरण का व प्रमादी-अप्रमादी गुणस्थान में संज्वलन कषाय का उदय माना गया है। वीतरागता से पूर्व तक अर्थात् दसवें गुणस्थान तक नियम से कषाय का उदय मान्य है।

अनन्तानुबन्धी आदि चारों प्रकार के कषाय में से किसी में भी रहना समभाव का अतिक्रमण है। जब तक अतिक्रमण चालू रहता है तब तक प्रतिक्रमण भी आवश्यक है, क्योंकि साधना का मूल उद्देश्य ही पूर्ण समभाव अर्थात् वीतरागता है। वीतरागियों के समभाव का अतिक्रमण नहीं होता है तो वहाँ प्रतिक्रमण की भी आवश्यकता नहीं रहती है। वीतरागता के अभाव में जब तक जीव सकषायी रहता है तब तक वह निश्चित ही समभाव अथवा समता का अतिक्रमण करता ही है। इसलिए कषाय का पूर्ण प्रतिक्रमण तो वीतरागता में ही संभव है परन्तु जब तक पूर्ण वीतरागता प्रकट नहीं होती तब तक बार-बार प्रतिक्रमण करते रहना भी परम आवश्यक है। प्रतिक्रमण करते हुए वीतरागता का लक्ष्य बराबर बना रहना चाहिये। तभी प्रतिक्रमण सच्चा या वास्तविक कहा जा सकता है। मात्र पाठों का उच्चारण कर लेने से सच्चा या वास्तविक प्रतिक्रमण नहीं कहा जा सकता है।

जैन धर्म में तो सारी साधना का मूल उद्देश्य ही वीतरागता, पूर्ण समभाव एवं समता ही है। क्योंकि सच्चा एवं वास्तविक सुख चारों कषायों अथवा राग-द्वेष और एक शब्द में कहा जाये तो मोह के क्षय के बिना हो नहीं सकता। मोह एवं कषायों की जितनी-जितनी कमी होती है, उतनी-उतनी ही शान्ति भी निश्चित बढ़ती है। जैसे भोजन करें और भूख न मिटे तथा पानी पीयें और प्यास न बुझे यह कभी संभव नहीं हो सकता, इसी प्रकार कषायों की कमी का फल भी तत्काल शान्ति का मिलना है। आज की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि धर्म करते हुए भी जीवन में शान्ति प्रायः नहीं बढ़ रही है। इसका एक कारण यह भी है कि धर्म का फल प्रायः परलोक से जोड़ दिया जाता है, परन्तु सच्चाई यह है कि पुण्य कर्म का फल भले ही परलोक में मिले, किन्तु धर्म का फल तो तत्काल ही मिलता है। धर्म से कोई बन्ध नहीं होता जिसका फल

कालान्तर में या परलोक में मिले। हाँ, धर्म के साथ में पुण्य कर्म का बन्ध अवश्य होता है, जिसका फल कालान्तर या परलोक में भी मिलता है।

जिस प्रकार अनाज के साथ खाखला अर्थात् घास-फूस भी अवश्य उत्पन्न होता है उसी प्रकार धर्म कषायों की कमी या नाश होने को कहते हैं और कषायों की कमी के साथ जो मन, वचन, काया रूप योगों की शुभता होती है उससे पुण्य कर्म का भी बन्ध होता ही है। परन्तु पुण्य कर्म को धर्म मानना भी बड़ी भारी भूल है। शास्त्रकारों ने जब तक मिथ्यात्व है तब तक धर्म नहीं माना। कारण वहाँ पर अनन्तानुबन्धी आदि सभी कषायों का उदय एवं सद्भाव रहता है। मात्र योगों की शुभता जरूर मानी है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य या देवलोक अथवा भौतिक सुख जो पुण्य के फल रूप मिलता है, वह प्राप्त हो सकता है।

धर्म का प्रारम्भ ही सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता और सम्यग् दर्शन में अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय या उपशम होना अनिवार्य माना गया है। सम्यग्दर्शन के अभाव में जो भी क्रिया धर्म क्रिया के नाम पर की जाती है वह धर्म न होकर मात्र पुण्य बन्ध का कारण बनती है। सम्यग्दर्शन के अभाव में मिथ्यात्व का ही प्रतिक्रमण नहीं होता तो अव्रत, प्रमाद और कषाय के सच्चे प्रतिक्रमण की तो बात ही कैसे की जा सकती है। फिर भी पाप से पुण्य अच्छा ही होता है इसलिये सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि अनुष्ठान के रूप में प्रतिक्रमण करना अच्छा ही है, परन्तु लक्ष्य कषायों की कमी का रखना आवश्यक है।

कषायों के स्वरूप को विस्तार से समझे बिना और जीवन में उनकी कमी या नाश हुए बिना वास्तविक शान्ति एवं सच्चा सुख मिलना संभव नहीं। जिन महापुरुषों ने कषाय का प्रतिक्रमण वास्तविक रूप में करके राग-द्वेष को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया है उन महापुरुषों के आदर्श अर्थात् वीतरागी, जिन या सर्वज्ञ केवलियों की राह पर चलकर समता के अतिक्रमण रूप राग, द्वेष एवं कषायों को निरन्तर कम करने का प्रयास करना प्रत्येक साधक का कर्तव्य है।

जिस प्रकार कषाय का प्रतिक्रमण वीतरागता धारण करने पर होता है उसी प्रकार मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण सम्यक्त्व धारण करने पर, अव्रत का प्रतिक्रमण व्रत-प्रत्याख्यान धारण करने पर, प्रमाद का प्रतिक्रमण अप्रमत्त रहने पर तथा अशुभ योग का प्रतिक्रमण शुभ योग में प्रवृत्ति करने पर होता है। जब हम इन सभी प्रतिक्रमणों के अर्थ को भली प्रकार समझ कर अतिक्रमणों से बचेंगे तभी हम सही रूप में प्रतिक्रमण के सच्चे अधिकारी बन कर वीतरागता को प्रकट कर सच्चे एवं शाश्वत सुख के अधिकारी बनेंगे।

-संगीता साडीज,,डागा बाजार, जोधपुर

क्षमा

डॉ. धर्मचन्द जैन

प्रतिक्रमण में हम सब जीवों को क्षमा करने एवं उनसे क्षमायाचना करने हेतु एक गाथा बोलते हैं-

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ।।

मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें। मेरी सब जीवों के प्रति मैत्री है तथा किसी के प्रति मेरा वैर नहीं है।

क्षमा जीवन का अमृत है। क्षमा के दो रूप हैं- क्षमा करना एवं क्षमा माँगना। अन्य के द्वारा प्रतिकूल स्थिति उत्पन्न किए जाने पर भी उसके प्रति दुर्भाव उत्पन्न न करना तथा उत्पन्न हो गया है तो उसका निवारण करना 'क्षमा करना' है तथा कृत अपराध के लिए दूसरे के समक्ष निरभिमानता पूर्वक खेद प्रकट करना एवं कलुषता को दूर करने हेतु निवेदन करना क्षमायाचना है। वास्तव में आत्म-निर्मलता के साथ क्षमा किया जाय एवं क्षमा याचना की जाए तो उससे आत्म-शोधन स्वतः हो जाता है।

'क्षमा' एक ऐसा उपाय है जिसमें धन की आवश्यकता नहीं होती, श्रम एवं शक्ति की आवश्यकता नहीं होती। बिना पैसे का पारस्परिक प्रेम एवं आत्मीयता का यह उपाय व्यक्ति को शर्तिया तनावरहित एवं निर्दोष बनाता है। क्षमाभाव से कोई कमजोर एवं छोटा नहीं होता, अपितु दूसरों की नजरों में भी महान् बनता है।

वैर-विरोध की अग्नि से झुलसते चित्त को यदि शान्ति एवं शीतलता का अनुभव कराना है तो उसका अमोघ उपाय है- 'क्षमा'। उपाय अमोघ भी है और सरल भी, किन्तु उस व्यक्ति के लिए अत्यन्त कठिन है जो प्रतिकार या बदला लेने की ठान चुका है। वह प्रतिकार को अपनी शान्ति का एवं दूसरे की भूल का फल प्रदान करने का सर्वोत्तम उपाय समझता है। किन्तु प्रतिकार का भाव व्यक्ति को जहाँ अविवेकी एवं हिंसक बना देता है वहाँ उसका परिणाम भी निर्विघ्न नहीं होता। जिससे बदला लिया जाता है, वह पुनः बदला लेने की ठान सकता है। इस प्रकार प्रतिकार का भी चक्र चलने लगता है। इसीलिए भगवान महावीर ने ज्ञाताधर्मकथा सूत्र में कहा है-

रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरेणं चेव पक्खालिज्जमाणस्स णत्थि सोही।

अर्थात् खून से सने वस्त्र को खून से धोए जाने पर उसकी शुद्धि नहीं होती। इसी प्रकार प्रतिकार या हिंसा से हिंसा के भाव की समाप्ति नहीं होती।

अहिंसा, क्षमा एवं मैत्री का पाठ यदि कोई जीवन में अपना ले तो उसके विरोधी भी उसके अपने बन सकते हैं। कई बार छोटी-छोटी बात को लेकर भाई-भाई में तन जाती है। कभी अहंकार आड़े आता है, कभी लोभ आड़े आता है तो कभी क्रोधी एवं मायावी स्वभाव के कारण दरारें उत्पन्न हो जाती हैं। फिर वे एक-दूसरे से बोलना भी पसन्द नहीं करते। एक-दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश करते हैं। समाज में अपनी किरकिरी होती हुई भी उन्हें नहीं दिखती, किन्तु एक-दूसरे का विनाश कैसे हो, यही दिखाई देता है। विरोध का भाव पति-पत्नी या अन्य स्थलों पर भी हो सकता है। विरोधी एक-दूसरे के सहयोग एवं गुणों को भूल जाते हैं, मात्र उनके दोष ही नजर आते हैं। चश्मा ऐसा चढ़ जाता है कि उनकी अच्छाई भी बुराई बनकर ही उभरती है। पति-पत्नी के कलह की नौबत तलाक तक पहुँच जाती है। यदि जीवन में क्षमा को स्थान दिया जाए तो तलाक की संख्या घट सकती है। विरोध एवं प्रतिकार का रूप कितना विद्रूप हो सकता है, इसकी सीमा नहीं बाँधी जा सकती। एक-दूसरे को नीचा दिखाने को जीवन की सार्थकता एवं सफलता नहीं माना जा सकता। यह तो मानव जीवन रूपी हीरे के साथ कंकर का व्यवहार है। इसे विवेक एवं बुद्धिमत्ता के स्तर समीचीन नहीं कहा जा सकता।

दो व्यक्तियों के तनाव, विरोध आदि की स्थिति को नियन्त्रित करने का 'क्षमा'से बढकर कोई स्थायी उपाय नहीं हो सकता। मानव को मानव बने रहने के लिए भी 'क्षमा' को अपनाना होगा, अन्यथा उसमें दानव के लक्षणों का प्रवेश होने लगेगा।

दूसरे के द्वारा उत्पन्न प्रतिकूलता के क्षण में कुपित न होना या हनन का भाव न लाना ही क्षमा है। इस क्षमा में सहनशीलता एवं समता दोनों का समावेश हो जाता है। जो क्रोधादि का उपशम करता है वह क्षमाशील होता है और उसके द्वारा की गई आराधना ही आराधना की श्रेणी में आती है। कहा गया है-जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा। तात्पर्य यह है कि क्रोधादि का उपशम किए बिना साधना-आराधना में आगे नहीं बढा जा सकता।

उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान से गौतम गणधर द्वारा प्रश्न किया गया- क्षमा से क्या लाभ होता है? भगवान ने उत्तर में फरमाया-खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्तेसु मित्तीभाव-मुप्पाएइ। मित्ती भाव-मुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ।

क्षमा से जीव प्रह्लादभाव को प्राप्त करता है। प्रह्लादभाव को प्राप्त कर सभी प्राणों, भूतों, जीवों एवं सत्त्वों के प्रति मैत्रीभाव को प्राप्त होता है। मैत्रीभाव को प्राप्त जीव भावविशुद्धि करके निर्भय बनता है। इस प्रकार क्षमा दो व्यक्तियों में प्रेम एवं आत्मीयता का संचार करती है।

क्षमा को वीरों का भूषण माना जाता है; क्योंकि वे प्रतिकार करने का सामर्थ्य रखते हुए भी क्षमा को अपनाते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि निर्बल व्यक्ति क्षमाशील नहीं हो सकता। वह भी क्षमाशील हो सकता है, क्षमा तो निर्बलों का बल है, कहा भी है-क्षमा बलमशक्तानाम्। हाँ यह अवश्य है कि यदि कोई

निर्बल होकर भी बदला लेने का भाव रखता है एवं अभी बदला लेने के लिए प्रवृत्त नहीं हुआ है तो इसका तात्पर्य है कि उसमें क्षमाभाव नहीं है। वह तो वैर-विरोध की गाँठ बाँध चुका है। जब तक विरोध की गाँठे/ग्रन्थि बनी हुई हैं तब तक शान्ति एवं समरसता की श्वास लेना दुर्लभ है।

एक संत के अनुसार प्रत्येक अपराधी अपने प्रति क्षमा की आशा करता है और दूसरों को दण्ड देने की व्यवस्था चाहता है। वह अपने प्रति तो दूसरों को अहिंसक, निर्वैर, उदार, क्षमाशील, त्यागी, सत्यवादी और विनम्रता आदि दिव्य गुणों से पूर्ण देखना चाहता है, किन्तु स्वयं उस प्रकार का सद्व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं करता। अपने प्रति मधुरता युक्त सम्मान की आशा करना, पर दूसरों के प्रति अपमान एवं कटुतापूर्ण असद्व्यवहार करना दोषपूर्ण है। इससे व्यक्ति का अपने प्रति राग और दूसरों के प्रति द्वेष बढ़ता जाता है।

क्षमाशीलता द्वेष को प्रेम में बदल सकती है। अपने प्रति होने वाले अन्याय को धैर्य के साथ सहर्ष सहन करते हुए अन्यायकर्ता को यदि क्षमा कर दिया जाय तो द्वेष प्रेम में बदल जाता है। अपने द्वारा होने वाले अन्याय से पीडित व्यक्ति से क्षमा माँग ली जाय और स्वयं अपने प्रति न्याय करके प्रायश्चित्त या दण्ड स्वीकार कर लिया जाय तो राग त्याग में बदल सकता है।

आगमों में कषायजय के लिए कहा गया है कि- उपशम से क्रोध को, मार्दव से मान को, सरलता से माया को एवं संतोष से लोभ को जीता जा सकता है। किन्तु विचार किया जाए तो 'क्षमा' एक ऐसा अमोघ उपाय है, जिसे पूर्णतः अपना लिए जाने पर चारों कषायों से मुक्ति पायी जा सकती है। क्योंकि जहाँ क्षमा है वहाँ क्रोध पर विजय है। क्षमा मान-विजय का भी उपाय है, क्योंकि अहंकार के विगलन के बिना न क्षमा किया जा सकता है और न ही क्षमा माँगी जा सकती है। इसी प्रकार सरलता के बिना क्षमायाचना नहीं की जा सकती और सरलता मायाविजय का उपाय है। इस प्रकार प्रकारान्तर से जहाँ क्षमा करने एवं माँगने का भाव है वहाँ माया पर भी विजय होती ही है। इसी प्रकार क्षमा के द्वारा लोभ पर भी विजय शक्य है, क्योंकि जहाँ स्वार्थ की प्रबलता एवं लोभकषाय विद्यमान है वहाँ क्षमाभाव संभव नहीं है। इस प्रकार क्षमाभाव सभी प्रकार के कषायों पर नियन्त्रण करने एवं विजय दिलाने में सक्षम है।

15,17 नवम्बर 2006
जिनवाणी, 272

प्रतिक्रमण : कतिपय प्रमुख बिन्दु

श्री राणीदान भंसाली

- कषाय और योग के कारण आत्मा स्वस्थान (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप) को छोड़कर अन्य स्थान में चली जाती है, उसे पुनः स्वस्थान में स्थित करना प्रतिक्रमण है। पापों से पीछे हटना प्रतिक्रमण है।
- १२ अणुव्रतों में १ करण १ योग वाला व्रत चौथा, एक करण तीन योग वाला पाँचवाँ, छठा, सातवाँ एवं दसवाँ, २ करण ३ योग वाले- १, २, ३, ६, ८, ९, १०, ११ एवं बिना करण योग का १२वाँ व्रत है।
- ४९ भांगों में से १ करण १ योग का भांगा तीसरा (करूँ नहीं कायसा) १ करण ३ योग का भांगा करूँ नहीं मन से वचन से काया से, १९वाँ भांगा। दो करण तीन योग का भांगा ४०वाँ करूँ नहीं कराऊँ नहीं- मन, वचन, काया से।
- १२ अणुव्रतों में यावज्जीवन १ से ८ तक, जावनियमं-नवमाँ एवं जाव अहोरत्तं-१०वाँ ११ वाँ अणुव्रत है।
- १२ अणुव्रतों में विरमण व्रत ६ हैं- १ से ५ और आठवाँ। परिमाण व्रत-छठा, सातवाँ।
- 'पज्जुवासामि' शब्द मात्र ९वें और ग्यारहवें व्रत में है। क्योंकि पूर्ण सावद्य योग का त्याग इन दोनों व्रतों में है।
- 'पेयाला' शब्द मात्र पहले अणुव्रत में और दर्शन सम्यक्त्व के पाठ में आता है और उसका अर्थ 'प्रधान' है।
- प्रतिक्रमण (आवश्यक सूत्र) के रचनाकार गणधर होते हैं और प्रतिक्रमण ३२ वाँ आगम आवश्यक सूत्र है।
- १२वें व्रत अतिथि संविभाग में साधु, साध्वी, प्रतिमाधारी श्रावक एवं भिक्षुदया वाले श्रावक आते हैं।
- श्रावक अनर्थदण्ड का त्याग ४ प्रकार से करता है- १. आर्त्तध्यान का त्याग २. प्रमाद-आचरण का त्याग ३. हिंसक पापों के साधन देने का त्याग ४. पाप कर्म करने के उपदेश देने का त्याग।
- श्रावक पौषध भी चार प्रकार के त्याग से करता है- १. आहार त्याग रूप २. कुशील के त्याग रूप ३. शरीर शृंगार त्याग रूप ४. सावद्ययोग त्याग रूप।
- श्रावक के यावज्जीवन रात्रि-भोजन का त्याग ७वें व्रत की कालाश्रित मर्यादा है और १-२ दिन का त्याग दसवें व्रत में है।

- उत्तराध्ययन सूत्र २९वाँ अध्ययन के ७३ बोल की पृच्छा में ११वाँ बोल है कि प्रतिक्रमण करने से जीव के व्रतों के छिद्र बंद होते हैं। आस्रव रुकते हैं। साधक आठ प्रवचन माता में सावधान होता है, संयम में विचरता है।

- किसी वाहन में बैठकर अल्पकालीन संवर धारण कर प्रतिक्रमण के काल में प्रतिक्रमण किया जा सकता है। संवर करने का पाठ- द्रव्य से ५ आस्रव १८ पाप का त्याग, क्षेत्र से (वाहन में लगने वाले पाप और आस्रव त्याग के अतिरिक्त पाप एवं आस्रव का त्याग) क्षेत्र से- निर्धारित क्षेत्र तक पहुँचू तब तक, काल से- स्थिरता प्रमाणे, भाव से- १ करण १ योग से संवर का पच्चक्खाण ''तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।''

- अढाई द्वीप के बाहर के तिर्यंच श्रावक एवं साधक चूँकि वहाँ चन्द्र-सूर्य अचल हैं, स्थिर हैं। अतः वे जातिस्मरण ज्ञान या अवधि ज्ञान के आधार से सामायिक एवं प्रतिक्रमण (भाव से) करते हैं।

- काउस्सग में ध्यान विषयक- आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा नं. १५३१, १५३२, १५३३ एवं प्रवचनसारोद्धार में गाथा नं.१८३, १८४, १८५ में देवसिय प्रतिक्रमण में १०० श्वासोच्छ्वास प्रमाण, राइय में ५० श्वासोच्छ्वास, पक्खी प्रतिकमण में ३०० श्वासोच्छ्वास, चौमासी में ५०० श्वासोच्छ्वास एवं संवत्सरी में १००८ श्वासोच्छ्वास चिन्तन की विधि बताई है।

- व्रत धारण नहीं किये हैं तो प्रतिक्रमण क्यों करें, ऐसा कहना उचित नहीं है। नीचे देखकर चलें और बिना देखे चलें दोनों अवस्थाओं में पैर में काँटा लग जाय तो निकालना ही है। अग्नि का जानकार और जानकार नहीं होने पर भी अग्नि में हाथ डालेगा तो हाथ जलेगा ही, क्योंकि प्रतिक्रमण में मात्र लगे हुए पापों की आलोचना ही नहीं परन्तु श्रद्धा-प्ररूपणा रूप, क्षमायाचना रूप एवं स्वाध्याय रूप भी हैं। अतः व्रत धारण नहीं किये हों तो भी प्रतिक्रमण करना उचित ही है।

- प्रतिक्रमण का जघन्य काल जघन्य पौरुषी का चौथाई भाग अर्थात् ३६ मिनट प्रमाण (आधार उत्तराध्ययन सूत्र का २६वाँ अध्ययन) और उत्कृष्ट काल सवा घंटा प्रमाण समझना चाहिये। अर्थात् राइय प्रतिक्रमण सूर्योदय के पूर्व तक पूरा हो जाना चाहिये। देवसिय प्रतिक्रमण सूर्यास्त के बाद प्रारम्भ होना चाहिए।

- पर्व प्रतिक्रमण मात्र संध्या में करने की आगमिक परम्परा रही हुई है, अतः पाक्षिक, चौमासी, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण मात्र संध्या के समय ही किये जाते हैं। प्रातःकाल में तो मात्र राइय प्रतिक्रमण ही किया जाता है।

- तीर्थंकर गोत्र बाँधने के २० बोलों में ज्ञाताधर्मकथा सूत्र अध्ययन ८. प्रवचन सारोद्धार द्वार १० एवं आवश्यक सूत्र निर्युक्ति के अनुसार ११ वाँ बोल यह है कि भावपूर्वक उभयकाल षडावश्यक करते रहने से उत्कृष्ट रसायन आवे तो कर्मों की क्रोड़ खपावें और तीर्थंकर नाम कर्म का बंध करे।

- दसवाँ देशावगासिक व्रत के अन्तर्गत १४ नियम, ३ मनोरथ एवं अल्पकालीन संवर का समावेश होता है।
- जहाँ तक संभव हो प्रतिक्रमण विधि से याद होने पर अकेले करना ज्यादा लाभदायक है वैसे सामूहिक में भी किया जा सकता है।
- ११वाँ व्रत पौषध करने का जघन्य काल चार प्रहर और उत्कृष्ट ८ प्रहर, १६ प्रहर आदि ८-८ बढ़ते हुए समझना चाहिए। प्रतिपूर्ण पौषध चौविहार युक्त ही आठ प्रहर का होता है। प्रतिपूर्ण पौषध में उपकरणों की प्रतिलेखना तीन बार करनी चाहिए।
- आठवें अणुव्रत के अन्तर्गत जो आठ आगार हैं वे पहले से आठवें व्रत के समझना चाहिये। किसी की धारणा से मात्र आठवें व्रत के हैं।
- प्रतिक्रमण के पूर्व में जो चउवीसत्थव का कायोत्सर्ग किया जाता है वह क्षेत्र विशुद्धीकरण है और दूसरे आवश्यक में जो प्रकट लोगस्स बोला जाता है वह तीर्थंकरों की नाम स्तुति रूप भाव विशुद्धि रूप समझना चाहिए।
- देवसि प्रतिक्रमण सूर्यास्त के बाद शुरू किया जाता है और राइय प्रतिक्रमण सूर्योदय के पूर्व पूरा कर लिया जाता है ऐसा क्यों? कारण यह है कि सूर्योदय के बाद साधक को स्वाध्याय, प्रतिलेखन, विहार, भूमिका आदि आवश्यक कार्य करने होते हैं। जिनकल्पी मुनि के लिये नियम है कि सूर्योदय से सूर्यास्त तक चले। इत्यादि कई कारणों से सूर्योदय के पूर्व राइय प्रतिक्रमण पूरा कर लिया जाता है।
- २४वें तीर्थंकर के समय लोगस्स को चउवीसत्थव या चतुर्विंशतिस्तव कहा जाता है तथा एक से तेबीस तीर्थंकरों के समय चउवीसत्थव को 'उत्कीर्तन' कहा जाता है।
- पूरे प्रतिक्रमण में हर आवश्यक के पहले तीन बार तिक्खुत्तो से वंदना करके आज्ञा लेनी चाहिये और बीच-बीच में श्रावक सूत्र, ९९ अतिचार प्रगट बोलने से पूर्व भी वंदना करते हैं।
- प्रतिक्रमण में चार लोगस्स की जगह १६ या १७ नवकार, ९९ अतिचार की जगह (नहीं आने पर) ३२ नवकार का ध्यान इस प्रकार की परम्परा उचित नहीं है। जब तक ध्यान नहीं आवे या बड़े भाई 'नमो अरहंताणं' का उच्चारण प्रगट में (ध्यान आ जाने पर) नहीं करे तब तक नवकार का ध्यान कराना उचित है) अर्थात् काउसग्ग पूर्ण होने तक नवकार का ध्यान करते रहना चाहिए।
- दसवें देशावगासिक व्रत में चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवां और अपेक्षा से पहले अणुव्रत का समावेश हो जाता है।
- संवत्सरी में प्रतिपूर्ण पौषध के ऊपर यदि पोरसी की जाय तो दो अष्टप्रहर पौषध का लाभ होता है एवं अनाभोग से हुए पापों का प्रायश्चित्त उतर जाता है और चौमासी पक्खी में पौषध के ऊपर पोरसी करने से चार माह का अनाभोग से लगे हुए पापों का प्रायश्चित्त उतर जाता है एवं अष्टप्रहर पौषध का लाभ प्राप्त

होता है।

- खेत्तवत्थुप्पमाणाइकम्मे (अणुव्रत ५वाँ अपनी स्वामित्व की भूमि का अतिक्रमण। खित्तवुड्ढी- (छठा अणुव्रत)- गमन क्षेत्र का अतिक्रमण। यही दोनों में अन्तर है।

- किसी भी प्रकार के कायोत्सर्ग अवस्था में आँखे न तो पूरी बंद और न ही पुरी खुली रहनी चाहिये। कुछ खुली और कुछ बंद रखनी चाहिये। आधार तस्स उत्तरीकरणेणं का पाठ।

- चौथे पद की वंदना में ४ निक्षेप हैं - १. नाम २. स्थापना ३. द्रव्य और ४. भाव । चार प्रमाण- १. आगम प्रमाण २. प्रत्यक्ष ३. उपमा ४. अनुमान। सात नय- १.नैगम नय २. संग्रह नय ३. व्यवहार नय ४. ऋजुसूत्र नय ५. शब्द नय ६. समभिरूढ नय ७. एवंभूतनय।

- चार मूलसूत्र हैं। मूलसूत्र की संज्ञा क्यों दी है ? आत्मा के मूलगुण चार हैं- ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। इनमें से ज्ञान-नंदीसूत्र, दर्शन, अनुयोगद्वार सूत्र, चारित्र-दशवैकालिक और तप उत्तराध्ययन सूत्र की अपेक्षा से है।

- चौथे पद की वंदना में- सारए- विस्मृत पाठ का स्मरण कराने वाले। वारए- पाठों की अशुद्धि बताने वाले। धारए- नया पाठ सिखाने वाले ये अर्थ होते हैं।

- प्रतिक्रमण में छठा आवश्यक प्रत्याख्यान यदि काल के उपरान्त (सूर्योदय के बाद) धारण करे तो अर्थात् काल का अतिक्रमण करे तो साधु के लिये १ उपवास और श्रावक के लिये १ सामायिक का प्रायश्चित्त बताया है, यहाँ आगम आधार नहीं है, मात्र व्यवस्था रूप है।

- सातवें व्रत के अतिचारों में जो १५ कर्मादान हैं। उनमें से छठे से दसवें तक दंतवाणिज्जे से विषवाणिज्जे तक ये पाँच व्यापार रूप हैं बाकी के दस कर्मरूप हैं।

- देवसिय, राइय प्रतिक्रमण में छठे आवश्यक में जो भी पच्चक्खाण करते हैं वह पच्चक्खाण, पच्चक्खाण करते ही चालू हो जाते हैं। चाहे नवकारसी हो, पोरसी हो या कोई भी पच्चक्खाण हो। खुला रखे तो पच्चक्खाण के अनुरूप होते हैं।

- दयाव्रत के ११ अणुव्रत में लेना या दसवें में- दसवें व्रत में मर्यादित भूमि में हिंसादि आस्रव खुले रहते हैं। दयाव्रत में हिंसादि आस्रवों का यथाशक्ति करण योगों से त्याग किया जाता है। दयाव्रत दसवें व्रत में आ ही नहीं सकता। इसे ग्यारहवें व्रत में समझना चाहिए। कम समय के लिये एक आहार या चारों आहार खुला रखने से देश पौषध होता है। भगवती सूत्र शतक १२ उद्देशक पहले में, पुष्कली जी आदि श्रावकों के लिए खाते-पीते पौषध करने का उल्लेख है जिसे अभी दया कहते हैं।

- जिसने यावज्जीवन के लिए नवकारसी, पोरसी आदि उत्तरगुण रूप पच्चक्खाण लिये हैं, उन्हें प्रतिदिन नवकारसी आदि पच्चक्खाण पालना आवश्यक है। यदि ५ अणुव्रत जो श्रावक के लिये हैं

पच्चक्खाण यावज्जीवन के लिये लिए हों जैसे ब्रह्मचर्य, अस्तेय आदि उन्हें प्रतिदिन पच्चक्खाने और पालने की आवश्यकता नहीं है।

- श्रावकों के १२४ अतिचार कौन-कौन से हैं- १२ व्रतों के ७५, सम्यक्त्व के ५, संलेखना के ५, ज्ञानाचार के ८, दर्शनाचार के ८, चारित्राचार के ८, तपाचार के १२, वीर्याचार के ३ इस तरह कुल १२४ अतिचार भी होते हैं।
- ज्ञान के १४ अतिचार में शुरू के ५ उच्चारण संबंधी, ६ से ८वें तक पढ़ने की अविधि संबंधी, बाकी ६ काल संबंधी हैं।
- करण और योग की परिभाषा- क्रिया के साधन को करण क़हते हैं। करण ३ हैं- करना, कराना और अनुमोदन करना। योग- व्यापार रूप हैं, ये तीन हैं- मन, वचन और काया।
- १२वें व्रत के अन्तर्गत जो १४ प्रकार की चीजें साधु-साध्वी को बहराते हैं उसमें से असण-पाण आदि ८ चीजें अप्रतिहारी हैं क्योंकि लेकर वापिस नहीं की जाती और पीठफलक आदि ६ प्रकार की चीजें प्रतिहारी हैं अर्थात् कार्य निष्पन्न होने पर वापिस की जाती है।
- प्रतिक्रमण में ९९ अतिचार के ध्यान में मात्र अतिचार नहीं बोलकर पूरा स्थूल का पाठ बोलना (ध्यानावस्था में) ज्यादा लाभ का कारण है।

-भाइसा मार्केटिंग सिनेमा के पास, राजनांदगाँव (छत्तीसगढ़)

आवश्यकसूत्र पर व्याख्यासाहित्य

आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी म.सा.

आवश्यकसूत्र पर आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यक भाष्य, हारिभद्रीयवृत्ति एवं मलधारी हेमचन्द्र द्वारा रचित टिप्पणक व शिष्यहितावृत्ति आदि प्रमुख व्याख्याएँ हैं। आचार्यप्रवर श्री देवेन्द्रमुनि जी म.सा. ने आगम समिति से प्रकाशित आवश्यक सूत्र की भूमिका में इन व्याख्याओं का परिचय दिया था। उसे यहाँ उपयोगी समझकर उद्धृत किया गया है। *-सम्पादक*

आवश्यकसूत्र एक ऐसा महत्त्वपूर्ण सूत्र है कि जिस पर सबसे अधिक व्याख्याएँ लिखी गयी हैं। इसके मुख्य व्याख्याग्रन्थ हैं- निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति, स्तबक (टब्बा) और हिन्दी विवेचन।

आवश्यकनिर्युक्ति

आगमों पर दस निर्युक्तियाँ प्राप्त हैं। उन दस निर्युक्तियों में प्रथम निर्युक्ति का नाम आवश्यकनिर्युक्ति है। आवश्यकनिर्युक्ति में अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर विस्तार से चर्चा की गई है। अन्य निर्युक्तियों को समझने के लिये आवश्यकनिर्युक्ति को समझना आवश्यक है। इसमें सर्वप्रथम उपोद्घात है, जो भूमिका के रूप में है तथा उसमें ८८० गाथाएँ है। प्रथम पाँच ज्ञानों का विस्तार से निरूपण है।

ज्ञान के वर्णन के पश्चात् निर्युक्ति में षडावश्यक का निरूपण है। उसमें सर्वप्रथम सामायिक है। चारित्र का प्रारम्भ ही सामायिक से होता है। मुक्ति के लिये ज्ञान और चारित्र ये दोनों आवश्यक हैं। सामायिक का अधिकारी श्रुतज्ञानी होता है। वह क्षय, उपशम, क्षयोपशम कर केवलज्ञान और मोक्ष को प्राप्त करता है। सामायिकश्रुत का अधिकारी ही तीर्थंकर जैसे गौरवशाली पद को प्राप्त करता है। तीर्थंकर केवलज्ञान होने के पश्चात् जिस श्रुत का उपदेश करते हैं- वही जिनप्रवचन है। उस पर विस्तार से चिन्तन करने के पश्चात् सामायिक पर उद्देश्य, निर्देश, निर्गम आदि २६ द्वारों से विवेचन किया गया है। मिथ्यात्व का निर्गमन किस प्रकार किया जाता है, इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए निर्युक्तिकार ने महावीर के पूर्वभवों का वर्णन, उसमें कुलकरों की चर्चा, भगवान् ऋषभदेव का जीवन-परिचय आदि विस्तृत रूप से दिया है। निह्नवों का भी निरूपण है।

सामायिक सूत्र के प्रारम्भ में नमस्कार महामंत्र आता है। इसलिये नमस्कार मंत्र की उत्पत्ति, निक्षेप, पद, पदार्थ, प्ररूपणा, वस्तु, आक्षेप, प्रसिद्धि, क्रम, प्रयोजन और फल- इन ग्यारह दृष्टियों से नमस्कार महामंत्र पर चिन्तन किया गया है जो साधक के लिये बहुत ही उपयोगी है।

दूसरा अध्ययन चतुर्विंशतिस्तव का है। इसमें नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह निक्षेपों की दृष्टि से प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्ययन वन्दना का है। चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म, ये वंदना के पर्यायवाची हैं। वन्दना किसे करनी चाहिये? किसके द्वारा होनी चाहिये? कब होनी चाहिये? कितनी बार होनी चाहिये? कितनी बार सिर झुकना चाहिये? कितने आवश्यकों से शुद्धि होनी चाहिये? कितने दोषों से मुक्ति होनी चाहिये? वन्दना किसलिये करनी चाहिये? प्रभृति नौ बातों पर विचार किया गया है। वही श्रमण वन्दनीय है जिसका आचार उत्कृष्ट है और विचार निर्मल है। जिस समय वह प्रशान्त, आश्वस्त और उपशान्त हो, उसी समय वन्दना करनी चाहिये।

चतुर्थ अध्ययन का नाम प्रतिक्रमण है। प्रमाद के कारण आत्मभाव से जो आत्मा मिथ्यात्व आदि परस्थान में जाता है, उसका पुनः अपने स्थान में आना प्रतिक्रमण है। प्रतिचरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, शुद्धि- ये प्रतिक्रमण के पर्यायवाची हैं। इनके अर्थ को समझाने के लिये निर्युक्ति में अनेक दृष्टान्त दिये गये हैं। नागदत्त आदि की कथाएँ दी गई हैं। इसके पश्चात् आलोचना, निरपलाप, आपत्ति, दृढ़धर्मता आदि ३२ योगों का संग्रह किया गया है और उन्हें समझाने के लिये महागिरि, स्थूलभद्र, धर्मघोष, सुरेन्द्रदत्त, वारत्तक, वैद्य धन्वन्तरि, करकण्डु, आर्य पुष्पभूति आदि के उदाहरण भी दिये गये हैं। साथ ही स्वाध्याय-अस्वाध्याय के संबंध में भी प्रकाश डाला गया है।

पाँचवें अध्ययन में कायोत्सर्ग का निरूपण है। कायोत्सर्ग और व्युत्सर्ग ये एकार्थवाची हैं। कुछ दोष आलोचना से ठीक होते हैं तो कुछ दोष प्रतिक्रमण से और कुछ दोष कायोत्सर्ग से ठीक होते हैं। कायोत्सर्ग से देह और बुद्धि की जड़ता मिटती है। सुख-दुःख को सहन करने की क्षमता समुत्पन्न होती है। उसमें अनित्य, अशरण आदि द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन होता है। मन की चंचलता नष्ट होकर शुभ ध्यान का अभ्यास निरन्तर बढ़ता है। ध्यान और कायोत्सर्ग के संबंध में अनेक प्रकार की जानकारी दी गई है जो ज्ञानवर्द्धक है। श्रमण को अपने सामर्थ्य के अनुसार कायोत्सर्ग करना चाहिये। शक्ति से अधिक समय तक कायोत्सर्ग करने से अनेक प्रकार के दोष समुत्पन्न हो सकते हैं। कायोत्सर्ग के समय कपटपूर्वक निद्रा लेना, सूत्र और अर्थ की प्रतिपृच्छा करना, काँटा निकालना, लघुशंका आदि करने के लिये चले जाना उचित नहीं है। इससे उस कार्य के प्रति उपेक्षा प्रकट होती है। कायोत्सर्ग के घोटक आदि १९ दोष भी बताए हैं। जो देहबुद्धि से परे है, वही व्यक्ति कायोत्सर्ग का सच्चा अधिकारी है।

छठे अध्ययन प्रत्याख्यान का प्रत्याख्यान, प्रत्याख्याता, प्रत्याख्येय, पर्षद, कथनविधि और फल, इन छह दृष्टियों से विवेचन किया गया है। प्रत्याख्यान के नाम, स्थापना, द्रव्य, अदित्सा, प्रतिषेध और भाव, ये छह प्रकार हैं। प्रत्याख्यान की विशुद्धि श्रद्धा, ज्ञान, विनय, अनुभाषणा, अनुपालन और भाव- इन छह प्रकार से होती है। प्रत्याख्यान से आस्रव का निरुन्धन होता है। समता की सरिता में अवगाहन किया जाता है।

चारित्र की आराधना करने से कर्मों की निर्जरा होती है। अपूर्वकरण कर क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर केवलज्ञान प्राप्त होता है और अन्त में मोक्ष का अव्याबाध सुख मिलता है। प्रत्याख्यान का अधिकारी वही साधक है जो विक्षिप्त और अविनीत न हो।

आवश्यकनिर्युक्ति में श्रमण जीवन को तेजस्वी-वर्चस्वी बनाने वाले जितने भी नियमोपनियम हैं, उन सबकी चर्चा विस्तार से की गई है। प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों का प्रतिपादन भी इस निर्युक्ति में हुआ है। प्रस्तुत निर्युक्ति के रचयिता आचार्य भद्रबाहु हैं।

विशेषावश्यक भाष्य

निर्युक्तियों के गम्भीर रहस्यों को प्रकट करने के लिये विस्तार से प्राकृत भाषा में जो पद्यात्मक व्याख्याएँ लिखी गईं, वे भाष्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। भाष्य में अनेक स्थलों पर मागधी और शौरसेनी के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। मुख्य छन्द आर्या है। भाष्य साहित्य में अनेक प्राचीन अनुश्रुतियों, लौकिक कथाओं और परम्परागत श्रमणों के आचार-विचार की विधियों का प्रतिपादन है।

भाष्यकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का नाम जैन इतिहास में गौरव के साथ उट्टंकित है। आवश्यकसूत्र पर उन्होंने विशेषावश्यकभाष्य की रचना की। आवश्यकसूत्र पर तीन भाष्य लिखे गए हैं- १. मूलभाष्य २. भाष्य और ३. विशेषावश्यकभाष्य। पहले के दो भाष्य बहुत ही संक्षेप में लिखे गये हैं। उनकी बहुत सी गाथाएँ विशेषावश्यकभाष्य में मिल गई हैं। इसलिये विशेषावश्यकभाष्य दोनों भाष्यों का भी प्रतिनिधित्व करता है। यह भाष्य केवल प्रथम अध्ययन सामायिक पर है। इसमें ३६०३ गाथाएँ हैं।

प्रस्तुत भाष्य में जैनागमसाहित्य में वर्णित जितने भी महत्त्वपूर्ण विषय हैं, प्रायः उन सभी पर चिन्तन किया गया है। ज्ञानवाद, प्रमाणवाद, आचार, नीति, स्याद्वाद, नयवाद, कर्मवाद पर विशद सामग्री का आकलन-संकलन है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जैन दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ की गई है। इसमें जैन आगमसाहित्य की मान्यताओं का तार्किक दृष्टि से विश्लेपण किया गया है। आगम के गहन रहस्यों को समझने के लिए यह भाष्य बहुत ही उपयोगी है और इसी भाष्य का अनुसरण परवर्ती विज्ञों ने किया है।

आवश्यक पर नाम आदि निक्षेपों से चिन्तन किया गया है। द्रव्य-आवश्यक, आगम और नो-आगम रूप दो प्रकार का है। अधिकाक्षर पाठ के लिये राजपुत्र कुणाल का उदाहरण दिया है। हीनाक्षर पाठ के लिये विद्याधर का उदाहरण दिया है। उभय के लिये बाल का उदाहरण दिया है और आतुर के लिये अतिमात्रा में भोजन और भेषज विपर्यय के उदाहरण दिये हैं। लोकोत्तर नोआगम रूप द्रव्यावश्यक के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये साध्वाभास का दृष्टान्त देकर समझाया है। भाव-आवश्यक भी आगम रूप और नोआगम रूप से दो प्रकार का है। आवश्यक के अर्थ का जो उपयोग रूप परिणाम है वह आगम रूप भाव-आवश्यक है। ज्ञान-क्रिया उभय रूप जो परिणाम हैं, वह नोआगम रूप भाव-आवश्यक है। षडावश्यक के पर्याय और उसके

अर्थाधिकार पर विचार किया गया है।

सामायिक पर चिन्तन करते हुए कहा है- समभाव ही सामायिक का लक्षण है। सभी द्रव्यों का आधार आकाश है, वैसे ही सभी सद्गुणों का आधार सामायिक है। सामायिक के दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीन भेद हैं। किसी महानगर में प्रवेश करने के लिये अनेक द्वार होते हैं, वैसे ही सामायिक अध्ययन के उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय- ये चार द्वार हैं। इन चारों द्वारों का विस्तार से निरूपण किया गया है। आठों कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थितियों के रहते हुए जीव को सामायिक का लाभ नहीं हो सकता।

कषाय के उदय के कारण दर्शन आदि सामायिक प्राप्त नहीं हो सकती। यदि कदाचित् प्राप्त हो भी गई तो वह पुनः नष्ट हो जाती है। सामायिक में सावद्य योग का त्याग होता है। वह इत्वर और यावत्कथिक के रूप में दो प्रकार की हैं। इत्वर सामायिक अल्पकालीन होती है और यावत्कथिक सामायिक जीवनपर्यन्त के लिये। भाष्यकार ने सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र का विस्तार से विवेचन किया है।

सामायिक चारित्र का उद्देश, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र, काल, पुरुष, कारण, प्रत्यय, लक्षण, नय, समवतार, अनुमत, किम्, कतिविध, कस्य, कुत्र, केषु, कथम्, कियच्चिर, कति, सान्तर, अविरहित, भव, आकर्ष, स्पर्शन और निरुक्ति, इन छब्बीस द्वारों से वर्णन किया गया है। सामायिक संबंधी जितनी भी महत्त्वपूर्ण बातें हैं, वे सभी इन द्वारों में समाविष्ट हो गई हैं। निह्नववाद पर विस्तार से चर्चा है। अन्त में 'करेमि भंते' आदि सामायिक सूत्र के मूल पदों पर विचार किया गया है।

भाष्यसाहित्य में विशेषावश्यकभाष्य का अनूठा स्थान है। विशेषावश्यकभाष्य आचार्य जिनभद्र की अन्तिम रचना है। उन्होंने इस पर स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखनी प्रारम्भ की थी, किन्तु पूर्ण होने से पहले ही उनका आयुष्य पूर्ण हो गया था, जिससे वह वृत्ति अपूर्ण ही रह गई। विज्ञों का अभिमत है कि जिनभद्रगणी का उत्तरकाल विक्रम संवत् ६५० से ६६० के आस-पास होना चाहिये।

चूर्णिसाहित्य

निर्युक्ति और भाष्य की रचना के पश्चात् जैन मनीषीयों के अन्तर्मानस में आगमों पर गद्यात्मक व्याख्या साहित्य लिखने की भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने शुद्ध प्राकृत में और संस्कृत मिश्रित प्राकृत में व्याख्याओं की रचना की, जो आज चूर्णिसाहित्य के रूप में विश्रुत है। चूर्णिसाहित्य के निर्माताओं में जिनदासगणी महत्तर का मूर्धन्य स्थान है। उन्होंने सात चूर्णियाँ लिखीं। उसमें आवश्यकसूत्र चूर्णि एक महत्त्वपूर्ण रचना है।

यह चूर्णि निर्युक्ति के अनुसार लिखी गई है, भाष्य गाथाओं का उपयोग भी यत्र-तत्र हुआ है। मुख्य रूप से भाषा प्राकृत है किन्तु संस्कृत के श्लोक व गद्य पंक्तियाँ भी उद्धृत की गई हैं। भाषा प्रवाहयुक्त है। शैली में लालित्य व ओज है। ऐतिहासिक कथाओं की प्रचुरता है। यह चूर्णि अन्य चूर्णियों से विस्तृत है।

श्रुतज्ञान की दृष्टि से आवश्यक पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया गया है। द्रव्यावश्यक और भावावश्यक पर प्रकाश डाला है। महावीर के पूर्वभवों की चर्चा की गई है। महावीर के जीवन में जो भी उपसर्ग आये, उनका सविस्तृत निरूपण चूर्णि में हुआ है। निर्युक्ति की तरह निह्नववाद का भी निरूपण है। उसके पश्चात् द्रव्य पर्याय, नयदृष्टि से सामायिक के भेद, उसका स्वामी, उसकी प्राप्ति का क्षेत्र, काल, दिशा, सामायिक करने वाला, उसकी प्राप्ति के हेतु, आनन्द, कामदेव का दृष्टान्त, अनुकम्पा, इन्द्रनाग, पुण्यशाल, शिवराजर्षि, गंगदत्त, दशार्णभद्र, इलापुत्र आदि के दृष्टान्त दिये हैं। समभाव की महत्ता का प्रतिपादन करने के लिये दमदत्त एवं मैतार्य का दृष्टान्त दिया है। समास, संक्षेप और अनवद्य के लिये धर्मरुचि व प्रत्याख्यान के लिये तेतलीपुत्र का दृष्टान्त देकर विषय को स्पष्ट किया गया है।

चतुर्थ अध्ययन में प्रतिक्रमण की परिभाषा प्रतिक्रामक, प्रतिक्रमण, प्रतिक्रान्तव्य इन तीन दृष्टियों से की गई है। प्रतिचरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, शुद्धि और आलोचना पर विवेचना करते हुए उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। कायिक, वाचिक, मानसिक, अतिचार, ईर्यापथिकी विराधना, प्रकाम शय्या, भिक्षाचर्या, स्वाध्याय आदि में लगने वाले अतिचार, चार विकथा, चार ध्यान, पाँच क्रिया, पाँच कामगुण, पाँच महाव्रत, पाँच समिति आदि का प्रतिपादन किया है। शिक्षा के ग्रहण और आसेवन ये दो भेद किए हैं।

कायोत्सर्ग के प्रशस्त व अप्रशस्त ये दो भेद हैं और फिर उच्छ्रित आदि नौ भेद हैं। श्रुत, सिद्ध की स्तुति पर प्रकाश डालकर क्षामणा की विधि पर विचार किया है। अन्त में कायोत्सर्ग के दोष, फल आदि पर भी प्रकाश डाला गया है।

आवश्यकचूर्णि जिनदासगणी महत्तर की एक महनीय कृति है। आवश्यकनिर्युक्ति में आये हुए सभी विषयों पर चूर्णि में विस्तार के साथ स्पष्टता की गई है। इसमें अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन उट्टङ्कित किये गये हैं, जिनका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है।

टीका साहित्य

निर्युक्ति में आगमों के शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या है। भाष्यसाहित्य में विस्तार से आगमों के गंभीर भावों का विवचेन है। चूर्णिसाहित्य में निगूढ़ भावों को लोक-कथाओं के आधार से समझाने का प्रयास है तो टीका साहित्य में आगमों का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण है। टीकाकारों ने प्राचीन निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि साहित्य का तो अपनी टीकाओं में प्रयोग किया ही है साथ ही नये-नये हेतुओं द्वारा विषय को और अधिक पुष्ट बनाया है। उनकी प्रस्तुत टीका उनके पश्चात् कोट्याचार्य ने पूर्ण की। इसका संकेत कोट्याचार्य ने छठे गणधरवाद के अन्त में दिया है।

संस्कृत टीकाकारों में आचार्य हरिभद्र का नाम गौरव के साथ लिया जा सकता है। उनका सत्ता-समय विक्रम संवत् ७५७ से ८२७ का है। उन्होंने आवश्यकनिर्युक्ति पर भी वृत्ति लिखी। प्रस्तुत वृत्ति को देखकर विज्ञों ने यह अनुमान किया है कि आचार्य हरिभद्र ने आवश्यक सूत्र पर दो वृत्तियाँ लिखी थीं। वर्तमान

में जो टीका उपलब्ध नहीं है, वह टीका उपलब्ध टीका से बड़ी थी। क्योंकि आचार्य ने स्वयं लिखा है- 'व्यासार्थस्तु विशेषविवरणादवगन्तव्य इति।' अन्वेषणा करने पर भी यह टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है।

सामायिक आदि के तेबीस द्वारों का विवेचन निर्युक्ति के अनुसार किया गया है। निर्युक्ति और चूर्णि में जिन विषयों का संक्षेप में संकेत किया गया है उन्हीं का इसमें विस्तार किया गया है। ध्यान के प्रसंग में ध्यानशतक की समस्त गाथाओं का भी विवेचन किया है। इस वृत्ति का नाम शिष्यसहिता है। इसका ग्रन्थमान २२००० श्लोकप्रमाण है। लेखक ने अन्त में अपना संक्षेप में परिचय भी दिया है।

कोट्याचार्य ने आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के अपूर्ण स्वोपज्ञ भाष्य को पूर्ण किया और विशेषावश्यक भाष्य पर एक नवीन वृत्ति लिखी। मलधारी आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी विशेषावश्यकभाष्यवृत्ति में कोट्याचार्य का प्राचीन टीकाकार के रूप में उल्लेख किया है। आचार्य मलयगिरि उत्कृष्ट प्रतिभा के धनी मूर्धन्य मनीषी थे। आवश्यकसूत्र पर भी उन्होंने आवश्यकविवरण नामक वृत्ति लिखी। यह विवरण मूल सूत्र पर न होकर आवश्यकनिर्युक्ति पर है। यह विवरण अपूर्ण ही प्राप्त हुआ है। इसमें मंगल आदि पर विस्तार से विवेचन और उसकी उपयोगिता पर चिन्तन किया गया है। निर्युक्ति की गाथाओं पर सरल और सुबोध शैली में विवेचन है। विवेचन की विशिष्टता है कि आचार्य ने विशेषावश्यकभाष्य की गाथाओं पर स्वतंत्र विवेचन न कर उनका सार अपनी वृत्ति में उट्टंकित कर दिया है। वृत्ति में जितनी भी गाथाएँ आई हैं, वे वृत्ति के वक्तव्य को पुष्ट करती हैं। वृत्ति में विशेषावश्यकभाष्य की स्वोपज्ञवृत्ति का भी उल्लेख हुआ है। साथ ही प्रज्ञाकरगुप्त, आवश्यक चूर्णिकार, आवश्यक मूल टीकाकार, आवश्यक मूल भाष्यकार, लघीयस्त्रयालंकार, अकलंक-न्यायावतार वृतिकार प्रभृति का भी उल्लेख हुआ है। यत्र-तत्र विषय को स्पष्ट करने के लिए कथाएँ भी उद्धृत की गई हैं।

मलधारी आचार्य हेमचन्द्र महान् प्रतिभासम्पन्न और आगमों के ज्ञाता थे। वे प्रवचनपटु और वाग्मी थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। आवश्यकवृत्ति प्रदेशव्याख्या आचार्य हरिभद्र की वृत्ति पर लिखी गई है, इसलिए उसका अपर नाम हारिभद्रीयावश्यक वृत्तिटिप्पणक है। मलधारी आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य ने प्रदेश-व्याख्याटिप्पण भी लिखा है।

आचार्य मलधारी हेमचन्द्र की विशेषावश्यक भाष्य पर दूसरी वृत्ति शिष्यहिता है। यह बृहत्तम कृति है। आचार्य ने भाष्य में जितने भी विषय आये हैं, उन सभी विषयों को बहुत ही सरल और सुगम दृष्टि से समझाने का प्रयास किया है। दार्शनिक चर्चाओं का प्राधान्य होने पर भी शैली में काठिन्य नहीं है। यह इसकी महान् विशेषता है।

अन्य अनेक मनीषियों ने भी आवश्यकसूत्र पर वृत्तियाँ लिखी हैं। संक्षेप में उनका विवरण इस प्रकार है- जिनभट्ट, माणिक्यशेखर, कुलप्रभ, राजवल्लभ आदि ने आवश्यक सूत्र पर वृत्तियों का निर्माण किया है।

इनके अतिरिक्त विक्रम संवत् ११२२ में नमि साधु ने, संवत् १२२२ में श्री चन्द्रसूरि ने, संवत् १४४० में श्री ज्ञानसागर ने, संवत् १५०० में धीर सुन्दर ने, संवत् १५४० में, शुभवर्द्धनगिरि ने, संवत् १६९७ में हितरुचि ने तथा सन् १९५८ में पूज्य श्री घासीलाल जी महाराज ने भी आवश्यकसूत्र पर वृत्ति का निर्माण कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

टीका युग समाप्त होने के पश्चात् जनसाधारण के लिये आगमों के शब्दार्थ करने वाली संक्षिप्त टीकाएँ बनाई गई जो स्तबक या टब्बा के नाम से विश्रुत हैं और वे लोकभाषाओं में सरल और सुबोध शैली में लिखी गई। धर्मसिंह मुनि ने १८वीं शताब्दी में २७ आगमों पर बालावबोध टब्बे लिखे थे। उनके टब्बे मूलस्पर्शी अर्थ को स्पष्ट करने वाले हैं। उन्होंने आवश्यक पर भी टब्बा लिखा था।

टब्बों के पश्चात् अनुवाद युग का प्रारम्भ हुआ। मुख्य रूप से आगम साहित्य का अनुवाद तीन भाषाओं में उपलब्ध है- अंग्रेजी, गुजराती और हिन्दी। आवश्यक सूत्र का अंग्रेजी अनुवाद नहीं हुआ है, गुजराती और हिन्दी में ही अनुवाद हुआ है। शोधप्रधान युग में आवश्यक सूत्र पर पंडित सुखलाल जी सिंघवी तथा उपाध्याय अमरमुनि जी प्रभृति विज्ञों ने विषय का विश्लेषण करने के लिये हिन्दी में शोध निबन्ध भी प्रकाशित किये हैं।

(आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर से प्रकाशित आवश्यकसूत्र की भूमिका से उद्धृत)

प्रतिक्रमण सूत्र पर एक प्राचीन पुस्तक : संक्षिप्त परिचय

सन् १९३३ के अजमेर साधु-सम्मेलन में निर्धारित प्रतिक्रमण-निर्णय समिति के द्वारा मान्य श्रावक-प्रतिक्रमण पर एक पुस्तक 'सामायिक-प्रतिक्रमण सूत्र' प्रकाशित हुई थी, जो आचार्यप्रवर पूज्य श्री हस्तीमल जी म.सा. द्वारा तैयार की गई थी। इस पुस्तक का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत है। *-सम्पादक*

सामायिक एवं प्रतिक्रमण पर जैन रत्न पुस्तकालय, सिंहपोल, जोधपुर से सन् १९३५ (संवत् १९९२) में पूज्य श्री हस्तीमल जी म.सा. के सहयोग से सम्पादित एवं सन् १९३३ के अजमेर साधु सम्मेलन द्वारा निर्धारित प्रतिक्रमण समिति के सदस्य मुनियों द्वारा बहुमत से स्वीकृत 'सार्थ सामायिक-प्रतिक्रमण सूत्र' पुस्तक प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में स्थानकवासी साधुमार्गीय संघ के लिए सर्वमान्य एक प्रतिक्रमण प्रस्तुत करने का अभिनन्दनीय प्रयास किया गया था। अजमेर सम्मेलन में प्रतिक्रमण के संबंध में कुछ निर्णय हुए थे, वे इस प्रकार हैं-

१. **प्रतिक्रमण में एकरूपता के लिए सात मुनियों की एक समिति नियत की गई तथा यह तय किया गया कि समिति द्वारा कृत निर्णय सर्वमान्य होगा। वे सात मुनिवर्य थे- १. पूज्य श्री हस्तीमल जी म.सा. २. पं. श्री सौभाग्यमुनि जी म.सा. ३. लघुशतावधानी मुनि श्री सौभाग्यचन्द्र जी म.सा. ४. लिम्बड़ी सम्प्रदाय के संत श्री मंगलस्वामी जी म.सा. के शिष्य श्याम जी महाराज सा. ५. उपाध्याय श्री आत्माराम जी म.सा. ६. पूज्य श्री अमोलकऋषि जी म.सा. ७. मुनि श्री छगनलाल जी म.सा.।**

२. **पाँचवें आवश्यक 'कायोत्सर्ग' में चार, आठ, बारह, बीस लोगस्स का ध्यान किया जाये।**

पूज्य श्री हस्तीमल जी म.सा. ने एक प्रश्नावली तैयार करवायी। जिनमें बहुत से प्रश्न तो पाठों के सम्बन्ध में थे और कुछ प्रश्न प्रतिक्रमण की मौलिकता के सम्बन्ध में भी थे। उस समय चतुर्विंशतिस्तव के बाद प्रतिक्रमण न तो मूल प्राकृत भाषा में था और न पूर्ण देशी/हिन्दी भाषा में था, अपितु मूल व हिन्दी भाषा मिश्रित था। प्रश्नावली मुख्य ११ मुनियों की सेवा में सम्मति के लिए भेजी गई। जैन दिवाकर उपाध्याय श्री आत्माराम जी म.सा. की सेवा में पण्डित जी (श्री दुःखमोचन जी झा) गये। सौभाग्यवश उस अवसर पर शतावधानी श्री रत्नचन्द्र जी म.सा., पूज्य अमोलकऋषि जी महाराज, पूज्य श्री काशीराम जी म.सा. भी वहाँ पधारे हुए थे। चारों मुनिवरों के उपयोगी पारस्परिक विमर्श के बाद जो सम्मति बनी, उसका सार था-

'केवली' प्रथम पद में ही बोले जायें, यही योग्य है। प्रतिक्रमण मूल प्राकृत भाषा में और देशी भाषा में स्वतंत्र प्रति पृथक्-पृथक् तैयार की जाय। अभ्यासी लोग अपनी-अपनी श्रद्धा व शक्ति के अनुसार उन दोनों स्वतंत्र प्रतियों में चाहे जिसे अपनावें अर्थात् यह अच्छा और वह बुरा, इस तरह विवाद नहीं करें। ऐसा करने से सर्वथा सुरुचि और प्रचार सभी सुरक्षित रह सकते हैं। श्रमणसूत्र वालों के लिए श्रमण सूत्र और श्रावक सूत्र वालों के लिए श्रावक सूत्र हो तो बहुत ठीक होगा।

जब पूज्य श्री चातुर्मासार्थ पाली पधारे तब पुनः इस कार्य का प्रारम्भ शांति पाठशाला, पाली के प्रधानाध्यापक जैन न्याय व्याकरण तीर्थ श्री चाँदमल जी द्वारा करवाया गया। प्राचीन, अर्वाचीन, हिन्दी, गुजराती भाषा की प्रतिक्रमण पुस्तकों एवं उपासकदशांग सूत्र के आधार से प्रतिक्रमण का लेखन हुआ, जिसे प्रतिक्रमण निर्णय समिति के सदस्य मुनिवरों की सेवा में दिखाया गया। साथ ही कुछ विज्ञमुनिवरों की भी सम्मति ली गई। तदनुसार आचार्य श्री हरिभद्रसूरि कृत आवश्यक बृहद् वृत्ति के आधार से तथा आवश्यक की प्राचीनतर हस्तलिखित श्राद्ध प्रतिक्रमणावचूरि के आधार से विशेष परम्परा को भी यथाशक्य सुरक्षित रखते हुए शुद्ध मूल प्राकृत भाषा बद्ध एवं व्रतातिचार मूल व हिन्दी भाषा दोनों में निबद्ध प्रतिक्रमण सूत्र तैयार किया गया।

वर्तमान में प्रचलित श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र का आधार संभवतः पूज्य श्री हस्तीमल जी म.सा. द्वारा तैयार किया गया प्रतिक्रमण सूत्र रहा है। विशेष भेद यह है कि पूज्यश्री के द्वारा तैयार किये गये प्रतिक्रमण में श्रावक के बारह व्रतों के अतिचारों के पाठ दो तरह से दिये गये हैं। एक तो पूरी तरह प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं तथा दूसरे हिन्दी भाषा में दिये गये हैं। वर्तमान में प्रचलित प्रतिक्रमण सूत्र में बारह व्रतों के अतिचारों का पाठ पहले हिन्दी भाषा में है तथा फिर प्राकृत एवं हिन्दी की मिश्रित भाषा में है। भाव वन्दना के पाठों में तिलोकऋषि द्वारा रचित सवैया उस समय की पुस्तक में भी उपलब्ध हैं।

'सामायिक-प्रतिक्रमण' नामक इस पुस्तक में प्रतिक्रमण निर्णय-समिति के मान्य मुनिवर्यों की सम्मतियाँ भी प्रकाशित हैं। श्रमण सूत्र को श्रावक-प्रतिक्रमण सूत्र में रखने के सम्बन्ध में सदस्य मुनिवर एकमत नहीं थे। लघु शतावधानी मुनि श्री सौभाग्यचन्द्र जी महाराज ने अपनी सम्मति में अभिव्यक्त किया कि श्रमण सूत्र प्रतिक्रमण पाठ में भले ही रहे किन्तु उसका उपयोग व्रत (पौषध) के दिन ही हो। उपाध्याय श्री आत्माराम जी म.सा. का अभिमत था कि श्रमण सूत्र परिशिष्ट में ही रहना चाहिए। जिसकी इच्छा हो वह पढ़े। पूज्य श्री हस्तीमल जी म.सा. ने मुनिवर्यों की राय में मध्यस्थता एवं बहुमत का पालन करते हुए, श्रमणसूत्र के पाँच पाठों को तथा २५ मिथ्यात्व के पाठ और १४ स्थान में उत्पन्न होने वाले सम्मूर्च्छिम के पाठ को परिशिष्ट में रखना उचित समझा। पूज्य श्री हस्तीमल जी म.सा. का मन्तव्य पुस्तक में 'सूचना' शीर्षक से निम्नानुसार प्रकाशित है-

"श्रमण शब्द का अर्थ केवल साधु ही नहीं है किन्तु श्रावक भी इसका अर्थ है, इसमें हमारे आगम

मुनिवर प्रमाणरूप से भगवती सूत्र का पाठ देते हैं, किन्तु बात ऐसी नहीं है, हमारे जानते श्रमणसूत्र में बहुत कुछ विमर्श की जरूरत है। क्योंकि आज तक प्रचलित श्रावक प्रतिक्रमण मानने वाले साधुमार्गीय, मन्दिरमार्गीय, तेरापंथी इन तीनों समुदायों में सिर्फ साधुमार्गीय में गिनी हुई सम्प्रदायों में ही इसका प्रचार है।

इन सम्प्रदायों में भी श्रमणसूत्र के लिये जो आग्रह आज है, वह पहले नहीं था। मालवा, मेवाड़, दक्षिण में कुछ हिस्सा इस आम्नाय को मानने वाला है, किन्तु मुनि श्री तिलोकऋषि जी सम्पादित सत्यबोध में अपनी आम्नाय के प्रतिकूल श्रावक सूत्र ही दिया और मालवा मरुधर आदि में श्रावक सूत्र वाला प्रतिक्रमण ही कई जगह पढ़ाते थे। किन्तु आज तो उस विषय में आग्रह होने लगा है, प्रसन्नता का विषय है कि श्रावक प्रतिक्रमण में श्रमणसूत्र को आवश्यक का अंग न मानने वाले श्रावक सूत्रानुयायी मुनिगणों ने भी समाज-हित के लिये श्रावक प्रतिक्रमण के परिशिष्ट में श्रमण सूत्र को रखा है, अपने मत की रक्षा का लक्ष्य छोड़कर यदि समाज-हित को ध्यान में रख सभी विज्ञ मुनिवर व श्रावक विचार करें तो भविष्य में एकता सहज हो।

श्रमणसूत्र श्रावक प्रतिक्रमण में आवश्यक है या नहीं? यह विषय गहरे मनन की जरूरत रखता है, क्योंकि आजतक प्रचलित मूर्तिपूजक व तेरापंथ सम्प्रदाय को भी आवश्यक मान्य है, किन्तु उसमें श्रमणसूत्र का प्रवेश इष्ट नहीं रहा, साधुमार्गीय सम्प्रदाय की बात इसमें भी बहुत से समुदायों में श्रमणसूत्र रहित ही पढ़ा जाता है, ऐसी हालात में जो श्रमणसूत्र का पाठ श्रावक प्रतिक्रमण में दाखिल किया गया है, उसका क्या कारण है? आज इन पाठों की क्या आवश्यकता है?

इस पुस्तक में पूज्य उपाध्याय श्री आत्माराम जी म.सा. के द्वारा लिखित भूमिका अतीव उपयोगी है। भूमिका से कुछ विचार यहाँ संकलित हैं-

''आर्हतमत के आवश्यक में विशेषता यह है कि दोनों समय विधिपूर्वक करने से गृहस्थों को अपनी क्रियाओं का बोध भली भाँति होता रहता है, अन्य उपासनाओं से बढ़कर इस आवश्यक में आत्मविकास के लिये मसाला पर्याप्त है। इस प्रकार छः अध्ययनों के समान लौकिक व आत्मिक विकास का समावेश अन्य किसी भी उपासना में नहीं है, अन्य धर्मों में जो उद्देश्य अनेक धर्मग्रन्थों को पढ़ने से, उपदेश-श्रवण से व सत्संगति से नहीं सिद्ध होता है वह उद्देश्य जैन मत के सविधि आवश्यक करने से ही भली भाँति सिद्ध होता है। आवश्यक की आराधना से क्या नहीं मिलता है? भावना से आत्मा-निज कल्याण कर सकती है, १२ व्रतों के ६० अतिचार गृहस्थाश्रम के तमाम नियमों को सूचित करते हैं, इस प्रकार सर्वथा लाभ कहीं भी अन्य उपासनाओं में नहीं मिलते हैं। अन्य उपासनाओं में जहाँ आत्मा को विषयाभिमुख बनाने का बीज है वहाँ आवश्यक में आत्म-रमणता का भाव भरा है। अतः सर्वथा सर्वातिशयत्व इस आवश्यक में विचारोत्तर सिद्ध होता है।

नित्य कर्त्तव्य सूत्रपाठ देश कालानुसार सदा संक्षिप्त ही होते हैं जिससे कि बालवृद्ध रोगी सभी सर्वः सुभीता से पढ़ सकें। इस उद्देश्य से इस आवश्यक के छः अध्ययन भी संक्षिप्त ही रखे गये हैं। ये इतने बड़े नहीं

हैं जो नियत स्थान पर ही पढ़े जा सकते हैं।''

''कालक्रम से अथवा रुचि के वैचित्र्य से या देशभेद से जो इस आवश्यक सूत्र में पाठ भेदादि यत्र-तत्र उपलब्ध हैं उस भेद को मिटाने के लिये अजमेर के मुनि-सम्मेलन में यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि आवश्यक सूत्र के मूल पाठ एक होना चाहिये। जैसे श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज में आवश्यक के बहुत से पाठ बढ़ गये हैं, इसी प्रकार श्वेताम्बर साधुमार्गीय शाखा में भी कतिपय गुजराती, मारवाड़ी आदि भाषा में भी पाठ देखने में आते हैं। जिससे आवश्यक एक मिश्रित भाषा में हो गया है, अतः मौलिक अर्द्धमागधी भाषा में आवश्यक सूत्र हो तो स्थानकवासी शाखा में एक प्रतिक्रमण हो सकता है।''

''आनन्द का विषय है कि हमारे सुहृद्वर्य मरुस्थलीय आचार्यवर्य पूज्य श्री हस्तीमल जी म.सा. ने इस काम को अपने हाथ में लिया। कतिपय प्राचीन आवश्यकों की प्रतियों के आधार से इस मौलिक आवश्यक सूत्र के शुद्ध पाठों का संग्रह कर जनता पर परमोपकार किया है। इस आवश्यक सूत्र में उत्तराध्ययन सूत्र के २९वें अध्ययन में आए हुए छः आवश्यक सूत्र पाठों के क्रम के अनुसार पाठ संग्रह है।''

-नौरतन मेहता, सह सम्पादक-जिनवाणी
घोड़ों का चौक, जोधपुर (राज.)

15,17 नवम्बर 2006
जिनवाणी, 288

प्रतिक्रमण याद करने के कुछ लाभ

डॉ. दिलीप धींग

जो व्यक्ति प्रतिक्रमण कण्ठस्थ कर लेता है, वह जाने-अनजाने अनेक उपयोगी ज्ञानवर्द्धक आगमिक बातों का जानकार हो जाता है। प्रतिक्रमण मूलतः प्राकृत में है। प्राकृत लोकभाषा है, किन्तु तीर्थंकरों की वाणी इसी भाषा में प्रकट हुई। अतः उसका उच्चारण मंगलकारी माना जाता है। जहाँ नियमित सामायिक-प्रतिक्रमण की आराधना होती है, वहाँ अनेक अशुभ टल जाते हैं। केवल प्रथम सामायिक आवश्यक को ही द्वादशांगी का सार और चौदह पूर्व का अर्थपिण्ड कहा गया है तो छह आवश्यक सहित सम्पूर्ण प्रतिक्रमण का महत्त्व निःसन्देह बहुत अधिक है।

जिसे प्रतिक्रमण याद है-

१. वह सगर्व कह सकता है कि उसे एक आगम कण्ठस्थ है।
२. बत्तीस आगमों के नाम उसे कण्ठस्थ हो जाते हैं।
३. वह पंच परमेष्ठी के स्वरूप और उनके गुणों का जानकार हो जाता है।
४. वह छह आवश्यकों का जानकार हो जाता है।
५. वह यह जान जाता है कि अठारह पाप कौनसे होते हैं।
६. उसे मांगलिक (मंगल-पाठ) याद हो जाता है।
७. उसे प्रत्याख्यान का पाठ याद हो जाता है, जिससे वह किसी को भी प्रत्याख्यान करवा सकता है अथवा स्वयं भी प्रत्याख्यान पूर्वक कोई नियम ले सकता है।
८. वह श्रावक के बारह व्रतों (५ अणुव्रत ३ गुणव्रत व ४ शिक्षाव्रत) का जानकार हो जाता है।
९. वह बारह व्रतों का स्वरूप और उनके दोषों (अतिचारों) का जानकार हो जाता है।
१०. वह रत्नत्रय (सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन व सम्यक् चारित्र) के स्वरूप को समझ सकता है।

प्रतिक्रमण के पाठों में ज्ञान, ध्यान, विनय, अनुशासन, नैतिकता और प्राणिमात्र से मैत्री के संदेशों की अनुगूंज है। प्रतिक्रमण में अनेक विषय समाविष्ट हैं। प्रतिक्रमण जानने वाला कहीं भी विचार व्यक्त करना चाहे तो वह प्रतिक्रमण में से कई तथ्य उद्धृत कर सकता है और अपनी अभिव्यक्ति को प्रभावशाली व प्रामाणिक बना सकता है। अर्थ को समझते हुए प्रतिक्रमण याद किया जाय और उसकी सही रूप से आराधना की जाय तो जीवन में नई रोशनी पैदा होती है। माता-पिता को चाहिये कि वे अपनी संतान को अन्य चीजों के अलावा प्रतिक्रमण भी अवश्य कण्ठस्थ कराएँ। बाल एवं किशोर वय में याद किया गया प्रतिक्रमण जीवन भर की पूँजी बन जायेगा।

-ट्रेड हाउस, दूसरी मंजिल, २६, अश्विनी मार्ग, उदयपुर (राज.)३१३००१

अतिक्रमण है निजस्वरूप से,
बाहर में निज को भटकाना।
प्रतिक्रमण है निज स्वरूप में,
फिर वापस अपने को लाना।।

प्रतिक्रमण : सामान्य प्रश्नोत्तर

श्री पी.एम. चोरडिया

प्रश्न प्रतिक्रमण किसे कहते हैं?

उत्तर स्वीकार किए हुए व्रतों में जो कोई दोष लगा हो तो उसकी आलोचना करते हुए पुनः दोषोत्पत्ति न हो, इसकी सावधानी रखना ही प्रतिक्रमण कहलाता है।

प्रश्न प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ क्या है?

उत्तर प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ है- पापों से पीछे हटना।

प्रश्न प्रतिक्रमण को आवश्यक सूत्र क्यों कहा गया है?

उत्तर जिस प्रकार शरीर निर्वाह हेतु आहारादि क्रिया प्रतिदिन करना आवश्यक है, उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में आत्मा को सबल बनाने के लिये प्रतिक्रमण करना आवश्यक है, इसीलिये प्रतिक्रमण को आवश्यक सूत्र कहा गया है।

प्रश्न आवश्यक सूत्र को उत्कालिक सूत्र क्यों कहते हैं?

उत्तर यह सूत्र अकाल (उत्काल) में अर्थात् दिन और रात के संधिकाल में तथा रात और दिन के संधिकाल में बोलते हैं, इसलिए आवश्यक सूत्र को उत्कालिक सूत्र के अन्तर्गत रखा गया है।

प्रश्न प्रतिक्रमण में आवश्यक सूत्र के कितने अध्याय हैं?

उत्तर प्रतिक्रमण में आवश्यक सूत्र के छह अध्याय हैं- १. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वंदना, ४. प्रतिक्रमण, ५. कायोत्सर्ग, ६. प्रत्याख्यान।

प्रश्न आवश्यक सूत्र के फल का वर्णन किस शास्त्र में आया है?

उत्तर उत्तराध्ययन सूत्र के २९वें अध्ययन में।

प्रश्न पाँचवें आवश्यक 'कायोत्सर्ग' का क्या फल है?

उत्तर कायोत्सर्ग नामक पाँचवाँ आवश्यक करने से अतीत और वर्तमान के पापों का प्रायश्चित्त कर आत्मा विशुद्ध होती है तथा बाह्याभ्यन्तर सुख की प्राप्ति होती है।

प्रश्न छह आवश्यकों में किन-किन आवश्यकों से दर्शन में विशुद्धि आती है?

उत्तर चउवीसत्थव एवं वंदना। दर्शन-सम्यक्त्व के पाठ से यह विशुद्धि आती है।

प्रश्न प्रतिक्रमण किस-किस का किया जाता है।

उत्तर मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय, अव्रत और अशुभयोग का प्रतिक्रमण किया जाता।

प्रश्न मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण किस पाठ से होता है?

उत्तर दर्शनसम्यक्त्व के पाठ से, अठारह पाप स्थान के पाठ से।

प्रश्न अशुभयोग किसे कहते हैं?

उत्तर मन-वचन-काया से बुरे विचार करना, कटुवचन बोलना एवं पाप कार्य करना अशुभयोग कहलाता है।

प्रश्न काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के कितने भेद हैं?

उत्तर आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के तीन भेद बताए हैं-१.भूतकाल में लगे दोषों की आलोचना करना। २. वर्तमान में लगने वाले दोषों को सामायिक एवं संवर द्वारा रोकना। ३.भविष्य में लगने वाले दोषों को प्रत्याख्यान द्वारा रोकना।

प्रश्न प्रतिक्रमण के 'इच्छामि णं भंते' के पाठ से क्या प्रतिज्ञा की जाती है?

उत्तर प्रतिक्रमण करने की और ज्ञान, दर्शन, चारित्र में लगे अतिचारों का चिन्तन करने के लिए कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा की जाती है।

प्रश्न अतिचार और अनाचार में क्या अन्तर है ?

उत्तर व्रत का एकांश भंग अतिचार कहलाता है। व्रत का सर्वथा भंग अनाचार कहलाता है। प्रत्याख्यान का स्मरण न रहने पर या शंका से जो दोष लगता है, वह अतिचार है एवं व्रत को पूर्णतया तोड़ देना अनाचार है।

प्रश्न बारह व्रतों में विरमण व्रत कितने हैं?

उत्तर १, २, ३, ४, ५, ८ ये विरमण व्रत हैं।

प्रश्न 'इच्छामि ठामि' का पाठ प्रतिक्रमण में क्यों और प्रकट में कितनी बार उच्चारण किया जाता है?

उत्तर ग्रहण किये हुए व्रतों में कोई अतिचार दोष लगा हो अथवा व्रत खण्डित या विराधित हुआ हो त उसको कायोत्सर्ग द्वारा निष्फल करने के लिये यह पाठ बोलते हैं। प्रतिक्रमण करते समय पाँच बा प्रकट में यह पाठ बोला जाता है।

प्रश्न 'इच्छामि ठामि' के पाठ में ऐसे कौन-कौन से अक्षर हैं, जो श्रावक के १२ व्रतों का प्रतिनिधित्व कर हैं?

उत्तर: पंचण्हमणुव्वयाणं-पाँच अणुव्रत, तिण्हं गुणव्वयाणं-तीन गुणव्रत, चउण्हं सिक्खावयाणं-चार शिक्षाव्रत

प्रश्न 'मिच्छामि दुक्कड़' का क्या अर्थ है?

उत्तर मेरे पाप मिथ्या हों अर्थात् निष्फल हों।

प्रश्न जिन-वचनों पर शंका करना दोष क्यों है?

उत्तर शंका करने से आस्था कम हो जाती है। आस्थाहीन व्यक्ति के धर्म से च्युत होने में देरी नहीं लगती जिज्ञासा का निवारण किया जा सकता है, किन्तु व्यर्थ की शंका का नहीं।

प्रश्न १८ पापों में सबसे प्रबल पाप कौन सा है?

उत्तर मिथ्यादर्शन शल्य।

प्रश्न श्वेताम्बर परम्परा में श्रमण प्रतिक्रमण और श्रावक प्रतिक्रमण में मूल भूत अन्तर क्या है?

उत्तर श्वेताम्बर परम्परा में श्रमण प्रतिक्रमण और श्रावक प्रतिक्रमण में मूलभूत जो अन्तर है, वह मात्र अणुव्रतों और महाव्रतों के अतिचारों के पाठ को लेकर है। श्रमण प्रतिक्रमण का आगमिक आधार आवश्यक सूत्र है। श्रावक प्रतिक्रमण में श्रमण प्रतिक्रमण से भिन्न पाठ पाये जाते हैं, उनका आगमिक आधार उपासकदशांग है, जिसमें श्रावक के ५ अणुव्रतों, ३ गुणव्रतों और ४ शिक्षाव्रतों का एवं उनके अतिचारों का उल्लेख प्राप्त होता है।

प्रश्न स्थानकवासी परम्परा में ऐसे कौनसे महान् तेजस्वी आचार्य हुए हैं, जिन्होंने केवल एक प्रहर से भी कम समय में खड़े-खड़े प्रतिक्रमण के सारे पाठों को कंठस्थ कर लिया था?

उत्तर आचार्य श्री जयमल जी महाराज।

प्रश्न पापों का वर्णन प्रतिक्रमण जैसी धार्मिक क्रिया में क्यों किया गया है?

उत्तर पापों का स्वरूप समझे बिना कोई व्यक्ति उनका त्याग करना कैसे समझ सकेगा? अतः बुराई को त्यागने के लिए १८ पापों का वर्णन किया गया है।

प्रश्न श्रावक सापराधी की हिंसा का त्याग क्यों नहीं करता?

उत्तर संसार में रहने के कारण उस पर आश्रितों की रक्षादि का भार रहता है। अतः अन्याय, अत्याचार का मुकाबला करने के लिये श्रावक सापराधी की हिंसा नहीं छोड़ पाता। कभी-कभी पेट में या शरीर के अन्य अंगों में पड़े कीड़े आदि की नाशक दवा का भी सेवन करना पड़ता है।

प्रश्न बड़ी चोरी किसे कहते हैं?

उत्तर बिना पूछे किसी की ऐसी चीज लेना कि जिससे उसको दुःख होता हो, लोक निंदा होती हो, राजदण्ड मिलता हो तो उसे बड़ी चोरी कहते हैं।

प्रश्न आत्मगुणों का पोषण करने वाला कौनसा अणुव्रत है?

उत्तर चौथा मैथुन विरमणव्रत।

प्रश्न परिग्रह को पाप का मूल क्यों कहा गया है?

उत्तर इच्छा आकाश के समान अनन्त है। ज्यों-ज्यों लाभ होता है, लोभ बढ़ता जाता है। सभी जीवों के लिए परिग्रह से बढ़कर कोई बंधन नहीं है। परिग्रह महती अशांति का कारण है। इससे कलह, बेईमानी, चोरी, हिंसा आदि का प्रादुर्भाव होता है। इन सब कारणों से परिग्रह को पाप का मूल कहा गया है।

प्रश्न कर्मादान किसे कहते हैं?

उत्तर जिन धन्धों को करने से उत्कट (गहरे) कर्मों का बन्ध होता है, उन्हें कर्मादान कहते हैं। अन्य परिभाषा है-अधिक हिंसा वाले धन्धों से आजीविका चलाना कर्मादान है।

प्रश्न १५ कर्मादानों में भाड़ी कर्म और फोड़ी कर्म का क्या अर्थ है?

उत्तर (१) भाड़ी कर्म - गाड़ी, घोड़े आदि वाहनों से भाड़ा कमाना।

(२) फोड़ी कर्म : खान खुदाकर, पत्थर फुड़वाकर आजीविका कमाना।

प्रश्न अनर्थदण्ड किसे कहते हैं?

उत्तर जो कार्य स्वयं के परिवार के सगे-सम्बन्धी, मित्रादि के हित में न हो, जिसका कोई प्रयोजन न हो और व्यर्थ में आत्मा पापों से दंडित हो, उसे अनर्थदण्ड कहते हैं।

प्रश्न सामायिक और पौषधव्रत में क्या अन्तर है?

उत्तर सामायिक केवल एक मुहूर्त की होती है, जबकि पौषध कम से कम चार प्रहर का होता है। सामायिक में निद्रा का त्याग करना पड़ता है। पौषध चार या अधिक प्रहर का होने से उसमें निद्रा भी ली जा सकती है एवं शौचादि का अपरिहार्य कार्य भी किया जा सकता है।

प्रश्न तिर्यंच १२वाँ व्रत क्यों नहीं पाल सकता?

उत्तर तिर्यंच दान नहीं दे सकते, अतः १२वें व्रत की पालना नहीं कर सकते।

प्रश्न आत्मगुणों को चमकाने वाला प्रतिक्रमण में कौनसा पाठ है?

उत्तर बडी संलेखना व्रत।

प्रश्न संलेखना से क्या अभिप्राय है?

उत्तर 'संलेखना' समाधिमरण की पूर्व तैयारी है। इससे कषाय पतले होते हैं, संसार घटता है, आत्मोन्नति होती है और उच्च भावना आने से उच्चगति की प्राप्ति होती है।

प्रश्न अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवली प्ररूपित दयामय धर्म - इन चारों को मंगल क्यों कहा गया है?

उत्तर इन चारों के स्मरण से, श्रवण से, शरण से समस्त पापों का नाश होता है, विघ्न टल जाते हैं।

प्रश्न प्रतिक्रमण सूत्र में प्रायश्चित्त का पाठ कौनसा है और उसका अर्थ क्या है?

उत्तर देवसिय-पायच्छित्त-विसोहणत्थं करेमि काउस्सगं।

भावार्थ- मैं दिवस सम्बन्धी प्रायश्चित्त की शुद्धि के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ।

प्रश्न पच्चक्खाण क्यों करते हैं?

उत्तर व्रत में लगे दोषों की आलोचना करने के बाद पुनः दोषोत्पत्ति न हो इसलिए मन पर अंकुश रखने के लिये पच्चक्खाण करते हैं।

प्रश्न प्रतिक्रमण के पाठों में उपसंहार सूत्र कौनसा है?

उत्तर 'तस्स धम्मस्स केवलिपणत्तस्स' का पाठ।

प्रश्न श्रमण निर्ग्रन्थों को १४ प्रकार का निर्दोष दान देना ही अतिथि-संविभाग व्रत का प्रयोजन है। यदि दाता और पात्र दोनों शुद्ध हों और उत्कृष्ट रसायन आवे तो कौन से शुभ-कर्म का बन्ध होता है?

उत्तर तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का।

-89, Audiappa Naicken Street, Chennai-79

श्रावक प्रतिक्रमण संबंधी प्रश्नोत्तर

प्रो. चाँदमल कर्णावट

प्रश्न सामायिक ग्रहण किए बिना अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाय तो क्या अनुचित होगा? मुख्यता तो अतिचारों के प्रतिक्रमण की है।

उत्तर सामान्य नियम से तो सामायिक ग्रहण करके ही प्रतिक्रमण किया जाना चाहिए, किन्तु अपवाद स्थिति में ट्रेन आदि में यात्रा करते हुए संवर ग्रहण करके भी प्रतिक्रमण किया जा सकता है। सामायिक में सावद्य प्रवृत्ति का दो करण तीन योग से त्याग होता है, जबकि संवर से एक करण एक योग से भी सावद्य प्रवृत्ति का त्याग किया जा सकता है तथा उसमें ट्रेन आदि में चलने का आगार रखा जा सकता है।

प्रश्न प्रतिक्रमण के पाठ प्राकृत भाषा में होने से कठिन हैं, समझ में नहीं आते। अतः उनका हिन्दी अनुवाद करके बोलने में क्या आपत्ति है?

उत्तर प्राकृत भाषा का हिन्दी अनुवाद करने से अर्थ में एवं भाषा में भी धीरे-धीरे परिवर्तन हो जाना संभव है। इससे प्रतिक्रमण के मूल स्वरूप के बिगड़ जाने का भय है। अतः प्रतिक्रमण के पाठों को मूल में प्राकृत में बोलना ही आवश्यक और उचित होगा।

प्रश्न प्रतिक्रमण को जीवादि नवतत्त्वों में से किस तत्त्व में लिया गया है और क्यों?

उत्तर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त नामक आभ्यन्तर तप का भेद होने से निर्जरा तत्त्व में लिया जा सकता है। आस्रव का निरोध होने से इसमें संवर भी रहता है।

प्रश्न 'इच्छामि ठामि' प्रतिक्रमण का सार पाठ है। उसे ही बोलकर प्रतिक्रमण कर लें तो क्या अनुचित होगा?

उत्तर 'इच्छामि ठामि' पाठ में श्रावक-व्रतों एवं अतिचारों का संक्षिप्त कथन किया गया है। इस पाठ में श्रावक-व्रतों का स्वरूप और खुलासेवार अतिचारों का कथन नहीं किया गया है। अतः विधिपूर्वक पूर्ण प्रतिक्रमण छः आवश्यक रूप करना आवश्यक है। सामायिकादि छः आवश्यक करने से ही आवश्यक की पूर्ण आराधना हो सकती है, केवल एक पाठ बोलने से नहीं।

प्रश्न प्रतिदिन प्रतिक्रमण करने के बाद भी अतिचारों का पुनः पुनः सेवन किया जाना हो तो प्रतिक्रमण करने से क्या लाभ? इससे तो प्रतिक्रमण किया ही न जाय?

उत्तर प्रतिक्रमण करने वाले को अतिचार लगाने का ध्यान आने पर लज्जानुभव होता है और वह सुधार का संकल्प करता है, पुनः पुनः अतिचार नहीं लगाता। परन्तु प्रतिक्रमण नहीं करने वाला तो निःसंकोच

दोष लगाता है। उसके आस्रव द्वार तो प्रतिक्षण खुले ही रहते हैं।

प्रश्न प्रतिक्रमण करने के स्थान पर घंटाभर परोपकार के काम में लगाया जाय तो अधिक अच्छा प्रतिक्रमण (रूढ़) करने वाले को समय यापन करने के अलावा अन्य क्या लाभ?

उत्तर प्रतिक्रमण (आवश्यक) में पहला आवश्यक सामायिक है। सामायिक व्रत करने से ४८ मिनट क तो आस्रव (पापास्रव) के त्यागपूर्वक बीतेगा। प्रतिक्रमण में षड्काय जीवों को अथवा समस्त को अभय मिलता है, जबकि परोपकार में एक या कुछ व्यक्तियों को ही सहयोग मिलता है परोपकार के कार्यों में हिंसक प्रवृत्ति भी हो सकती है जो पाप बंध का कारण होती है। प्रतिक्र किया ही जाय, क्योंकि वह इहलोक एवं परलोक के लिए हितकर है। अन्य समय में विवेकपूर्व उपकार किया जा सकता है।

प्रश्न प्रतिक्रमण करने जितना समय सबको नहीं मिल पाता। क्या प्रतिक्रमण को संक्षिप्त करके अल्प स नहीं किया जा सकता?

उत्तर आवश्यक सूत्र में प्रतिक्रमण को आवश्यक कहा गया है। आवश्यक छह बताए गए हैं, जिन्हें वि सम्पन्न करने से ही पूर्ण लाभ प्राप्त किया जा सकता है। जैसे बड़े रोगों और असाध्य माने जाने रोगों के लिए लंबे काल का उपचार बताया जाता है, उसे संक्षिप्त नहीं किया जा सकता। इसी भवरोगों के निवारण हेतु निश्चित समय का प्रतिक्रमण करना भी आवश्यक है।

प्रश्न हमारा प्रतिक्रमण प्रायः द्रव्य प्रतिक्रमण ही होता है अतः भाव प्रतिक्रमण ही कर लेना पर्याप्त है, प्रतिक्रमण करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर द्रव्य प्रतिक्रमण, भाव प्रतिक्रमण के लिए प्रेरक बन सकता है और भाव प्रतिक्रमण द्रव्य प्रतिक्रम लिए। छः आवश्यकों एवं पाठों से भाव प्रतिक्रमण की प्रेरणा की जाती है अतः द्रव्य 'भाव' में सह है। द्रव्य प्रतिक्रमण से भाव-प्रतिक्रमण पुष्ट होता है। अतः द्रव्य एवं भाव प्रतिक्रमण दोनों की सम आराधना आवश्यक है।

प्रश्न भगवान् ऋषभदेव एवं तीर्थंकर महावीर के शासन के साधु-साध्वियों के लिए दोनों समय प्रतिक्रमण निर्देश किया गया है। बीच के २२ तीर्थंकरों के साधुओं के लिए ऐसा नहीं बताया गया है। वे लगने पर ही प्रतिक्रमण करते थे। अब भी ऐसा क्यों नहीं किया जा सकता?

उत्तर भगवान् अजितनाथ से भगवान् पार्श्व तक के साधक ऋजु और प्राज्ञ प्रकृति के थे अथवा स स्वभावी और ज्ञानवान थे। अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के साधक जड़ और वक्र प्रकृति वाले वे न ज्ञानवान हैं न सरल परिणामी। अतः उनके लिए पापों का प्रतिक्रमण एवं पुनः व्रतों में स्थिर ह के लिए प्रातः और सायंकाल दोनों समय-प्रतिक्रमण करने का विधान किया गया है।

श्न प्रतिक्रमण आवश्यक से पूर्व सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव और वन्दना आवश्यक करना जरूरी क्यों है

सीधा प्रतिक्रमण ही कर लिया जाय तो समय की बचत होती है और प्रतिक्रमण भी हो जाता है।

उत्तर सामायिकादि तीन आवश्यक करके ही प्रतिक्रमण किया जाता है, क्योंकि सामायिक या समभाव (अस्थायी ही) आए बिना प्रतिक्रमण रूप प्रायश्चित्त नहीं हो सकता। साथ ही चौबीस तीर्थंकर भगवान् की स्तुति एवं गुरु वन्दना या आशातना की क्षमा लिए बिना भाव-प्रतिक्रमण नहीं किया जा सकता। पापों की आलोचना करने से पूर्व समभाव (रागद्वेषरहितता) एवं विनयशीलता का होना परमावश्यक है।

प्रश्न प्रतिक्रमण सभी पापों के प्रायश्चित्त स्वरूप किया जाता है, फिर केवल मिथ्यात्वादि ५ का ही प्रतिक्रमण कैसे बतलाया गया है?

उत्तर इन पाँच प्रकार के प्रतिक्रमणों में सभी पापों का समावेश हो जाता है। अव्रत के प्रतिक्रमण में प्राणातिपात आदि सभी पापों का समावेश हो जाता है। फिर प्रमाद में आत्म-स्वभाव के विपरीत सभी विभावों को समाविष्ट किया गया है। इस प्रकार इन पाँचों में सभी पाप प्रवृत्तियों का प्रतिक्रमण हो जाता है।

प्रश्न प्रतिक्रमण किसी भी समय किया जाय तो क्या आपत्ति हो सकती है? उसका निश्चित समय क्यों निर्धारित किया गया है?

उत्तर तीर्थंकर भगवान् की आज्ञापालन के साथ दिनभर की आलोचना सायंकाल दिन की समाप्ति पर और रात्रि की सूर्योदय से पूर्व आलोचना करने की दृष्टि से समय निर्धारित किया गया है। वैसे आत्मशुद्धि हेतु भाव प्रतिक्रमण कभी भी किया जा सकता है।

बारह व्रत संबंधी प्रश्नोत्तर

प्रश्न श्रावक-श्राविका के १२ व्रत कौन-कौनसे हैं?

उत्तर मोटे रूप में प्राणातिपात विरमणादि ५ अणुव्रत, दिशा परिमाणादि ३ गुणव्रत और सामायिक आदि ४ शिक्षाव्रत हैं।

प्रश्न बारह व्रतों को अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत क्यों कहते हैं?

उत्तर अणुव्रत अर्थात् छोटे व्रत। साधु-साध्वी जी के महाव्रतों की अपेक्षा छोटे होने से। इनमें हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील एवं परिग्रह का पूर्ण रूप से त्याग नहीं होता। गुणव्रत ५ अणुव्रतों को पुष्ट करने वाले हैं। छठे से ८वें व्रत दिशि परिमाण व्रत, उपभोग परिभोग परिमाण व्रत तथा अनर्थदण्ड विरमण व्रत गुणव्रत कहलाते हैं। ९वें से १२वें व्रत तक सामायिक, संवर, पौषध एवं अतिथि-संविभाग व्रत चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं। श्रावक-श्राविका इनका अभ्यास करते हैं, धीरे-धीरे पूर्णता की तरफ बढ़ते हैं।

प्रश्न बारह व्रतों में कितने विरमण व्रत, परिमाण व्रत आदि हैं?

उत्तर पहले से पाँचवें तक तथा आठवाँ व्रत विरमण व्रत माने गए हैं। परिग्रह को परिमाणव्रत भी [illegible]

क्योंकि श्रावक गृहस्थ होने से परिग्रह का पूर्ण त्याग नहीं कर सकता। अंततोगत्वा तो परिग्रह भी त्यागने योग्य अर्थात् विरमण व्रत है। छठा दिशिव्रत और सातवाँ उपभोग-परिभोग व्रत परिमाण व्रत हैं। उनका सर्वथा त्याग नहीं हो सकने के कारण श्रावक इनकी मर्यादा करते हैं। नवमें से बारहवें तक अभ्यास की अपेक्षा शिक्षाव्रत हैं।

प्रश्न 'इच्छामि खमासमणो' पाठ क्यों बोला जाता है?

उत्तर 'इच्छामि खमासमणो' पाठ के द्वारा साधु-साध्वी जी को वंदना कर उनके प्रति हुई अविनय आशातना के लिए क्षमायाचना की जाती है।

प्रश्न व्रतों में लगे अतिचारों या दोषों की आलोचना १२ स्थूल पाठों से कर ली जाती है, फिर १२ व्रतों का प्राकृत पाठ पुनः क्यों बोला जाता है ?

उत्तर १२ स्थूल पाठों में केवल अतिचारों का ही वर्णन है, उनमें १२ व्रतों का स्वरूप नहीं बताया गया है। अतः व्रतों के स्वरूप के स्मरण के साथ उनमें लगे अतिचारों के साथ १२ व्रत प्राकृत पाठ सहित पुनः बोले जाते हैं।

प्रश्न श्रावक के व्रतों के कुल अतिचार कितने हैं, ज्ञानादि की दृष्टि से बताएँ।

उत्तर श्रावक व्रतों के कुल अतिचार ९९ हैं। ज्ञान के १४, दर्शन के ५, चारित्र के (बारह व्रतों के) ६०, कर्मादान के १५ तथा तप के ५ अतिचार बताए गये हैं।

प्रश्न ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अतिचार किन-किन पाठों से बोले जाते हैं?

उत्तर ज्ञान के १४ अतिचार 'आगमे तिविहे' के पाठ से, दर्शन के ५ अतिचार दर्शन सम्यक्त्व या 'अरिहंतो महदेवो' के पाठ से, चारित्र के ६० अतिचार १२ अणुव्रत या स्थूल के पाठों से (प्रत्येक के ५-५ अतिचार) तथा कर्मादान के १५ अतिचार पन्द्रह कर्मादान के पाठ से बोले जाते हैं।

प्रश्न प्रतिक्रमण में ८४ लाख जीवयोनि के पाठ से सभी जीवों से क्षमायाचना की जाती है फिर 'आयरिय उवज्झाए' पाठ क्षमायाचना के लिए अलग और पहले क्यों बोला जाता है?

उत्तर सामान्य रूप से सभी जीवों से क्षमायाचना से पूर्व आचार्य, उपाध्याय, साधु-साध्वी से क्षमायाचना वंदनीय, आदरणीय एवं बड़े होने के कारण पहले की जाती है, फिर अन्य सभी जीवों से क्षमायाचना की जाती है। इसके अलावा 'आयरिए उवज्झाए' में ८४ लाख जीवयोनि का खुलासा नहीं है। वह संक्षिप्त पाठ है। इसलिए खुलासे की दृष्टि से ८४ लाख जीवयोनि से क्षमायाचना का पाठ पुनः बोला जाता है।

प्रश्न पौषधव्रत और बड़ी संलेखना की क्रिया प्रतिदिन नहीं करते। फिर दोनों पाठों का बोलना क्यों आवश्यक है?

उत्तर जैसे सैनिकों को प्रतिदिन युद्ध नहीं लड़ना पड़ता फिर भी परेड वे प्रतिदिन करते हैं, युद्ध का अभ्यास

भी उन्हें प्रायः करवाया जाता है, ताकि वे युद्ध कला को भूल नहीं जावें। इसी प्रकार श्रावक-श्राविका पौषध व बड़ी संलेखना का पाठ भी प्रतिदिन बोलते हैं ताकि इन धर्म-अनुष्ठानों की स्मृति उन्हें बनी रहे और अवसर मिलने पर इनकी साधना-आराधना कर सकें। स्वाध्याय का लाभ तो इन्हें बोलने से मिलता ही है।

प्रश्न श्रावक के प्रथम व्रत में स्थूल हिंसा का त्याग है। स्थूल हिंसा से तात्पर्य क्या है?

उत्तर स्थूल हिंसा से तात्पर्य मोटी हिंसा से है। पहले अणुव्रत में इसका स्वरूप बताया है- त्रस जीव बेइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों की जानकर संकल्प करके हिंसा का त्याग २ करण ३ योग से करना। न स्वयं इन जीवों की हिंसा करना-न करवाना मन, वचन, काया से।

प्रश्न तो क्या स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग नहीं करवाया जाता?

उत्तर गृहस्थ जीवन में स्थावर जीवों (पृथ्वीकायादि ५) की संपूर्ण हिंसा का त्याग संभव नहीं, हाँ उनकी मर्यादा अवश्य की जाती है।

प्रश्न इसी प्रकार मोटे झूठ, मोटी चोरी के दूसरे-तीसरे व्रत में त्याग किए जाते हैं, सो कैसे?

उत्तर मोटे झूठ और मोटी चोरी के त्याग का स्वरूप इन दोनों अणुव्रतों के शुरू में ही बता दिया गया है, जैसे कन्नालीए आदि और खात खनकर आदि।

प्रश्न दसवें व्रत में क्या त्याग किया जाता है और कैसे किया जाता है?

उत्तर दसवें व्रत में १४ नियमों के अनुसार त्याग किया जाता है। सचित्त द्रव्य आदि में काम में आने वाली वस्तुओं, वाहन आदि का भोग निमित्त से भोगने का त्याग है। एक करण तीन योग से स्वयं के लिए। १४ नियमों का ग्रहण 'जाव अहोरत्तं' एक दिन रात के लिए किया जाता है फिर इनमें लगे दोषों का चिन्तन कर मिच्छामि दुक्कडं देकर अगले दिन के लिए पुनः ग्रहण किया जाता है। इस व्रत में संवर और देश पौषध भी किया जा सकता है।

प्रश्न प्रायः १२ व्रतों में दो करण तीन योग से प्रत्याख्यान बताए गए हैं। परन्तु ५वें व्रत में १ करण तीन योग से प्रत्याख्यान क्यों बताए गए हैं?

उत्तर पाँचवाँ व्रत परिग्रह के परिमाण/मर्यादा न करने का है। मर्यादा स्वयं के लिए ही की जा सकती है, अन्य के लिए नहीं। परिग्रह परिमाण करने वाला साधक स्वयं परिग्रह की मर्यादा का मन, वचन, काया से पालन करेगा। परन्तु वह अन्य को बाध्य नहीं कर सकता। इसी कारण इस व्रत में प्रत्याख्यान एक करण तीन योग से ही किया गया है। पुत्रादि को परिग्रह के बारे में कहना पड़ सकता है, इस अपेक्षा से एक करण का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न छठे व्रत दिशि परिमाण व्रत में श्रावक दिशाओं की मर्यादा करता है। उसमें 'स्वेच्छा से काया से आगे जाकर ५ आस्रव सेवन का पच्चक्खाण' शब्दों का प्रयोग क्यों किया गया है?

क्योंकि श्रावक गृहस्थ होने से परिग्रह का पूर्ण त्याग नहीं कर सकता। अंततोगत्वा तो परिग्रह भी त्यागने योग्य अर्थात् विरमण व्रत है। छठा दिशिव्रत और सातवाँ उपभोग-परिभोग व्रत परिमाण व्रत हैं। उनका सर्वथा त्याग नहीं हो सकने के कारण श्रावक इनकी मर्यादा करते हैं। नवमें से बारहवें तक अभ्यास की अपेक्षा शिक्षाव्रत हैं।

प्रश्न 'इच्छामि खमासमणो' पाठ क्यों बोला जाता है?

उत्तर 'इच्छामि खमासमणो' पाठ के द्वारा साधु-साध्वी जी को वंदना कर उनके प्रति हुई अविनय आशातना के लिए क्षमायाचना की जाती है।

प्रश्न व्रतों में लगे अतिचारों या दोषों की आलोचना १२ स्थूल पाठों से कर ली जाती है, फिर १२ व्रतों का प्राकृत पाठ पुनः क्यों बोला जाता है ?

उत्तर १२ स्थूल पाठों में केवल अतिचारों का ही वर्णन है, उनमें १२ व्रतों का स्वरूप नहीं बताया गया है। अतः व्रतों के स्वरूप के स्मरण के साथ उनमें लगे अतिचारों के साथ १२ व्रत प्राकृत पाठ सहित पुनः बोले जाते हैं।

प्रश्न श्रावक के व्रतों के कुल अतिचार कितने हैं, ज्ञानादि की दृष्टि से बताएँ।

उत्तर श्रावक व्रतों के कुल अतिचार ९९ हैं। ज्ञान के १४, दर्शन के ५, चारित्र के (बारह व्रतों के) ६०, कर्मादान के १५ तथा तप के ५ अतिचार बताए गये हैं।

प्रश्न ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अतिचार किन-किन पाठों से बोले जाते हैं?

उत्तर ज्ञान के १४ अतिचार 'आगमे तिविहे' के पाठ से, दर्शन के ५ अतिचार दर्शन सम्यक्त्व या 'अरिहंतो महदेवो' के पाठ से, चारित्र के ६० अतिचार १२ अणुव्रत या स्थूल के पाठों से (प्रत्येक के ५-५ अतिचार) तथा कर्मादान के १५ अतिचार पन्द्रह कर्मादान के पाठ से बोले जाते हैं।

प्रश्न प्रतिक्रमण में ८४ लाख जीवयोनि के पाठ से सभी जीवों से क्षमायाचना की जाती है फिर 'आयरिय उवज्झाए' पाठ क्षमायाचना के लिए अलग और पहले क्यों बोला जाता है?

उत्तर सामान्य रूप से सभी जीवों से क्षमायाचना से पूर्व आचार्य, उपाध्याय, साधु-साध्वी से क्षमायाचना वंदनीय, आदरणीय एवं बड़े होने के कारण पहले की जाती है, फिर अन्य सभी जीवों से क्षमायाचना की जाती है। इसके अलावा 'आयरिए उवज्झाए' में ८४ लाख जीवयोनि का खुलासा नहीं है। वह संक्षिप्त पाठ है। इसलिए खुलासे की दृष्टि से ८४ लाख जीवयोनि से क्षमायाचना का पाठ पुनः बोला जाता है।

प्रश्न पौषधव्रत और बड़ी संलेखना की क्रिया प्रतिदिन नहीं करते। फिर दोनों पाठों का बोलना क्यों आवश्यक है?

उत्तर जैसे सैनिकों को प्रतिदिन युद्ध नहीं लड़ना पड़ता फिर भी परेड वे प्रतिदिन करते हैं, युद्ध का अभ्यास

भी उन्हें प्रायः करवाया जाता है, ताकि वे युद्ध कला को भूल नहीं जायें। इसी प्रकार श्रावक-श्राविका पौषध व बड़ी संलेखना का पाठ भी प्रतिदिन बोलते हैं ताकि इन धर्म-अनुष्ठानों की स्मृति उन्हें बनी रहे और अवसर मिलने पर इनकी साधना-आराधना कर सकें। स्वाध्याय का लाभ तो इन्हें बोलने से मिलता ही है।

प्रश्न श्रावक के प्रथम व्रत में स्थूल हिंसा का त्याग है। स्थूल हिंसा से तात्पर्य क्या है?

उत्तर स्थूल हिंसा से तात्पर्य मोटी हिंसा से है। पहले अणुव्रत में इसका स्वरूप बताया है– त्रस जीव बेइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों की जानकर संकल्प करके हिंसा का त्याग २ करण ३ योग से करना। न स्वयं इन जीवों की हिंसा करना-न करवाना मन, वचन, काया से।

प्रश्न तो क्या स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग नहीं करवाया जाता?

उत्तर गृहस्थ जीवन में स्थावर जीवों (पृथ्वीकायादि ५) की संपूर्ण हिंसा का त्याग संभव नहीं, हाँ उनकी मर्यादा अवश्य की जाती है।

प्रश्न इसी प्रकार मोटे झूठ, मोटी चोरी के दूसरे-तीसरे व्रत में त्याग किए जाते हैं, सो कैसे?

उत्तर मोटे झूठ और मोटी चोरी के त्याग का स्वरूप इन दोनों अणुव्रतों के शुरू में ही बता दिया गया है, जैसे कन्नालीए आदि और खात खनकर आदि।

प्रश्न दसवें व्रत में क्या त्याग किया जाता है और कैसे किया जाता है?

उत्तर दसवें व्रत में १४ नियमों के अनुसार त्याग किया जाता है। सचित्त द्रव्य आदि में काम में आने वाली वस्तुओं, वाहन आदि का भोग निमित्त से भोगने का त्याग है। एक करण तीन योग से स्वयं के लिए। १४ नियमों का ग्रहण 'जाव अहोरत्तं' एक दिन रात के लिए किया जाता है फिर इनमें लगे दोषों का चिन्तन कर मिच्छामि दुक्कडं देकर अगले दिन के लिए पुनः ग्रहण किया जाता है। इस व्रत में संवर और देश पौषध भी किया जा सकता है।

प्रश्न प्रायः १२ व्रतों में दो करण तीन योग से प्रत्याख्यान बताए गए हैं। परन्तु ५वें व्रत में १ करण तीन योग से प्रत्याख्यान क्यों बताए गए हैं?

उत्तर पाँचवाँ व्रत परिग्रह के परिमाण/मर्यादा न करने का है। मर्यादा स्वयं के लिए ही की जा सकती है, अन्य के लिए नहीं। परिग्रह परिमाण करने वाला साधक स्वयं परिग्रह की मर्यादा का मन, वचन, काया से पालन करेगा। परन्तु वह अन्य को बाध्य नहीं कर सकता। इसी कारण इस व्रत में प्रत्याख्यान एक करण तीन योग से ही किया गया है। पुत्रादि को परिग्रह के बारे में कहना पड़ सकता है, इस अपेक्षा से एक करण का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न छठे व्रत दिशि परिमाण व्रत में श्रावक दिशाओं की मर्यादा करता है। उसमें 'स्वेच्छा से काया से आगे जाकर ५ आस्रव सेवन का पच्चक्खाण' शब्दों का प्रयोग क्यों किया गया है?

उत्तर दिशिव्रत में मर्यादित सीमा के बाहर भी जाना पड़ जाय, अपनी इच्छा से नहीं, परन्तु विवशतावश औ अनिवार्यतावश, तो भी श्रावक मन, वचन से उसका अनुमोदन नहीं करता हुआ आगे जाकर भी आस्रव का सेवन नहीं करता। गृहस्थ जीवन की स्थितियों को लक्ष्य कर ऐसा निर्धारण किया जान संभव है।

प्रश्न श्रावक के व्रतों में करण-योग का उल्लेख किया गया है। किन्तु १२वें अतिथि संविभाग व्रत में करण योग का उल्लेख नहीं। ऐसा क्यों है?

उत्तर करण योग का उल्लेख सावद्य क्रियाओं के संदर्भ में ही किया गया है। परन्तु अतिथि संविभाग व्रत में १४ प्रकार की वस्तुओं का साधु-साध्वी जी को दान देने/प्रतिलाभित करने का प्रसंग है, जो (दान) किसी प्रकार से सावद्य क्रिया नहीं है। अतः बारहवें व्रत में करण योग का उल्लेख नहीं होना संभव लगता है।

-३५ अहिंसापुरी, गौशाला के सामने, उदयपुर (राज.)

प्रतिक्रमण के गूढ़ प्रश्नोत्तर

श्री गौतमचन्द जैन

प्रश्न प्रतिक्रमण आवश्यक क्यों है?

उत्तर प्रतिक्रमण साधकजीवन की एक अपूर्वकला है तथा जैन साधना का प्राणतत्त्व है। ऐसी कोई भी क्रिया नहीं, जिसमें प्रमादवश दोष न लग सके। उन दोषों से निवृत्ति हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिये। प्रतिक्रमण में साधक अपने जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति का अवलोकन, निरीक्षण करते हुए इन दोषों से निवृत्त होकर हल्का बनता है।

प्रतिक्रमण करना आवश्यक है, क्योंकि तन का रोग अधिक से अधिक एक जन्म तक ही पीड़ा दे सकता है, किन्तु मन का रोग एक बार प्रारम्भ होने के बाद, यदि व्यक्ति असावधान रहा तो हजारों ही नहीं, लाखों जन्मों तक परेशान करता है।

प्रश्न प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ स्पष्ट कर उसके आठ पर्यायवाची बताइए।

उत्तर प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ है- पीछे लौटना, अर्थात् साधक जिस क्रिया द्वारा अतीत में प्रमादवश किए हुए दोषों, अपराधों एवं पापों का प्रक्षालन करके शुद्ध होता है, वह प्रतिक्रमण कहलाता है। आचार्य हेमचन्द्रानुसार- सावद्यप्रवृत्ति में जितने आगे बढ गए थे उतने ही पीछे हटकर एवं शुभयोग रूप स्वस्थान में अपने आपको लौटा लाना प्रतिक्रमण है।

श्रुतकेवली भद्रबाहु का मन्तव्य है कि प्रतिक्रमण केवल अतीत में लगे दोषों की ही विशुद्धि नहीं करता, अपितु वह वर्तमान और भविष्यकाल के दोषों की विशुद्धि भी करता है। आचार्य भद्रबाहु ने प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची नाम बताए हैं-

१. प्रतिक्रमण- सावद्य योग से विरत होकर आत्मशुद्धि में लौट आना।

२. प्रतिचरणा- अहिंसा, सत्य आदि संयम में सम्यक् रूप से विचरना।

३. परिहरणा- सभी प्रकार के अशुभ योगों का परित्याग करना।

४. वारणा- विषय भोगों से स्वयं को रोकना।

५. निवृत्ति- अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्त होना।

६. निंदा- पूर्वकृत अशुभ आचरण के लिए पश्चात्ताप करना।

७. गर्हा- आचार्य, गुरु आदि के समक्ष अपने अपराधों की निंदा करना।

८. शुद्धि- कृत दोषों की आलोचना, निंदा, गर्हा तथा तपश्चरण द्वारा आत्मशुद्धि करना।

प्रश्न जब प्रतिदिन प्रातः सायं प्रतिक्रमण किया जाता है तब फिर पाक्षिक, चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमण की क्या आवश्यकता है?

उत्तर जिस प्रकार प्रतिदिन मकान की सफाई की जाती है फिर भी पर्व दिनों में वह विशेष रूप से की जाती है। वैसे ही प्रतिदिन प्रतिक्रमण करने पर भी पर्व दिनों में विशेष जागरूकता से शेष रहे अतिचारों का निरीक्षण एवं परिमार्जन किया जाता है। जैसे कि प्रशासनिक क्षेत्र में भी विशेष अभियान चलाकर सरकारी कार्यों एवं लक्ष्यों की पूर्ति की ही जाती है, यद्यपि ये कार्य सरकारी कार्यालयों में प्रतिदिन किए जाते हैं।

प्रश्न वर्तमान चौबीसी के शासनों में प्रतिक्रमण की परम्परा का उल्लेख कीजिये।

उत्तर प्रथम एवं अंतिम तीर्थंकर की परम्परा के साधु अतिचार दोष लगे या न लगे किन्तु दोष शुद्धि हेतु प्रतिदिन दोनों संध्याओं को प्रतिक्रमण करते हैं किन्तु मध्य के बाईस तीर्थंकरों की परम्परा के साधु-साध्वी दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण करते हैं। क्योंकि प्रथम एवं अंतिम तीर्थंकरों के शिष्य चंचल चित्त वाले, मोही और जड़बुद्धि वाले होते हैं तथा मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के शिष्य दृढ़ बुद्धि वाले पवित्र, एकाग्रमन वाले तथा शुद्ध चरित्र वाले होते हैं। इस प्रकार प्रथम एवं अंतिम तीर्थंकर के शासन में प्रतिक्रमण अवस्थित (अनिवार्य) कल्प है जबकि मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के शासन में यह अनवस्थित (ऐच्छिक) कल्प था।

प्रश्न दिनभर पापकारी प्रवृत्तियाँ करते रहने पर भी सुबह-शाम प्रतिक्रमण करने से क्या लाभ?

उत्तर जिस प्रकार कुएँ से डाली गई बाल्टी की रस्सी या आकाश में उड़ाई गई पतंग की डोरी अपने हाथ में हो तो बाल्टी एवं पतंग को हम प्रयास करके पुनः प्राप्त कर सकते हैं। रस्सी या डोरी को पूर्णतया हाथ से छोड़ने पर तो बाल्टी एवं पतंग को हम खो देंगे। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी यही नियम लागू होता है। प्रतिदिन किए गए अभ्यास से हमारे में संस्कार तो सृजित होते ही हैं, पापाचरण में लगी आत्मा को हम इन सृजित संस्कारों के माध्यम से कभी न कभी तो तप-संवर रूपी करणी से शुद्ध कर सकते हैं।

प्रश्न सॉरी (Sorry)बोलना एवं प्रतिक्रमण करना इन दोनों में क्या सम्बन्ध है, जैन जगत् में सॉरी के अनुरूप कौनसा शब्द है?

उत्तर व्यवहार जगत् में कोई गलती हो जाने पर मोटे तौर पर हम सॉरी बोलकर उस गलती का निवारण करते हैं। उसी प्रकार प्रतिक्रमण द्वारा हम प्रभु के चरणों में अपने अपराध/दोष/अतिचार गलती को स्वीकार करते हैं और 'तस्स मिच्छा मि दुक्कड़' पद से उन गलतियों/भूलों को हृदय से स्वीकार करके क्षमा माँगते हैं। जैन जगत् में सॉरी के अनुरूप 'मिच्छा मि दुक्कडं' शब्द है।

प्रश्न जैन दर्शन में शरीर विज्ञान के सिद्धांतों का समुचित पालन किया जाता है। प्रतिक्रमण के संदर्भ में स्पष्ट कीजिये।

उत्तर कायोत्सर्ग की साधना हेतु तस्सउत्तरी का पाठ बोलना आवश्यक है एवं इसमें शरीर पर से ममता का त्याग किया जाता है। तस्सउत्तरी के पाठ में यह ध्वनित होता है कि शरीर के प्राकृतिक कार्यों को नहीं रोका जा सकता है तथा शरीर के बारह प्रकार के व्यापारों का आगार रखकर ही कायोत्सर्ग साधना की प्रतिज्ञा की जाती है जैसे-छींक आना या सूक्ष्म रूप से अंग का हिलना आदि।

प्रश्न श्रावक के बारह व्रतों में एक से आठ तक के व्रत जीवन पर्यंत तक के होते हैं, जबकि ९-१०-११ वें व्रतों का काल सीमित समय का होता है। काल में इस अंतर का कारण स्पष्ट कीजिये।

उत्तर – ९वां व्रत सामायिक व्रत है। इसका काल एक दो मुहूर्त्त या नियम पर्यंत होता है। १०वें देशावकाशिक व्रत में पहले जिन (छठे, सातवें) व्रतों में जीवनपर्यंत मर्यादाएँ की हैं उनकी संक्षेप में अहोरात्रि के लिए मर्यादा करते हैं। ११वाँ प्रतिपूर्ण पौषध व्रत का काल चारों आहार छोड़कर उपवास सहित आठ प्रहर का होता है। श्रावक एक से आठवाँ व्रत संसार के कार्यों में रहते हुए भी जीवन-पर्यंत धारण कर सकता है। नवमाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ व्रत साधना रूप है, इनको श्रावक जीवन पर्यंत धारण नहीं कर सकता, अतः संक्षिप्त साधना सामायिक के रूप में एवं विशेष साधना दया या पौषध के रूप में अहोरात्रि प्रमाण में करता है। दसवाँ व्रत छठे एवं सातवें व्रतों का संक्षिप्त रूप है। अतः यह भी श्रावक के लिए अहोरात्रि प्रमाण का होता है, क्योंकि इन व्रतों की आराधना करते हुए श्रावक गृहस्थ के कर्त्तव्यों का व्यवस्थित निर्वाह नहीं कर सकता है। अतः ये व्रत काल की सीमित मर्यादा से ही पालन किए जा सकते हैं, आजीवन नहीं।

प्रश्न सामायिक लेने से पूर्व तीन बार विधिवत् वंदन करते हैं, पारते समय नहीं करते हैं। ऐसा क्यों?

उत्तर सामायिक लेने से पूर्व उद्देश्य यह है कि हम गुरु महाराज से आज्ञा लेकर आस्रव को छोड़कर संवर में जा रहे हैं। जबकि सामायिक पारते हैं तो संवर को छोड़कर पुनः आस्रव की ओर बढते हैं, इसीलिए पारते समय वंदन नहीं करते हैं। क्योंकि संवर से आस्रव की ओर जाने के लिये गुरु-भगवंतों की आज्ञा नहीं है।

प्रश्न मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों के प्रतिक्रमण करने में क्या अंतर है?

उत्तर सम्यग्दृष्टि यदि प्रतिक्रमण करेगा तो उसकी क्रियाओं से पापों का क्षय अर्थात् कर्मों की निर्जरा तथा पुण्य का बन्ध होगा, जबकि मिथ्यादृष्टि प्रतिक्रमण करेगा तो पुण्य का बंध तो होगा, पर कर्मों की निर्जरा नहीं होगी।

प्रश्न प्रतिक्रमण में 'इच्छामि खमासमणो' पाठ का उद्देश्य क्या है?

उत्तर इस पाठ का उद्देश्य शिष्य को गुरु के प्रति कर्त्तव्य की जानकारी प्रदान करना, उनकी

पृच्छा करना, अपने से हुई जानी-अनजानी अविनय आशातना की क्षमायाचना, दिवस भर में लगे अतिचारों की निंदा करना, स्वयं में उन जैसे गुण विकसित हो ऐसी कामना करना आदि है। इसे वंदना का उत्कृष्ट रूप बताया है।

प्रश्न श्रावक के बारह व्रतों में कितने स्वतंत्र हैं एवं कितने परतंत्र है?

उत्तर प्रथम से ग्यारहवाँ व्रत स्वतन्त्र एवं बारहवाँ व्रत परतन्त्र है। क्योंकि बारहवें व्रत की साधना सुपात्र दान देने से संबंधित है। सुपात्र अन्य होता है, जिसके उपलब्ध होने पर ही बारहवाँ व्रत सम्पन्न होता है।

प्रश्न उत्कृष्ट वंदना में दोनों घुटनों को ऊँचा क्यों किया जाता है?

उत्तर यह आसन गर्भाशयवत् कोमलता एवं विनय का प्रतीक है। इसलिए विनयसम्पन्नता के प्रकटीकरण की भावना से ऐसे आसन का कथन पूर्वाचार्यों द्वारा किया गया है।

प्रश्न पाँच पदों की वंदना पंचांग नमाकर घुटने झुकाकर क्यों की जाती है?

उत्तर चूंकि यह आसन शरणागति अर्थात् अर्पणता का सूचक है। "परमभावे तिष्ठति असौ परमेष्ठी।" ये हमारे लिए परमाराध्य हैं। इनकी शरण ग्रहण करके ही हम भी परमभाव में प्रतिष्ठित हो सकते हैं। अतः यह वंदना इसी आसन (मुद्रा) में की जाती है।

प्रश्न प्रतिक्रमण के छह आवश्यकों को देव-गुरु-धर्म में विभाजित कीजिये।

उत्तर देव का- द्वितीय चतुर्विंशतिस्तव । गुरु का- तीसरा वंदना। धर्म का- प्रथम, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ (सामायिक, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग व प्रत्याख्यान।)

प्रश्न अन्य मतों में प्रचलित संध्या आदि में और जैनों के आवश्यक में क्या अंतर है?

उत्तर दूसरे मतों में प्रचलित संध्यादि में केवल ईश्वर-स्मरण और प्रार्थना आदि की मुख्यता रहती है, ज्ञानादि धर्मो की स्मृति तथा अपने पापों के प्रतिक्रमण की मुख्यता नहीं रहती, पर जैनों के आवश्यक में ज्ञानादि धर्मो की स्मृति तथा अपने पापों के प्रतिक्रमण की मुख्यता है जो अंतरंग दृष्टि से (उपादान दृष्टि से) अधिक आवश्यक है, इसलिए जैन धर्म में प्रतिपादित आवश्यक विशेष प्रयोजन को लिए हुए होने से और बढ़कर है।

प्रश्न पाँचवा, छठा और सातवाँ व्रत प्रायः एक करण-तीन योग से क्यों लिए जाते हैं?

उत्तर क्योंकि श्रावक अपने पास मर्यादा उपरान्त परिग्रह हो जाने पर जैसे वह उसे धर्म या पुण्य में व्यय करता है, वैसे ही वह अपने पुत्र/पुत्री आदि को भी देने का ममत्व त्याग नहीं पाता। इसी प्रकार जिसका अब कोई स्वामी नहीं रह गया हो, ऐसा कहीं गड़ा हुआ परिग्रह मिल जाये, तो भी वह उसे अपने स्वजनों को देने का ममत्व त्याग नहीं पाता। अथवा अपने पुत्रादि, जिन्हें परिग्रह बाँटकर पृथक् कर अपने-अपने व्यवसाय में स्थापित कर दिया हो, उनको व्यावसायिक सलाह देने का प्रसंग भी उपस्थित हो ही जाता है।

इसी प्रकार छठें सातवें व्रत की भी स्थिति है, जैसे श्रावक अपनी की हुई दिशा की मर्यादा के उपरांत स्वयं तो नहीं जाता, पर कई बार उसे अपने पुत्रादि को विद्या, व्यापार, विवाह आदि के लिए भेजने का प्रसंग आ जाता है। ऐसे ही उपभोग-परिभोग वस्तुओं की या कर्मादानों की जितनी मर्यादा की है, उसके उपरांत तो वह स्वयं भोगोपभोग या कर्म नहीं करता, परन्तु उसे अपने पुत्रादि को कहने का अवसर आ जाता है। इसलिए श्रावक पाँचवें, छठे और सातवें व्रत का प्रायः 'मैं नहीं करूँगा' इतना ही व्रत ले पाता है, परन्तु 'मैं नहीं कराऊँगा', यों व्रत नहीं ले पाता। विशिष्ट श्रावक इन व्रतों को दो करण तीन योग आदि से भी ग्रहण कर सकते हैं।

प्रश्न ग्यारहवाँ व्रत, नवमें व्रत से विशिष्ट है फिर भी ग्यारहवें (पौषध) में तो निद्रा, निहार आदि की छूट है, परन्तु नवमें (सामायिक) में नहीं। यह विरोध क्यों?

उत्तर चूंकि सामायिक का काल तो एक मुहूर्त से लेकर आगे सुविधानुसार है। यह काल अल्प है, अतः वह इन छूटों के बिना भी हो सकती है। और यदि ये आगार सामायिक में रखे जायें तो फिर सामायिक में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप की कोई आराधना नहीं हो पायेगी तथा पौषध अहोरात्रि या न्यूनतम चार प्रहर का होता है। अतः वह इन छूटों के बिना सामान्य लोगों को पालन करना कठिन होता है। शरीर का भी अपना एक विज्ञान है। इसका पालन किए बिना पौषध में ज्ञानादि की आराधना में समाधि नहीं रहेगी।

प्रश्न कायोत्सर्ग आवश्यक में सदा समान संख्या में लोगस्स का ध्यान क्यों नहीं किया जाता है?

उत्तर दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण में पिछले लगभग १५ मुहूर्त (१२ घण्टे) जितने अल्प समय में लगे अतिचारों की ही शुद्धि करनी होती है। अतः उस शुद्धि के लिए मात्र चार लोगस्स का ही ध्यान पर्याप्त होता है, पर पाक्षिक प्रतिक्रमण में १५ दिनों में लगे अतिचारों की शुद्धि करनी होती है, अतः चार लोगस्स से दुगुने ८ लोगस्स का ध्यान आवश्यक होता है तथा चातुर्मासिक में चार माह में लगे अतिचारों की एवं सांवत्सरिक में वर्षभर में लगे अतिचारों की शुद्धि करनी होती है। अतः क्रमशः तीन गुने १२ व पाँच गुने २० लोगस्स का ध्यान आवश्यक होता है। आचार्यो द्वारा इनकी संख्या उपर्युक्तानुसार निर्धारित की गई हैं।

प्रश्न संज्ञी पंचेद्रिय तिर्यंच क्या अणुव्रतादि का पालन कर सकते हैं? यदि हाँ तो कैसे?

उत्तर संज्ञी पंचेंद्रिय तिर्यंच श्रावक के प्रथम से ग्यारहवें व्रत तक पालन कर सकते हैं। बारहवें अतिथि-संविभाग व्रत का पालन वे नहीं कर सकते हैं। किन्हीं जीवों को विशुद्ध परिणामों की प्रवृत्ति होने के कारण उनके ज्ञानावरणीय कर्म का विशेष क्षयोपशम होने से उन्हें जातिस्मरणज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। उस जातिस्मरण से वे जानने लगते हैं कि मैंने पहले के मनुष्य भव में व्रत प्रत्याख्यान को ग्रहण कर भंग कर डाला था। फलस्वरूप मैं मरकर तिर्यंच गति को प्राप्त हुआ हूँ। इस जन्म में भी

अगर मैं अपनी आत्मा का कुछ सुधार कर लूँ तो अच्छा है। ऐसा सोचकर वे जातिस्मरण से पहले लिए हुए अणुव्रत आदि का स्मरण करते हैं और फिर उनका पालन करते हैं।

प्रश्न जलचर जीव पानी में रहकर सामायिक-प्रतिक्रमण किस प्रकार कर सकते हैं?

उत्तर अपने मन में सामायिक आदि पालने का निश्चय कर ये जलचर जीव जब तक सामायिकादि व्रत का काल पूर्ण न हो जावे तब तक हलन-चलन नहीं करते, निश्चल रहते हैं और इस प्रकार उनके द्वारा यह व्रत पाला जाता है।

प्रश्न प्रथम पद की वंदना में जघन्य बीस तथा उत्कृष्ट एक सौ साठ तथा एक सौ सत्तर तीर्थंकर जी की गणना किस प्रकार की गई है?

उत्तर महाविदेह क्षेत्र कुल पाँच होते हैं। इनमें सदैव चौथे आरे जैसी स्थिति होती है एवं यहाँ तीर्थंकरों का सद्भाव भी शाश्वत कहा गया है। प्रत्येक महाविदेह क्षेत्र के मध्य में मेरुपर्वत है। इस कारण से पूर्व और पश्चिम के रूप में इनके दो विभाग हो जाते हैं। पूर्व महाविदेह के मध्य में सीता नदी और पश्चिम महाविदेह के मध्य में सीतोदा नदी के आ जाने से एक-एक के पुनः दो-दो विभाग हो जाते हैं। अतः प्रत्येक महाविदेह के चार विभाग हो गए। प्रत्येक विभाग में आठ-आठ विजय हैं। अतः एक महाविदेह में ८ X ४ = ३२ एवं पाँच महाविदेह में ३२ X ५ =१६० विजय होते हैं। प्रत्येक विभाग में जघन्य एक तीर्थंकर होते हैं, अतः जम्बूद्वीप के महाविदेह में ४, धातकीखण्ड एवं अर्द्धपुष्कर द्वीप के महाविदेह में ८-८ तीर्थंकर जघन्य होते ही हैं। इस प्रकार यह जघन्य २० का कथन हुआ। जब उत्कृष्ट तीर्थंकरों की संख्या हो तो प्रत्येक विजय में एक-एक यानी १६० एवं उसी समय यदि पाँच भरत एवं पाँच एरावत में भी एक-एक यानी कुल १० तो ये सब मिलाकर १७० तीर्थंकर उत्कृष्ट एक साथ हो सकते हैं।

प्रश्न चौथे प्रतिक्रमण आवश्यक में कभी बाँया एवं कभी दाँया घुटना ऊँचा क्यों किया जाता है?

उत्तर चौथे प्रतिक्रमण आवश्यक में व्रतों में लगे हुए अतिचारों की आलोचना एवं व्रत धारण की प्रतिज्ञा का स्मरण किया जाता है। व्रतों की आलोचना के लिए मन-वचन-काया से विनय अर्पणता आवश्यक है। बायाँ घुटना विनय का प्रतीक होने से व्रतों में लगे हुए अतिचारों की आलोचना के समय बाँया घुटना खड़ा करके बैठते हैं अथवा खड़े होते हैं। श्रावकसूत्र में व्रत-धारण रूप प्रतिज्ञा की जाती है। प्रतिज्ञा-संकल्प में वीरता की आवश्यकता है। दायाँ घुटना वीरता का प्रतीक होने से इस समय दायाँ घुटना खड़ा करके व्रतादि के पाठ बोले जाते हैं।

प्रश्न चौरासी लाख जीवयोनि के पाठ में १८,२४,१२० प्रकारे 'मिच्छामि दुक्कडं' दिया जाता है। ये प्रकार किस तरह से बनते हैं?

उत्तर जीव के ५६३ भेदों को अभिहया, वत्तिया आदि १० विराधना से गुणा करने पर ५६३० भेद बनते

हैं। अब ये या तो राग रूप या द्वेष रूप अतः इन दो से गुणा करने पर ११२६० भेद बने। फिर इनको मन-वचन एवं काया इन तीन योगों से गुणा किया तो ३३७८० भेद हुए। पुनः तीन करण से गुणित करने पर १०१३४० भेद बने। तीन काल से गुणा करने पर ३०४०२० भेद हुए। ये सब पंच परमेष्ठी और आत्मसाक्षी से होते हैं अतः ६ से गुणा करने पर १८,२४,१२० प्रकार बनते हैं। वस्तुतः जैन धर्म में अपने दोष-दर्शन का सूक्ष्मतम विवेचन प्रकट हुआ है।

५६३(जीव के भेद) X १०(विराधना) X २(राग-द्वेष) X ३(योग) X ३(करण) X ३(काल) X ६(साक्षी)= १८,२४,१२०

प्रश्न ८४ लाख जीवयोनि के पाठ में बतलाए गए पृथ्वीकायादि के सात लाख आदि भेद किस प्रकार बनते हैं?

उत्तर योनि का शाब्दिक अर्थ होता है- उत्पत्ति स्थल। जीवों के उत्पत्ति स्थल को जीव योनि कहा गया। ये स्थल (योनि) भाँति-भाँति के वर्ण-गंध-रस-स्पर्श-संस्थान से युक्त होते हैं। यहाँ पृथ्वीकायादि जीवों के मूलभेदों में पाए जाने वाले वर्णादि की सर्व संभाव्यता की विवक्षा से यह कथन किया गया है। जिसे निम्न सारणी अनुसार समझा जा सकता है।

जीव	मूलभेद		वर्ण	गंध	रस	स्पर्श	संस्थान	कुल
पृथ्वीकाय	३५०	X	५	२	५	८	५	७ लाख
अपूकाय	३५०	X	५	२	५	८	५	७ लाख
तेउकाय	३५०	X	५	२	५	८	५	७ लाख
वायुकाय	३५०	X	५	२	५	८	५	७ लाख
साधारण वनस्पति	५००	X	५	२	५	८	५	१० लाख
प्रत्येक वनस्पति	७००	X	५	२	५	८	५	१४ लाख
बेइन्द्रिय	१००	X	५	२	५	८	५	२ लाख
तेइन्द्रिय	१००	X	५	२	५	८	५	२ लाख
चउरिन्द्रिय	१००	X	५	२	५	८	५	२ लाख
तिर्यंच पंचेन्द्रिय	२००	X	५	२	५	८	५	४ लाख
मनुष्य	७००	X	५	२	५	८	५	१४ लाख
देवता	२००	X	५	२	५	८	५	४ लाख
नारकी	२००	X	५	२	५	८	५	४ लाख
								--------
								८४ लाख

प्रश्न आवश्यक सूत्र में छह आवश्यकों का क्रम इस प्रकार क्यों रखा गया है?

उत्तर आवश्यक में साधना का जो क्रम रखा गया है, वह कार्य-कारण भाव की शृंखला पर अवस्थित है तथा पूर्णतः वैज्ञानिक है। साधक के लिए सर्वप्रथम समता को प्राप्त करना आवश्यक है। बिना समता को अपनाए सद्गुणों के सरस सुमन खिलते नहीं और अवगुणों के काँटे झड़ते नहीं। जब अन्तर्हृदय में विषमभाव की ज्वालाएँ धधक रही हों तब वीतरागी महापुरुषों के गुणों का उत्कीर्तन कैसे संभव है? समत्व को जीवन में धारण करने वाला व्यक्ति ही महापुरुषों के गुणों का संकीर्तन करता है और उनके उदात्त गुणों को जीवन में उतारता है। इसलिए सामायिक आवश्यक के पश्चात् चतुर्विंशति आवश्यक का क्रम रखा गया है।

जब गुणों को व्यक्ति हृदय में धारण करता है, तभी उसका सिर महापुरुषों के चरणों में झुकता है। भक्ति-भावना से विभोर होकर वह उन्हें वंदन करता है इसलिए तृतीय आवश्यक में वन्दना को रखा गया। वन्दना करने वाले साधक का हृदय सरल होता है, खुली पुस्तक की तरह वह अपने दोषों/अतिचारों का अवलोकन कर खेद प्रकट करता है। सरल व्यक्ति ही कृत दोषों की आलोचना करता है। अतः वन्दना के पश्चात् चौथा क्रम प्रतिक्रमण का रखा गया है।

भूलों को स्मरण कर उन भूलों से मुक्ति पाने के लिए तन एवं मन में स्थिरता आवश्यक है। कायोत्सर्ग में तन और मन की एकाग्रता की जाती है और स्थिर वृत्ति का अभ्यास किया जाता है। जब तन और मन स्थिर होता है, तभी प्रत्याख्यान किया जा सकता है। मन डाँवाडोल स्थिति में हो, तब प्रत्याख्यान संभव नहीं है। इसीलिए 'प्रत्याख्यान आवश्यक' का स्थान छठा रखा गया है।

इस प्रकार यह षडावश्यक आत्मनिरीक्षण, आत्मपरीक्षण और आत्मोत्कर्ष का श्रेष्ठतम उपाय है।

प्रश्न 'इच्छामि ठामि' के पाठ में योगों का क्रम काइओ, वाइओ, माणसिओ इस प्रकार से क्यों रखा गया है?

उत्तर मन के योग में चिंतन मनन की, वचन योग में कीर्तन-गुणगान की एवं काय योग में शारीरिक प्रवृत्तियों की प्रधानता होती है। जिस पाठ में प्रधानता मन की हो, यानी चिंतन-मनन-निंदा-आलोचना की हो वहाँ प्रथम स्थान मनोयोग को दिया जाता है जैसे बारह व्रतों के अतिचारों की आलोचना के समय मणसा-वयसा-कायसा बोला जाता है तथा लोगस्स के पाठ में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। वहाँ कित्तिय-वंदिय- महिया कहा गया, क्योंकि वचन योग से कीर्तन, काय योग से वन्दन एवं मन योग से पूजन किया गया है। अतः वहाँ वचन योग को प्रधानता दी गई है।

'इच्छामि ठामि' के पाठ को कायोत्सर्ग की साधना के पूर्व में बोला जाता है और

कायोत्सर्ग में काया के व्यापार के उत्सर्ग की प्रधानता है। अतः यहाँ काइओ-वाइओ-माणसिओ कहा गया। इसी प्रकार 'तस्स उत्तरी' का पाठ भी कायोत्सर्ग से पूर्व बोला जाता है वहाँ भी सर्वप्रथम 'ठाणेणं' यानी शरीर को स्थिर करके फिर 'मोणेणं' यानी वचन योग को एवं तब 'झाणेणं' यानी ध्यान लगाकर मनोयोग को नियंत्रित किया जाता है।

प्रश्न प्रतिक्रमण से मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार संभव है?

उत्तर आत्मा को परमात्मा बनने में सबसे बड़ी रुकावट उसके साथ लगे हुए कर्म ही हैं। ये संचित कर्म तप के द्वारा क्षय किये जाते हैं एवं नये आने वाले कर्मों को संवर द्वारा रोका जाता है। दशवैकालिक सूत्र में वर्णित है कि 'खवित्ता पुव्वकम्माइं तवेण य संजमेण।' प्रतिक्रमण में प्रथम आवश्यक द्वारा संवर की, द्वितीय एवं तृतीय आवश्यक में विनयतप की, चतुर्थ आवश्यक में प्रायश्चित्त तप की, पंचम आवश्यक में कायोत्सर्ग तप की एवं छठे आवश्यक में संवर की साधना की जाती है। अर्थात् आवश्यक में तप एवं संवर की आराधना होती है जिससे स्पष्ट होता है कि यह जीवन को सुधारने का श्रेष्ठ उपक्रम है, आध्यात्मिक जीवन की धुरी है। आत्मदोषों की आलोचना करने से पश्चात्ताप की भावना जागृत होने लगती है और उस पश्चात्ताप की अग्नि से सभी दोष जलकर नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न ६४ इन्द्र किस प्रकार होते हैं? समझाइये।

उत्तर इन्द्र देवगति में ही होते हैं। चार प्रकार के देवता कहे गए हैं- भवनपति, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक। भवनपति में उत्तर दिशा एवं दक्षिण दिशा में १०-१० यानी कुल २० तथा इसी प्रकार व्यंतर में १६ x २= ३२ इन्द्र होते हैं। ज्योतिषी में चन्द्र और सूर्य में दो इन्द्र होते हैं। वैमानिक में प्रथम से आठवें देवलोक तक एक-एक इन्द्र एवं नौवें-दसवें तथा ग्यारहवें-बारहवें देवलोक का एक-एक कुल १० इन्द्र हुए। इस प्रकार चारों जाति के क्रमशः २०+३२+२+१० = ६४ इन्द्र होते हैं।

प्रश्न 'इच्छामि ठामि' के पाठ में कभी तो 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं' कभी 'इच्छामि ठामि आलोउं' एवं कभी 'इच्छामि ठामि पडिक्कमिउं' बोला जाता है। यह अंतर क्यों?

उत्तर कायोत्सर्ग की साधना के पूर्व में 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं' बोला जाता है क्योंकि कायोत्सर्ग की साधना की जा रही है। ध्यान के अंदर 'इच्छामि ठामि आलोउं' बोलते हैं क्योंकि दोषों/अतिचारों की आलोचना की जा रही है एवं प्रतिक्रमण आवश्यक में प्रतिक्रमण की प्रधानता के कारण 'इच्छामि ठामि पडिक्कमिउं' बोला जाता है।

-१९२ बी, मीटरगेट लोको के सामने, मीटरगेज रेलवे कॉलोनी,
बजरिया, सवाईमाधोपुर (राज.)

15,17 नवम्बर 2006
जिनवाणी, 310

प्रतिक्रमण विषयक तात्त्विक प्रश्नोत्तर

श्री धर्मचन्द जैन

प्रश्न प्रतिक्रमण का सार किस पाठ में आता है? कारण सहित स्पष्ट कीजिए।

उत्तर प्रतिक्रमण का सार 'इच्छामि ठामि पडिक्कमिउं' के पाठ में आता है। क्योंकि पूरे प्रतिक्रमण में ज्ञान, दर्शन, चारित्राचारित्र तथा तप के अतिचारों की आलोचना की जाती है। इच्छामि ठामि में भी इनकी संक्षिप्त आलोचना हो जाती है, इस कारण इसे प्रतिक्रमण का सार पाठ कहा जाता है।

प्रश्न प्रतिक्रमण करने से क्या-क्या लाभ हैं?

उत्तर १. लगे दोषों की निवृत्ति होती है।

२. प्रवचन माता की आराधना होती है।

३. तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन होता है।

४. व्रतादि ग्रहण करने की भावना जगती है।

५. अपने दोषों की आलोचना करके व्यक्ति आराधक बन जाता है।

६. इससे सूत्र की स्वाध्याय होती है।

७. अशुभ कर्मों के बंधन से बचते हैं।

प्रश्न पाँच प्रतिक्रमण मुख्य रूप से कौन से पाठ से होते हैं?

उत्तर मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण- अरिहंतो महदेवो, दंसण समकित के पाठ से।

अव्रत का प्रतिक्रमण- पाँच महाव्रत और पाँच अणुव्रत से।

प्रमाद का प्रतिक्रमण- आठवाँ व्रत और अठारह पापस्थान से।

कषाय का प्रतिक्रमण- अठारह पापस्थान, क्षमापना-पाठ एवं इच्छामि ठामि से।

अशुभयोग का प्रतिक्रमण- इच्छामि ठामि, अठारह पापस्थान, नवमें व्रत से।

प्रश्न मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय व अशुभ योग का प्रतिक्रमण किसने किया?

उत्तर मिथ्यात्व का श्रेणिक राजा ने, अव्रत का परदेशी राजा ने, प्रमाद का शैलक राजर्षि ने, कषाय का चण्डकौशिक ने और अशुभयोग का प्रतिक्रमण प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने किया।

प्रश्न व्रत और पच्चक्खाण में क्या अन्तर हैं?

उत्तर व्रत- विधि रूप प्रतिज्ञा व्रत है। जैसे- मैं सामायिक करता हूँ। साधु के लिए ५ महाव्रत होते हैं। श्रावक के लिए १२ व्रत होते हैं। व्रत मात्र चारित्र में ही है, पच्चक्खाण चारित्र व तप में भी आते हैं।

पच्चक्खाण- निषेध रूप प्रतिज्ञा जैसे कि सावद्य योगों का त्याग करता हूँ अथवा आहार व वोसिराता हूँ।

व्रत-करण कोटि के साथ होते हैं। पच्चक्खाण करण कोटि बिना भी होते हैं। व्रत लेने के पाठ के अं में 'तस्स भंते' से 'अप्पाणं वोसिरामि' आता है। (आहार के) पच्चक्खाण में 'अन्नत्थणाभोगेणं' वोसिरामि आता है।

प्रश्न प्रतिक्रमण करने से क्या आत्मशुद्धि (पाप का धुलना) हो जाती है?

उत्तर प्रतिक्रमण में दैनिक चर्या आदि का अवलोकन किया जाता है। आत्मा में रहे हुए आस्रवद्व (अतिचारादि) रूप छिद्रों को देखकर रोक दिया जाता है। जिस प्रकार वस्त्र पर लगे मैल को साबु आदि से साफ किया जाता है उसी प्रकार आत्मा पर लगी अतिचारादि मलिनता को पश्चात्ताप आ के द्वारा साफ किया जाता है। व्यवहार में भी अपराध को सरलता से स्वीकार करने पर, पश्चात्त आदि करने पर अपराध हल्का हो जाता है। जैसे "माफ कीजिए (सॉरी)" आदि कहने पर माफ क दिया जाता है। उसी प्रकार अतिचारों की निन्दा करने से, पश्चात्ताप करने से आत्मशुद्धि (पाप क धुलना) हो जाती है। दैनिक जीवन में दोषों का सेवन पुनः नहीं करने की प्रतिज्ञा से आत्म-शुि होती है।

प्रश्न आवश्यक सूत्र का प्रसिद्ध दूसरा नाम क्या है?

उत्तर प्रतिक्रमण सूत्र।

प्रश्न आवश्यक सूत्र को प्रतिक्रमण सूत्र क्यों कहा जाता है?

उत्तर कारण कि आवश्यक सूत्र के छः आवश्यकों में से प्रतिक्रमण आवश्यक सबसे बड़ा एवं महत्त्वपू है। इसलिये वह प्रतिक्रमण के नाम से प्रचलित हो गया है। दूसरा कारण वास्तव में प्रथम ती आवश्यक प्रतिक्रमण की पूर्व क्रिया के रूप में और शेष दो आवश्यक उत्तरक्रिया के रूप में कि जाते हैं।

प्रश्न प्रतिक्रमण में जावज्जीवाए, जावनियमं तथा जाव अहोरत्तं शब्द कहाँ-कहाँ आते हैं?

उत्तर जावज्जीवाए- पहले से आठवें व्रत में व बड़ी संलेखना के पाठ में।

जावनियमं- नवमें व्रत में।

जाव अहोरत्तं- दसवें व ग्यारहवें व्रत में।

प्रश्न आगम कितने प्रकार के व कौन-कौनसे हैं?

उत्तर आगम तीन प्रकार के हैं- १. सुत्तागमे (सूत्रागम) २. अत्थागमे (अर्थागम) ३. तदुभयाग (तदुभयागम)

प्रश्न सूत्रागम किसे कहते हैं?

उत्तर तीर्थंकर भगवन्तों ने अपने श्रीमुख से जो भाव फरमाए, उन्हें सुनकर गणधर भगवन्तों ने आचारांग आदि आगमों की रचना की, उस सूत्र रूप आगम को 'सूत्रागम' कहते हैं।

प्रश्न अर्थागम किसे कहते हैं?

उत्तर तीर्थंकर परमात्मा ने अपने श्रीमुख से जो भाव प्रकट किए, उस भाव रूप आगम को 'अर्थ कहते हैं। अथवा सूत्रों के जो हिन्दी आदि भाषाओं में अनुवाद किये गए हैं, उन्हें भी अर्थागम हैं।

प्रश्न तदुभयागम किसे कहते हैं?

उत्तर सूत्रागम और अर्थागम ये दोनों मिलाकर तदुभयागम कहलाते हैं।

प्रश्न उच्चारण की अशुद्धि से क्या-क्या हानियाँ हैं?

उत्तर १. उच्चारण की अशुद्धि से कई बार अर्थ सर्वथा नष्ट हो जाता है। २. कई बार विपरीत अ जाता है। ३. कई बार आवश्यक अर्थ में कमी रह जाती है। ४. कई बार सत्य किन्तु अप्रासं अर्थ हो जाता है, इस प्रकार अनेक हानियाँ हैं।

उदाहरण- 'संसार' शब्द में एक बिन्दु कम बोलने पर ससार (सार सहित) शब्द हो जाता है शास्त्र में से एक मात्रा कम कर देने पर शस्त्र हो जाता है। अतः उच्चारण अत्यन्त शुद्ध क चाहिए।

प्रश्न अकाल में स्वाध्याय और काल में अस्वाध्याय से क्या हानि है?

उत्तर जैसे जो राग या रागिनी जिस काल में गाना चाहिए, उससे भिन्न काल में गाने से अहित होता है, ही अकाल में स्वाध्याय करने से अहित होता है। यथाकाल स्वाध्याय न करने से ज्ञान में हानि त अव्यवस्थितता का दोष उत्पन्न होता है। अकाल में स्वाध्याय करने एवं काल में स्वाध्याय न करने शास्त्राज्ञा का उल्लंघन होता है। अतः इन अतिचारों का वर्जन करके यथासमय व्यवस्थित रीति स्वाध्याय करना चाहिए।

प्रश्न ज्ञान एवं ज्ञानी की सेवा क्यों करनी चाहिए?

उत्तर ज्ञान एवं ज्ञानी की सेवा पाँच कारणों से करनी चाहिए- १. हमें नवीन ज्ञान की प्राप्ति होती है। हमारे संदेह का निवारण होता है। ३. सत्यासत्य का निर्णय होता है। ४. अतिचारों की शुद्धि हो है। ५. नवीन प्रेरणा से हमारे सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप शुद्ध तथा दृढ़ बनते हैं।

प्रश्न जिनवचन में शंका क्यों होती है, उसे कैसे दूर किया जा सकता है?

उत्तर श्री जिनवचन में कई स्थानों पर सूक्ष्म तत्त्वों का विवेचन हुआ है। कई स्थानों पर नय और निक्षेप के आधार पर वर्णन हुआ है। वह हमारी स्थूल बुद्धि से समझ में नहीं आता, इस कारण शंकाएँ हो जाती हैं। अतः हमें अरिहन्त भगवान् के केवलज्ञान व वीतरागता का विचार करके तथा अपनी बुद्धि

की मंदता का विचार करके, गुरुजनों आदि से समाधान प्राप्त कर ऐसी शंकाओं को दूर करना चाहिए।

प्रश्न पाप किसे कहते हैं?

उत्तर जो आत्मा को मलिन करे, उसे पाप कहते हैं। जो अशुभ योग से सुखपूर्वक बाँधा जाता है और दुःखपूर्वक भोगा जाता है, वह पाप है। पाप अशुभ प्रकृतिरूप है, पाप का फल कड़वा, कठोर और अप्रिय होता है। पाप के मुख्य अठारह भेद हैं।

प्रश्न पापों अथवा दुर्व्यसनों का सेवन करने से इस भव, परभव में क्या-क्या हानियाँ होती हैं?

उत्तर १. पापों अथवा दुर्व्यसनों का सेवन करने से शरीर नष्ट हो जाता है, प्राणी को तरह-तरह के रोग घेर लेते हैं। २. स्वभाव बिगड़ जाता है। ३. घर में स्त्री-पुत्रों की दुर्दशा हो जाती है। ४. व्यापार चौपट हो जाता है। ५. धन का सफाया हो जाता है। ६. मकान-दुकान नीलाम हो जाते हैं। ७. प्रतिष्ठा धूल में मिल जाती है। ८. राज्य द्वारा दण्डित होते हैं। ९. कारागृह में जीवन बिताना पड़ता है। १०. फाँसी पर लटकना पड़ सकता है। ११. आत्मघात करना पड़ता है। इस तरह अनेक प्रकार की हानियाँ इस भव में होती हैं। परभव में भी वह नरक, निगोद आदि में उत्पन्न होता है। वहाँ उसे बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं। कदाचित् मनुष्य बन भी जाय तो हीन जाति-कुल में जन्म लेता है। अशक्त, रोगी, हीनांग, नपुंसक और कुरूप बनता है। वह मूर्ख, निर्धन, शासित और दुर्भागी रहता है। अतः पापों अथवा दुर्व्यसनों का त्याग करना ही श्रेष्ठ है।

प्रश्न मिथ्यादर्शन शल्य क्या है?

उत्तर जिनेश्वर भगवन्तों द्वारा प्ररूपित सत्य पर श्रद्धा न रखना एवं असत्य का कदाग्रह रखना मिथ्यादर्शन शल्य है। यह शल्य सम्यग्दर्शन का घातक है।

प्रश्न निदानशल्य किसे कहते हैं?

उत्तर धर्माचरण के द्वारा सांसारिक फल की कामना करना, भोगों की लालसा रखना अर्थात् धर्मकरणी का फल भोगों के रूप में प्राप्त करने हेतु अपने जप-तप-संयम को दाव पर लगा देना 'निदानशल्य' कहलाता है।

प्रश्न संज्ञा किसे कहते हैं?

उत्तर चारित्र मोहनीय कर्मोदय की प्रबलता से होने वाली अभिलाषा, इच्छा 'संज्ञा' कहलाती है। आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा व परिग्रह संज्ञा के रूप में ये चार प्रकार की होती हैं।

प्रश्न विकथा किसे कहते हैं?

उत्तर संयम-जीवन को दूषित करने वाली कथा को 'विकथा' कहते हैं। स्त्री कथा, भक्त कथा, देशकथा और राज कथा के भेद से विकथा चार प्रकार की होती हैं।

प्रश्न चारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर चारित्र का अर्थ है व्रत का पालन करना। आत्मा में रमण करना। जिसके द्वारा आत्मा के साथ होने वाले कर्म का आस्रव एवं बंध रुके एवं पूर्व कर्म निर्जरित हों, उसे चारित्र कहते हैं अथवा अठारह पापों का यावज्जीवन तीन करण-तीन योग से प्रत्याख्यान करना भी 'चारित्र' कहलाता है।

प्रश्न श्रावक त्रस जीवों की हिंसा का त्याग क्यों करता है? त्रस की हिंसा से पाप अधिक क्यों होता है?

उत्तर त्रस की हिंसा से पाप अधिक होता है, क्योंकि त्रस जीवों में जीवत्व प्रत्यक्ष है तथा वे मारने पर बचने का प्रयास करते हैं। ऐसी दशा में जीवत्व प्रत्यक्ष होते हुए बलात् मारने से क्रूरता अधिक आती है। स्थावर जीवों को जितने पुण्य से स्पर्शनेन्द्रिय बलप्राण आदि मिलते हैं, उससे भी कहीं अधिक पुण्य कमाने पर एक त्रस जीव को एक जिह्वा-वचन आदि प्राण मिलते हैं। उन अनन्त पुण्य से प्राप्त प्राणों का वियोग होता है, इसलिए त्रस जीवों की हिंसा से पाप भी अधिक होता है।

प्रश्न अहिंसा अणुव्रत का पालन कितने करण कितने योग से होता है?

उत्तर यद्यपि अहिंसा अणुव्रत का नियम श्रावक दो करण व तीन योग से लेता है पर इसका तीन करण तीन योग से पालन का विवेक रखना चाहिए अर्थात् कोई निरपराध त्रस जीव को संकल्पपूर्वक मारे तो उसका मन-वचन-काया से अनुमोदन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य व्रतों को भी तीन करण तीन योग से पालन करने का लक्ष्य रखना चाहिए।

प्रश्न अतिभार किसे कहते हैं?

उत्तर जो पशु जितने समय तक जितना भार ढो सकता है, उससे भी अधिक समय तक उस पर भार लादना। या जो मनुष्य जितने समय तक जितना कार्य कर सकता है उससे भी अधिक समय तक उससे कार्य कराना अतिभार है।

प्रश्न आकुट्टी से मारना किसे कहते हैं?

उत्तर कषायवश निर्दयतापूर्वक प्राणों से रहित करने, मारने की बुद्धि से मारना, आकुट्टी की बुद्धि से मारना कहलाता है।

प्रश्न अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार किसे कहते हैं?

उत्तर अतिक्रम- व्रत की प्रतिज्ञा के विरुद्ध व्रत के उल्लंघन करने के विचार को अतिक्रम कहते हैं।
व्यतिक्रम- व्रत का उल्लंघन करने के लिये कायिकादि व्यापार प्रारंभ करने को व्यतिक्रम कहते हैं।
अतिचार- व्रत को भंग करने की सामग्री इकट्ठी करना, व्रत भंग के निकट पहुँच जाना अतिचार है।
अनाचार- व्रत का सर्वथा भंग करना अनाचार है।

प्रश्न मृषावाद कितने प्रकार का है?

उत्तर मृषावाद दो प्रकार का है- १. सूक्ष्म और २. स्थूल। १. हँसी-मजाक या आमोद-प्रमोद में मामूली

सा झूठ बोलने का अनुमोदन करना सूक्ष्म झूठ है। २. कन्या संबंधी, पशु संबंधी, भूमि संबंधी, धरोहर-गिरवी संबंधी झूठी साक्षी देना आदि स्थूल मृषावाद है।

प्रश्न सच्ची बात प्रकट करना अतिचार कैसे?

उत्तर स्त्री आदि की सत्य परन्तु गोपनीय बात प्रकट करने से उसके साथ विश्वासघात होता है, वह लज्जित होकर मर सकती है या राष्ट्र पर अन्य राष्ट्र का आक्रमण आदि हो सकता है। अतः विश्वासघात और हिंसा की अपेक्षा से सत्य बात प्रकट करना भी अतिचार है।

प्रश्न कूट तौल-माप किसे कहते हैं?

उत्तर देने के हल्के और लेने के भारी, पृथक् तौल-माप रखना या देते समय कम तौलकर देना, कम माप कर देना, इसी प्रकार कम गिनकर देना या खोटी कसौटी लगाकर कम देना। लेते समय अधिक तौलकर, अधिक मापकर, अधिक गिनकर तथा स्वर्णादि को कम बताकर लेना आदि।

प्रश्न ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं?

उत्तर ब्रह्मचर्य- ब्रह्म अर्थात् आत्मा और चर्य का अर्थ है- रमण करना। यानी आत्मा के अपने स्वरूप में रमण करना ब्रह्मचर्य है। इन्द्रियों और मन को विषयों में प्रवृत्त नहीं होने देना, कुशील से बचना, सदाचार का सेवन करना, आत्म-साधना में लगे रहना व आत्म-चिन्तन करना 'ब्रह्मचर्य' है।

प्रश्न अनर्थदण्ड किसे कहते हैं?

उत्तर आत्मा को मलिन करके व्यर्थ कर्म-बंधन कराने वाली प्रवृत्तियाँ अनर्थदण्ड हैं। इनसे निष्प्रयोजन पाप होता है। अतः वे सारी पाप क्रियाएँ जिनसे अपना या कुटुम्ब का कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता हो, अनर्थदण्ड हैं।

प्रश्न प्रमादाचरण किसे कहते हैं?

उत्तर घर, व्यापार, सेवा आदि के कार्य करते समय बिना प्रयोजन हिंसादि पाप न हो, सप्रयोजन भी कम से कम हो, इसका ध्यान न रखना। हिंसादि के साधन या निमित्तों को जहाँ-तहाँ, ज्यों-त्यों रख देना। घर, व्यापार, सेवा आदि से बचे हुए अधिकांश समय को इन्द्रियों के विषयों में (सिनेमा, ताश, शतरंज आदि में) व्यय करना 'प्रमादाचरण' है। आत्मगुणों में बाधक बनने वाली अन्य सभी प्रवृत्तियाँ भी प्रमादाचरण कहलाती हैं।

प्रश्न प्रमाद किसे कहते हैं व उसके कितने भेद होते हैं?

उत्तर संवर-निर्जरा युक्त शुभ कार्य में यत्न-उद्यम न करने को प्रमाद कहते हैं। अथवा आत्म-स्वरूप का विस्मरण होना प्रमाद है। प्रमाद के पाँच भेद हैं- १. मद्य २. विषय ३. कषाय ४. निद्रा ५. विकथा। ये पाँचों प्रमाद जीव को संसार में पुनः पुनः गिराते-भटकाते हैं।

प्रश्न रात्रि-भोजन त्याग को बारह व्रतों में से किस व्रत में सम्मिलित किया जाना चाहिए?

उत्तर रात्रि भोजन त्याग को दसवें देसावगासिक व्रत के अन्तर्गत लेना युक्तिसंगत लगता है। दसवाँ व्रत प्रायः छठे व सातवें व्रत का संक्षिप्त रूप एक दिन रात के लिए है। अतः जीवन पर्यन्त के रात्रि भोजन त्याग को सातवें व्रत में तथा एक रात्रि के लिये रात्रिभोजन-त्याग को दसवें व्रत में माना जाना चाहिए।

प्रश्न रात्रि-भोजन त्याग श्रावक व्रतों के पालन में किस प्रकार सहयोगी बनता है?

उत्तर रात्रि-भोजन-त्याग श्रावक व्रतों के पालन में निम्न प्रकार से सहयोगी बनता है-

१. रात्रि-भोजन करने वाले गर्म भोजन की इच्छा से प्रायः रात्रि में भोजन संबंधी आरम्भ-समारम्भ करते हैं। रात्रि में भोजन बनाते समय त्रस जीवों की भी विशेष हिंसा होती है, रात्रि-भोजन-त्याग से वह हिंसा रुक जाती है।

२. माता-पिता आदि से छिपकर होटल आदि में खाने की आदत एवं उससे संबंधी झूठ से बचाव होता है।

३. ब्रह्मचर्य पालन में सहजता आती है।

४. बहुत देर रात्रि तक व्यापार आदि न करके जल्दी घर आने से परिग्रह-आसक्ति में कमी आती है।

५. भोजन में काम आने वाले द्रव्यों की मर्यादा सीमित हो जाती है।

६. दिन में भोजन बनाने की अनुकूलता होने पर भी लोग रात्रि में भोजन बनाते हैं, किन्तु रात्रि-भोजन त्याग से रात्रि में होने वाली हिंसा का अनर्थदण्ड रुक जाता है।

७. सायंकालीन सामायिक-प्रतिक्रमण आदि का भी अवसर प्राप्त हो सकता है। घर में महिलाओं को भी सामायिक-स्वाध्याय आदि का अवसर मिल सकता है।

८. उपवास आदि करने में भी अधिक बाधा नहीं आती, भूख-सहन करने की आदत बनती है, जिससे अवसर आने पर उपवास-पौषध आदि भी किया जा सकता है।

९. सायंकाल के समय सहज ही सन्त-सतियों के आतिथ्य-सत्कार (गौचरी बहराना) का भी लाभ मिल सकता है।

प्रश्न पौषध में किनका त्याग करना आवश्यक है?

उत्तर पौषध में चारों प्रकार के सचित्त आहार का, अब्रह्म-सेवन का, स्वर्णाभूषणों का, शरीर की शोभा-विभूषा का, शस्त्र-मूसलादि का एवं अन्य सभी सावद्य कार्यों का त्याग करना आवश्यक है।

प्रश्न पौषध कितने प्रकार के हैं?

उत्तर पौषध दो प्रकार के हैं- १. प्रतिपूर्ण और २. देश पौषध। जो पौषध कम से कम आठ प्रहर के लिए किया जाता है, वह प्रतिपूर्ण पौषध कहलाता है तथा जो पौषध कम से कम चार अथवा पाँच प्रहर

का होता है वह देश पौषध कहलाता है। देश पौषध भी यदि चौविहार उपवास के साथ किया गया है तो ग्यारहवाँ पौषध और यदि तिविहार उपवास के साथ किया है तो दसवाँ पौषध कहलाता है। ग्यारहवाँ पौषध कम से कम पाँच प्रहर का तथा दसवाँ पौषध कम से कम चार प्रहर का होता है। कम से कम सात प्रहर के लिए जो दया की जाती है, उसे भी देश पौषध में ग्यारहवें व्रत के अन्तर्गत लेना चाहिए।

प्रश्न सामायिक व पौषध में क्या अन्तर है?

उत्तर श्रावक-श्राविकाओं की सामायिक केवल एक मुहूर्त यानी ४८ मिनट की होती है, जबकि पौषध कम से कम चार प्रहर का (लगभग १२ घंटे का) होता है। सामायिक में निद्रा और आहार का त्याग करना ही होता है, जबकि पौषध चार और उससे अधिक प्रहर का होने से रात्रि के समय में निद्रा ली जा सकती है। प्रतिपूर्ण पौषध में तो दिन में भी चारों आहारों का त्याग रहता है, किन्तु देश पौषध में दया व्रतादि में दिन में अचित्त आहारादि ग्रहण किया जा सकता है। रात्रि में तो चौविहार त्याग होता ही है।

प्रश्न पहले सामायिक ली हुई हो और पीछे पौषध की भावना जगे तो सामायिक पालकर पौषध ले या सीधे ही?

उत्तर पौषध सीधे ही लेना चाहिए, क्योंकि पालकर लेने से बीच में अव्रत लगता है। कदाचित् पालते-पालते उसकी भावना मंद भी हो सकती है।

प्रश्न पौषध लेने के पश्चात् सामायिक का काल आने पर सामायिक पालें या नहीं?

उत्तर सामायिक विधिवत् न पालें, क्योंकि पौषध चल रहा है। सामायिक पूर्ति की स्मृति के लिए नमस्कार मंत्र आदि गिन लें।

प्रश्न पौषध में सामायिक करें या नहीं?

उत्तर पौषध में सावद्य योगों का त्याग होने से सामायिक की तरह ही है, परन्तु निद्रा, आलम्बन आदि इतने समय तक नहीं लूँगा, आदि के नियम कर सकते हैं।

प्रश्न बारहवें व्रत को धारण करने वालों को मुख्य रूप से किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए?

उत्तर १. भोजन बनाने वाले और करने वालों को सचित्त वस्तुओं का संघट्टा न हो इस प्रकार बैठना चाहिए। २. घर में सचित्त-अचित्त वस्तुओं को अलग-अलग रखने की व्यवस्था होनी चाहिए। ३. सचित्त वस्तुओं का काम पूर्ण होने पर उनको यथास्थान रखने की आदत होनी चाहिए। ४. कच्चे पानी के छींटे, हरी वनस्पति का कचरा व गुठलियाँ आदि को घर में बिखेरने की प्रवृत्ति नहीं रखनी चाहिए। ५. धोवन पानी के बारे में अच्छी जानकारी करके अपने घर में सहज बने अचित्त कल्पनीय पानी को तत्काल फैंकने की आदत नहीं रखनी चाहिए, उसे योग्य स्थान में रखना चाहिए। ६. दिन

उत्तर रात्रि भोजन त्याग को दसवें देशावगासिक व्रत के अन्तर्गत लेना युक्तिसंगत लगता है। दसवाँ व्रत प्रायः छठे व सातवें व्रत का संक्षिप्त रूप एक दिन रात के लिए है। अतः जीवन पर्यन्त के रात्रि भोजन त्याग को सातवें व्रत में तथा एक रात्रि के लिये रात्रिभोजन-त्याग को दसवें व्रत में माना जाना चाहिए।

प्रश्न रात्रि-भोजन त्याग श्रावक व्रतों के पालन में किस प्रकार सहयोगी बनता है?

उत्तर रात्रि-भोजन-त्याग श्रावक व्रतों के पालन में निम्न प्रकार से सहयोगी बनता है-

१. रात्रि-भोजन करने वाले गर्म भोजन की इच्छा से प्रायः रात्रि में भोजन संबंधी आरम्भ-समारम्भ करते हैं। रात्रि में भोजन बनाते समय त्रस जीवों की भी विशेष हिंसा होती है, रात्रि-भोजन-त्याग से वह हिंसा रुक जाती है।

२. माता-पिता आदि से छिपकर होटल आदि में खाने की आदत एवं उससे संबंधी झूठ से बचाव होता है।

३. ब्रह्मचर्य पालन में सहजता आती है।

४. बहुत देर रात्रि तक व्यापार आदि न करके जल्दी घर आने से परिग्रह-आसक्ति में कमी आती है।

५. भोजन में काम आने वाले द्रव्यों की मर्यादा सीमित हो जाती है।

६. दिन में भोजन बनाने की अनुकूलता होने पर भी लोग रात्रि में भोजन बनाते हैं, किन्तु रात्रि-भोजन त्याग से रात्रि में होने वाली हिंसा का अनर्थदण्ड रुक जाता है।

७. सायंकालीन सामायिक-प्रतिक्रमण आदि का भी अवसर प्राप्त हो सकता है। घर में महिलाओं को भी सामायिक-स्वाध्याय आदि का अवसर मिल सकता है।

८. उपवास आदि करने में भी अधिक बाधा नहीं आती, भूख-सहन करने की आदत बनती है, जिससे अवसर आने पर उपवास-पौषध·आदि भी किया जा सकता है।

९. सायंकाल के समय सहज ही सन्त-सतियों के आतिथ्य-सत्कार (गौचरी बहराना) का भी लाभ मिल सकता है।

प्रश्न पौषध में किनका त्याग करना आवश्यक है?

उत्तर पौषध में चारों प्रकार के सचित्त आहार का, अब्रह्म-सेवन का, स्वर्णाभूषणों का, शरीर की शोभा-विभूषा का, शस्त्र-मूसलादि का एवं अन्य सभी सावद्य कार्यों का त्याग करना आवश्यक है।

प्रश्न पौषध कितने प्रकार के हैं?

उत्तर पौषध दो प्रकार के हैं- १. प्रतिपूर्ण और २. देश पौषध। जो पौषध कम से कम आठ प्रहर के लिए किया जाता है, वह प्रतिपूर्ण पौषध कहलाता है तथा जो पौषध कम से कम चार अथवा पाँच प्रहर

का होता है वह देश पौषध कहलाता है। देश पौषध भी यदि चौविहार उपवास के साथ किया गया है तो ग्यारहवाँ पौषध और यदि तिविहार उपवास के साथ किया है तो दसवाँ पौषध कहलाता है। ग्यारहवाँ पौषध कम से कम पाँच प्रहर का तथा दसवाँ पौषध कम से कम चार प्रहर का होता है। कम से कम सात प्रहर के लिए जो दया की जाती है, उसे भी देश पौषध में ग्यारहवें व्रत के अन्तर्गत लेना चाहिए।

प्रश्न सामायिक व पौषध में क्या अन्तर है?

उत्तर श्रावक-श्राविकाओं की सामायिक केवल एक मुहूर्त यानी ४८ मिनट की होती है, जबकि पौषध कम से कम चार प्रहर का (लगभग १२ घंटे का) होता है। सामायिक में निद्रा और आहार का त्याग करना ही होता है, जबकि पौषध चार और उससे अधिक प्रहर का होने से रात्रि के समय में निद्रा ली जा सकती है। प्रतिपूर्ण पौषध में तो दिन में भी चारों आहारों का त्याग रहता है, किन्तु देश पौषध में दया व्रतादि में दिन में अचित्त आहारादि ग्रहण किया जा सकता है। रात्रि में तो चौविहार त्याग होता ही है।

प्रश्न पहले सामायिक ली हुई हो और पीछे पौषध की भावना जगे तो सामायिक पालकर पौषध ले या सीधे ही?

उत्तर पौषध सीधे ही लेना चाहिए, क्योंकि पालकर लेने से बीच में अव्रत लगता है। कदाचित् पालते-पालते उसकी भावना मंद भी हो सकती है।

प्रश्न पौषध लेने के पश्चात् सामायिक का काल आने पर सामायिक पालें या नहीं?

उत्तर सामायिक विधिवत् न पालें, क्योंकि पौषध चल रहा है। सामायिक पूर्ति की स्मृति के लिए नमस्कार मंत्र आदि गिन लें।

प्रश्न पौषध में सामायिक करें या नहीं?

उत्तर पौषध में सावद्य योगों का त्याग होने से सामायिक की तरह ही है, परन्तु निद्रा, आलम्बन आदि इतने समय तक नहीं लूँगा, आदि के नियम कर सकते हैं।

प्रश्न बारहवें व्रत को धारण करने वालों को मुख्य रूप से किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए?

उत्तर १. भोजन बनाने वाले और करने वालों को सचित्त वस्तुओं का संघट्टा न हो इस प्रकार बैठना चाहिए। २. घर में सचित्त-अचित्त वस्तुओं को अलग-अलग रखने की व्यवस्था होनी चाहिए। ३. सचित्त वस्तुओं का काम पूर्ण होने पर उनको यथास्थान रखने की आदत होनी चाहिए। ४. कच्चे पानी के छींटे, हरी वनस्पति का कचरा व गुठलियाँ आदि को घर में बिखेरने की प्रवृत्ति नहीं रखनी चाहिए। ५. धोवन पानी के बारे में अच्छी जानकारी करके अपने घर में सहज बने अचित्त कल्पनीय पानी को तत्काल फेंकने की आदत नहीं रखनी चाहिए, उसे योग्य स्थान में रखना चाहिए। ६. दिन

में घर का दरवाजा खुला रखने की प्रवृत्ति रखनी चाहिए। ७. साधु मुनिराज घर में पधारें तो सूझता होने पर तथा मुनिराज के अवसर होने पर स्वयं के हाथ से दान देने की उत्कृष्ट भावना रखनी चाहिए। ८. साधुजी की गोचरी के विधि-विधान की जानकारी, उनकी संगति, चर्चा एवं शास्त्र स्वाध्याय से निरंतर आगे बढ़ाते रहना चाहिए। ९. साधु मुनिराज गवेषणा करने के लिए कुछ भी पूछताछ करे तो झूठ नहीं बोलना चाहिए।

प्रश्न संत-सतियों को कितने प्रकार की वस्तुएँ दान दे सकते हैं?

उत्तर मुख्यतः चौदह प्रकार की वस्तुएँ दान दे सकते हैं। उनका वर्णन आवश्यक सूत्र के १२वें अतिथि संविभाग व्रत में इस प्रकार है- अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, चौकी, पट्टा, पौषधशाला (घर), संस्तारक, औषध और भेषज। इनमें अशन से रजोहरण तक की वस्तुएँ अप्रतिहारी तथा चौकी से भेषज तक की वस्तुएँ प्रतिहारी कहलाती हैं। जो लेने के बाद वापस न लौटा सकें, वे अप्रतिहारी तथा जो वापस लौटा सकें, वे वस्तुएँ प्रतिहारी कहलाती हैं।

प्रश्न अतिथि संविभाग व्रत का क्या स्वरूप है?

उत्तर जिनके आने की कोई तिथि या समय नियत नहीं है, ऐसे पंच महाव्रतधारी निर्ग्रन्थ श्रमणों को उनके कल्प के अनुसार चौदह प्रकार की वस्तुएँ निःस्वार्थ भाव से आत्म-कल्याण की भावना से देना तथा दान का संयोग न मिलने पर भी सदा दान देने की भावना रखना, अतिथि संविभाग व्रत है।

प्रश्न मारणांतिक संथारे की विधि क्या है?

उत्तर संथारे का योग्य अवसर देखकर साधु-साध्वीजी की सेवा में या उनके अभाव में अनुभवी श्रावक-श्राविका के सम्मुख अपने व्रतों में लगे अतिचारों की निष्कपट आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए। पश्चात् कुछ समय के लिए या यावज्जीवन के लिए आगार सहित अनशन लेना चाहिए। इसमें आहार और अठारह पाप का तीन करण-तीन योग से त्याग किया जाता है। यदि किसी का संयोग नहीं मिले तो स्वयं भी आलोचना कर संलेखना तप ग्रहण कर सकते हैं। यदि तिविहार ग्रहण करना हो तो 'पाणं' शब्द नहीं बोलना चाहिए। गादी, पलंग का सेवन, गृहस्थों द्वारा सेवा आदि कोई छूट रखनी हो तो उसके लिए आगार रख लेना चाहिए। संथारे के लिए शरीर व कषायों को कृश करने का अभ्यास संलेखना द्वारा करना चाहिए।

प्रश्न उपसर्ग के समय संथारा कैसे करना चाहिए?

उत्तर जहाँ उपसर्ग उपस्थित हो, वहाँ की भूमि पूँज कर बड़ी संलेखना में आए हुए 'नमोत्थुणं' से 'विहरामि' तक पाठ बोलना चाहिए और आगे इस प्रकार बोलना चाहिए "यदि उपसर्ग से बचूँ तो अनशन पालना कल्पता है, अन्यथा जीवन पर्यन्त अनशन है।"

प्रश्न खमासमणो और भाव वन्दना का आसन किसका प्रतीक है?

उत्तर खमासमणो का आसन कोमलता व नम्रता का प्रतीक है तथा वन्दना का आसन शरणागति व विनय का प्रतीक है।

प्रश्न इच्छामि खमासमणो दो बार क्यों बोला जाता है?

उत्तर जिस प्रकार दूत राजा को नमस्कार कर कार्य निवेदन करता है और राजा से विदा होते समय फिर नमस्कार करता है, उसी प्रकार शिष्य कार्य को निवेदन करने के लिये अथवा अपराध की क्षमायाचना करने के लिए गुरु को प्रथम वंदना करता है, खमासमणो देता है और जब गुरु महाराज क्षमा प्रदान कर देते हैं, तब शिष्य वंदना करके दूसरा खमासमणो देकर वापस चला जाता है। बारह आवर्तन पूर्वक वन्दन की पूरी विधि दो बार इच्छामि खमासमणो बोलने से ही संभव है। अतः पूर्वाचार्यो ने दो बार इच्छामि खमासमणो बोलने की विधि बतलायी है।

प्रश्न 'इच्छामि खमासमणो' के पाठ में आए 'आवस्सियाए पडिक्कमामि' दूसरे खमासमणो में क्यों नहीं बोलते हैं?

उत्तर पहली बार खमासमणो के पाठ द्वारा खमासमणो देने के लिये गुरुदेव के अवग्रह (चारों ओर की साढ़े तीन हाथ की भूमि) में प्रवेश करने हेतु 'आवस्सियाए पडिक्कमामि' बोला जाता है। दूसरी बार आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं होने से 'आवस्सियाए पडिक्कमामि' शब्द नहीं बोला जाता।

प्रश्न सिद्धों के १४ प्रकार कौन-कौनसे हैं?

उत्तर स्त्रीलिंग सिद्ध, पुरुषलिंग सिद्ध, नपुंसकलिंग सिद्ध, स्वलिंग सिद्ध, अन्यलिंग सिद्ध, गृहस्थलिंग सिद्ध, जघन्य अवगाहना, मध्यम अवगाहना, उत्कृष्ट अवगाहना वाले सिद्ध, समुद्र में तथा जलाशय में होने वाले सिद्ध। इनका कथन उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसवें अध्ययन की गाथा ५०-५१ में है।

प्रश्न 'करेमि भंते' पाठ को प्रतिक्रमण करते समय पुनः पुनः क्यों बोला जाता है?

उत्तर समभाव की स्मृति बार-बार बनी रहे, प्रतिक्रमण करते समय कोई सावद्य प्रवृत्ति न हो, राग-द्वेषादि विषम भाव नहीं आए, इसके लिए प्रतिक्रमण में करेमि भंते का पाठ पहले, चौथे व पाँचवें आवश्यक में कुल तीन बार बोला जाता है।

-रजिस्ट्रार, अ.भा.श्री जैन रत्न आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड, जोधपुर

में घर का दरवाजा खुला रखने की प्रवृत्ति रखनी चाहिए। ७. साधु मुनिराज घर में पधारें तो सूझता होने पर तथा मुनिराज के अवसर होने पर स्वयं के हाथ से दान देने की उत्कृष्ट भावना रखनी चाहिए। ८. साधुजी की गोचरी के विधि-विधान की जानकारी, उनकी संगति, चर्चा एवं शास्त्र-स्वाध्याय से निरंतर आगे बढ़ाते रहना चाहिए। ९. साधु मुनिराज गवेषणा करने के लिए कुछ भी पूछताछ करे तो झूठ नहीं बोलना चाहिए।

प्रश्न संत-सतियों को कितने प्रकार की वस्तुएँ दान दे सकते हैं?

उत्तर मुख्यतः चौदह प्रकार की वस्तुएँ दान दे सकते हैं। उनका वर्णन आवश्यक सूत्र के १२वें अतिथि संविभाग व्रत में इस प्रकार है- अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, चौकी, पट्टा, पौषधशाला (घर), संस्तारक, औषध और भेषज। इनमें अशन से रजोहरण तक की वस्तुएँ अप्रतिहारी तथा चौकी से भेषज तक की वस्तुएँ प्रतिहारी कहलाती हैं। जो लेने के बाद वापस न लौटा सकें, वे अप्रतिहारी तथा जो वापस लौटा सकें, वे वस्तुएँ प्रतिहारी कहलाती हैं।

प्रश्न अतिथि संविभाग व्रत का क्या स्वरूप है?

उत्तर जिनके आने की कोई तिथि या समय नियत नहीं है, ऐसे पंच महाव्रतधारी निर्ग्रन्थ श्रमणों को उनके कल्प के अनुसार चौदह प्रकार की वस्तुएँ निःस्वार्थ भाव से आत्म-कल्याण की भावना से देना तथा दान का संयोग न मिलने पर भी सदा दान देने की भावना रखना, अतिथि संविभाग व्रत है।

प्रश्न मारणांतिक संथारे की विधि क्या है?

उत्तर संथारे का योग्य अवसर देखकर साधु-साध्वीजी की सेवा में या उनके अभाव में अनुभवी श्रावक-श्राविका के सम्मुख अपने व्रतों में लगे अतिचारों की निष्कपट आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए। पश्चात् कुछ समय के लिए या यावज्जीवन के लिए आगार सहित अनशन लेना चाहिए। इसमें आहार और अठारह पाप का तीन करण-तीन योग से त्याग किया जाता है। यदि किसी का संयोग नहीं मिले तो स्वयं भी आलोचना कर संलेखना तप ग्रहण कर सकते हैं। यदि तिविहार ग्रहण करना हो तो 'पाणं' शब्द नहीं बोलना चाहिए। गादी, पलंग का सेवन, गृहस्थों द्वारा सेवा आदि कोई छूट रखनी हो तो उसके लिए आगार रख लेना चाहिए। संथारे के लिए शरीर व कषायों को कृश करने का अभ्यास संलेखना द्वारा करना चाहिए।

प्रश्न उपसर्ग के समय संथारा कैसे करना चाहिए?

उत्तर जहाँ उपसर्ग उपस्थित हो, वहाँ की भूमि पूँज कर बड़ी संलेखना में आए हुए 'नमोत्थुणं' से 'विहरामि' तक पाठ बोलना चाहिए और आगे इस प्रकार बोलना चाहिए "यदि उपसर्ग से बचूँ तो अनशन पालना कल्पता है, अन्यथा जीवन पर्यन्त अनशन है।"

प्रश्न खमासमणो और भाव वन्दना का आसन किसका प्रतीक है?

उत्तर खमासमणो का आसन कोमलता व नम्रता का प्रतीक है तथा वन्दना का आसन शरणागति व विनय का प्रतीक है।

प्रश्न इच्छामि खमासमणो दो बार क्यों बोला जाता है?

उत्तर जिस प्रकार दूत राजा को नमस्कार कर कार्य निवेदन करता है और राजा से विदा होते समय फिर नमस्कार करता है, उसी प्रकार शिष्य कार्य को निवेदन करने के लिये अथवा अपराध की क्षमायाचना करने के लिए गुरु को प्रथम वंदना करता है, खमासमणो देता है और जब गुरु महाराज क्षमा प्रदान कर देते हैं, तब शिष्य वंदना करके दूसरा खमासमणो देकर वापस चला जाता है। बारह आवर्तन पूर्वक वन्दन की पूरी विधि दो बार इच्छामि खमासमणो बोलने से ही संभव है। अतः पूर्वाचार्यों ने दो बार इच्छामि खमासमणो बोलने की विधि बतलायी है।

प्रश्न 'इच्छामि खमासमणो' के पाठ में आए 'आवस्सियाए पडिक्कमामि' दूसरे खमासमणो में क्यों नहीं बोलते हैं?

उत्तर पहली बार खमासमणो के पाठ द्वारा खमासमणो देने के लिये गुरुदेव के अवग्रह (चारों ओर की साढ़े तीन हाथ की भूमि) में प्रवेश करने हेतु 'आवस्सियाए पडिक्कमामि' बोला जाता है। दूसरी बार आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं होने से 'आवस्सियाए पडिक्कमामि' शब्द नहीं बोला जाता।

प्रश्न सिद्धों के १४ प्रकार कौन-कौनसे हैं?

उत्तर स्त्रीलिंग सिद्ध, पुरुषलिंग सिद्ध, नपुंसकलिंग सिद्ध, स्वलिंग सिद्ध, अन्यलिंग सिद्ध, गृहस्थलिंग सिद्ध, जघन्य अवगाहना, मध्यम अवगाहना, उत्कृष्ट अवगाहना वाले सिद्ध, समुद्र में तथा जलाशय में होने वाले सिद्ध। इनका कथन उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसवें अध्ययन की गाथा ५०-५१ में है।

प्रश्न 'करेमि भंते' पाठ को प्रतिक्रमण करते समय पुनः पुनः क्यों बोला जाता है?

उत्तर समभाव की स्मृति बार-बार बनी रहे, प्रतिक्रमण करते समय कोई सावद्य प्रवृत्ति न हो, राग-द्वेषादि विषम भाव नहीं आए, इसके लिए प्रतिक्रमण में करेमि भंते का पाठ पहले, चौथे व पाँचवें आवश्यक में कुल तीन बार बोला जाता है।

-रजिस्ट्रार, अ.भा.श्री जैन रत्न आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड, जोधपुर

प्रतिक्रमण : निज स्वरूप में आना

(चर्चा के आधार पर)

प्रश्न प्रतिक्रमण का लाभ कब होता है?

उत्तर प्रतिक्रमण दो प्रकार के हैं- द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण। इनमें द्रव्य प्रतिक्रमण में तो सू उच्चारण आदि की ओर ही ध्यान रहता है, जबकि ''तच्चित्ते तम्मणे तल्लेस्से' होकर अर्था प्रतिक्रमण में ही चित्त लगाकर, उसी में मन रमाकर तथा लेश्या भी उसी में रहने पर भाव प्रतिक्रमण होता है। भाव प्रतिक्रमण से ही प्रतिक्रमण का वास्तविक पूर्ण लाभ होता है।

प्रश्न द्रव्य प्रतिक्रमण करते हुए भाव प्रतिक्रमण कैसे संभव है?

उत्तर प्रतिक्रमण के पाठ धीरे-धीरे बोलते हुए अन्तर में चिन्तन भी चलना चाहिए। अभी प्रतिक्रमण जल्दी-जल्दी करने में विश्वास रखा जाता है, तो भाव प्रतिक्रमण का लाभ नहीं मिल पाता है।

प्रश्न क्या अव्रती को भी प्रतिक्रमण करना चाहिए?

उत्तर यद्यपि प्रतिक्रमण सूत्र में व्रतों में लगे अतिचार आदि की आलोचना की जाती है, किन्तु अव्रती भी प्रतिक्रमण करे तो उसे भी लाभ होता है। प्रतिक्रमण करने या सुनने से उसके प्रतिक्रमण का स्वाध्याय होता है। व्रत के स्वरूप, आगार, अतिचार आदि की जानकारी होती है तथा व्रत लेने की भावना भी बनती है।

प्रश्न पाँच प्रकार के प्रतिक्रमण किन-किन पाठों से होते हैं?

उत्तर मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण सम्यक्त्व के पाठ से होता है। मिथ्यात्व के प्रतिक्रमण का अर्थ है व्यक्ति सम्यक्त्व के लक्षणों से युक्त हो। वह मिथ्यात्व में चला गया हो तो पुनः सम्यक्त्व में आ जाए। अविरति का प्रतिक्रमण १२ व्रतों के पाठ से एवं पाँच महाव्रतों के पाठ से होता है। प्रमाद का प्रतिक्रमण अनर्थदण्ड विरमण व्रत के पाठ से होता है। यतनापूर्वक कार्य करने से प्रमाद का प्रतिक्रमण होता है। साधु के लिए 'जयं चरे जयं चिट्ठे' आदि गाथा यही संदेश देती है। वास्तव में तो साधक में अप्रमत्तभाव आने से प्रमाद का प्रतिक्रमण होता है।

कषाय का प्रतिक्रमण १८ पापस्थानों के पाठ से एवं 'करेमि भंते' के पाठ से होता है, क्योंकि १८ पापस्थानों में चारों कषायों का उल्लेख है तथा 'करेमि भंते' पाठ के द्वारा सावद्य योग से विरति होने के कारण कषाय का भी प्रतिक्रमण होता है।

अशुभयोग का प्रतिक्रमण मन, वचन एवं काया के अशुभ में प्रवृत्त न होने पर होता है। यदि प्रवृत्त हुए भी हों तो उनकी आलोचना करने से भी अशुभयोग का प्रतिक्रमण हो जाता है। नवमें

सामायिक व्रत के पाठ से भी अशुभयोग का प्रतिक्रमण होता है। वहाँ स्पष्ट उल्लेख है- मन, वचन एवं काया के अशुभयोग प्रवर्तायें हों तो उसका मिच्छा मि दुक्कडं।

प्रश्न क्या प्रतिक्रमण में आजकल भाव की अपेक्षा द्रव्य पर अधिक बल दिया जाता है?

उत्तर आजकल द्रव्य को लेकर ज्यादा प्रवृत्ति होती है, भाव को लेकर बहुत कम। चिड़ी का बच्चा मर जाय तो उसका प्रायश्चित्त लेने के लिए बहुत से भाई-बहन आते हैं, किन्तु क्रोध, मान, माया, लोभ को छोड़ने के लिए प्रायः कोई संकल्प लेने नहीं आता है। शास्त्र में भी द्रव्य क्रिया पर बल मिलता है। 'इरियावहियं' के पाठ में द्रव्य-हिंसा का प्रतिक्रमण किया जाता है। भाव की उसमें कोई बात नहीं है।

प्रश्न सच्चा प्रतिक्रमण क्या है?

उत्तर आत्म-स्वरूप को छोड़कर बाहर भटकना अतिक्रमण है तथा पुनः निज-स्वरूप में आना प्रतिक्रमण है। कहा भी है-

अतिक्रमण है निजस्वरूप से, बाहर में निज को भटकाना।
प्रतिक्रमण है निज स्वरूप में, फिर वापस अपने को लाना।।

प्रश्न द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव से प्रतिक्रमण का क्या स्वरूप है?

उत्तर प्रतिक्रमण के पाठ का उच्चारण द्रव्य प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण करने का स्थान क्षेत्र प्रतिक्रमण है। (छठे व्रत एवं दसवें व्रत के द्वारा भी क्षेत्र प्रतिक्रमण होता है) प्रतिक्रमण में लगने वाला काल 'काल प्रतिक्रमण' है। सायंकाल का प्रतिक्रमण दिन के अन्तिम भाग में होना चाहिए। साधु-साध्वी के लिए प्रतिलेखन के पश्चात् प्रतिक्रमण कहा गया है। यह प्रतिक्रमण एक मुहूर्त में अर्थात् ४८ मिनट में हो जाना चाहिए।

प्रश्न प्रत्याख्यान आवश्यक का क्या अभिप्राय है?

उत्तर मैं पर-वस्तु को अपनी नहीं समझूँगा, मैं दिनभर क्रोध नहीं करूँगा आदि संकल्प प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान का अर्थ है त्याग। ज्ञानपूर्वक त्याग सुप्रत्याख्यान है तथा अज्ञानपूर्वक त्याग दुष्प्रत्याख्यान है।

श्रावक प्रतिक्रमण में श्रमण सूत्र का सन्निवेश?

श्री मदनलाल कटारिया

श्रावक प्रतिक्रमण में श्रमणसूत्र के शय्यासूत्र आदि पाँच पाठों को बोलने को लेकर स्थानकवासी सम्प्रदाय में मतभेद है। मन्दिरमार्गी एवं तेरापंथ सम्प्रदाय तो श्रावक प्रतिक्रमण में इन पाठों को नहीं बोलते हैं, किन्तु स्थानकवासियों में जो श्रावक बोलते हैं, तथा इसका जो हेतु देते हैं, उस हेतु का निराकरण इन प्रश्नोत्तरों में भलीभाँति हुआ है। *-सम्पादक*

प्रश्न क्या श्रावक प्रतिक्रमण में श्रमण सूत्र बोल सकता है?

उत्तर नहीं।

प्रश्न इसका क्या कारण है?

उत्तर श्रमण का अर्थ साधु होता है, श्रावक नहीं। अतः श्रमण सूत्र साधु को ही बोलना चाहिए, श्रावक को नहीं।

प्रश्न श्रमण का अर्थ साधु ही होता है, श्रावक नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है?

उत्तर शास्त्रों के अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि श्रमण का अर्थ साधु ही होता है। देखिए, आगमों के वे प्रमाण आगे दिखलाए जा रहे हैं-

दशवैकालिक सूत्र के प्रमाण- १. समणा (अ.१ गा.३) २. सामण्णं (अ.२ गा.१) ३. समणेणं (अ.४) ४. सामण्णं (अ.४गा.२६) ५. सामण्णम्मि (अ.५उ.१गा.१०) ६. समणट्ठाए (अ.५ उ.१ गा.३०व४०) ७.सामण्णं (अ.५उ.२गा.३०) ८. समणा (अ.५उ.३गा.३४) ९. समणे (अ.५ उ.२गा.४०) १०. सामणिए (अ.१० गा.१४) ११. सामण्णे (प्रथम चूलिका गा ९)।

उत्तराध्ययन सूत्र के प्रमाण-१. सामण्णं (अ.२ गा.१६) २. समणं (अ.२ गा.२७) ३. सामण्णं (अ.२ गा.३३) ४. समणं (अ.४ गा.११) ५. समणा (अ.८ गा.७) ६. समणा (अ. ८ गा.१३) ७. सामण्णे (अ.६ गा.६१) ८. समणो (अ.१२ गा.६) ९. समणा (अ.१४गा.१७) १०. पावसमणे (अ.१७) ११. सामण्णे (अ.१८गा.४७) १२. समण (अ.१६गा.५) १३. सामण्णं (अ.१६गा.६) १४. सामण्णं (अ.१६गा.२५) १५. सामण्णं (अ.१६ गा.३५) १६

समणत्तणं (अ.१६गा.४०,४१,४२) १७. सामण्णे (अ.१६गा.७६) १८. सामण्णे (अ.२०गा.८) १६. सामण्णस्स (अ.२२गा.४६) २०. सामण्णं (अ.२२गा.४६) २१. केसी कुमार समणे (अः २३) २२. समणो (अ.२५गा.३१) २३. समणो (अ.२५गा.३२) २४.समणेणं (अ.२६सूत्र.७४) २५. समणे (अ.३२गा.४) २६. समणे (अ.३२गा.१४ व २१)। समणे(अ.३२ गा.१४ व २१)।

नंदी सूत्र का प्रमाण- १. समण गण सहस्स पत्तस्स (गाथा ८)।

अनुयोगद्वारसूत्र के प्रमाण- १. समणे वा समणी वा (सूत्र २७)।

समणो (सामायिक प्रकरण)- यहाँ बत्तीस आगमों में से चार आगमों के ही प्रमाण दिए गए हैं। शेष आगमों में आए प्रमाणों का उल्लेख करें तो काफी विस्तार हो सकता है। अतः अति विस्तार नहीं किया गया है। सभी जगह श्रमण का अर्थ 'साधु' तथा श्रामण्य का अर्थ 'साधुत्व' लिया गया है। इन प्रमाणों से यह बात सर्वथा सिद्ध है कि श्रमण का अर्थ साधु ही होता है। आगमों में कहीं भी श्रमणोपासक को श्रमण कहकर नहीं पुकारा गया है।

प्रश्न आपने अनेक प्रमाण दिए, किन्तु भगवतीसूत्र में श्रावक को भी श्रमण कहा गया है। भगवतीसूत्र के २१,२० उ.८ में कहा गया है- "तित्थं पुण चाउवण्णाइण्णे समणसंघे पण्णत्ते तंजहा- समणा, समणीओ, सावया, सावियाओ। यहाँ श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका चारों को श्रमण संघ के अन्तर्गत लिया गया है, जिससे मालूम पड़ता है कि श्रावक को भी श्रमण कहा गया है।

उत्तर भगवतीसूत्र के इस पाठ में श्रावक को श्रमण नहीं कहा गया है। यहाँ 'समणसंघे' का अर्थ है श्रमण प्रधान संघ। श्रमण प्रधान संघ को यहाँ तीर्थ कहा गया है तथा उसी श्रमण प्रधान संघ के अन्तर्गत साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविकाओं को ग्रहण किया गया है। श्रमण प्रधान संघ का तात्पर्य है जिसमें श्रमण प्रधान हो एसा संघ। चतुर्विध संघ में साधु महाव्रती होने के कारण प्रधान होते हैं एवं श्रावक अणुव्रती होने से उनकी अपेक्षा अप्रधान होते हैं, यह बात विज्ञजनों से छिपी हुई नहीं है। अतः भगवतीसूत्र के इस पाठ के आधार से भी श्रावक को श्रमण कहना अनुपयुक्त है।

प्रश्न 'समणसंघे' का अर्थ श्रमण प्रधान संघ कैसे होता है?

उत्तर 'समणसंघे' यह पद एक समासयुक्त पद है। व्याकरण के अनुसार समासयुक्त पद का अर्थ विग्रह के माध्यम से किया जाता है। 'समणसंघे' यह मध्यम पद लोपी कर्मधारय समास से बना हुआ शब्द है। इसका विग्रह इस तरह होगा- श्रमण प्रधानः संघः श्रमणसंघः। जिस प्रकार 'शाकप्रिय पार्थिवः' में मध्यम पद 'प्रिय' का लोप होकर ' शाक पार्थिवः' शब्द बनता है, उसी प्रकार यहाँ भी 'श्रमण प्रधानः संघः में मध्यम पद 'प्रधान' का लोप होकर

'श्रमणसंघः' शब्द बनता है।

प्रश्न क्या किसी अन्य व्याख्याकार ने भी यह अर्थ किया है?

उत्तर हाँ! बेचरदासजी कृत भगवतीसूत्र के भाषानुवाद में भी 'समणसंघे' का अर्थ श्रमण प्रधान संघ किया गया है। पारम्परिक दृष्टिकोण से देखें तो भी प्रतिक्रमण के अन्तर्गत आने वाले 'बड़ी संलेखना के पाठ' में भी 'साधु प्रमुख चारों तीर्थों' यही अर्थ प्राप्त होता है। इस आधार से भी श्रमण-प्रधान संघ यही अर्थ फलित होता है।

प्रश्न माना कि सामान्यतः श्रावक के लिए श्रमण शब्द का प्रयोग आगम विरुद्ध है, किन्तु जब वह श्रावक सामायिक आदि धर्म क्रियाएँ कर रहा हो, उस समय उसे श्रमण कहने में क्या हर्ज है?

उत्तर सामायिक करते हुए श्रावक को भी श्रमण कहना आगमानुकूल नहीं है। श्री भगवतीसूत्र के आठवें शतक के पाँचवें उद्देशक में-

"समणोवासयस्स णं भंते! सामाइयकडस्स"

इस सूत्र के द्वारा सामायिक किए हुए श्रावक को भी श्रमणोपासक ही कहा गया है और तो और दशाश्रुतस्कंधसूत्र की छठी दशा में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन आया है। उनमें से सर्वोच्च ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक को कोई पूछे कि-

"केइ आउसो! तुमं वत्तव्वं सिया"

"हे आयुष्मन् तुम्हें क्या कहना चाहिए"

तो इस प्रकार पूछे जाने पर वह उत्तर दे कि-

"समणोवासए पडिमापडिवण्णए अहमंसीति"

"मैं प्रतिमाधारी श्रमणोपासक हूँ"

जब सर्वोच्च प्रतिमा का धारक श्रावक भी श्रमणोपासक यानी श्रमणों का उपासक है, श्रमण नहीं तो फिर अन्य कोई भी श्रावक श्रमण कैसे कहला सकता है? स्पष्ट है कि किसी भी श्रावक को श्रमण नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न यदि श्रमण का अर्थ श्रावक न भी हो तो भी श्रावक को प्रतिक्रमण करते समय श्रमण सूत्र पढ़ने में क्या हर्ज है?

उत्तर श्रमण सूत्र के अन्तर्गत आने वाली अनेक पाटियाँ ऐसी हैं।, जो श्रावक द्वारा प्रतिक्रमण में उच्चरित करने योग्य नहीं है। श्रमण सूत्र की पाँचवीं पाटी में कहा गया है-

'समणोहं संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे'

अर्थात् "मैं श्रमण हूँ, संयत हूँ, पाप कर्मों को प्रतिहत करने वाला हूँ तथा पाप

कर्मों का प्रत्याख्यानी हूँ।

प्रतिज्ञा सूत्र में श्रावक स्वयं को श्रमण कहे तो वह दोष का भागी है। दशाश्रुतस्कंध की छठी दशा के प्रमाण से यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि ग्यारहवीं प्रतिमा की आराधना करने वाला श्रावक भी स्वयं को श्रमणोपासक कहता है, श्रमण नहीं कहता। अतः सावद्य योगों का दो करण तीन योगों से त्याग करने वाले सामायिक में स्थित श्रावक के द्वारा स्वयं को श्रमण कहना मृषावाद की कोटि में प्रविष्ट होता है।

प्रश्न तैंतीस बोलों में से अनेक बोल श्रावक के लिए यथायोग्य रूप से हेय, ज्ञेय अथवा उपादेय हैं। अंतः तैंतीस बोल की पाटी का उच्चारण श्रावक प्रतिक्रमण में किया जाए तो क्या बाधा है?

उत्तर यद्यपि तैंतीस बोलों में से कुछ बोलों का सम्बन्ध श्रावक के साथ भी जुड़ा हुआ है फिर भी आगमों से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि तैंतीस बोलों का सामूहिक कथन साधुओं के लिए ही किया गया है। देखिए स्थानांगसूत्र का नवां स्थान जिसमें भगवान् महावीर अपनी तुलना आगामी उत्सर्पिणी काल में होने वाले प्रथम तीर्थंकर महापद्म से करते हुए फरमाते हैं कि जैसे मैंने श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए पहले से लेकर तैंतीसवें बोल तक तैंतीस बोलों का कथन किया है, उसी प्रकार महापद्म तीर्थंकर भी श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए एक से लेकर तैंतीस बोलों तक का कथन करेंगें। वह पाठ इस प्रकार है-

"मए समणाणं निग्गंथाणं एगे आरंभठाणे पण्णत्ते एवामेव महापउमे वि अहहा समणाणं निग्गंथाणं एगं आरंभठाणं पण्णवेहिइ, से जहाणामए अज्जो! मए समणाणं निग्गंथाणं दुविहे बंधणे पण्णत्ते तंजहा-पेज्जबंधणे, दोसबंधणे, एवामेव महापउमे वि अरहा समणा णिग्गंथाणं दुविहं बंधणं पण्णवेहिइ तंजहा-पेज्जबंधणं च दोसबंधणं च। से जहाणामए अज्जो! मए समणाणं निग्गंथाणं तओ दंडा पण्णत्ता तं जहा मणदंडे वयदंडे कायदंडे एवामेव महापउमे वि समणाणं निग्गंथाणं तओ दंडे पण्णवेहिइ तंजहा मणोदंडं वयदंडं कायदंड से जहाणामए एएणं अभिलावेणं चत्तारि कसाया पण्णत्ता तं जहा कोहकसाए माणकसाए मायाकसाए लोहकसाए पंच कामगुणे पण्णत्ते तंजहा सद्दे रूवे गंधे रसे फासे छज्जीवणिकाय पण्णत्ता तंजहा पुढविकाइया जाव तसकाइया एवामेव जाव तसकाइया से जहाणामए एएणं अभिलावेणं सत्त भयट्ठाणा पण्णत्ता तं एवामेव महापउमे वि अरहा समणाणं निग्गंथाणं सत्त भयट्ठाणा पण्णवेहिइ एवमट्ठमयट्ठाणे, णव बंभचेरगुत्तीओ, दसविहे समणधम्मे एगारस उवासगपडिमाओ एवं जाव तेत्तीसमासायणाउत्ति।"

अर्थ- आर्यो! जैसे मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए एक आरंभ-स्थान का निरूपण किया है, उसी प्रकार अर्हत् महापद्म भी श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए एक आरम्भ-स्थान का निरूपण करेंगे।

आर्यो! जैसे मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए दो प्रकार के बन्धनों का निरूपण कि

जैसे- प्रेमबन्धन और द्वेषबन्धन। इसी प्रकार अर्हत् महापद्म भी श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए दो प्रकार के बन्धन कहेंगे, जैसे-प्रेमबन्धन और द्वेष बन्धन।

आर्यो! जैसे मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए तीन प्रकार के दण्डों का निरूपण किया है, जैसे-मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड। इसी प्रकार अर्हत् महापद्म भी श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए तीन प्रकार के दण्डों का निरूपण करेंगे। जैसे- मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड।

आर्यो ! जैसे मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए चार कषायों का निरूपण किया है, यथा क्रोध-कषाय, मान-कषाय, माया-कषाय और लोभ-कषाय। इसी प्रकार अर्हत् महापद्म भी श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए चार प्रकार के लिए कषायों का निरूपण करेंगे। जैसे- क्रोध-कषाय, मान-कषाय, माया-कषाय और लोभ-कषाय।

आर्यो! जैसे मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए पाँच कामगुणों का निरूपण किया है, जैसे - शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श । इसी प्रकार अर्हत् महापद्म भी श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए पाँच कामगुणों का निरूपण करेंगे। जैसे- शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श।

आर्यो! जैसे मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए छह जीवनिकायों का निरूपण किया है। यथा- पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक , वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक। इसी प्रकार अर्हत् महापद्म भी श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए छह जीवनिकायों का निरूपण करेंगे यथा-पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पति-कायिक और त्रसकायिक।

आर्यो! जैसे मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए सात भय स्थानों का निरूपण किया है, जैसे इहलोकभय, परलोकभय, आदानभय, अकस्माद्भय, वेदनाभय, मरणभय और अश्लोकभय इसी प्रकार अर्हत् महापद्म भी श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए सात भयस्थानों का निरूपण करेंगे यथा- इहलोकभय, परलोकभय, आदानभय, अकस्माद्भय, वेदनाभय, मरणभय और अश्लोकभय।

आर्यो ! जैसे मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए आठ मदस्थानों का, नौ ब्रह्मचर्य गुप्तियों का,दश प्रकार के श्रमण-धर्मों का , ग्यारह उपासक प्रतिमाओं का यावत् तैंतीस आशातनाओं का निरूपण करेंगें।

प्रश्न यहाँ ग्यारह उपासक प्रतिमाओं का कथन भी श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए किया गया है, जबकि इन प्रतिमाओं का पालन श्रावक ही कर सकता है, इसे कैसे समझा जाय?

उत्तर उपासक प्रतिमाओं की पालना श्रावक ही करता है किन्तु श्रमण-निर्ग्रन्थों को इन प्रतिमाओं का उपदेश दिया गया है, उसका कारण यह है कि तैंतीस बोलों का सामूहिक तौर से कथन साधुओं के लिए किया गया है। इन तैंतीस बोलों के अन्तर्गत होने से उपासक प्रतिमाओं का

कथन भी साधुओं के लिए हो गया है। इसका तात्पर्य यह है कि साधु इन उपासक प्रतिमाओं की श्रद्धा-प्ररूपणा शुद्ध रूप से करे।

प्रश्न क्या इस कथन से ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि यहाँ शास्त्रकारों को श्रमण निर्ग्रन्थ का अर्थ 'श्रावक' करना अभीष्ट है?

उत्तर नहीं । इसी पाठ के आगे के सूत्रों को देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रमण निर्ग्रन्थ का अर्थ साधु ही होता है, श्रावक नहीं। देखिए वे सूत्र इस प्रकार हैं-

से जहाणामए अज्जो! मए समणाणं निग्गंथाणं पंचमहव्वइए सपडिक्कमणे अचेलए धम्मे पण्णत्ते एवामेव महापउमेवि अरह समणाणं निग्गंथाणं पंचमहव्वइयं जाव अचेलयं धम्मं पण्णवेहिइ। से जहाणामए अज्जो! मए पंचाणुव्वइए सत्तसिक्खावइए दुवालसविहे सावगधम्मे पण्णत्ते एवामेव महापउमेवि अरहा पंचाणुव्वइयं जाव सावगधम्मं पण्णवेस्सह।

अर्थ- आर्यो! मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए जैसे- प्रतिक्रमण और अचेलतायुक्त पाँच महाव्रत रूप धर्म का निरूपण किया है, इसी प्रकार अर्हत् महापद्म भी श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए प्रतिक्रमण और अचेलतायुक्त पाँच महाव्रत रूप धर्म का निरूपण करेंगे।

आर्यो! मैने जैसे पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार के श्रावक धर्म का निरूपण किया है, इसी प्रकार अर्हत् महापद्म भी पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार के श्रावक धर्म का निरूपण करेंगे।

यहाँ पाँच महाव्रतों का कथन करते समय 'समणाणं निग्गंथाणं' इन शब्दों का प्रयोग किया गया है किन्तु पाँच अणुव्रत आदि बारह प्रकार के श्रावक धर्मों का कथन करते समय 'समणाणं निग्गंथाणं' इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। यदि श्रमण निर्ग्रन्थ का अर्थ श्रावक करना शास्त्रकारों को इष्ट होता तो शास्त्रकार पाँच अणुव्रतों का कथन करते समय भी 'समणाणं निग्गंथाणं' इन पदों का प्रयोग करते, किन्तु आगमकारों ने ऐसा नहीं किया जिससे स्पष्ट है कि श्रमण निर्ग्रन्थ का अर्थ साधु ही होता है, श्रावक नहीं।

प्रश्न क्या किसी अन्य आगम में भी तैंतीस बोलों का सामूहिक कथन मुनियों के लिए किया गया है?

उत्तर हाँ, उत्तराध्ययनसूत्र के इकतीसवें 'चरणविधि' नामक अध्ययन में भी इन तैंतीस बोलों का कथन है। वहाँ भी इन सभी बोलों को भिक्षु अर्थात् साधु के साथ सम्बन्धित किया गया है।

प्रश्न यह तो समझ में आया, किन्तु श्रमण सूत्र की तीसरी पाटी "पडिक्कमामि चाउक्कालं सज्झायस्स अकरणयाए उभयोकालं भण्डोवगरणस्स अप्पडिलेहणाए दुप्पडिलेहणाए......." का उच्चारण श्रावक प्रतिक्रमण में क्यों नहीं किया जा सकता?

उत्तर उस पाटी का उच्चारण भी श्रावक प्रतिक्रमण में होना उपयुक्त नहीं है। यह पाटी उभयकाल नियमपूर्वक वस्त्र-पात्रादि की प्रतिलेखना करने वाले मुनियों के प्रतिलेखन सम्बन्धी दोषों की विशुद्धि के लिए है। साधारणतया कोई श्रावक ऐसा नहीं होता कि अपने सभी वस्त्रों, बर्तनों, उपधियों की प्रतिलेखना करे। यदि श्रावक अपनी सभी वस्तुओं की प्रतिलेखना करे तो शायद सुबह से शाम तक प्रतिलेखना ही करता रहे। उभयकाल नित्य प्रति प्रतिलेखना का विधान भी मुनियों के लिए किया गया है तथा उसका प्रायश्चित्त विधान भी निशीथ सूत्र में किया गया है। यथा- *'जे भिक्खू इतरियं पि उवहिं ण पडिलेहइ ण पडिलेहंतं वा साइज्जइ'*

जो भिक्षु थोड़ी सी भी उपधि की प्रतिलेखना नहीं करता है या नहीं करने वाले का अनुमोदन करता है, वह प्रायश्चित का भागी है।

चूंकि प्रतिलेखना का नित्य विधान मुनियों के लिए ही है। अतः इस पाटी का उच्चारण भी मुनियों को ही करना चाहिए, श्रावकों को नहीं।

प्रश्न पौषध व्रत में श्रावक भी प्रतिलेखन करता है, अतः श्रावक भी यह पाटी क्यों न बोले?

उत्तर पौषध व्रत श्रावक नित्य प्रति नहीं करता है। अतः श्रावक प्रतिक्रमण में इसके उच्चारण की आवश्यकता नहीं रहती है। साथ ही यह भी समझने योग्य है कि पौषध व्रत में लगे प्रतिलेखन सम्बन्धी दोषों की विशुद्धि पौषध व्रत के अतिचार शुद्धि के पाठ से हो जाती है। वहाँ बतलाया गया है- *"अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय सेज्जासंथारए, अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय सेज्जासंथारए"* यानी "शय्या संस्तारक की प्रतिलेखना न की हो या अच्छी तरह से न की हो, पूंजा न हो या अच्छी तरह से न पूँजा हो।...........तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अतः पौषध व्रत में की जाने वाली प्रतिलेखना के दोषों की शुद्धि के लिए श्रमण सूत्र की इस पाटी के उच्चारण की कोई आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न जैसे पौषध व्रत नित्य प्रति नहीं किया जाता , फिर भी उसके अतिचारों की शुद्धि का पाठ श्रावक प्रतिक्रमण में है, वैसे ही प्रतिलेखन नित्य प्रति नहीं किया जाने पर भी उसके दोषों की शुद्धि का पाठ श्रावक प्रतिक्रमण में क्यों नहीं हो सकता?

उत्तर श्रावक प्रतिक्रमण की विधि का सूक्ष्म निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि जो पाटियाँ श्रावक के नित्यक्रम से जुड़ी हुई हैं यानी जो व्रत जीवनपर्यन्त के लिए हैं, उनकी शैली में तथा कभी-कभी पालन किये जाने वाले व्रतों की शैली में कुछ फर्क है। श्रावक के प्रथम आठ व्रत जीवनपर्यन्त के लिए होते हैं तथा अन्तिम चार व्रत कभी-कभी अवसर आने पर आराधित किए जाते हैं। कभी-कभी पालन किये जाने वाले पौषध आदि व्रतों में प्रायः इस प्रकार की शव्दावली का प्रयोग किया गया है कि "ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा तो है पौषध का अवसर

आए, पौषध करूँ, तब फरसना करके शुद्ध होऊँ"।

पौषध व्रत के अतिचार शुद्धि के प्रकरण में तो उपर्युक्त प्रकार का पाठ है, जबकि प्रतिलेखना-दोष-निवृत्ति तथा निद्रा-दोष-निवृत्ति आदि श्रमण सूत्र की पाटियों में ऐसा पाठ नहीं है कि 'ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा तो है....आदि'।' इससे यह स्पष्ट है कि ये पाटियाँ साधुओं के लिए ही हैं क्योंकि ये मुनियों के नित्यक्रम से ही जुड़ी हुई हैं, श्रावकों के नहीं। यदि ये पाटियाँ श्रावकों के लिए होती तो इनमें भी 'ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा तो हैं.... " ऐसा पाठ होता, किन्तु ऐसा पाठ नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि ये पाटियाँ श्रावक प्रतिक्रमण में नहीं होनी चाहिए।

प्रश्न निद्रा तो सभी श्रावक लेते हैं फिर 'निद्रा दोष निवृत्ति' का पाठ श्रावक प्रतिक्रमण में क्यों न हो?

उत्तर निद्रा-दोष-निवृत्ति के पाठ की शब्दावली ही यह बतला देती है कि यह पाठ साधु जीवन का है, श्रावक का नहीं। इस पाठ में अधिक देर तक सोने का, मोटे आसन पर सोने का, छींक जंभाई से होने वाले दोष का, स्त्री विपर्यास का, आहार पानी सम्बन्धी विपर्यास आदि दोषों का प्रतिक्रमण होता है। श्रावक के लिए सोने के समय का कोई नियम शास्त्रकारों ने नहीं फरमाया, किन्तु साधु के लिए निश्चित समय बताया है। श्रावक डनलप के गद्दे पर भी सोता है, पर मुनि सामान्य पतले आसन का ही उपयोग करते हैं। श्रावक दिन रात खुले मुँह बोलता है किन्तु मुनि मुखवस्त्रिका का उपयोग करते हैं। अतः रात्रि में छींक जंभाई आदि के अवसर पर अनुपयोग से मुखवस्त्रिका ऊँची नीची हो जाए तो खुले मुँह से वायु निकलने से हिंसा का दोष लग सकता है। श्रावक के लिये स्त्री को पास में रखकर शयन करने का निषेध नहीं है, किन्तु साधु तीन करण तीन योग से ब्रह्मचर्य का आराधक होता है। अतः स्वप्न में भी यदि स्त्री सम्बन्धी विपर्यास हो तो उसे दोष लग सकता है। अनेक श्रावक रात्रि को आहार करते हैं, किन्तु मुनि रात्रि भोजन के सर्वथा त्यागी होते हैं। अतः स्वप्न में भी आहार ग्रहण कर ले तो रात्रिभोजन सम्बन्धी दोष लग सकता है।

निद्रा संबंधी उपर्युक्त अनेक दोष साधु के लगते हैं। अतः यह पाठ साधु प्रतिक्रमण में ही होना चाहिए, श्रावक प्रतिक्रमण में नहीं।

प्रश्न श्रावक भी पौषध आदि अवसरों पर उपर्युक्त अनेक नियमों का पालन करते हैं। अतः श्रावक प्रतिक्रमण में यह पाटी रहे तो क्या अनुचित है?

उत्तर पहले बताया जा चुका है कि कभी-कभी आराधित किए जाने वाले व्रतों की शैली में "ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा तो है, अवसर आए तब फरसना करके शुद्ध होऊँ।" आदि शब्दावली

का प्रयोग हुआ करता है। इस पाटी में ऐसा प्रयोग न होने से स्पष्ट है कि यह पाठ साधु प्रतिक्रमण के ही योग्य है।

प्रश्न तो फिर पौषध में निद्रा संबंधी दोषों की शुद्धि किससे होगी?

उत्तर पौषधव्रत के पाँच अतिचारों में पाँचवां अतिचार है "पोसहस्स सम्मं अणणुपालणया" "उपवासयुक्त पौषध का सम्यक् प्रकार से पालन नहीं किया हो"। ग्यारहवें व्रत की पाटी बोलने से पाँच अतिचारों का शुद्धीकरण होता है, जिसमें पाँचवें अतिचार "सम्यक् प्रकार से पौषध का पालन न करने" के अन्तर्गत निद्रा दोष आदि समग्र पौषध सम्बन्धी दोषों का शुद्धीकरण हो जाता है।

उससे तो सामान्य शुद्धीकरण होता है, विशेष शुद्धीकरण के लिए अलग से पाटी होनी चाहिए?

यदि एक-एक दोष के शुद्धीकरण के लिए अलग-अलग पाटियों की जरूरत रहेगी तो श्रावक प्रतिक्रमण में पहली, दूसरी, चौथी, पाँचवीं समिति, तीन गुप्ति, रात्रि भोजन त्याग आदि सम्बन्धी अनेक पाटियाँ जो साधु प्रतिक्रमण में है, उन्हें भी श्रावक प्रतिक्रमण में डालना पड़ेगा, क्योंकि पौषध में श्रावक भी अपने स्तर से यथायोग्य इन बातों की पालना करता ही है। किन्तु ऐसा होना संभव नहीं है। अतः हर दोष के लिए अलग से पाठ की परिकल्पना करना योग्य नहीं है।

प्रश्न आवश्यक सूत्र में ये सभी पाटियाँ है। श्रावक भी आवश्यक करता ही है अतः श्रावक अपने प्रतिक्रमण में क्यों नहीं कहे?

आवश्यक सूत्र में वर्तमान काल में उपलब्ध पाठ साधु-जीवन से सम्बन्धित हैं। यदि आवश्यक सूत्र में होने मात्र से इन पाठों को श्रावक प्रतिक्रमण में ग्रहण किया जायेगा तो श्रावक को भी 'करेमि भंते' में तीन करण तीन योग से सावद्य योगों का त्याग करना होगा, क्योंकि आवश्यक सूत्र में करेमि भंते का जो पाठ है, उसमें 'तिविहं तिविहेणं' का ही उल्लेख है।

आवश्यक सूत्र में आए हुए 'इच्छामि ठामि' के पाठ में भी *"तिण्हं गुत्तीणं चउण्हं कसायाणं पंचण्हं महव्वयाणं छण्हं जीवणिकायाणं सत्तण्हं पिंडेसणाणं अट्ठण्हं पवयणमाऊणं णवण्हं बंभचेरगुत्तीणं दसविहे समणधम्मे समणाण जोगाणं"* आदि रूप शब्दावली है। इसमें तीन गुप्तियाँ, पाँच महाव्रत, सात पिण्डैषणाएँ, आठ प्रवचन माताएँ, नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियाँ आदि साधु-जीवन सम्बन्धी पाठ हैं। आवश्यक सूत्र में होने पर भी श्रावक इन पाठों का उच्चारण नहीं करके इनके स्थान पर श्रावक योग्य पाठ बोलता है, यथा-

"तिण्हं गुणव्वयाणं, चउण्हं सिक्खावयाणं पंचण्हमणुव्वयाणं बारसविहस्स

सावग्गधम्मस्स" का उच्चारण करता है। अतः आवश्यक सूत्र में है, ऐसा कहकर साधु प्रतिक्रमण के पाठों को श्रावक प्रतिक्रमण में डाल देना कतई योग्य नहीं है।

प्रश्न श्रमणसूत्र को श्रावक प्रतिक्रमण में बोलना सही मानना पड़ेगा क्योंकि किसी-किसी सम्प्रदाय में यह पाठ उच्चरित किया जाता रहा है।

उत्तर यह पाठ बोलना कब से शुरू हुआ इसका इतिहास तो ज्ञात नहीं है। प्राप्त प्रमाणों से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्राचीनकाल में यह परम्परा नहीं थी। प्रवचनसारोद्धार की गाथा १७५ की टीका करते हुए कहा है कि-

"सुत्तं तं सामायिकादिसूत्रं भणति साधुः स्वकीयं श्रावकस्तु स्वकीयम्" इसमें स्पष्ट बताया है कि साधु अपना सूत्र यानी श्रमण सूत्र कहे तथा श्रावक अपना सूत्र यानी श्रावक सूत्र कहे। यदि साधु एवं श्रावक को एक ही पाठ बोलना होता तो दोनों अपना-अपना सूत्र बोलें ऐसा कथन क्यों होता?

क्रान्तिकारी आचार्य धर्मसिंहजी म.सा., जो कि दरियापुरी सम्प्रदाय के पूर्व पुरुष रहे हैं, ने भी श्रमण सूत्र का श्रावक प्रतिक्रमण में होना अनुचित बतलाया है। उनके वाक्य इस प्रकार हैं-

"श्रावक ना प्रतिक्रमण मां श्रमण सूत्र बोलवा नी जरूरत नथी कारण के श्रमण सूत्र साधुओं माटे छे। अने श्रावक ने प्रत्याख्यान (नवकोटिए) नथी तेनुं प्रतिक्रमण करवानुं होय नहि"

किसी-किसी सम्प्रदाय द्वारा किए जाने मात्र से यदि श्रमण सूत्र को श्रावक प्रतिक्रमण में कहना वैधानिक मान लिया जाए तो माइक आदि विद्युतीय साधनों के प्रयोग को भी वैधानिक मानना पड़ सकता है, क्योंकि वह भी कुछेक सम्प्रदायों द्वारा आचरित है।

आगमिक आधारों को प्रमुखता देने वाला साधुवर्ग एवं श्रावक वर्ग किसी भी परम्परा को तभी महत्त्व दे सकता है, जब वह आगम से अविरुद्ध हो। श्रावक प्रतिक्रमण में श्रमण सूत्र बोलना ऊपर बतलाये गए अनेक कारणों से आगमसंगत नहीं लगता। अतः किसी समय में किन्हीं के द्वारा श्रमणसूत्र को श्रावक प्रतिक्रमण में जोड़ कर परम्परा चला दी गई हो तथा किन्हीं ने अनुकरणशीलता की वृत्ति के अनुरूप उस परम्परा का अनुकरण कर भी लिया हो तो आगमिक आशय को स्पष्टतया जान लेने के पश्चात् उसे यथार्थ को स्वीकारते हुए श्रमण सूत्र को श्रावक प्रतिक्रमण से हटा देना चाहिए।

यदि परम्परा को ही सत्य माना जाय तो किसकी परम्परा को सत्य माना जाय। अनेक परम्पराओं के श्रावक विना श्रमण सूत्र का प्रतिक्रमण करते हैं यथा- पंजाब के पूज्य अमरसिंहजी म.सा. की पंजाबी संतों की परम्परा, रत्नवंश की परम्परा, पूज्य जयमलजी म.

सा. की परम्परा, नानक वंश की परम्परा, मेवाड़ी पूज्य अम्बालाल जी म.सा. की परम्परा, उपाध्याय पुष्करमुनि जी म.सा., मरुधरकेशरी मिश्रीमल जी म.सा. की परम्परा, कोटा सम्प्रदाय के खद्दरधारी गणेशलाल जी म.सा. की परम्परा, पूज्य श्री हुक्मीचन्द जी म.सा. की परम्परा, गुजराती दरियापुरी सम्प्रदाय इत्यादि परम्पराओं के श्रावकों द्वारा बिना श्रमण सूत्र का प्रतिक्रमण किया जाता रहा है। ऐसी स्थिति में परम्परा सत्य को प्रमाणित कैसे कर पाएगी?अतः आगमों का प्रबल आधार सन्मुख रखते हुए श्रावक प्रतिक्रमण में श्रावक सूत्र का ही उच्चारण किया जाना चाहिए, श्रमण सूत्र का नहीं।

(श्रमणोपासक, २० जुलाई, ५ अगस्त, २० अगस्त एवं ५ सितम्बर के अंकों से साभार)

-महामंत्री, श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

प्रतिक्रमण-सम्बन्धी विशिष्ट मर्मस्पर्शी प्रश्नोत्तर

(आवश्यक सूत्र पर आधारित)

प्रश्न 'करेमि भंते' में सांकेतिक रूप से छः आवश्यक कैसे आते हैं?

उत्तर १. सामायिक आवश्यक - सामाइयं ("समस्य आयः समायः, सः प्रयोजनं यस्य तत् सामायिकम्।") पद से सामायिक आवश्यक का ग्रहण होता है।

२. चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक - 'भंते!' पद से दूसरा आवश्यक गृहीत हो सकता है।

३. वन्दना आवश्यक - "पज्जुवासामि" से तीसरा आवश्यक आता है। पर्युपासना तिक्खुत्तो में भी आता है। भंते- "सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रैर्दीप्यते इति भान्तः स एव भदन्तः" सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रत्नत्रय के धारक गुरु होते हैं, अतः 'भंते' से भी तीसरे आवश्यक का संकेत मिलता है।

४. प्रतिक्रमण आवश्यक - पडिक्कमामि- "पडिक्कमामि इत्यस्य प्रतिक्रमामि।" से चतुर्थ आवश्यक गृहीत होता है।

५. कायोत्सर्ग आवश्यक- 'वोसिरामि' ("विविधं विशेषेण वा भृशं त्यजामि") पद से पाँचवें आवश्यक का ग्रहण होता है।

६. प्रत्याख्यान आवश्यक - सावज्जं जोगं पच्चक्खामि-("पापसहितं व्यापारं प्रत्याख्यामि।") पदों से प्रत्याख्यान आवश्यक स्वीकृत होता है।

प्रश्न कायोत्सर्ग किन-किन कारणों से किया जाता है?

उत्तर १. काउस्सग्गं - "तस्सउत्तरी" पाठ के अनुसार संयम को अधिक उच्च बनाने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिये, विशुद्धि करने के लिए, आत्मा को शल्य रहित करने के लिए और पाप कर्मों का समूल नाश करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।

२. चिंतणत्थं करेमि काउस्सग्गं- "इच्छामि णं भंते" पाठ के अनुसार दिनभर में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में लगे अतिचारों का चिन्तन करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।

३. इच्छामि ठामि काउस्सग्गं...- दिवस संबंधी ज्ञानादि के १४ अतिचारों का मन-वचन-काया से जो सेवन किया गया, उनका कायोत्सर्ग किया जाता है।

४. देवसियं....कास्सग्गं- दिवस संबंधी प्रायश्चित्त की विशुद्धि के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।

प्रश्न 'तस्स उत्तरीकरणेणं' में वर्णित कायोत्सर्ग के ५ कारणों के क्रम का क्या हेतु है?

उत्तर कायोत्सर्ग हेतु तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्तकरणेणं, विसोहिकरणेणं, विसल्ली करणेणं, पा कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि.... ये पाँच कारण प्रतिपादित हैं।

उस आत्मा की उत्कृष्टता के लिए अर्थात् ऊपर उठाने के लिए कायोत्सर्ग करना है। शास्त्र में कई स्थानों पर आत्मा के लिए 'वह' और शरीर के लिए 'यह' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इन ५ कारणों में कायोत्सर्ग का हेतु प्रकट किया गया है। इनके क्रम को जानने के लिए द्रव्य दृष्टान्त का आलम्बन- जैसे १. किसी के पैर में काँटा लग गया। २. उस काँटे की वेदना असह्य हो जाती है और उसको बाहर निकालने की तीव्र भावना जगती है ३. परन्तु गंदे पैर में काँटा नजर नहीं आता, इसलिए उसे पहले जल आदि के द्वारा स्वच्छ किया जाता है। ४. तत्पश्चात् काँटे को बाहर निकाला जाता है। ५. उस काँटे को निकालने पर भी कुछ मवाद-गंदा खून आदि रह जाता है तो उसे भी दबाकर बाहर निकाल दिया जाता है। यही हेतु आध्यात्मिक क्षेत्र में भी घटित होता है- सर्वप्रथम साधक के अन्तर में आत्मा को ऊपर उठाने के भाव जगते हैं जब वह आत्मा को देखता है तो दोषों का दलदल नजर आता है। उस दलदल का कारण उसी के कषाय एवं अशुभ योग हैं। अतः उसके प्रायश्चित्त के भाव जगते हैं। प्रायश्चित्त करने से पुराना दलदल तो कम हुआ, पर झाड़ू के बाद पोचे (पानी की धुलाई) से अधिक स्वच्छता आ जाती है, इसी कारण से कहा-'विसोहिकरणेणं।' जब कपड़ा धुलकर स्वच्छ हो जाता है तब उसमें कई दाग दिखते हैं, साधक को भी गहराई से अवलोकन करने पर शल्य दिखाई देते हैं- वही विसल्लीकरणेणं। अब तो शीघ्रातिशीघ्र इन धब्बों की भी शुद्धि अर्थात् शल्यों का निराकरण। कपड़े को धो लेने पर प्रेस द्वारा उसमें और चमक आ जाती है, वैसे ही साधक लेशमात्र रह गये पाप-कर्मों की शुद्धि के लिए तत्पर होता है।

अतः परस्पर सूक्ष्मता की दृष्टि से ही इनका यह क्रम रखा गया है।

प्रश्न संख्या की दृष्टि से न्यूनतम गुण वाले गुणात्मक रूप से श्रेष्ठ कैसे?

उत्तर पंच परमेष्ठी में १०८ गुण होते हैं। अरिहंत में १२, सिद्ध में ८, आचार्य में ३६, उपाध्याय में २५, साधु में २७ = कुल १०८। गुणात्मक दृष्टि से चिन्तन किया जाए तो सबसे श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं। संख्या की दृष्टि से देखने पर तो सबसे कम गुण सिद्ध भगवान् में होते हैं। गहराई से अवलोकन व चिन्तन किया जाए तो प्रतीत होता है- महत्त्व संख्या का नहीं है, गुणों की महानता का है। उपाध्याय के २५ गुण सिद्ध भगवान् के अनन्त ज्ञान के आगे बूँद के समान भी नहीं हैं। साधु के २७ गुण, चरणसत्तरी, करणसत्तरी को मिला देने पर भी सिद्धों के आत्मसामर्थ्य के आगे नगण्य हैं।

अरिहंत के १२ गुणों में ८ तो पुद्गलों पर ही आधारित हैं, मात्र ४ ही आत्मिक गुण हैं। यह तो सिद्ध भगवान के गुणों की संख्या से भी कम तथा गुणात्मक दृष्टि से भी न्यून हैं। केवलज्ञान,

केवलदर्शन में समानता होने पर ४ अघातीकर्म शेष रहने से वे आत्माएँ पूर्णता को प्राप्त नहीं हुई हैं।

व्यावहारिक जगत् में जैसे सिक्के कई होने पर भी ५०० के एक नोट की बराबरी नहीं कर सकते। संख्या की दृष्टि से देखा जाए तो ५०० का नोट तो एक ही है और सिक्के बहुत से हैं। पर महत्त्व उन सिक्कों से एक नोट का ज्यादा है। वैसे ही, सिद्धों में गुण संख्या की दृष्टि से न्यून हैं, पर गुणात्मक रूप से तो सर्वश्रेष्ठ ही हैं। अरिहंतों के १२ गुण तथा आचार्यों के ३६ गुण संख्या की दृष्टि से तो ज्यादा हैं, पर अरिहंतों के अष्ट महाप्रातिहार्य के आगे आचार्य की सम्पदा न्यून है और शेष ४ गुणों में आचार्य के सभी गुण स्वतः ही समाहित हो जाते हैं, जैसे- एक किलोमीटर में कई मिलीमीटर समा जाते हैं।

न क्या श्रावक को श्रमण सूत्र के ५ पाठों से प्रतिक्रमण करना उचित है? पक्ष-विपक्ष में तर्कों की समीक्षा कर निष्कर्ष बताइये।

र श्रमण का अर्थ है साधु या साधु प्रधान चतुर्विध संघ-

१. पूर्व पक्ष- व्यवहार में श्रमण 'साधु' का ही नाम है तथापि भगवंत ने चारों तीर्थों को ही श्रमण संघ के रूप में कहा है। भगवतीसूत्र के २०वें शतक व ८वें उद्देशक में श्रमणसंघ में साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका का समावेश है।

उत्तरपक्ष- श्रमणसूत्र नाम से ही स्पष्ट है कि श्रमणों का प्रतिक्रमण। 'श्रमण' शब्द आगमिक भाषा में साधु का पर्यायवाची है। किसी भी आगम, टीका, कोष में श्रमण का अर्थ श्रावक देखने में नहीं आया। बल्कि सूत्रकृतांग, ठाणांग, भगवती, अनुयोगद्वार आदि आगमों की अनेक टीकाओं, भाष्यादि में श्रमण का अर्थ साधु किया गया है। सूत्रकृतांग सूत्र के १६वें अध्याय के मूल पाठ से सुस्पष्ट है कि पंचमहाव्रतधारी पापों से विरत मुनि ही 'श्रमण' पद का वाच्य है। अर्द्धमागधी कोष में भी श्रमण का अर्थ साधु ही किया है। अभिधान राजेन्द्र कोष में भी श्रमण का अर्थ श्रावक नहीं किया है। अनेक मूल आगम पाठों एवं अनेक विद्वानों, पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित अर्थ का तिरस्कार करके श्रमण का अर्थ श्रावक करना तीर्थंकर भगवन्तों की आशातना है।

कभी-कभी भगवती के २०वें शतक का आधार लेकर "तित्थं पुण चाउवण्णाइण्णो समणसंघे, तंजहा समणा समणीओ, सावया, सावियाओ" इस पाठ का आधार लेकर कहा जाता है कि श्रमण संघ में श्रावक-श्राविका भी सम्मिलित हैं।

श्रमण-संघ का तात्पर्य है- श्रमण का संघ। भगवान् महावीर को श्रमण कहा गया है- यथा "समणे भगवं महावीरे" भगवान् महावीर के संघ को श्रमण संघ कहा जाता है। श्रमण संघ का एक अन्य अर्थ श्रमण प्रधान संघ है। श्रावक को ही यदि श्रमण माना जाए तो फिर भगवान् [illegible] श्रमणोपासक क्यों कहते हैं?

अनुयोगद्वार सूत्र में गाथा उल्लिखित है- "समणेणं सावएणं य अवस्सं, कायव्वयं हवइ जम्हा, अंतो अहो णिसिस्स य तम्हा आवस्सयं णाम।" श्रमण/श्रावक के द्वारा उभयकाल अवश्य करणीय होने से इसे आवश्यक कहा जाता है। यदि श्रमण शब्द से ही श्रावक ध्वनित होता है तो आगमकार श्रमण तथा श्रावक इन दोनों शब्दों का भिन्न-भिन्न प्रयोग नहीं करते।

तीर्थंकर देवों ने श्रमण शब्द का प्रयोग साधु के अर्थ में किया है, श्रावक के अर्थ में नहीं। ऐसी स्थिति में श्रमण सूत्र को श्रावकों के प्रतिक्रमण से जोड़ना आगमों के अनुकूल नहीं लगता।

२. पूर्वपक्ष- इच्छामि पडिक्कमिउं का पाठ- श्रावक को भी पौषध आदि प्रसंगों के होने पर निद्रा से लगे दोषों से निवृत्त होने के लिए यही पाठ बोला जाता है अन्यथा उसके लिए और कोई पाठ नहीं है।

उत्तरपक्ष- यह बात ठीक नहीं, क्योंकि पौषधगत दोषों की आलोचना ११वें पौषध व्रत के पाँच अतिचारों से हो जाती है। उसमें भी पाँचवाँ अतिचार "पोसहस्स सम्मं अणणुपालणया" अर्थात् पौषध का सम्यक् प्रकार से पालन न किया हो, के अन्तर्गत पौषधगत दोषों का शुद्धीकरण हो जाता है।

३. पूर्वपक्ष- पडिक्कमामि गोयरग्गचरियाए का पाठ- प्रतिमाधारी श्रावक भिक्षोपजीवी ही होते हैं। कई स्थानों पर दयाव्रत की आराधना करने वाले श्रावक भी गोचरी करते हैं। उसमें लगे हुए दोषों की निवृत्ति के लिए दूसरा पाठ बोलना ही चाहिए।

उत्तरपक्ष- प्रायः वर्तमान में श्रावक के द्वारा ग्यारहवीं उपासक पडिमा का प्रसंग...नहीं है। आगम में ११ वीं पडिमा में ही श्रावक के लिए गोचरी का विधान है। साफ है यह पाठ साधु प्रतिक्रमण में ही होना चाहिए।

४. पूर्वपक्ष- पडिक्कमामि चाउक्कालं का प्रतिलेखना संबंधी पाठ- उत्तराध्ययन के २१ वें अध्ययन में "निग्गंथे पावयणे सावए से विकोविए" पालित श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचन में कोविद था तथा उत्तराध्ययन के २२वें अध्ययन के अनुसार "सीलवंता बहुस्सुया" राजीमती जी दीक्षा से पूर्व बहुत सूत्र पढ़ी हुई थीं, तो वे दोनों समय उपकरणों की प्रतिलेखना करती ही होंगी। यदि नहीं भी करती तो भी यह तीसरी पाटी आवश्यक सिद्ध होती है।

उत्तरपक्ष- यह ठीक ही है कि श्रावक भी पौषध, दया में उभयकाल प्रतिलेखन करते ही हैं और कई विशेष धर्मश्रद्धा वाले श्रावक चारों कालों में स्वाध्याय करते हुए वर्तमान में भी देखे जाते हैं। पौषध में लगे अतिचारों की शुद्धि तो पारने के पाठ से हो जाती है। सामान्य श्रावक के दोनों वक्त प्रतिलेखन का नियम नहीं है। शायद ही कोई श्रावक ऐसा हो जो उभयकाल स्टील, प्लास्टिक, काँच के बर्तन, सभी कपड़ों की प्रतिलेखना करता हो। साधु के लिए ही दोनों समय प्रतिलेखन आवश्यक है। चारों काल स्वाध्याय साधु के लिए ही आवश्यक है। कुछ श्रावकों की दिनचर्या में यह नियत होता है, पर य

नियम नहीं। अतः चारों प्रहर स्वाध्याय काल में स्वाध्याय न करने की आलोचना करने का क्या अर्थ?

५. **पूर्वपक्ष- पडिक्कमामि एगविहे-** ३३ बोल में कुछ हेय, कुछ ज्ञेय तथा कुछ उपादेय हैं। इनका ज्ञान श्रावकों के लिये अनिवार्य है।

उत्तरपक्ष- मात्र ज्ञेयता के आधार पर श्रमण सूत्र को श्रावक प्रतिक्रमण में जोड़ना योग्य नहीं है। वैसी स्थिति में ५ महाव्रत, ५ समिति ३ गुप्ति एवं षट्कायरक्षा के पाठ भी श्रावक के लिए ज्ञेय हैं तथा पौषध आदि के अवसरों पर मनोरथ चिंतन के समय ध्यातव्य हैं वे पाठ भी श्रावक प्रतिक्रमण में क्यों नहीं जोड़े जाते? इन ३३ बोलों का वर्णन उत्तराध्ययन के ३१वें अध्ययन में किया गया है। ''जे भिक्खू रुंभइ णिच्चं जे भिक्खू चयइ णिच्चं''.....इससे फलित होता है कि ३३ बोलों का संयोजन मुनि के साथ किया गया है।

६. **पूर्वपक्ष- नमो चउव्वीसाए-** यह पाठ निर्ग्रन्थ प्रवचन का है। जिसमें जिन प्रवचन की महिमा है, अतः श्रावकों के लिए उपयोगी है।

उत्तरपक्ष- इस पाठ में प्रारम्भ में यह बात द्योतित होती है, पर आगे कहा गया- ''समणोऽहं संजय विरय...'' यह प्रतिज्ञा साधु ही कर सकता है। कारण कि श्रावक तो संयतासंयत तथा विरताविरत होता है। यदि वह स्वयं को श्रमण-विरत कहता है तो उसे माया, असत्य लगता है। प्रतिमाधारी श्रावक से भी यदि कोई परिचय पूछे तो वह कहे- मैं श्रमण नहीं श्रमणोपासक हूँ।

निष्कर्ष- अतः श्रावक के प्रतिक्रमण में ५ पाठ तो क्या १ पाठ भी गहराई से अवलोकन करने पर उचित प्रतीत नहीं होता। श्रावक होते हुए भी स्वयं को श्रमण मानकर उन-उन कार्यो को न करते हुए भी उनकी आलोचना करना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है।

प्रश्न श्रमण और श्रमणी के आवश्यक सूत्र के पाठ और क्रिया (विधि) में क्या-क्या अन्तर है?

उत्तर श्रमण और श्रमणी के निम्न पाठों में भिन्नता है-

१. शय्या सूत्र में ''इत्थीविप्परियासियाए'' के स्थान पर श्रमणी ''पुरिसविप्परिया सियाए'' पढ़ेगी।

२. ३३ बोल में विकथासूत्र में श्रमणी स्त्रीकथा की जगह पुरुषकथा पढ़ेगी। नवमें बोल में नववाड़ में जहाँ-जहाँ भी श्रमण 'स्त्री' शब्द उच्चारण करता है, उसके स्थान पर श्रमणी 'पुरुष' शब्द का उच्चारण करेगी। २२ परीषह में श्रमणी स्त्री परीषह के स्थान पर पुरुष परीषह कहेगी। २५ भावना में भी चौथे महाव्रत की भावना में स्त्री के स्थान पर पुरुष शब्द आयेगा। तैंतीसवें बोल में जहाँ भी गुरु-शिष्य शब्द श्रमण के लिए आता है, श्रमणी के लिए गुरुणी-शिष्या ऐसा पाठ आयेगा।

३. प्रतिज्ञा सूत्र नामक पाँचवीं पाटी में जहाँ पर 'समणो अहं' पाठ आता है, वहाँ समणी अहं ऐसा पाठ कहेगी।

४. चौथे महाव्रत में साधुजी स्त्री-संबंधी मैथुन से त्रिकरण त्रियोग से पूर्ण विरत होते हैं, वहीं साध्वी जी पुरुष संबंधी मैथुन से विरत होती हैं। वह मनुष्य, स्त्री, तिर्यंचनी के स्थान पर पुरुष तथा तिर्यंच शब्द बोलेंगी।

५. एषणा समिति में माण्डला के पाँच दोष हैं, जिनमें से एक दोष परिमाण का है। साधुजी के लिए शास्त्रकारों ने ३२ कवल का परिमाण, तो साध्वी जी के लिए २८ कवल का विधान किया है।

६. वचन गुप्ति में स्त्री कथा के स्थान पर पुरुष कथा पढ़ेगी।

पाठ में तो यह बात ध्यान में आई है।

विधि में अन्तर- श्रमण के लिए कायोत्सर्ग खड़े-खड़े जिन मुद्रा में करने का विधान है, जबकि श्रमणी के लिए कायोत्सर्ग सुखासन में बैठे-बैठे ही करने का विधान है। इस तरह चउवीसत्थव करते समय का कायोत्सर्ग, उसके बाद प्रथम सामायिक का कायोत्सर्ग, पाँचवें आवश्यक का कायोत्सर्ग यह सब बैठे-बैठे ही श्रमणी कायोत्सर्ग करती है। विधि में तो और कोई विशेष अन्तर ध्यान में नहीं आता।

प्रश्न अपरिग्रह व्रत की ५ भावनाओं का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

उत्तर पाँचों इन्द्रियों के विषयों पर राग-द्वेष नहीं करना ही पाँचवें महाव्रत की ५ भावनाएँ हैं-

श्रोत्रेन्द्रिय संयम : प्रथम भावना- प्रिय एवं मनोहर शब्द सुनकर उनमें राग नहीं करना चाहिए। लोगों द्वारा बजाए जाने वाले मृदंग, वीणा, बाँसुरी आदि वाद्यों की ध्वनि सुनकर उन पर राग न करे। नट, नर्तक, मल्ल, मुष्टिक के अनेक प्रकार के मधुर स्वर सुनकर आसक्त न बने। युवतियों द्वारा नृत्य करने पर उत्पन्न ध्वनि सुनकर साधु रंजित न होवे, लुब्ध नहीं होवे। इसी प्रकार कानों को अरुचिकर लगने वाले अशुभ शब्द सुनाई दें तो द्वेष न करे। आक्रोशकारी, कठोर, अपमानजनक एवं अमनोज्ञ शब्द सुनाई देने पर साधु को रुष्ट नहीं होना चाहिए। शब्द मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ होने पर संवृत साधु त्रियोग से गुप्त होकर अन्तर आत्मा से अप्रभावित रहे।

चक्षुरिन्द्रिय संयम : दूसरी भावना- सचित्त स्त्री, पुरुष, पशु, अचित्त भवन, आभूषण, ५ वर्णों से सज्जित चित्र आँखों से देखकर उन पर अनुराग न लावें। सुन्दर मूर्तियों पर मोहित न हों। मन एवं नेत्र को अतिप्रिय लगने वाले प्राकृतिक दृश्य (वनखण्ड, तालाब, झरना) देखकर साधु उसमें आसक्त न हो। नट, नर्तक आदि मनोहारी रूप देखकर साधु को आसक्त नहीं होना चाहिए। मन को बुरे लगने वाले दृश्य (रोगी, कोढ़ी, विकलांग, बौना, कुबड़ा आदि) अमनोज्ञ पदार्थों को देखकर साधु उनसे द्वेष न करे। साधु चक्षुरिन्द्रिय संबंधी भावना से अपनी अन्तरात्मा को प्रभावित करता हुआ धर्म का आचरण करता रहे।

घ्राणेन्द्रिय संयम : तीसरी भावना- उत्तम सुगन्धों में आसक्त नहीं होना चाहिए। जल व स्थल

उत्पन्न पुष्प आदि सुगन्धित पदार्थ जिनकी गंध दूर तक फैलती है, उन पर आसक्ति नहीं होनी चाहिए। उनका चिन्तन भी नहीं करना चाहिए, घ्राणेन्द्रिय से अप्रिय लगने वाली दुर्गन्ध के प्रति द्वेष नहीं करना चाहिए।

रसनेन्द्रिय संयम : चौथी भावना- साधु रसनेन्द्रिय द्वारा मनोज़ एवं उत्तम रसों का आस्वादन करके आसक्त नहीं बने। वे द्रव्य जिनका वर्ण, गंध, रस, स्पर्श उत्तम है। उत्तम वस्तुओं के योग से संस्कारित किये गए हैं, इस प्रकार के सभी उत्तम एवं मनोज़ रसों में साधु आसक्त नहीं होते। अमनोज़, अरुचिकर, अनिच्छनीय, घृणित रसों पर साधु द्वेष नहीं करे। रसना पर नियंत्रण कर धर्म का पालन करे।

स्पर्शनेन्द्रिय संयम : पाँचवीं भावना- साधु स्पर्शनेन्द्रिय से मनोज्ञ और सुखदायक स्पर्शों का स्पर्श कर उनमें आसक्त नहीं बने। गर्मी में शीतल वायु का सेवन करना, कोमल स्पर्श वाले वस्त्र, शीतकाल में उष्ण वस्त्र, उष्ण ताप आदि, इसी प्रकार के अन्य सुखदस्पर्शों का अनुभव नहीं करना चाहिए। अमनोज़ स्पर्श, जैसे रस्सी आदि से बाँधना, हाथ में हथकड़ी, मच्छर के डंक आदि इस प्रकार के अन्य अनिच्छनीय एवं दुःखदायक स्पर्श होने पर साधु को उन पर द्वेष नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय संबंधी भावना से भावित आत्मा वाला साधु निर्मल होता है। मन-वचन-काया से गुप्त एवं संवृत्त रहकर, जितेन्द्रिय होकर धर्म का आचरण करता है।

(विस्तृत विवेचन प्रश्नव्याकरण सूत्र संवर द्वार ५ में)

प्रश्न निम्न साधना परक वाक्यों की आवश्यक सूत्र के संदर्भ में व्याख्या कीजिए -

१. की हुई भूल को नहीं दोहराने से बड़ा कोई प्रायश्चित्त नहीं।

२. निर्दोषता(संबंधित दोष की अपेक्षा) के क्षण में ही दोष ध्यान में आता है।

३. जो इन्द्रिय और मन के वश में नहीं होता है उसके ही भाव आवश्यक होता है।

४. आत्मसाक्षी से धर्म होता है। आंतरिक इच्छा से वन्दना, प्रतिक्रमण आदि होते हैं।

५. अपने सदाचार के प्रति स्वाभिमान पूर्ण, गम्भीर वाणी से साधकभाव की जागृति होती है।

६. प्रभो! मैं तुम्हारा अतीतकाल हूँ, तुम मेरे भविष्यकाल हो, वर्तमान में मैं तुम्हारा अनुभव करूँ, यही भक्ति है।

७. खामेमि सव्वे जीवा- क्रोध विजय, सव्वे जीवा खमंतु मे- मान विजय, मित्ती मे सव्वभूएसु- माया विजय, वेरं मज्झं न केणइ- लोभ विजय का उपाय है।

८. रसोइये को अपने समान भोजन नहीं करा सकने वालों को, रसोइये से भोजन नहीं बनवाना चाहिए। लालसा भरी दृष्टि के कारण, उनका भोजन दूषित हो जाता है।

९. किसी की गलती प्रतीत होने पर उसके बिना माँगे, स्वयं आगे होकर सदा के लिए भूल जान वास्तविक क्षमा है।

उत्तर (१) **की हुई भूल को नहीं दोहराने से बड़ा कोई प्रायश्चित्त नहीं।**

व्याख्या- *'तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।'* साधक के जीवन में कभी कभी तीन निर्बलताएँ घर कर जाती हैं- १. मृत्यु का भय २. लक्ष्य-प्राप्ति में स्वयं को असम जानना। ३. की हुई भूल से रहित होने में संदेह। साधक वर्ग से भी भूल होना सहज है, पर भूल व भूल मानना प्रथम साधकता है और प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धीकरण कर उस भूल को न दोहराना श्रे साधकता है। कोई भी भूल होने पर साधक को प्रथम तो मन में ग्लानि के भाव उत्पन्न होते हैं, य पश्चात्ताप रूपी प्रतिक्रमण है। पश्चात्ताप का दिव्य निर्झर आत्मा पर लगे पापमल को बहाकर साफ व देता है। तत्पश्चात् साधक उस भूल की आत्मसाक्षी से निंदा करता है, गुरुसाक्षी से गर्हा करता है उ उस दूषित आत्मा का सदा-सदा के लिए त्याग करता है अर्थात् कभी न दोहराने की प्रतिज्ञा क़टिबद्ध होता है, यही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है। 'मिच्छामि दुक्कडं' भी जैन संस्कृति का महत्वपूर्ण शब्द है। यह एक शब्द सभी पापों को धोने की क्षमता रखता है, पर उसके जो भविष्य में उस पाप को नहीं करता है। 'तस्स खलु दुक्कडं मिच्छा' वस्तुतः उसी साधक का दुष्कृत निष्फल होता है। कारण कि आलोचना के पीछे पश्चात्ताप के भाव अति आवश्यक हैं और अन्तःकरण से पश्चात्ताप हो जाये तो वह भूल कभी दुबारा हो ही नहीं सकती। (उदाहरण-मृगावती)

'से य परितप्पेज्जा' व्यवहार अ.७-१७९-१८० अर्थात् परिताप करने वाले को, गण से पृथक् करना (४था, ५वाँ) नहीं कल्पता- कथन भी यही सूचित करता है कि अन्तःकरण से पश्चात्ताप सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है।

(२) **निर्दोषता(संबंधित दोष की अपेक्षा) के क्षण में ही दोष ध्यान में आता है।**

व्याख्या-आवश्यक सूत्र का प्रथम सामायिक आवश्यक- आलोउं....*तस्स उत्तरी करणेणं, पायच्छित्त करणेणं*....आत्मा को मन-वचन-काया की पाप-प्रवृत्तियों से रोककर आत्मकल्याण के एक निश्चित ध्येय की ओर लगा देने का नाम सामायिक है। इस साधना को साधने वाला साधक स्वयं को बाह्य सांसारिक दुष्प्रवृत्तियों से हटाकर आध्यात्मिक केन्द्र की ओर केन्द्रित कर लेता है और यह क्षण निर्दोषता का होता है। वर्तमान में निर्दोषता नहीं होगी तब तक दोष नजर नहीं आयेंगे। क्रोध करते समय क्रोध कभी बुरा नहीं लगता। समता के क्षण में ही ममता की भयंकरता प्रतीत होती है। भूतकाल की भूल को न दोहराने का व्रत लेने से ही वर्तमान की निर्दोषता सुरक्षित हो जाती है। शराब के नशे में धुत व्यक्ति को शराब बुरी नहीं लगती है, जब वह नशा उतर जाता है तब ही उस पदार्थ की हानि पर अपना ध्यान लगा पाता है। ठीक उसी प्रकार निर्दोषता के क्षण में ही दोष ध्यान में आते हैं। अतः जिस

क्षण स्व के दोषों की खोज की जाती है, वह क्षण निर्दोषता का होता है। जीव जाने हुए दोषों का दृढ़तापूर्वक सदैव के लिए त्याग कर दे तो वह सदैव के लिए निर्दोष बन जाता है। जानते हुए अपनी निर्दोषता को सुरक्षित रखना ही सही पुरुषार्थ है।

(३) जो इन्द्रिय और मन के वश में नहीं होता है उसके ही भाव आवश्यक होता है।

व्याख्या- 'ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि।' जैन दर्शन में प्रत्येक क्रिया को द्रव्य और भाव के भेद से देखा जाता है। भावहीन साधना अन्तर्जीवन में प्रकाश नहीं डाल सकती। अनुयोगद्वार सूत्र में भी द्रव्य व भाव का वर्णन किया गया है। भावशून्य आवश्यक करने वालों के लिए 'जस्स' शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् जिस किसी का। श्रावक-श्राविका, साधु-साध्वी के तो अनुयोगद्वार सूत्र में भावावश्यक ही स्वीकार किया गया है। भावावश्यक का विश्लेषण करते हुए फरमाया है कि- "जं णं इमे समणो वा, समणी वा, सावओ वा, साविया वा तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पियकरणे तब्भावणाभाविए अन्नत्थ कत्थइ मणं अकरमाणे उभओ कालं आवस्सयं करेंति।" जो ये शांत स्वभाव रखने वाले साधु-साध्वी, साधु के समीप जिनप्रणीत समाचारी को सुनने वाले श्रावक-श्राविका उसी आवश्यक में सामान्य प्रकार से उपयोग सहित चित्त को रखने वाले, उसी आवश्यक में विशेष प्रकार से उपयोग सहित चित्त को रखने वाले, उसी आवश्यक में शुभ परिणाम रूप लेश्या वाले, भावयुक्त उसी आवश्यक में विधिपूर्वक क्रिया करने के अध्यवसाय वाले, चढ़ते परिणाम वाले, उसी आवश्यक में सब इन्द्रियों को लगाने वाले, उसी आवश्यक में मन, वचन एवं काया को अर्पित करने वाले, उसी आवश्यक में भावना से भावित होने वाले, उसी आवश्यक के सिवाय अन्यत्र किसी स्थान पर मन न लगाते हुए चित्त की एकाग्रता रखने वाले दोनों समय उपयोग सहित आवश्यक करें। इन भावों के अभाव से किया गया आवश्यक साधना क्षेत्र में उपयोगी नहीं होता है।

इन्द्रिय और मन आत्मा को बाहर की ओर ले जाते हैं और भीतर में जाने पर ही भाव आवश्यक होता है। जो साधक इन्द्रिय एवं मन के वश में नहीं, वह है अवशी और अवशी के द्वारा होने वाला आवश्यक भाव-आवश्यक है।

(४) आत्मसाक्षी से धर्म होता है। आंतरिक इच्छा से वन्दना, प्रतिक्रमण आदि होते हैं।

व्याख्या- जैन धर्म स्वतंत्रता या इच्छा प्रधान धर्म है। यहाँ किसी आतंक या दबाव से कोई काम करना और मन में स्वयं किसी प्रकार का उल्लास न रखना अभिमत अथवा अभिहित नहीं है। बिना प्रसन्न मनोभावना के की जाने वाली धर्मक्रिया, कितनी भी क्यों न महनीय हो, अन्ततः वह मृत है, निष्प्राण है। इस प्रकार भय के भार से लदी हुई मृत धर्मक्रियाएँ तो साधक के जीवन को कुचल दे[illegible] विकासोन्मुख धर्म-साधना स्वतंत्र इच्छा चाहती है। मन की स्वयं कार्य के प्रति होने वा[illegible]

चाहती है। यही कारण है कि जैन धर्म की साधना में सर्वत्र (इच्छामि, पडिक्कमामि, इच्छा खमासमणो' आदि के रूप में सर्वप्रथम 'इच्छामि' का प्रयोग होता है। 'इच्छामि' का अर्थ है- ' स्वयं चाहता हूँ' अर्थात् यह मेरी स्वयं अपने हृदय की स्वतंत्र भावना है। 'इच्छामि का एक और भ अभिप्राय है- शिष्य गुरुदेव के चरणों में विनम्र भाव से प्रार्थना करता है कि- "भगवन्! मैं आपक वंदन करने की इच्छा रखता हूँ। अतः उचित समझें तो आज्ञा दीजिए। आपकी आज्ञा का आशीर्वा पाकर मैं धन्य-धन्य हो जाऊँगा।"

ऊपर की वाक्यावली में शिष्य वन्दन करने के लिए केवल अपनी ओर से इच्छा निवेदन कर है, सदाग्रह करता है, दुराग्रह नहीं। नमस्कार भी नमस्करणीय की इच्छा के अनुसार होना चाहिए। य है जैन संस्कृति के शिष्टाचार का अन्तर्हृदय। यहाँ नमस्कार में भी इच्छा मुख्य है, उद्दण्डता ए बलाभियोग एवं दुराग्रह नहीं। आचार्य जिनदास कहते हैं-

"एत्थ वंदितुमित्यावेदनेन अप्पच्छंदता परिहरिता।"

'इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए" यह प्रारम्भ का सूत्र आज्ञा सूत्र है। इसमें गुरुदेव से ईर्यापथिक प्रतिक्रमण की आज्ञा ली जाती है। 'इच्छामि' शब्द से ध्वनित होता है कि साधक पर बाहर का कोई दबाव नहीं है, वह अपने आप ही आत्मशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करना चाहता है और इसके लिए गुरुदेव से आज्ञा माँग रहा है। प्रायश्चित्त और दण्ड में यही तो भेद है। प्रायश्चित्त में अपराधी की इच्छा स्वयं ही अपराध को स्वीकार करने और उसकी शुद्धि के लिए उचित प्रायश्चित्त लेने की होती है। दण्ड में इच्छा के लिए कोई स्थान नहीं है। वह बलात् ही लेना होगा। दण्ड में दबाव मुख्य है। अतः प्रायश्चित्त जहाँ अपराधी की आत्मा को ऊँचा उठाता है, वहाँ दण्ड उसे नीचे गिराता है। सामाजिक व्यवस्था में दण्ड से भले ही कुछ लाभ हो, परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। यहाँ तो इच्छापूर्वक प्रसन्नता के साथ गुरुदेव के समक्ष पहले पापों की आलोचना करना और फिर उसका प्रतिक्रमण करना, जीवन की पवित्रता का मार्ग है।

(५)अपने सदाचार के प्रति स्वाभिमान पूर्ण, गम्भीर वाणी से साधकभाव की जागृति होती है।

व्याख्या- *समणोऽहं संजय-विरय.....*मायामोसविवज्जिओ। यह सूत्र आत्मसमुत्कीर्तनपरक सूत्र है। "मैं श्रमण हूँ, संयत-विरत हूँ, पापकर्म का प्रत्याख्याता हूँ, अनिदान हूँ, दृष्टिसम्पन्न हूँ, मायामृषा विवर्जित हूँ- यह बहुत उदात्त, ओजस्वी भावों से भरा हुआ अन्तर्नाद है। यह अपने सदाचार के प्रति स्वाभिमान पूर्ण गंभीर वाणी है। संभव है स्वाभिमान पूरित शब्द सुनने में किसी को अहंकार पूरित भी लगे। आत्मिक दुर्बलता का निराकरण करने के लिए साधक को ऐसा स्वाभिमान सदा सर्वत्र ग्राह्य है, आदरणीय है। उच्च संकल्प भूमि पर पहुँचा हुआ साधक ही यह विचार कर सकता है कि मैं इतना ऊँचा एक महान् साधक हूँ, फिर भला अकुशलं पापकर्म का आचरण कैसे कर सकता हूँ।

सती राजीमती ने भी ऐसे ही स्वाभिमान पूरित शब्दों से रथनेमि को चेताया था ''अहं च भोगरायस्स..: संजमं निहुओ चर।।'' (दशवैकालिक २/८) जबकि साधक को संयमोपरान्त अपने कुल-परिवार को याद नहीं करना चाहिए। यह 'आउरस्सणाणि' अनाचीर्ण है, फिर भी राजीमती की इस स्वाभिमान पूर्ण गंभीर वाणी को आगमकारों ने सुभाषित जाना और रथनेमि के साधक भाव जागृत हुए। यह तो वह आत्माभिमान है जो साधक को पापाचरण से बचाता है, यह तो वह आत्मसमुत्कीर्तन है जो साधक को धर्माचरण के लिए प्रखर स्फूर्ति, अचंचल ज्ञान-चेतना देता है तथा अन्तर्हृदय को वीररस से आप्लावित कर देता है। कीचड़ में फँसा हाथी कई रस्सियों से भी बाहर नहीं निकल पाता, पर युद्ध की भेरी, वीररस से परिपूर्ण स्वरों को सुन ऐसा आत्मसामर्थ्य जगाता है कि क्षण भर में दल-दल से बाहर निकल आता है।

(६) प्रभो! मैं तुम्हारा अतीतकाल हूँ, तुम मेरे भविष्यकाल हो, वर्तमान में मैं तुम्हारा अनुभव करूँ, यही भक्ति है।

व्याख्या- लोगस्स, उत्कीर्तन सूत्र-

जैन दर्शन की यह विशेषता है कि इसमें भक्त और भगवान् का वर्ग अलग-अलग नहीं माना है। यहाँ तो फरमाया है कि हर साधक दोषों को देख उन्हें दूर करने का पुरुषार्थ करे तो सिद्ध हो सकता है। आत्मा, परमात्मा पद पा सकती है, दोषी, निर्दोष बन सकता है; इंसान ही ईश्वर बन सकता है। प्रथम आवश्यक में साधक निज दोषों को देखता है। कोई-कोई साधक अपने प्रति घृणा, हीनता की भावना से ग्रस्त हो जाते हैं। उस हीनता की ग्रंथि का नाश हो, इसलिए उत्कीर्तन करते हैं। उन महापुरुषों की स्तुति जो हम जैसे जीवन से ऊपर उठे, पूर्णता में पूर्ण लीन हो गये।

आत्मविश्वास को जगा, लक्ष्य की सही पहचान करने के लिए, लक्ष्य को प्राप्त करने वाले साध्य को प्राप्त अरिहंतों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया जाता है। विहूयरयमला- मेरे समान ही कर्मरज से आप्लावित जीव भी पुरुषार्थ कर कर्म-रज से दूर हो गये। जन्म-जरा-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो गये।

अतः यह देख आत्मविश्वास जगता है, व्याकुलता बढ़ती है और भावना जगती है- सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु। अर्थात् मैं भी अव्याबाध सुख, अनन्त ज्ञान-दर्शन से युक्त मोक्ष को प्राप्त करूँ। साधक तो जानता है कि सिद्धि स्वयं के पुरुषार्थ से मिलती है। परन्तु वह निज दोष अवलोकन कर निर्दोष बनना चाहता है। उस बीच किंचित् भी अहंकार न आ जाये, इसलिए दायक भाव उपचारित कर 'दिंतु' शब्द का प्रयोग किया गया है।

साधक को अपने दोषों से व्याकुलता बढ़ती है, तब वह अदृश्य द्रष्टा का आभास पा, उपलब्ध आत्म-आनन्द की अनुभूति से विभोर हो उठता है- कित्तिय वंदिय महिया....। ''हे प्रभो! मम विभो! आप भी मेरे समान सांसारिक बंधनों से आबद्ध थे, अब विमुक्त बन गये, मैं भी शीघ्रातिशीघ्र आपके

समान विमुक्त बनूँ।

(७) खामेमि सव्वे जीवा- क्रोध विजय, सव्वे जीवा खमंतु मे- मान विजय, मित्ती मे सव्वभूएसु- माया विजय, वेरं मज्झं न केणइ- लोभ विजय का उपाय है।

व्याख्या- दशवैकालिक सूत्र में बताया गया है कि 'कोहो पीइं पणासेइ' क्रोध से प्रीति का नाश होता है। 'खामेमि सव्वे जीवा' में जीवमात्र पर प्रेम-प्रीति का महान् आदर्श हमारे सामने उपस्थित होता है। भीतर रहे हुए क्रोध का शमनकर मैं जीवमात्र को खमाता हूँ। क्रोध उपशान्त हुए बिना, क्षमा का भाव आ ही नहीं सकता। आत्मीयता के धरातल पर ही साधक का जीवन पल्लवित एवं पुष्पित होता है। उत्तराध्ययन के २९वें अध्ययन में बताया- 'कोहविजएणं खंतिं जणयइ' क्रोध को जीतने से क्षमा गुण की प्राप्ति होती है। जब तक छद्मस्थ अवस्था है, तब तक सर्वगुण सम्पन्न कोई नहीं। सभी में दोष विद्यमान हैं तो सभी में गुण विद्यमान हैं। कम-ज्यादा प्रमाण हो सकता है। किन्तु दोषी के प्रति द्वेष करना भी तो नये दोष को जन्म देता है। अतः तत्क्षण दोषी पर द्वेष न करते हुए, उस पर माध्यस्थ भाव रखकर सम्यक् चिन्तन द्वारा मन को मोड़ना और सामने वाला कुछ कहे उसके पहले स्वयं आगे होकर सदा के लिये उसे क्षमा कर देना। यही तो क्रोध विजय है, जो 'खामेमि सव्वे जीवा' द्वारा घटित होता है।

'सव्वे जीवा खमंतु मे' अर्थात् सभी जीव मुझे क्षमा करें। इस पद में लघुता का भाव दिखाई देता है। किसी कवि ने कहा है- 'झुकता वही है जिसमें जान है और अकड़पन तो मुर्दे की खास पहचान है।' ''अहंकारी दुःखी थवा तैयार छे, पण झुकी जवा तैयार नथी।'' अहंकारी व्यक्ति कभी नमना, झुकना पसंद नहीं करता, क्योंकि उसकी मान्यता है-"I am Something" जब तक जीवन में लघुता नहीं आती, तब तक झुकना संभव नहीं है। 'सव्वे जीवा खमंतु मे' द्वारा साधक मृदुता से परिपूर्ण होकर कहता है- मैंने किसी का अपराध किया हो तो मैं क्षमायाचना करता हूँ। आप मुझे क्षमा करें। उत्तराध्ययन में बताया 'माणविजएण मद्दवं जणयइ।' मृदुता के साथ क्षमा माँगता है, अतः मान विजय भी उक्त पद द्वारा घटित होता है।

मित्ती मे सव्वभूएसु- दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ८ में बताया है- 'माया मित्ताणि णासेइ' माया मित्रता का नाश करने वाली है। जहाँ कपट है, दंभ है, वहाँ मैत्री कैसी? और जहाँ मैत्री है वहाँ कपट कैसा? वहाँ तो सरलता है, स्वच्छता है, सहृदयता है, निष्कपटता है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना है। कोई लुकाव-छिपाव नहीं है। केवल आत्मिक आत्मीयता है। अपनत्व की अनन्य अनुभूति है। जहाँ अपनत्व है, वहाँ कपट नहीं। मित्रता के लिए सरलता होनी जरूरी है- 'मित्ती मे सव्व भूएसु' पद में सरलता झलकती है, जो मान विजय से ही प्राप्त होती है।

वेरं मज्झं ण केणइ- लोभ विजय का सूचक है। लोभ को पाप का बाप बताया है। प्रत्येक

व्यक्ति की दृष्टि स्वार्थपूर्ति, उदरपूर्ति से युक्त दृष्टिगोचर होती है और उस स्वार्थपूर्ति में जो वस्तु/व्यक्ति बाधक बनता है, साधक उसके साथ वैर (द्वेष) कर लेता है। इच्छापूर्ति के लिए वह क्या नहीं करता? रथमूसल संग्राम इस बात का साक्षी है। पद्मावती की इच्छापूर्ति के लिए (केवल एक हार-हाथी के लिए) कितना घोर घमासान? उत्तराध्ययन सूत्र में बताया- 'लोभनिवृत्ति से ही संतोष की प्राप्ति होती है। यदि व्यक्ति संतोषी होगा तो न स्वार्थपूर्ति के लिए उसे इतना भटकना पड़ेगा और न ही इतना किसी से वैर होगा? क्योंकि वैर तो स्वार्थपूर्ति में बाधक बनने वाले से होता है। यदि भटकन ही न होगी तो वैर या अड़चन कैसी? 'वेरं मज्झं ण केणइ' द्वारा साधक कहता है- मेरा किसी से कोई वैर नहीं है। मैंने संतोष को अपना लिया है, अब मेरे द्वारा दूसरों को पीड़ा हो, ऐसा कार्य कदापि नहीं होगा। 'संसार के संसरण को समाप्त करने का अभिलाषी सांसारिक विडम्बनाओं से ऊपर उठ आत्मभाव के धरातल पर प्रत्येक जीव में अपनत्व की अनादि से अननुभूत अनुभूति को कर, आत्मविभोर हो- 'वेरं मज्झं ण केणई' के उद्घोष को गुंजित करके ही साधना का प्रारम्भ करता है। जैसे मुझे अपने सुख में बाधा मंजूर नहीं है, वैसे ही सभी जीवों को भी। अतः वैर को जन्म देने वाले लोभ, लालसा, तृष्णा का त्यागकर मैं संतोष धारण करता हूँ और परिग्रह परिमाण (श्रावक के लिए), अपरिग्रह महाव्रत (साधु के लिए) को भी सार्थक करता हूँ। मेरे भीतर में वैर नहीं अर्थात् किसी के प्रति दुर्भाव का संग्रह-परिग्रह नहीं- लोभ-लालसा नहीं।

(८) रसोइये को अपने समान भोजन नहीं करा सकने वालों को, रसोइये से भोजन नहीं बनवाना चाहिए। लालसा भरी दृष्टि के कारण, उनका भोजन दूषित हो जाता है।

व्याख्या- एकासन के प्रत्याख्यान में सागरियागारेणं भी एक आगार बताया। सागारिकाकार का अर्थ है- साधु के लिए गृहस्थ के भोजन के स्थान पर स्थित रहने पर अन्यत्र जाकर आहार करने का आगार और गृहस्थ के लिए जिसके सामने भोजन करना अनुचित हो, ऐसे व्यक्ति के भोजन स्थल पर आकर स्थित रहने पर अन्यत्र जाकर आहार करने का आगार। एकासन में भी यह आगार है, छूट है। यदि हम रसोइये को अपने समान भोजन नहीं करा सकते तो उससे आहार भी नहीं बनवाना चाहिए। क्योंकि उसकी दृष्टि लालसायुक्त होती है। वह सोचता है कि मालिक स्वयं तो सरस, गरिष्ठ, स्वादयुक्त आहार करता है और मुझे लूखा-सूखा आहार देता है। आहार बनाते समय उसकी मानसिकता द्वेषयुक्त होती है। लालसा-तृष्णा तथा लोभयुक्त होती है। उसकी दृष्टि में एक प्रकार की हाय होती है और कभी-कभी तो वह दुराशीष भी दे बैठता है। वृद्ध अनुभवियों का भी कहना है कि 'जैसो खावे अन्न, वैसो होवे मन' उस दूषित आहार को ग्रहण करने से हमारी मानसिकता भी दूषित हो जाती है। एकासन में भी ऐसे व्यक्ति के सामने रहने पर स्थान परिवर्तन का आगार है। तो सामान्य स्थितियों में तो अपने समान भोजन नहीं करा सकने वालों को तो रसोइये से आहार बनवाना भी नहीं चाहिए, ऐसा आगम

'सागारियागारेणं' से स्पष्ट होता है।

(९) किसी की गलती प्रतीत होने पर उसके बिना माँगे, स्वयं आगे होकर सदा के लिए भूल जाना वास्तविक क्षमा है।

व्याख्या- क्षमापना सूत्र- 'खामेमि सव्वे जीवा'

मैं सबको क्षमा प्रदान करता हूँ। क्षमा का अर्थ है- सहनशीलता रखना। किसी के किये अपराध को अन्तर्हृदय से भूल जाना, दूसरों के अनुचित व्यवहार की ओर कुछ भी लक्ष्य न देना, प्रत्युत अपराधी पर अनुराग और प्रेम का मधुर भाव रखना क्षमाधर्म की उत्कृष्ट विशेषता है। वृहत्कल्प सूत्र के प्रथम उद्देशक के ३५वें सूत्र में कहा है कि- कभी कोई भिक्षु तीव्र कषायोदय में आकर स्वेच्छावश उपशांत न होना चाहे, तब दूसरे उपशांत भिक्षु स्वयं आगे होकर उसे क्षमा प्रदान करे। इससे भी वह उपशान्त न हो और व्यवहार में शांति भी न लावे, तो उसके किसी भी प्रकार के व्यवहार से पुनः अशान्त नहीं होना चाहिए। उसके लिए अपराध को सदा के लिए भूलकर पूर्ण उपशांत एवं कषाय रहित हो जाने से स्वयं की आराधना हो सकती है और दूसरे के अनुपशांत रहने पर उसकी ही विराधना होती है, दोनों की नहीं। अतः साधक के लिए यही जिनाज्ञा है कि वह स्वयं पूर्ण शांत हो जाए, क्योंकि 'उवसमसारं खु सामण्णं' अर्थात् कषायों की उपशांति करना ही संयम का मुख्य लक्ष्य है। इससे ही वीतरागभाव की प्राप्ति होती है। प्रत्येक स्थिति में शान्त रहना, यही संयम धारण करने का एवं पालन करने का सार है।

इस सूत्र में आगे कहा है- यदि श्रमण संघ में किसी से किसी प्रकार का कलह हो जाय तो जब तक परस्पर क्षमा न माँग लें, तब तक आहार पानी लेने नहीं जा सकते, शौच नहीं जा सकते, स्वाध्याय भी नहीं कर सकते। क्षमा के लिए कितना कठोर अनुशासन है।

क्षमा करने के बाद भी यदि सामने वाले की भूल स्मरण में आ जाती है, तो समझना चाहिए 'क्षमा' की ही नहीं। दूसरों के दोषों का स्मरण करना 'अक्षमा' है। यह अक्षमा भी क्रोध का ही पर्यायवाची नाम है। अंतर में द्वेष रहे बिना दूसरों की भूलों का स्मरण भी नहीं हो सकता और जहाँ द्वेष है, वहाँ क्षमा नहीं हो सकती। अपने हृदय को निर्वैर बना लेना ही क्षमापना का मुख्य उद्देश्य है। अतः यहाँ कहा गया है कि किसी की गलती प्रतीत होने पर, उसके बिना माँगे, स्वयं आगे होकर सदा के लिए भूल जाना वास्तविक क्षमा है। इस विषय में उत्तराध्ययन सूत्र का २९वाँ अध्ययन सुन्दर विवेचन प्रस्तुत करता है-खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ, पल्हायणभावमुवगए य सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ। मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काउण निब्भए भवइ।

अर्थात् किसी के द्वारा अपराध हो जाने पर प्रतिकार-सामर्थ्य होते हुए भी उसकी उपेक्षा कर देना क्षमा है। क्षमापना से चित्त में परम प्रसन्नता उत्पन्न होती है। वह सभी प्राणियों के साथ मैत्री-भाव

संपादन कर लेता है। इससे राग-द्वेष का क्षय होकर भाव-विशुद्धि होती है और भाव विशुद्धि से व्यक्ति निर्भय हो जाता है।

प्रश्न १२५ अतिचारों में से निम्नांकित कार्यों में मुख्य रूप से कौन सा अतिचार लगता है और क्यों?

१. बिना पूँजे रात्रि में शयन करना २. बड़ों की अविनय आशातना करना ३. दीक्षार्थी के जुलूस को देखना ४. ताजमहल देखने जाना ५. निर्धारित समय पर निर्धारित घर में चाय लेने जाना ६. मनपसन्द वस्तु स्वाद लेकर खाना ७. चारों प्रहर में स्वाध्याय न करना ८. अयतना से बैठना ९. शीतल वायु के स्पर्श में सुख अनुभव करना।

उत्तर **सामान्य रूप से कथन-** ज्ञान के १४, दर्शन के ५, संलेखना के ५, पाँच महाव्रतों की भावना के २५, रात्रि भोजन के २, ईर्या समिति के ४, भाषा समिति के २, एषणा समिति के ४७, आदान भाण्ड मात्र निक्षेपणा समिति के २, उच्चार-प्रस्रवण-खेल-सिंघाण-जल्ल परिष्ठापनिका समिति के १०, मनोगुप्ति के ३, वचन गुप्ति के ३, काय गुप्ति के ३(संरंभ, समारंभ और आरंभ तीनों में) कुल १२५।

(१) बिना पूँजे रात्रि में शयन करना- अतिचार संख्या २४वाँ (१००-१०१), निक्षेपणा समिति (११८-१२६) काय गुप्ति 'आदान भण्ड-मत्त निक्खेवणा समिई भावणा' संयमी को चाहिए कि संयम-साधना में उपयोगी उपकरणों को यतनापूर्वक ग्रहण करे एवं यतना पूर्वक रखे। बिना पूँजे रात्रि में शयन करने से छः काय की विराधना होने की संभावना रहती है। अतः साधक को अपने देह की एवं शय्या संस्तारक आदि की भी प्रतिलेखना कर ही शयन करना चाहिए, नहीं तो उसके अहिंसा महाव्रत में दोष लगता है।

(आचारांग २-३-१ सूत्र ७१४ से भिक्खू वा बहुफासुए सेज्जासंथारए दुरूहमाणे से पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जिय पमज्जित्ता तओ संजयामेव बहुफासुए सिज्जासंथारए दुरूहिज्जा दुरूहित्ता तओ संजयामेव बहुफासुए सेज्जासंथारए सएज्जा)

(२) बड़ों की अविनय आशातना करना- अतिचार संख्या ३४, विणय समिई भावणा। साधक को अपने गुरुजनों का, साधर्मिक साधु-साध्वियों का विनय करना चाहिए। विनय धर्म का मूल है, विनय तप भी है। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि आगमों में विनय को विशेष महत्त्व दिया है। यदि साधक भगवान् की आज्ञा की आराधना नहीं करता, तो उसके तीसरे महाव्रत में दोष लगता है। कहा भी है कि तीन वंदना भी यदि अविधि या अविनय से करे तो तीसरे महाव्रत में दोष लगता है।

(३) दीक्षार्थी के जुलूस को देखना- अतिचार संख्या ४१- चक्षुइन्द्रिय असंयम। साधक तो स्वकेन्द्रित होते हैं। संयम पथ पर बढ़ती हुई विरक्त आत्मा को देख अनुमोदना करते हैं। किन्तु जुलूस आदि देखने से मात्र चक्षु-इन्द्रिय का विषय पोषित होता है। परिग्रह, द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकार का

है। उस दृश्य के प्रति लोभ ही खींचकर देखने के स्थान तक ले जाता है, लोभ से अपरिग्रह महाव्रत में दोष लगना सहज है।

(४) ताजमहल देखने जाना- ४७वाँ अतिचार- देखने जाने में तो ईर्या समिति का अतिचार है, क्योंकि ईर्या का आलम्बन ज्ञान-दर्शन-चारित्र है- *''तत्थ आलम्बणं नाणं दंसणं चरणं तहा''* जबकि ताजमहल देखने के निमित्त जाने में एक भी आलम्बन सिद्ध नहीं होता तथा अतिचार संख्या १६ तथा ४१ कई तथा चक्षुइन्द्रिय असंयम भी लगते हैं । ताजमहल, कुतुबमीनार, हाथी दाँत की मूर्तियाँ, काँच के महल, सरोवर, पर्वत आदि देखना संयमी जीवन के लिए अनुचित कार्य हैं। साधक का जीव रागप्रधान नहीं, वैराग्य प्रधान होता है। वैराग्यप्रधान जीवन में चक्षु-इन्द्रिय के विषय को पोषित कर वाले दृश्य तुच्छ प्रतीत होते हैं। साधक का लक्ष्य आत्मावलोकन है, बाह्य अवलोकन नहीं। बाहर दृश्य के प्रति राग संयमी साधक के अपरिग्रह महाव्रत को तो दूषित करते ही हैं साथ में दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व में भी दोष लगाते हैं। बाह्य आडम्बर देखना, उनकी आकांक्षा करना, संयम के म दर्शन गुण में अतिचार का कारण होता है। साधक का जीवन कई भव्य आत्माओं द्वारा अनुकरण होता है। वे आत्माएँ साधक को ऐसा करते हुए देखेंगी तो उनके पवित्र हृदय में भी उस स्थान के प्रति श्रद्धा जग सकती है। अतः ऐसी अनुचित प्रवृत्ति से साधुत्व तो मलिन होता ही है, अन्यान्य जीवों को भी दिग्भ्रम होता है।

(५) निर्धारित समय पर निर्धारित घर में चाय लेने जाना- अतिचार संख्या ५३ वाँ, साथ ही और भी कई.... साधक वर्ग मात्र संयम पालन के लिए आहार-पानी ग्रहण करते हैं। ऐसे जीवन में चाय, काफी आदि तामसिक पदार्थो की तो कोई आवश्यकता ही नहीं होती। बीमारी आदि के समय उस अवस्था में इन पदार्थो की आवश्यकता हो सकती है, किन्तु नियमितता तथा निर्धारितता नहीं होती। यहाँ चाय के समान अन्य खाद्य पदार्थो को भी समझा जाए। यदि निर्धारित समय पर चाय आदि लेने जाए तो एषणा समिति के कई अतिचारों की संभावना रहती है। <u>आधाकर्मी-</u> गृहस्थ को पता रहेगा कि अभी साधु-साध्वी यह पदार्थ लेने आने वाले हैं तो वह स्वयं की आवश्यकता न होने पर भी उनके लिए बनाकर रखेगा। इसमें ठवणा की भी पूरी-पूरी संभावना रहती है। <u>मिश्रजात-</u> अध्यवपूरक जैसे कई अतिचारों की संभावना बनी हुई रहती है। स्वयं की लोभवृत्ति होने से रसनेन्द्रिय असंयम होगा और अखण्ड रूप से ग्रहण किये गये पहले व ५वें महाव्रत में भी दोष लगेगा। स्वयं की लोभ प्रवृत्ति उत्पादना का भी दोष है। महाव्रतों, समिति आदि में दोष रूप थोड़ी सी चाय भारी कर्मबंध की हेतु बन सकती है।

(६) मनपसंद वस्तु स्वाद लेकर खाना- अतिचार संख्या ४३ और ९८ स्पर्शनेन्द्रिय असंयम। साधक को आहार, रसनेन्द्रिय के विषय को वश में रखकर करना चाहिए' मनोज्ञ वस्तु मिलने पर उसकी

प्रशंसा करते हुए खाने से संयम कोयले के समान हो जाता है। इससे तीसरी समिति में दोष लगता है, उस वस्तु के प्रति राग रखने से अपरिग्रह महाव्रत भी दूषित होता है।

(७) चारों प्रहर में स्वाध्याय नहीं करना- अतिचार संख्या १२वाँ काले न कओ सज्झाओ- साधक को ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की निर्जरा के लिए, अप्रमत्तता को बनाये रखने के लिए, चारों काल में स्वाध्याय करना चाहिए। अगर वह चारों प्रहर में स्वाध्याय नहीं करता है तो ज्ञान का अतिचार लगता है। ज्ञान के प्रति बहुमान, आदर के भाव होने पर तो स्वाध्याय निरन्तर होता है। ज्ञान आराधना के प्रति लापरवाह हो स्वाध्याय नहीं करने से ज्ञानातिचार लगता है।

(८) अयतना से बैठना- अतिचार संख्यां ११८-१२० कायगुप्ति नहीं रखना तथा १००-१०१ निक्षेपणा समिति का पालन न करना। साधु का जीवन यतना प्रधान जीवन है। उठना, बैठना, सोना, खाना, चलना आदि सभी कार्यों में यतना अत्यावश्यक है। उपासक वर्ग के लिए ५ समिति के साथ ही ३ गुप्ति भी ध्यातव्य है। अयतना से बैठना, हाथ-पैर फैलाना, समेटना आदि प्रवृत्तियाँ काय गुप्ति की खण्डना करती हैं। अतः साधक को दिन में विवेकपूर्वक देखकर तथा रात्रि में पूँजकर बैठना चाहिए। यहाँ तक कि रात्रि में दीवार का सहारा भी लेना पड़े तो बिना दीवार को पूँजे, सहारा लेना काय-अगुप्ति है। काया भी संयम में एक सहयोगी साधन ही है। उसमें अयतना चौथी समिति में भी दोष का कारण है।

(९) शीतल वायु के स्पर्श से सुख अनुभव करना- अतिचार क्रम संख्या ४४ स्पर्शनेन्द्रिय असंयम। साधक को वीतराग भगवन्तों ने आगम में स्थान-स्थान पर इन्द्रियों को वश में रखने की प्रेरणा दी है। संयम भी तभी सुरक्षित रह सकता है। अतः साधक कछुए के समान इन्द्रियों को गोपित करते हुए चले। संयमी साधक ग्रीष्मऋतु में शीतलवायु आने के स्थान को ढूँढ कर वहाँ बैठकर सुख का अनुभव करता है तो अपरिग्रह महाव्रत में दोष लगता है। शरीर पर मोह होना भी परिग्रह का ही रूप है।

प्रश्न अन्तर बताइये- १. पगामसिज्जाए एवं निगामसिज्जाए में, २. चरण सत्तरी एवं करणसत्तरी में, ३.कायोत्सर्ग एवं कायक्लेश में, ४. श्रद्धा,प्रतीति एवं रुचि में, ५. संकल्प एवं विकल्प में, ६. अकाले कओ सज्झाओ एवं असज्झाए सज्झाइयं में।

उत्तर- **१. पगामसिज्जाए एवं निगामसिज्जाए में अन्तर-** 'पगामसिज्जाए' का संस्कृत रूप 'प्रकामशय्या' होता है। शय्या शब्द शयन वाचक है और प्रकाम अत्यन्त का सूचक है। अतः प्रकामशय्या का अर्थ होता है- अत्यन्त सोना, चिरकाल तक सोना (उसमें)। इसके अतिरिक्त प्रकामशय्या का एक अर्थ और भी है, उसमें 'शेरेतेऽस्यामिति शय्या' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'शय्या' शब्द संथारे के बिछौने का वाचक है। और प्रकाम उत्कट अर्थ का वाचक है। इसका अर्थ होता है- प्रमाण से बाहर बड़ी एवं गद्देदार, कोमल गुदगुदी शय्या। यह शय्या साधु के कठोर एवं कर्मठ जीवन के लिए वर्जित है।

प्रतिपल के विकट जीवन संग्राम में उसे कहाँ आराम की फुर्सत है। कोमल शय्या का उपभोग करेगा तो अधिक देर तक आलस्य में पड़ा रहेगा। फलतः स्वाध्याय आदि धर्म क्रियाओं का भलीभाँति पालन न हो सकेगा।

'निगामसिज्जाए' का संस्कृत रूप 'निकामशय्या' है। जिसका अर्थ है- बार-बार अधिक काल तक सोते रहना। 'प्रकामशय्या' में सोने का उल्लेख है, किन्तु निकामशय्या में सोने के साथ प्रतिदिन और बार-बार शब्द अधिक प्रयुक्त हुआ है अर्थात् प्रकामशय्या का ही बार-बार सेवन करना, बार-बार अधिक काल तक सोये रहना 'निकामशय्या' है। इससे प्रमाद की अधिक अभिवृद्धि होती है, आत्म-विस्मरण होता है।

२. चरणसत्तरी एवं करणसत्तरी में अन्तर- चरणसत्तरी- चर्यतेऽनेनेति चरणम्। चरण का अर्थ चारित्र होता है। चारित्र का पालन प्रतिसमय होता है। एक प्रकार से चरण को नित्य क्रिया कह सकते हैं। इसके ७० भेद हैं यथा- ५ महाव्रत, १० प्रकार का श्रमण धर्म, १७ प्रकार का संयम, १० प्रकार की वैयावृत्त्य, ब्रह्मचर्य की ९ वाड़, ३ रत्न, १२ प्रकार का तप, ४ कषाय का निग्रह। इन ७० भेदों में से ५ महाव्रतादि का मूलगुण में समावेश होता है।

करणसत्तरी- क्रियते इति करणम्। करण का अर्थ होता है- क्रिया करना। यह प्रयोजन होने पर की जाती है। प्रयोजन न होने पर न की जाए, अर्थात् जिस अवसर पर जो क्रिया करने योग्य है, उसे करना। करण नैमित्तिक क्रिया है। इसके भी ७० भेद हैं- ४ प्रकार की पिण्ड विशुद्धि, ५ समिति, १२ भावना, १२ भिक्षु प्रतिमा, ५ इन्द्रियों का निरोध, २५ प्रकार की पडिलेहणा, ३ गुप्ति, ४ अभिग्रह = कुल ७०। स्वाध्याय तथा प्रतिलेखन उत्तर गुण हैं। अतः २५ प्रकार की पडिलेहणा का उत्तर गुण में समावेश होता है।

३. कायोत्सर्ग एवं कायक्लेश में भेद- उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन ३० में व्युत्सर्ग का एक ही प्रकार कायोत्सर्ग बताया है तथा तत्त्वार्थ सूत्र अध्ययन ९ में अनशनादि के विवेचन में बताया गया है कि व्युत्सर्ग को ही सामान्य रूप से कायोत्सर्ग कहा जाता है। व्युत्सर्ग आभ्यन्तर तप होने के कारण कायोत्सर्ग भी आभ्यन्तर तप है। आभ्यन्तर तप कर्मों की पूर्ण निर्जरा कराने में सक्षम है। उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३० तथा आवश्यक सूत्र का पाठ 'तस्स उत्तरीकरणेणं...पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं।' कर्म-निर्जरा के लिए, कर्मनाश के लिए कायोत्सर्ग होता है। कायोत्सर्ग का प्रयोजन कर्मनाश, दुःखमुक्ति या मोक्षप्राप्ति है काउस्सग्गं तओ..... सव्वदुक्ख विमोक्खणं। काय+उत्सर्ग=काया का त्याग। निःसंगता, अनासक्ति, निर्भयता को हृदय में रमाकर देह, लालसा अथवा ममत्व का त्याग करना। वैसे कायोत्सर्ग एवं कायक्लेश दोनों में ही शरीर की आसक्ति को छोड़ना पड़ता है। लेकिन कायोत्सर्ग (भाव कायोत्सर्ग) में पूर्णरूपेण ममत्व का त्याग होता है, तभी जाकर धर्मध्यान, शुक्लध्यान

की प्राप्ति होती है। इसमें कषाय त्याग भी जरूरी है, तभी भाव कायोत्सर्ग कहा जायेगा। इसके २ भेद होते हैं- १. द्रव्य २. भाव। कायोत्सर्ग तप ४ प्रकार का १. उत्थित उत्थित २. उत्थित निविष्ट ३. उपविष्ट निविष्ट ४. उपविष्ट उत्थित भी होता है।

कायक्लेश बाह्य तप है। बाह्य तप कर्मों की पूर्ण निर्जरा कराने में सक्षम नहीं है। आभ्यन्तर तप के बिना अकेला बाह्यतप पूर्ण निर्जरा कराने में असमर्थ है। कायक्लेश तप का प्रयोजन अनेकानेक आसनों द्वारा ध्यान की योग्यता संपादित करना है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि कायक्लेश का प्रयोजन कायोत्सर्ग (भाव) की प्राप्ति के लिए ही है। बाह्य तप आभ्यन्तर तप के लिए है। शास्त्र सम्मत रीति से काया अर्थात् शरीर को क्लेश पहुँचाना कायक्लेश तप है। भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशक ७ स्थानस्थितिक, उत्कुटकासनिक आदि कष्टप्रद आसन करना कायक्लेश तप है। (औपपातिक सूत्र, तप विवेचन) इसमें भी आसक्ति तो छूटती है, लेकिन शरीर की। भीतर कषायासक्ति को छोड़ने के लिए उसे कायोत्सर्ग का आधार लेना ही पड़ता है। अतः आंशिक ममत्व त्याग होता है। कायक्लेश तप १३ प्रकार का होता है।

४. श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि में भेद-

श्रद्धा-

"तर्क अगोचर सद्दहो, द्रव्य धर्म, अधर्म,
केई प्रतीतो युक्ति सुं, पुण्य पाप सकर्म।
तप चारित्र ने रोचवो कीजे तस अभिलाष,
श्रद्धा प्रत्यय रुचि तिहुं विन आगम भाष।।"

धर्मास्तिकाय ने इस जीव को बहुत भटकाया है, पूरा लोक घुमाया है। अधर्मास्तिकाय ने इस जीव को अनन्त बार स्थिर किया है। आकाशास्तिकाय ने इस जीव को अनन्त स्थान दिये हैं। काल द्रव्य ने इस शरीर को बहुत मारा और नष्ट किया है। जीवास्तिकाय वर्ण नहीं, गंध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, अरूपी एवं शाश्वत है। यदि हमारी आत्मा वर्ण, गंध, रस रहित है तो मैं बाहरी वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के पीछे राग-द्वेष करके क्यों अपनी आत्मा का नुकसान करता हूँ? इनके पीछे आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान करके अपनी आत्मा का अहित करता हूँ। ऐसा कोई क्षण नहीं, जिस वक्त इस जीव ने किसी वस्तु या व्यक्ति के पीछे राग-द्वेष न किया हो। पुद्गलों की साता भी धर्म नहीं है। पुद्गलों की शांति और मन की साता, यह आत्मा की साता से अलग है। पुद्गलास्तिकाय यह जीवों का मृत कलेवर है। इन पुद्गलों के पीछे भटकना, अपने लक्ष्य से भटकना है। बस इन्हीं तर्क अगोचर तत्त्वों पर, धर्मास्तिकाय आदि पर श्रद्धा करने के अर्थ से ही यहाँ 'सद्दहामि' शब्द प्रयुक्त हुआ है। श्रद्धा जीवन-निर्माण का मूल है। बिना श्रद्धा का ज्ञान पंगु के सदृश हो जाता है। उत्तराध्ययन के अध्ययन ३ में बताया- 'सद्धा परम दुल्लहा' किसी भी साधन की प्राप्ति इतनी दुर्लभ नहीं, जितनी श्रद्धा की प्राप्ति

दुर्लभ है। यहाँ तर्क अगोचर, धर्मास्तिकाय आदि तत्त्वों पर श्रद्धा करने रूप से 'श्रद्धा' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

प्रतीति- 'पत्तियामि' प्रतीति करता हूँ। युक्ति से समझने योग्य पुण्य- पापादि पर प्रतीति करता हूँ। व्याख्याता के साथ तर्क-वितर्क करके युक्तियों द्वारा पुण्य-पाप आदि को समझकर विश्वास करना प्रतीति है। धर्मास्तिकाय आदि तत्त्व दृष्टिगोचर नहीं होते। लेकिन वीतराग वाणी तीनों काल में सत्य-तथ्य यथार्थ है। अतः 'तमेव सच्चं' का आलम्बन लेकर उस पर श्रद्धा करनी होती है, देखने में नहीं आती, अतः विश्वास नहीं होता, लेकिन भगवान् की वाणी है, ऐसा सोचकर 'श्रद्धा' अवश्य की जाती है। यहाँ 'पत्तियामि' में तर्क अगोचर तत्त्व न होकर युक्ति से समझने योग्य तत्त्वों की बात कही गयी है। समझने के बाद विश्वास होता है, श्रद्धा नहीं। पहले श्रद्धा करता हूँ तत्पश्चात् 'पत्तियामि' के द्वारा विश्वास करता हूँ अथवा उन तत्त्वों पर प्रीति करता हूँ।

रुचि- 'रोएमि' रुचि करता हूँ। व्याख्याता द्वारा उपदिष्ट विषय में श्रद्धा करके उसके अनुसार तप-चारित्र आदि सेवन करने की इच्छा करना। "मैं श्रद्धा करता हूँ।" श्रद्धा ऊपर मन से भी की जा सकती है, अतः कहता है मैं धर्म की प्रीति करता हूँ। प्रीति होते हुए भी कभी विशेष स्थिति में रुचि नहीं रहती। अतः साधक कहता है- 'मैं धर्म के प्रति सदाकाल रुचि रखता हूँ' 'सद्दहामि' में जीव श्रद्धा करता है। 'पत्तियामि' में विश्वास करता है और 'रोएमि' में पूर्व में जो श्रद्धा हुई थी, रुचि के द्वारा उस पर आचरण की इच्छा करता है, ऐसा प्रतीत होता है।

५. संकल्प एवं विकल्प में भेद (मनगुप्ति विषयक, उत्तराध्ययन ३२.१०७)- संकल्प एवं विकल्प दोनों विचारों से संबंधित हैं। संकल्प में तो मनोज्ञ वस्तु के संयोग की इच्छा करता है। विकल्प में अमनोज्ञ वस्तु का वियोग हो जाय, ऐसा विचार करना अथवा संकल्प के विविध उपाय का चिन्तन भी विकल्प है।

दृढ़ निश्चय करना भी संकल्प है, किसी कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व की गई प्रतिज्ञा भी संकल्प है। विकल्प का शाब्दिक अर्थ- भ्रान्ति, धोखा भी है, चित्त में किसी बात को स्थिर करके, उसके विरुद्ध सोचना भी विकल्प है। जब संकल्पपूर्ति में कोई रुकावट आती है या कोई विरोध करता है, तब वह संक्लेश करता है। इन्द्रिय-क्षीणता आदि विवशताओं के कारण काम्यपदार्थों का उपभोग नहीं कर पाता है तब शोक और खेद करता है, वह अनेक विकल्पों से विषादमग्न हो जाता है। संकल्प और विकल्प दोनों आर्त्तध्यान में आते हैं एवं विरुद्ध विचार आधिक्य से रौद्रध्यान भी हो जाता है। संकल्प से विषयों में आसक्ति हो जाती है, विघ्न पड़ने पर क्रोध होता है, क्रोध से अविवेक (मूढ़भाव), अविवेक से स्मृति भ्रम, स्मृति भ्रमित होने से बुद्धि नष्ट हो जाती है, बुद्धि नाश से सर्वनाश अर्थात् श्रमण भाव से सर्वथा अधःपतन हो जाता है।

६. अकाले कओ सज्झाओ एवं असज्झाए सज्झाइयं में अन्तर- जिस सूत्र के पढ़ने का जो काल न हो, उस समय में उसे पढ़ना 'अकाले कओ सज्झाओ अतिचार है। सूत्र दो प्रकार के हैं- कालिक और उत्कालिक। जिन सूत्रों को पढ़ने के लिए प्रातःकाल, सायंकाल आदि निश्चित समय का विधान है, वे कालिक कहे जाते हैं। जिनके लिए समय की कोई मर्यादा नहीं, वे उत्कालिक हैं। कालिक सूत्रों को उनके निश्चित समय के अतिरिक्त पढ़ना 'अकाले कओ सज्झाओ' अतिचार है। ज्ञानाभ्यास के लिए काल का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। अनवसर की रागिनी अच्छी नहीं होती। यदि साधक शास्त्राध्ययन करता हुआ काल का ध्यान न रखेगा तो कब तो प्रतिलेखना करेगा, कब गोचरचर्या करेगा और कब गुरु भगवंतों की सेवा करेगा? स्वाध्याय का समय होते हुए भी जो अनावश्यक कार्य में लगा रहकर आलस्यवश स्वाध्याय नहीं करता वह ज्ञान का अनादर करता है। ठाणांग सूत्र के चौथे ठाणे में बताया है कि ४ कारणों से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रंथियों को अतिशय ज्ञान /दर्शन प्राप्त होते-होते रुक जाते हैं। जिसमें तीसरा कारण 'पुव्वारत्तावरतकालसमयंसि णो धम्मजागरियं जागरइत्ता भवति।' जो रात्रि के पहले और अन्तिम समय में (भाग में) धर्म जागरण नहीं करते उन्हें अतिशय ज्ञान प्राप्त नहीं होता। अतः काल के समय में प्रमाद कर अकाल में स्वाध्याय करना अतिचार है।

असज्झाए सज्झाइयं का तात्पर्य है- अस्वाध्याय में स्वाध्याय करना। अपने या पर के (व्रण, रुधिरादि) अस्वाध्याय में तथा रक्त, माँस, अस्थि एवं मृत कलेवर आस-पास में हो तो वहाँ अस्वाध्याय में तथा चन्द्रग्रहणादि ३४ (३२) अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने को 'असज्झाए सज्झाइयं' अतिचार कहते हैं। 'अकाले कओ सज्झाओ' में केवल काल की अस्वाध्याय है, लेकिन 'असज्झाए सज्झाइयं' में काल के साथ-साथ अन्य आकाश संबंधी, औदारिक संबंधी कुल ३४ (३२) प्रकार के अस्वाध्याय का समावेश हो जाता है। इसके दो भेद हैं- १. आत्मसमुत्थ- स्वयं के रुधिरादि से। २. परसमुत्थ- दूसरों से होने वाले को परसमुत्थ कहते हैं, जबकि 'अकाले कओ...' का कोई अवान्तरभेद नहीं है।

प्रश्न टिप्पणी लिखिए- १. अठारह हजार शीलांग रथ २. यथाजात मुद्रा ३. यापनीय ४. श्रमण ५. अवग्रह ६. निर्ग्रन्थ प्रवचन।

उत्तर (१) अठारह हजार शीलांग रथ-

जे नो करेंति मणसा, निज्जियाहार-सन्ना-सोइंदिए।
पुढवीकायारंभे, खंतिजुआ ते मुणी वंदे॥
जोगे करणे सण्णा, इंदिय भोम्माइ समणधम्मे य।
अण्णोण्णेहि अब्भत्था, अट्ठारह सीलसहस्साइं॥

जे णो करेंति	जे णो कारवेंति	जे नाणु मोयंति							
६०००	६०००	६०००							
मणसा	वयसा	कायसा							
२०००	२०००	२०००							
निज्जिया आहरसन्ना	भयसन्ना	मेहुणसन्ना	परिग्गहसन्ना						
५००	५००	५००	५००						
श्रोत्रेन्द्रिय	चक्षुरिन्द्रिय	घ्राणेन्द्रिय	रसनेन्द्रिय	स्पर्शनेन्द्रिय					
१००	१००	१००	१००	१००					
पृथ्वी	अप्	तेउ	वायु	वनस्पति	बेइ.	तेइ.	चउ.	पंचे.	अजीव
१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०
क्षान्ति	मुक्ति	आर्जव	मार्दव	लाघव	सत्य	संयम	तप	ब्रह्मचर्य	अकिंचन

१० आरम्भ x १० यति धर्म = १०० भेद
पाँचों इन्द्रियों के भी प्रत्येक के १०० = १०० x ५ = ५००
ये प्रत्येक संज्ञा ५०० भेद = ५०० x ४ = २०००
२००० x ३ योग = ६०००
६००० x ३ करण = १८००० शीलांग रथ धारा

(२) **यथाजात मुद्रा-** गुरुदेव के चरणों में वन्दन क्रिया करने के लिये शिष्य को यथाजात मुद्रा का अभिनय करना चाहिए। दोनों ही 'खमासमण सूत्र' यथाजात मुद्रा में पढ़ने का विधान है। यथाजात का अर्थ है- यथा-जन्म अर्थात् जिस मुद्रा में बालक का जन्म होता है, उस जन्मकालीन मुद्रा के समान मुद्रा। जब बालक माता के गर्भ में जन्म लेता है, तब वह नग्न होता है, उसके दोनों हाथ मस्तक पर लगे हुए होते हैं। संसार का कोई भी वासनामय प्रभाव उस पर नहीं पड़ा होता है। वह सरलता, मृदुता, विनम्रता और सहृदयता का जीवित प्रतीक होता है। अस्तु शिष्य को भी वन्दन के लिए इसी प्रकार सरलता, मृदुता, विनम्रता एवं सहृदयता का जीवित प्रतीक होना चाहए। बालक अज्ञान में है, अतः वहाँ कोई साधना नहीं है। परन्तु साधक तो ज्ञानी है। वह सरलता आदि गुणों को साधना की दृष्टि से विवेकपूर्वक अपनाता है। जीवन के कण-कण में नम्रता का रस बरसाता है। गुरुदेव के समक्ष एक सद्यःसंजात बालक के समान दयापात्र स्थिति में प्रवेश करता है और इस प्रकार अपने को क्षमा-भिक्षा का योग्य अधिकारी प्रमाणित करता है।

यथाजात मुद्रा में वन्दनार्थी शिष्य सर्वथा नग्न तो नहीं होता, परन्तु रजोहरण, मुखवस्त्रिका और चोलपट्ट के अतिरिक्त कोई वस्तु अपने पास नहीं रखता है और इस प्रकार बालक के समान नग्नता का रूपक अपनाता है। भयंकर शीतकाल में भी यह नग्न मुद्रा अपनाई जाती है। प्राचीन काल में यह पद्धति रही है। परन्तु आजकल तो कपाल पर दोनों हाथों को लगाकर प्रणाम मुद्रा कर लेने में ही यथाजात मुद्रा की पूर्ति मान ली जाती है।

यथाजात का अर्थ 'श्रमणवृत्ति धारण करते समय की मुद्रा' भी किया जाता है। श्रमण होना भी संसार गर्भ से निकलकर एक विशुद्ध आध्यात्मिक जन्म ग्रहण करना है। जब साधक श्रमण बनता है तब रजोहरण, मुखवस्त्रिका और चोलपट्ट के अतिरिक्त और कुछ भी अपने पास नहीं रखता है एवं दोनों हाथों को मस्तक से लगाकर वन्दन करने की मुद्रा में गुरुदेव के समक्ष खड़ा होता है। अतः मुनि दीक्षा ग्रहण करने के काल की मुद्रा भी यथाजात मुद्रा कहलाती है।

(३) यापनीय- यापनीय कहने का अभिप्राय यह है कि 'मैं' अपने पवित्र भाव से वन्दन करता हूँ। मेरा शरीर वन्दन करने की सामर्थ्य रखता है, अतः किसी दबाव से लाचार होकर गिरी-पड़ी हालत में वन्दन करने नहीं आया हूँ। अपितु वंदना की भावना से उत्फुल्ल एवं रोमांचित हुए सशक्त शरीर से वन्दना के लिए तैयार हुआ हूँ। सशक्त एवं समर्थ शरीर ही विधिपूर्वक धर्मक्रिया का आराधन कर सकता है। दुर्बल शरीर प्रथम तो धर्मक्रिया कर नहीं सकता और यदि किसी के भय से या स्वयं हठाग्रह से करता भी है तो वह अविधि से करता है। जो लाभ की अपेक्षा हानिप्रद अधिक है। धर्म-साधना का रंग स्वस्थ एवं सबल शरीर होने पर ही जमता है। यापनीय शब्द की यही ध्वनि है, यदि कोई सुन और समझ सके तो? 'जावणिज्जाए निसीहियाए त्ति अणेण शक्रत्वं विधि य दरिसिता' यात्रा के समान 'यापनीय' शब्द भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। यापनीय का अर्थ है- मन और इन्द्रिय आदि पर अधिकार रखना। अर्थात् उनको अपने वश में- नियंत्रण में रखना। मन और इन्द्रियों का अनुपशान्त रहना, अनियन्त्रित रहना, अकुशलता है, अयापनीयता है और इनका उपशान्त हो जाना नियंन्त्रित हो जाना ही कुशलता है, यापनीयता है। कुछ हिन्दी टीकाकार- पं. सुखलाल जी ने 'जवणिज्जं च भे' की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'आपका शरीर, मन तथा इन्द्रियों की पीड़ा से रहित है।'

आचार्य हरिभद्र ने भी इस संबंध में कहा है- 'यापनीयं चेन्द्रिय- नोइन्द्रियोपशमादिना अकारेणं भवतां शरीरमिति गम्यते।' यहाँ इन्द्रिय से इन्द्रिय और नोइन्द्रिय से मन समझा गया है और ऊपर के अर्थ की कल्पना की गई है।

परन्तु भगवती सूत्र में यापनीय का निरूपण करते हुए कहा है कि- यापनीय दो प्रकार के हैं- इन्द्रिययापनीय और नोइन्द्रिययापनीय। पाँचों इन्द्रिय का निरुपहत रूप से अपने वश में होना, इन्द्रिय यापनीयता है और क्रोधादि कषायों का उच्छिन्न होना, उदय न होना, उपशान्त हो जाना, नोइन्द्रिय यापनीयता है।

''जवणिज्जे दुविहे पण्णत्ते तंजहा ! इन्द्रियाजवणिज्जे य नोइन्द्रिय जवणिज्जे य'' आचार्य अभयदेव भगवतीसूत्र के उपर्युक्त पाठ का विवेचन करते हुए लिखते हैं-यापनीयं= मोक्षाध्वनि गच्छतां प्रयोजक-इन्द्रियादिवश्यतारूपो धर्मः। भगवती सूत्र में नोइन्द्रिय से मन नहीं, किन्तु कषाय का ग्रहण किया गया है, कषाय चूंकि इन्द्रिय सहचरित होते हैं, अतः नो इन्द्रिय कहे जाते हैं।

आचार्य जिनदास भी भगवती सूत्र का ही अनुसरण करते हैं- ''इन्द्रिय जवणिज्जं निरुवहताणि वसे य मे वट्टंति इंदियाणि, नो खलु कज्जस्स बाधाए वट्टंति इत्यर्थः। एवं नोइन्द्रियजवणिज्जं कोधादिए णो मे बाहेंति''-आवश्यक चूर्णि।

उपर्युक्त विचारों के अनुसार यापनीय शब्द का भावार्थ यह है कि 'भगवन्! आपकी इन्द्रिय विजय की साधना ठीक-ठीक चल रही है? इन्द्रियाँ आपकी धर्म साधना में बाधक तो नहीं होतीं? अनुकूल ही रहती हैं न? और नोइन्द्रिय विजय भी ठीक-ठीक चल रही है न? क्रोधादि कषाय शान्त है न? आपकी धर्मसाधना में कभी बाधा तो नहीं पहुँचाते?

(४) श्रमण- १. श्रमण शब्द 'श्रम्' धातु से बना है। इसका अर्थ है श्रम करना। प्राकृत शब्द 'समण' के संस्कृत में तीन रूपान्तर होते हैं- श्रमण, समन और शमन। २. समन का अर्थ है समता भाव अर्थात् सभी को आत्मवत् समझना। सभी के प्रति समता भाव रखना। दूसरों के प्रति व्यवहार की कसौटी आत्मा है। जो बातें अपने को बुरी लगती हैं, वे दूसरों के लिए भी बुरी हैं। ''आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'' यही हमारे व्यवहार का आधार होना चाहिए। ३. शमन का अर्थ है- अपनी वृत्तियों को शान्त करना।

''जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं। न हणइ न हणावेइ य समणुणइ तेण सो समणो।'' जिस प्रकार मुझे दुःख अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार संसार के अन्य सब जीवों को भी अच्छा नहीं लगता है। यह समझकर जो स्वयं न हिंसा करता है, न दूसरों से करवाता है और न किसी प्रकार की हिंसा का अनुमोदन ही करता है, अर्थात् सभी प्राणियों में समत्व बुद्धि रखता है, वह श्रमण है।

''णत्थि य से कोई वेसो, पिओ असव्वेसु चेव जीवेसु। एएण होइ समणो, एसो अन्नो वि पज्जाओ'' जो किसी से द्वेष नहीं करता, जिसको जीव समान भाव से प्रिय हैं, वह श्रमण है। यह श्रमण का दूसरा पर्याय है। आचार्य हेमचन्द्र उक्त गाथा के 'समण' शब्द का निर्वचन 'सममन' करते हैं। जिसका सा सब जीवों पर सम अर्थात् समान मन अर्थात् हृदय हो वह सममना कहलाता है।

''तो समणो जइ सुमणो, भावेइ जइण होइ पावमणो। समणे य जणे य समो, समो अ माणावमाणेसु।''

श्रमण सुमना होता है, वह कभी भी पापमना नहीं होता। अर्थात् जिसका मन सदा प्रफुल्लित रहता है, जो कभी भी पापमय चिंतन नहीं करता, जो स्वजन और परजन में तथा मान-अपमान में बुद्धि का उचित संतुलन रखता है, वह श्रमण है। आचार्य हरिभद्र दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की तीसरी गाथा का मर्मोद्घाटन करते हुए श्रमण का अर्थ तपस्वी करते हैं। अर्थात् जो अपने ही श्रम से तपःसाधना से मुक्ति लाभ प्राप्त करते हैं, वे श्रमण कहलाते हैं। 'श्राम्यन्तीति श्रमणाः तपस्यन्तीत्यर्थः

आचार्य शीलांक भी सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अन्तर्गत १६वें अध्ययन में 'श्रमण' शब्द की यही श्रम और सम संबंधी अमर घोषणा कर रहे हैं- "श्राम्यति तपसा खिद्यत इति कृत्वा श्रमणो वाच्योऽथवा समं तुल्य मित्रादिषु मनः अन्तःकरणं यस्य सः सममनाः सर्वत्र वासीचन्दनकल्प इत्यर्थः" सूत्रकृतांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्धान्तर्गत १६वीं गाथा में भगवान् महावीर ने साधु के माहन, श्रमण और भिक्षु तथा निर्ग्रन्थ इस प्रकार ४ सुप्रसिद्ध नामों का वर्णन किया है। साधक के प्रश्न करने पर भगवान् ने उन शब्दों की विभिन्न रूप से अत्यन्त सुन्दर भावप्रधान व्याख्या की है। "जो साधक शरीर आदि में आसक्ति नहीं रखता है, किसी प्रकार की सांसारिक कामना नहीं करता है, किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है, मैथुन और परिग्रह के विकार से भी रहित है, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि जितने भी कर्मादान और आत्मा के पतन के हेतु हैं, सबसे निवृत्त रहता है, इसी प्रकार जो इन्द्रियों का विजेता है, संयमी है, मोक्षमार्ग का सफल यात्री है, शरीर के मोह-ममत्व से रहित है, वह श्रमण कहलाता है।

(५) अवग्रह- जहाँ गुरुदेव विराजमान होते हैं, वहाँ गुरुदेव के चारों ओर, चारों दिशाओं में आत्म-प्रमाण अर्थात् शरीर-प्रमाण साढ़े तीन हाथ का क्षेत्रावग्रह होता है। इस अवग्रह में गुरुदेव की आज्ञा लिए बिना प्रवेश करना निषिद्ध है। गुरुदेव की गौरव-मर्यादा के लिए शिष्य को गुरुदेव से साढ़े तीन हाथ दूर अवग्रह से बाहर खड़ा रहना चाहिए। यदि कभी वन्दना एवं वाचना आदि आवश्यक कार्य के लिए गुरुदेव के समीप तक जाना हो तो प्रथम आज्ञा लेकर पुनः अवग्रह में प्रवेश करना चाहिये। अवग्रह की व्याख्या करते हुए आचार्य हरिभद्र आवश्यक वृत्ति में लिखते हैं- "चतुर्दिशमिहाचार्यस्य आत्म-प्रमाणं क्षेत्रमवग्रहः तमनुज्ञां विहाय प्रवेष्टुं न कल्पते" प्रवचनसारोद्धार के वन्दनक द्वार में आचार्य नेमिचन्द्र भी यही कहते हैं-

आयप्पमाणमित्तो, चउदिसिं होइ उग्गहो गुरुणो।।
अणणुन्नायस्स सया न कप्पइ तत्थ पविसेउं।।

प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति में अवग्रह के छः भेद कहे गये हैं- नामावग्रह- नाम का ग्रहण, स्थापनावग्रह- स्थापना के रूप में किसी वस्तु का अवग्रह कर लेना, द्रव्यावग्रह- वस्त्र, पात्र आदि किसी वस्तु विशेष का ग्रहण, क्षेत्रावग्रह- अपने आस-पास के क्षेत्र विशेष एवं स्थान का ग्रहण, कालावग्रह-वर्षाकाल में चार मास का अवग्रह और शेष काल में एक मास आदि का, भावावग्रह-- ज्ञानादि प्रशस्त और क्रोधादि अप्रशस्त भाव का ग्रहण। वृत्तिकार ने वन्दन प्रसंग में आये अवग्रह के लिए क्षेत्रावग्रह और प्रशस्त भावावग्रह माना है। भगवती सूत्र आदि आगमों में देवेन्द्रावग्रह, राजावग्रह, गृहपति अवग्रह, सागारी का अवग्रह और साधर्मिक का अवग्रह। इस प्रकार जो अन्य [illegible] पाँच अवग्रह कहे गये हैं, वे प्रस्तुत प्रसंग में ग्राह्य नहीं हैं।

(६) **निर्ग्रन्थ प्रवचन**- मूल शब्द है- निग्गंथं पावयणं। 'पावयणं' विशेष्य है और 'निग्गंथं' विशेषण है। जैन साहित्य में 'निग्गंथं' शब्द सर्वतोविश्रुत हैं। 'निग्गंथं' का संस्कृत रूप 'निर्ग्रन्थ' होता है। निर्ग्रन्थ का अर्थ है- धन, धान्य आदि बाह्य ग्रन्थ और मिथ्यात्व, अविरति तथा क्रोध, मान, माया आदि आभ्यन्तर ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह से रहित, पूर्ण त्यागी एवं संयमी साधु। "बाह्याभ्यन्तरग्रन्थनिर्गताः साधवः" निर्ग्रन्थों-अरिहंतों के प्रवचन नैर्ग्रन्थ्य प्रवचन हैं। 'निर्ग्रन्थानामिदं-नैर्ग्रन्थ्यं प्रावचनमिति' -आचार्य हरिभद्र। मूल में जो 'निग्गंथं' शब्द है, वह निर्ग्रन्थ वाचक न होकर नैर्ग्रन्थ्य वाचक है। अब रहा 'पावयणं' शब्द, उसके दो संस्कृत रूपान्तरण हैं- प्रवचन और प्रावचन। आचार्य जिनदास प्रवचन कहते हैं और हरिभद्र प्रावचन। शब्द भेद होते हुए भी, दोनों आचार्य एक ही अर्थ करते हैं- "जिसमें जीवादि पदार्थों का तथा ज्ञानादि रत्नत्रय की साधना का यथार्थ रूप से निरूपण किया गया है, वह सामायिक से लेकर बिन्दुसार पूर्व तक का आगम साहित्य।" आचार्य जिनदासगणी आवश्यक चूर्णि में लिखते हैं-'पावयणं सामाइयादि, बिन्दुसारपज्जवसाणं, जत्थ नाण-दंसण-चारित्त-साहणवावारा अणेगधा वण्णिज्जंति।'आचार्य हरिभद्र लिखते हैं- "प्रकर्षेण अभिविधिना उच्यन्ते जीवादयो यस्मिन् तत्प्रावचनम्।"

प्रश्न समीक्षा कीजिए- (गुणनिष्पन्न ६ आवश्यक से)

१. आवश्यक आत्मिक स्नान है २. आवश्यक आत्मिक शल्य क्रिया है ३. आवश्यक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा है।

उत्तर **१. आवश्यक आत्मिक स्नान है**- आवश्यक सूत्र के गुणनिष्पन्न नाम १. सावद्ययोगविरति २. उत्कीर्तन ३. गुणवत्प्रतिपत्ति ४. स्खलित निन्दना ५. व्रण-चिकित्सा और ६. गुणधारण हैं। इन नामों के आधार पर आवश्यक आत्मिक स्नान है, की समीक्षा- १. किसी व्यक्ति के द्वारा ऐसा विचार, संकल्प किया जाना कि मैं स्नान करके, पसीने या मैल आदि को दूर करके शारीरिक शुद्धि करूँगा। उसी प्रकार किसी मुमुक्षु आत्म-साधक के द्वारा ऐसा संकल्प किया जाना कि आत्मशुद्धि में प्राणातिपात आदि सावद्य योगों से विरति को ग्रहण करता हूँ। २. जैसे स्नान करने वाला देखता है कि जिन्होंने स्नान किया है, उन्होंने शारीरिक विशुद्धि को प्राप्त कर लिया है, उनको देखकर वह मन में प्रसन्न होता है और उनकी प्रशंसा भी करता है, उसी तरह आत्मिक स्नान में साधक, पूर्ण समत्व योग को प्राप्त हो चुके अरिहन्त भगवन्तों को देखकर मन में बहुत ही प्रसन्नचित्त होता है और वचनों के द्वारा भी उनके गुणों का उत्कीर्त्तन करता है। ३. जैसे शारीरिक शुद्धि हेतु जो स्नान करने को उद्यत हुए हैं, उनको देखकर शरीरशुद्धि को महत्त्व देने वाला व्यक्ति मन में अहोभाव लाता है कि देखो यह शरीर शुद्धि के लिए अग्रसर हो रहा है, उसी प्रकार आत्मिक स्नान कर अपने दोषों का निकन्दन करते हुए गुरु भगवन्तों को देखकर शिष्य के मन में अहोभाव जागृत होता है, और वह शिष्य उनके गुणों के विकास को देखकर गद्गद् बना हुआ गुणवत्प्रतिपत्ति करता है अर्थात् उनके प्रति विनयभाव करता है। ४

जैसे-किसी ने स्नान किया और स्नान करने के बाद कभी भूलवश कीचड़ आदि अशुचि लग गई तो उस अशुचि स्थान की वह व्यक्ति शुद्ध जल से शुद्धि करता है, वैसे ही आत्मिक स्नान करने वाला साधक जो कि व्रतों को अंगीकार करके व्रतों की निर्दोष पालना में आगे बढ़ रहा है, किन्तु कभी प्रमादवश कोई स्खलना हो जाने पर उस स्खलित दोष की निन्दना कर उस दोष से पीछे हटकर पुनः निर्दोष आराधना में आगे बढ़ता है। ५. जैसे स्नान करते किसी व्यक्ति के शरीर में कोई व्रण (घाव) लगा हुआ है तो वह मलहम आदि दवा लगाकर उसका उपचार करता है, उसी प्रकार आत्मिक स्नानकर्ता के व्रतों में दोष रूप व्रण (घाव) होने पर वह प्रायश्चित्त रूप औषध का प्रयोगकर उस भाव व्रण की चिकित्सा करता है। ६. शारीरिक स्नान करने वाला व्यक्ति जैसे स्नान कर लेने के बाद तेल, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थ लगाकर विशेष रूप से शरीर को सजाता है, वैसे ही भाव व्रण आदि को दूर कर लेने के बाद आत्मिक स्नान करने वाला साधक छठे आवश्यक में कुछ प्रत्याख्यान अंगीकार करके विशेष रूप से गुणों को धारण करके अपने संयमी-जीवन की आन्तरिक तेजस्विता में अभिवृद्धि करता है।

२. आवश्यक आत्मिक शल्यक्रिया है- १. जैसे किसी व्यक्ति के किसी व्यसन आदि बाह्य निमित्त के कारण तथा उपादान रूप आभ्यन्तर कारण से कैंसर की गाँठ आदि के रूप में कोई बड़ा रोग हो गया। वह रोगी व्यक्ति विचार करता है कि इस रोग को मुझे आगे नहीं बढ़ाना है। उसी तरह कर्म के कैंसर रोग से पीड़ित व्यक्ति मन में विचार करता है कि अब मैं रोग के कारण हिंसा, झूठ आदि किसी भी सावद्य व्यापार का सेवन नहीं करूँगा। २. वह रोगी व्यक्ति पूर्ण स्वस्थ लोगों को देखकर विचार करता है कि ये लोग धन्य हैं, जिन्होंने इस भव, परभव में शुभ कर्म किये हैं और जीवन में कोई कुव्यसन का सेवन नहीं किया है, जो अभी साता से, शान्ति से जीवन व्यतीत कर रहे हैं. उसी तरह आत्म शल्यक्रिया का साधक पूर्ण आत्मिक स्वस्थता को प्राप्त अरिहन्त भगवन्तों को देखकर, उनके गुणों से प्रभावित होकर, उनके गुणों की स्तुति, उनके गुणों का उत्कीर्तन करता है। ३. कोई व्यक्ति अभी भी जीवन में कोई व्यसन नहीं रखता है, किसी तरह के अशुभ कर्म करके असाता-वेदनीय का बंध नहीं करता है, अपने स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखता हुआ रहता है, उसे देखकर रोगी व्यक्ति उसके प्रति विनय तथा आदर का भाव रखता है, उससे शिक्षा लेता है, उसी प्रकार आत्मिक शल्य क्रिया में आगे बढ़ता हुआ व्यक्ति आत्मिक स्वस्थता के क्षेत्र में आगे बढ़ते हुए गुरु भगवन्तों को देखकर उनसे सीख लेता है तथा उनके प्रति विनय भाव रखता हुआ उनके गुणों के प्रति गुणवत् प्रतिपत्ति करता है। ४. जैसे शारीरिक शल्य क्रिया करता हुआ व्यक्ति अपने मन में स्वकृत दोषों के प्रति ग्लानि तथा निन्दा के भाव लाता है और सोचता है अब ऐसी गलती नहीं करूँगा, जिससे मुझे रोगी बनना पड़े। वैसे ही आत्मिक शल्यक्रिया करने वाला साधक अपने आभ्यन्तर आत्मिक रोगों के लिए मन में ग्लानि क

आत्मनिंदा के भाव लाता है, सोचता है मेरे द्वारा पाप से पीछे नहीं हटने के कारण ही मैं संसार में जकड़ा हुआ हूँ और आगे के लिए दोष सेवन नहीं करने का संकल्प करता हूँ, यह स्खलित निन्दना है। ५. जैसे शारीरिक स्तर पर कैंसर आदि की गाँठ से पीड़ित रोगी शल्य क्रिया के द्वारा अपने शरीरस्थ गाँठ को निकलवा कर स्वास्थ्य लाभ प्राप्त कर लेता है अर्थात् अपने रोग का उपचार कर लेता है, वैसे ही महाव्रतों की आराधना करते हुए कभी दोष लग जाने पर प्रायश्चित्त रूप उपचार से अपने भाव व्रण की चिकित्सा कर लेता है। ६. जैसे शल्यक्रिया (ऑपरेशन) के बाद रोगी के शरीर में कमजोरी आ जाती है, तो वह पौष्टिक दवा (टॉनिक) आदि का सेवन करके शरीर को वापस पुष्ट, बलवान बनाता है, वैसे ही आत्मिक शल्यकर्ता छठे आवश्यक में अनेक प्रकार के व्रत-प्रत्याख्यान आदि अंगीकार करके अपने आत्मगुणों में अभिवृद्धि कर लेता है।

३. **आवश्यक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा है-** १. जैसे मानसिक रूप से रोगी व्यक्ति अपने मानसिक रोग को उपशान्त करने का संकल्प करता है एवं सोचता है मैं अब रोगी नहीं रहूँगा, मानसिक स्वास्थ्य लाभ को प्राप्त करूँगा, वैसे ही कर्म रोग से पीड़ित व्यक्ति अपने आपको स्वस्थ बनाने का संकल्प करता है। कर्म रोग को बढ़ाने वाले सावद्य कार्यों से विरक्ति का संकल्प ग्रहण करता है। २. जैसे कोई व्यक्ति पहले मानसिक रोग से पीड़ित था और वह अब उपचारोपरान्त स्वस्थ है, उसे स्वस्थ देखकर यह खुश होता है, उसकी प्रशंसा करता है, वैसे ही कर्मयुक्त प्राणी, घातिक कर्म रहित अरिहन्त, अष्ट कर्म रहित सिद्ध भगवन्तों को देखकर, उनके प्रति अहोभाव लाता है, वैसा बनने का सुविचार करता है। उनके गुणों की स्तुति तथा उत्कीर्तन करता है। ३. कोई व्यक्ति पहले मानसिक रूप से पीड़ित था और आज मानसिक रोग का उपचार करता हुआ धीरे-धीरे मानसिक स्वस्थता को प्राप्त कर रहा है, ऐसे व्यक्ति को देखकर यह रोगी उस व्यक्ति के प्रति विनय, आदर, सम्मान का भाव लाता है, उससे प्रेरणा लेता है, सोचता है, मैं भी इसी तरह स्वास्थ्य लाभ की प्रक्रिया को अपनाऊँगा। इसी तरह आत्मिक रोग से ग्रस्त व्यक्ति, कर्म रोग को दूर करते हुए गुरु भगवन्तों को देखकर, उनके गुणों से प्रभावित होकर, उनके गुणों का विनय अर्थात् गुणवत् प्रतिपत्ति करता है। ४. मानसिक रोगी सोचता है मैं पहले स्वस्थ था, मैंने ही नकारात्मक सोच-ईर्ष्या, द्वेष, चिन्ता, तनाव आदि से अपने आपको 'आधि' ग्रस्त बनाया है और अपने दोषों की निन्दना करके वह दोषों का प्रतिक्रमण करता है, वैसे ही मिथ्यात्व आदि आत्मिक रोगों से पीड़ित व्यक्ति सोचता है, मैंने मेरी गलती से ही दोष सेवन कर अपने को संसार में अटकाया है। ऐसा चिन्तन कर वह अपनी स्खलनाओं की निन्दा करता हुआ पापों से पीछे हट जाता है। ५. जैसे मानसिक रूप से पीड़ित व्यक्ति किसी मनोचिकित्सक के पास जाकर रोगोपचार कराता है और स्वस्थता (मानसिक समाधि) को प्राप्त करता है, वैसे ही कर्मरोग से ग्रसित व्यक्ति प्रायश्चित्त करके अपने रोग का उपचार करता है। प्रायश्चित्त एक तरह का उपचार है जो भाव-व्रण की

चिकित्सा करता है। ६. जैसे मानसिक रोगी व्यक्ति चिकित्सक के परामर्शानुसार सदैव सकारात्मक विचारधारा (Positive Thinking) ध्यान आदि को अपनाकर, अपनी मानसिक स्वस्थता में अभिवृद्धि करता है और दिमाग को सुदृढ़ बनाता है, वैसे ही कर्मरोग से पीड़ित साधक आत्मा को शक्तिशाली बनाने तथा आत्मविश्वास को सुदृढ़ करने हेतु, अनशन, कायक्लेश, कायोत्सर्ग आदि अनेक प्रकार के तप अपनाता है। संक्षेप में कहें तो १. समभाव से समाधि मिलती है। २. पूर्ण गुणियों को देखकर वैसा बनने का लक्ष्य बनता है ३. इस मार्ग में बढ़ते गुरुओं को देखकर आत्मविश्वास जगता है। ४. स्वयं दोषों से पीछे हटता है ५. पश्चात्ताप से शुद्धि करता है। ६. अनेक तरह के गुण धारण कर पूर्णता प्राप्ति के मग में डग भरता है।

न दिन और रात्रि के दोनों प्रतिक्रमण रात्रि में ही क्यों?

र इसके समाधान के निम्न बिन्दु हैं- १. उत्तराध्ययन सूत्र के २६वें अध्ययन में साधु समाचारी का सुन्दर विवेचन किया है। वहाँ गाथा ३८-३९ में दिन के चौथे प्रहर के चौथे भाग में लगभग (४५ मिनट) पूर्व स्वाध्याय को छोड़कर उपकरणों की प्रतिलेखना (मुँहपत्ती, ओघा, पात्र आदि) और उसके पश्चात् उच्चार-प्रस्रवण भूमि के प्रतिलेखन का विधान किया गया है। निशीथसूत्र के चौथे उद्देशक में तीन उच्चार-प्रस्रवण भूमि(जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट- अर्थात् नजदीक दूर, और दूर) की प्रतिलेखना नहीं करने वाले को प्रायश्चित्त का अधिकारी बताया गया है इस प्रतिलेखना में समय लगना सहज है और उसके पश्चात् प्रतिक्रमण की आज्ञा लेने का विधान है। इससे स्पष्ट हो रहा है कि दिन का प्रतिक्रमण सूर्यास्त होते समय प्रारम्भ करना चाहिए २. टीकाकारों ने भी सूर्य अस्त के साथ प्रतिक्रमण करने का उल्लेख किया है। ३. उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी अध्ययन में आगे की गाथाओं में प्रतिक्रमण की सामान्य विवेचना की गई है। पच्चक्खाण के पश्चात् काल प्रतिलेखना करके स्वाध्याय करने का विधान किया गया, जिससे ध्वनित होता है कि सूर्य अस्त के पश्चात् लगभग ३६ मिनट के अस्वाध्याय काल में प्रतिक्रमण के ६ आवश्यक समाप्त हो जाते हैं। ४. तत्पश्चात् रात्रि के चारों प्रहर की चर्या का वर्णन किया गया है और चौथे प्रहर के चौथे भाग में काल प्रतिलेखना के बाद प्रतिक्रमण करने का विधान है। सूर्योदय होने के पश्चात् भण्डोपकरण आदि की प्रतिलेखना कर लेने ([illegible] मिनट) के बाद स्वाध्याय का प्रावधान है। अर्थात् रात्रि का प्रतिक्रमण रात्रि में [illegible] हो जाता है। प्रतिलेखना सूर्य की साक्षी से होती है, अस्तु उसके लिए दिन का प्रथम [illegible] कर दिया और [illegible] अस्वाध्याय के समय अर्थात् रात्रि का प्रथम भाग और रात्रि के [illegible] में प्रतिक्रमण [illegible] नियत हो ही गया। ५. देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण सूँठ का [illegible] प्रतिक्र[illegible] करते समय सूँठ का गाँठिया गिरने से, स्मृति दौर्बल्य [illegible] के [illegible] बात इतिहास में मिलती है। स्पष्ट है कि [illegible]

सूर्यास्त से पूर्व प्रत्याख्यान हो जाते तो, प्रतिक्रमण की आज्ञा लेते समय तो ३६ मिनट दिन शेष रहने पर गाँठिया लौटाया जा सकता था। ६. छेदसूत्रों में रात्रि भोजन के अतिचारों का प्रायश्चित्त आदि के अधिकारों में सूर्यास्त के पूर्व तक गोचरी-पानी करने का उल्लेख उपलब्ध है अर्थात् कोई यह कहे कि सूर्यास्त के पूर्व प्रतिक्रमण का विधान है तो यदि ऐसा होता तो छेदसूत्रों में रात्रि के भोजन के अतिचारों के प्रायश्चित्त का विधान कैसे बताया जाता? अर्थात् दिन छिपने का पता न लगे और आहार करते हैं, ऐसे में यह स्पष्ट है कि सूर्यास्त के पूर्व तक गोचरी की जा सकती है। वर्तमान समय में भी प्रतिलेखन के समय का परिवर्तन देखने को मिल रहा है, परन्तु प्रतिक्रमण के समय का अतिक्रमण शास्त्रीय मर्यादा का उल्लंघन माना जाता है और प्रायश्चित्त दिया-लिया जाता है ७. भावदेवसूरि कृत 'यति दिनचर्या' में भी 'जो पडिक्कमेइ सूरे अद्धनिबुड्डे जहा भणइ सुत्तं' इस गाथा से सूर्य के अर्द्ध अस्त होते ही प्रतिक्रमण का प्रारम्भ बताया है। उपर्युक्त विवेचना से दिन और रात्रि के दोनों प्रतिक्रमण रात्रि में ही करना प्रमाणित हो जाता है।

प्रश्न आवश्यक सूत्र से तप के १२ भेदों में से किन-किन का आराधन होता है और कैसे?

उत्तर आवश्यक सूत्र से तप के १२ भेदों में से निम्नलिखित तपों के प्रत्यक्ष आराधन होने की संभावना है- १. कायक्लेश २. प्रतिसंलीनता ३. प्रायश्चित्त ४. विनय ५. स्वाध्याय ६. ध्यान ७. कायोत्सर्ग।

१. **कायक्लेश-** आवश्यक सूत्र करते हुए कायोत्सर्ग मुद्रा, उकडू आदि आसन हो जाते हैं, जो कि कायक्लेश तप के प्रकार हैं।

२. **प्रतिसंलीनता-** विविक्त शयनासन का सेवन करना तथा अपनी इन्द्रियों का संगोपन करना प्रतिसंलीनता तप है। आवश्यक के आराधक मुनि के विविक्तशयनासन होता ही है तथा इन्द्रियों और मन का संगोपन होने पर भाव आवश्यक संभव है, जिससे प्रतिसंलीनता तप हो जाता है। ३. **प्रायश्चित्त-** आवश्यक सूत्र करने वाला साधक अपने द्वारा हुई भूलों का प्रायश्चित्त स्वीकार करके आत्मशुद्धि करता है, आराधक होता है। पाँचवें आवश्यक में साधक प्रायश्चित्त अंगीकार करता है, जिससे प्रायश्चित्त तप हो जाता है।

४. **विनय-** तीसरा वंदन आवश्यक है, जिसमें शिष्य गुरुदेव को खमासमणो के पाठ से उत्कृष्ट वन्दन करता है। गुरुदेव का विनय करता है। वैसे प्रत्येक आवश्यक के पहले भी विनय रूप वंदन का प्रावधान है।

५. **स्वाध्याय-** आवश्यकसूत्र ३२ आगमों में से एक आगम है। प्रतिक्रमण करते समय प्रतिक्रमणकर्ता का स्वाध्याय तो सहज हो ही जाता है।

६. **ध्यान-** पहले सामायिक आवश्यक में (कायोत्सर्ग करते हुए भी) मुनिराज १२५ अतिचारों का

चिन्तन रूप ध्यान करते हैं और एकाग्र चिन्तन को ही ध्यान कहा है। किसी एक विषय में चित्त की स्थिरता ही ध्यान है। वैसे मुनि प्रतिक्रमण करते समय आर्त्त-रौद्र से बचकर धर्मध्यान में निमग्न होते हुए प्रतिक्रमण की पाटियों में चित्त को स्थिर करते हैं।

७. कायोत्सर्ग- पाँचवाँ आवश्यक ही कायोत्सर्ग आवश्यक है। कायोत्सर्ग अर्थात् देह की चंचलता और ममता का त्याग। पाँचवें आवश्यक में साधक कायोत्सर्ग अंगीकार करता है, जिससे कायोत्सर्ग तप का भी आराधन हो जाता है। परोक्ष रूप से प्रत्याख्यान द्वारा अन्य तप भी संभावित हैं।

श्न ३३ आशातना में आवश्यक सूत्र व दशाश्रुत स्कन्ध के अधिकार में क्या अन्तर है?

तर गुरु का विनय नहीं करना या अविनय करना, ये दोनों आशातना के प्रकार हैं। आशातना देव एवं गुरु की तथा संसार के किसी भी प्राणी की हो सकती है। धर्म-सिद्धान्तों की भी आशातना होती है। अतः आशातना की विस्तृत परिभाषा इस प्रकार से कर सकते हैं- ''देव-गुरु की विनय-भक्ति न करना, अविनय अभक्ति करना, उनकी आज्ञा-भंग करना या निन्दा करना, धर्म-सिद्धान्तों की अवहेलना करना, विपरीत प्ररूपणा करना और किसी भी प्राणी के साथ अप्रिय व्यवहार करना, उसकी निन्दा या तिरस्कार करना 'आशातना' है। अर्थात् असभ्य व्यवहार करना, आवश्यक सूत्र की चौथी पाटी में अरिहन्त भगवान् आदि की जो आशातनाएँ बताई गई हैं, वे इस तरह की आशातनाएँ हैं। जबकि दशाश्रुतस्कन्ध की तीसरी दशा में जो आशातनाएँ प्रदर्शित की गई हैं वे केवल गुरु और रत्नाधिक (संयम पर्याय में ज्येष्ठ) की आशातना से ही संबंधित हैं। गुरु के आगे, बराबर, पीछे अड़कर चलना। इसी तरह खड़े रहना तथा अविनय से उनके समीप बैठना से लगाकर गुरुदेव से ऊँचे आसन पर बैठने तक की ३३ आशातनाएँ दशाश्रुत स्कन्ध में वर्णित हैं। मुख्य अन्तर यही ध्यान में आता है।

प्रेषक : जगदीश प्रसाद जैन

15.17 नवम्बर 2006
जिनवाणी, 364

जिज्ञासाएँ और समाधान

प्रतिक्रमण विशेषाङ्क के प्रकाशन के पूर्व हमने प्रतिक्रमण विषयक प्रश्न/जिज्ञासाएँ आमन्त्रित की थीं। हमें श्री पारसमल जी चण्डालिया-ब्यावर, श्री मनोहरलाल जी जैन-धार (म.प्र.), श्री जशकरण जी डागा-टोंक आदि से जिज्ञासाएँ प्राप्त हुई, जिनका समाधान गुरुकृपा से यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। *-सम्पादक*

जिज्ञासा- आवश्यकसूत्र को अंगबाह्य माना जाता है तो यह गणधरकृत है या स्थविरकृत? स्थविरकृत मानने में बाधा है, क्योंकि स्वयं गणधर आवश्यक करते हैं। यदि गणधर कृत मानें तो अंग प्रविष्ट में स्थान क्यों नहीं दिया?

समाधान- प्रश्न के समुचित समाधान के लिये हमें अंग प्रविष्ट व अंग बाह्य की भेद रेखा (विभाजन रेखा) को देखना होगा-

गणहर थेरकयं वा आएसा मुक्क- वागरणाओ वा।
धुव चलविसेस ओ वा अंगाणंगेसु नाणत्तं ।। -विशेषावश्यक भाष्य गाथा, ५५२

इसमें तीन अन्तर बताए गए-

१. अंगप्रविष्ट गणधरकृत होते हैं, जबकि अंग बाह्य स्थविरकृत अथवा आचार्यो द्वारा रचित होते हैं।

२. अंगप्रविष्ट में जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर तीर्थंकरों द्वारा समाधान (और गणधरों द्वारा सूत्र रचना) किया जाता है, जबकि अंग बाह्य में जिज्ञासा प्रस्तुत किए बिना ही तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादन होता है।

३. अंगप्रविष्ट ध्रुव होता है, जबकि अंगबाह्य चल होता है।

अंगप्रविष्ट में तीनों बातें लागू होती हैं और एक भी कमी होने पर वह अंग बाह्य (अनंग प्रविष्ट) कहलाता है। पूर्वों में से निर्यूढ दशवैकालिक, ३ छेद सूत्र, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार सूत्र, नन्दी सूत्र आदि भी तीर्थंकरों की वाणी गणधरों द्वारा ही सूत्र निबद्ध है- केवल उस रूप में संकलित/संगृहीत, सम्पादित करने वाले पश्चाद्वर्ती आचार्य अथवा स्थविर आदि हैं अर्थात् अंगबाह्य भी गणधरकृत का परिवर्तित रूप हो सकता है, पर उनकी रचना से निरपेक्ष नहीं।

भगवती शतक २५ उद्देशक ७ आदि से यह तो पूर्ण स्पष्ट है कि छेदोपस्थापनीय चारित्र वाले को

उभयकाल आवश्यक करना अनिवार्य है। उत्तराध्ययन के २६वें अध्ययन में आवश्यक का उल्लेख विद्यमान है, अंतगड के छठे वर्ग में भी सामायिक आदि ११ अंग सीखने का उल्लेख है तो चातुर्याम से पंचमहाव्रत में आने वालों का 'सपडिक्कमणं...' प्रतिक्रमण वाला शब्द... स्पष्ट द्योतित करते हैं कि तीर्थंकर की विद्यमानता में आवश्यक सूत्र था।

पूर्वों और अंगों की रचना करने में समय अपेक्षित है, मात्र दिन-दिन के समय में इनकी रचना संभव नहीं, उस समय भी सायंकाल और प्रातःकाल गणधर भगवन्त और उनके साथ दीक्षित ४४०० शिष्यों ने प्रतिक्रमण किया। विशेषावश्यक भाष्य में स्थविरकल्प क्रम में शिक्षा पद में सर्वप्रथम आवश्यक सीखने का उल्लेख है।

निशीथसूत्र उद्देशक १९ सूत्र १८-१९ आदि, व्यवहार सूत्र उद्देशक १० अध्ययन विषयक सूत्रों से भी सर्वप्रथम आवश्यक का अध्ययन ध्वनित होता है।

बिना जिज्ञासा प्रस्तुति के होने तथा पूर्वों की रचना के भी पूर्व तीर्थंकर प्रणीत होने से उसे अंगप्रविष्ट नहीं कहा जा सकता। अंग प्रविष्ट के अतिरिक्त अन्य अनेक सूत्र भी गणधर रचित मानने में बाधा नहीं, यथा आचारचूला को 'थेरा' रचित कहा- चूर्णिकार ने 'थेरा' का अभिप्राय गणधर ही लिया है। निशीथ भी इसी प्रकार गणधरों की रचना है, पर अनंग प्रविष्ट में आता है। अतः आवश्यक सूत्र को अंग में शामिल करना अनिवार्य नहीं।

सभी अंग कालिक होते हैं, यदि आवश्यक भी इसमें सम्मिलित किया जाता तो उभयकाल अस्वाध्याय में उसका वाचन ही निषिद्ध हो जाता- वह नो कालिक-नो उत्कालिक है- ज्ञान के अन्तिम ४ अतिचार आवश्यक सूत्र पर लागू नहीं होते, जबकि अंगप्रविष्ट के मूल पाठ (सुत्तागमे) पर लागू होते हैं। अतः अंगों से बाहर होने पर भी आवश्यक सूत्र के गणधरकृत होने में बाधा नहीं।

जिज्ञासा- अव्रती को प्रतिक्रमण क्यों करना चाहिये?

समाधान- नन्दीसूत्र में मिथ्याश्रुत के प्रसंग में-"...जम्हा ते मिच्छादिट्ठिआ तेहिं चेव समएहिं चोइया समाणा केइ सपक्खदिट्ठिओ चयंति।..." कई मिथ्यादृष्टि इन ग्रन्थों से (मिथ्याश्रुत से) प्रेरित होकर अपने मिथ्यात्व को त्याग देते हैं।

यह बड़े महत्त्व का उल्लेख है और इससे समझ में आता है कि गुरुदेव (आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म.सा.) प्रत्येक मत के अनुयायियों को स्वाध्याय की प्रेरणा क्यों करते थे। कतिपय लोग समझते 'गीता' पढ़ने आदि- मिथ्याश्रुत की प्रेरणा क्यों कर रहे हैं? आदि-आदि

उत्तराध्ययन के २८वें अध्याय में सम्यक्त्व के प्रसंग में क्रियारुचि का भी उल्लेख हुआ है; और इस सुदर्शन श्रमणोपासक के पूर्वभव में जंघाचरण संत के मुख से उच्चरित 'नमो अरिहंताणं' में पद करने वाले के

जीवन के उत्कर्ष का वर्णन पढ़ते हैं- तब इस प्रश्न का उत्तर अपने आप प्राप्त हो जाता है।

मिथ्याश्रुत का स्वाध्याय मिथ्यात्व से छुटकारा दिला सकता है- तब प्रतिक्रमण (आवश्यक) तो सम्यक् श्रुत है- मिथ्यात्व-अव्रत आदि सभी आस्रवों का त्याग क्यों नहीं करा सकता? एक-एक पाठ को सुनने, सीखने से कितनों के भीतर व्रत ग्रहण की प्रेरणा जगती है। व्रत का स्वरूप ध्यान में आता है, फिर स्वीकृत व्रत को अच्छी तरह पाला जा सकता है। कदाचित् व्रत नहीं भी ले पाया- तब भी स्वाध्याय का लाभ तो मिल ही जाता है- परमेष्ठी विनय-भक्ति के साथ चतुर्थ गुणस्थानवर्ती भी कुछ निर्जरा का लाभ प्राप्त कर ही लेता है।

भूल से विस्मृत होने पर भी नवकार का श्रद्धापूर्वक स्मरण 'सेठ वचन परमाणं' वाक्य के जाप से चोर को सद्गति में ले जा सकता है तो प्रतिक्रमण प्रत्येक व्यक्ति को संसार से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाला होने से जीव को मंजिल तक पहुँचाने वाला बन जाता है।

भात-पानी का विच्छेद किया हो, चोर की चुराई वस्तु ली हो, भण्ड कुचेष्टा की हो आदि कतिपय आचार अव्रती के जीवन को नैतिक बनने में सहकारी बनते हैं, जीवन में अच्छे संस्कारों का बीजारोपण करते हैं।

आगम तो ९ वर्ष वाले को व्रत का अधिकार देता है, किन्तु ४ साल ५ साल आदि के बच्चे को सामायिक व्रत पच्चक्खाते हैं-उपवास भी कराते हैं, प्रतिक्रमण भी सिखाते हैं, उसके पीछे हेतु? उसके संस्कार पवित्र होते हैं। भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक २ से ध्वनित होता है ५ अणुव्रत लिये बिना भी अणुव्रत और ४ शिक्षाव्रत की आराधना हो सकती है। भगवती सूत्र शतक १७ उद्देशक २ में एक भी प्राणी के दण्ड को छोड़ने वाला एकान्त बाल नहीं कहा- अर्थात् श्रद्धा-विवेक सहित सामायिक पच्चक्ख कर प्रतिक्रमण करने वाला एकान्त अव्रती नहीं। सभी देव व नारक अव्रती हैं- तिर्यंच में भी व्रत बिना प्रतिक्रमण का प्रसंग नहीं। बिना अन्य व्रत लिये प्रतिक्रमण के समय सही समझपूर्वक श्रद्धा से सामायिक करने वाला अव्रती नहीं, व्रताव्रती है तथा उसका प्रतिक्रमण स्वाध्याय सहित ज्ञान-दर्शन-चारित्राचारित्र व तप के अतिचारों की विशुद्धि कराने वाला है। अतः अव्रती अथवा अव्रतीप्रायः एक व्रतधारी को भी प्रतिक्रमण करना उपयोगी ही प्रतीत होता है।

जिज्ञासा- प्रतिक्रमण के पाठ बोले बिना कोई अपनी भूल को स्वीकार कर उसमें सुधार का संकल्प ले तो क्या वह भी प्रतिक्रमण की श्रेणि में आता है?

समाधान- भगवतीसूत्र शतक २५, उद्देशक ७, औपपातिक सूत्र, स्थानांग सूत्र १०वाँ स्थान आदि में प्रायश्चित्त के १० भेद कहे गये हैं। जीतकल्प आदि व्याख्या-साहित्य में विशद विवेचन में उपलब्ध होता है कि किस-किस के प्रायश्चित्त में क्या-क्या आता है? आलोचना के पश्चात् दूसरा प्रायश्चित्त प्रतिक्रमण बताया गया। 'जं संभरामि जं च न संभरामि' से साधक स्मृत-विस्मृत भूल की निन्दा-गर्हा कर शुद्धि करता है।

ज्ञाताधर्मकथा के प्रथम अध्ययन में मेघकुमार जी द्वारा भगवद्चरणों में नई दीक्षा, मृगावती जी द्वारा चन्दनबालाजी के उपालम्भ पर आत्मालोचन अथवा प्रसन्नचन्द्र राजर्षि द्वारा भीतरी युद्ध-औदयिक भाव से क्षायोपशमिक, क्षायिक भाव में लौटना भाव प्रतिक्रमण के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। अतः भूल स्वीकार कर, सुधार का संकल्प कर लेना आत्महितकारी है, भाव प्रतिक्रमण है और भूल ध्यान में आते ही साधक त्वरित शोधन कर लेता है। मध्यवर्ती २२ तीर्थंकर और महाविदेह क्षेत्र के 'ऋजु प्राज्ञ' साधकों के लिये भाव प्रतिक्रमण की सजगता के कारण उभयकालीन भाव सहित पाठोच्चारण रूप प्रतिक्रमण अनिवार्य नहीं माना गया- पक्खी, चौमासी या संवत्सरी को भी नहीं माना गया। ज्ञातासूत्र के पंचम अध्याय में शैलक जी की प्रमत्तता के निराकरण हेतु पंथक जी का चौमासी प्रतिक्रमण हेतु पुनः आज्ञा लेना, दोष निराकरण में समर्थ अस्थित कल्प वालों के प्रतिक्रमण का उदाहरण है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासन में जड़ता, वक्रता आदि से उभयकाल प्रतिक्रमण भी आवश्यक है। केवल पाठोच्चारण को अनुयोगद्वार सूत्र द्रव्य प्रतिक्रमण बता रहा है- भूल सुधार की भावना सहित 'तच्चित्त तद्मन' आदि में ही भाव प्रतिक्रमण बता रहा है। प्रतिक्रमण का हार्द उपलब्ध हो जाता है- 'पडिक्कमणेणं वयछिद्दाणि पिहेइ'–

भूल- व्रत के छेद

सुधार- छिद्र आवरित करना, ढकना।

समस्त संवर, सामायिक, व्रत ग्रहण (पाप त्याग वाले व्रत) में 'तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि' अवश्यमेव ही आता है अर्थात् भूल एवं दोषयुक्त प्रवृत्ति को तिलांजलि देने पर ही व्रत प्रारम्भ हो सकता है और यह प्रतिक्रमण अनेक अवसर पर करता हुआ साधक आत्मोत्थान करता ही है- इसी का नाम भूल सुधार का संकल्प है और यह किसी अपेक्षा से प्रतिक्रमण है, हितकारी है।

पर इसकी ओट में अर्थात् इसे प्रतिक्रमण की श्रेणि में रखकर उभयकाल प्रतिक्रमण नहीं करना किंचित् मात्र भी अनुमत नहीं। भूल ध्यान में आते ही सुधार का संकल्प ले यथासमय प्रतिक्रमण में पुनः उस भूल का मिच्छामि दुक्कडं देकर किये हुए संकल्प को परिपुष्ट करना, सुदृढ़ करना सर्वोत्तम मार्ग है।

जिज्ञासा- कायोत्सर्ग का क्या तात्पर्य है?

समाधान- काया की ममता का त्याग। तप के १२वें भेद, आभ्यन्तर तप के अन्तिम भेद व्युत्सर्ग के प्रथम द्रव्य व्युत्सर्ग का पहला उपभेद- 'शरीर व्युत्सर्ग' है। इसे उत्तराध्ययन के २९वें अध्याय में 'सव्वदुक्खविमोक्खणं' कहा अर्थात् सम्पूर्ण दुःखों से छुटकारा दिलाने वाला माना। दुःख क्यों है? तो उत्तराध्ययन ६/१२ में शरीर की आसक्ति को दुःख का मोटा कारण कहा- आसक्ति घटी, ममता मिटी और दुःख की संभावना घटी। अतः सुस्पष्ट हुआ कि शरीर की ममता की तिलांजलि कायोत्सर्ग है। भाव कायोत्सर्ग ध्यान को कहकर द्रव्य रूप से- नैसर्गिक श्वास, खाँसी आदि की आवश्यक अपरिहार्य क्रियाएँ

को छोड़, काया के व्यापार को, चेष्टा को रोक, काया से ऊपर उठना कायोत्सर्ग है।

सो पुण काउस्सग्गो दव्वतो भावतो य भवति।

दव्वतो कायचेट्ठानिरोहो, भावतो काउस्सग्गो झाणं।।

-आवश्यक चूर्णि, आचार्य जिनदासगणि

प्रायः कायोत्सर्ग में २ ही प्रकार के कार्य का विधान है-

१. निज स्खलना दर्शन/चिन्तन

इच्छाकारेणं का कायोत्सर्ग एवं प्रतिक्रमण के पहले सामायिक आवश्यक में कायोत्सर्ग।

२. गुणियों के गुणदर्शन/कीर्तन

लोगस्स का कायोत्सर्ग (सामायिक पालते व प्रतिक्रमण का पाँचवां आवश्यक)

दशवैकालिक की द्वितीय चूलिका तो साधक को *'अभिक्खणं काउस्सग्गकारी'* से कदम-कदम पर कायोत्सर्ग अर्थात् काया की ममता को छोड़ने की प्रेरणा कर रही है।

संक्षेप में समाधान का प्रयास है, विस्तृत विवेचना व्याख्या सहित ग्रन्थों में उपलब्ध है।

जिज्ञासा- वर्तमान में प्रत्याख्यान आवश्यक के अंतर्गत मात्र आहारादि का प्रत्याख्यान किया जाता है। दसों प्रत्याख्यान आहारादि के त्याग से ही संबंधित है। मिथ्यात्व, प्रमाद, कषायादि के त्याग का प्रयोजन इस आवश्यक से कैसे हल हो सकता है?

समाधान- जिज्ञासा में सबसे पहला शब्द है- 'वर्तमान'। यह केवल वर्तमान में ही नहीं, पूर्व से प्रचलित है। उत्तराध्ययन के २६वें अध्याय की गाथा ५१, ५२ में देखिए-

किं तवं पडिवज्जामि एवं तत्थ विचिंतए।

काउस्सग्गं तु पारित्ता वंदिऊण तओ गुरुं।।५१।।

पारिय काउस्सग्गो, वंदित्ताण तओ गुरुं।

तवं संपडिवज्जेत्ता करिज्जा सिद्धाण संथवं।।५२।।

स्पष्ट है पाँचवें आवश्यक में चिन्तन करके छठे आवश्यक में तप स्वीकार करे। रात्रिकालीन प्रतिक्रमण के पाँचवें आवश्यक में अपना सामर्थ्य तोले- क्या मैं ६ मास तप अंगीकार कर सकता हूँ? यदि नहीं, तो क्या ५ मास...? यावत् उपवास, आयंबिल....नहीं तो कम से कम नवकारसी उपरांत तो स्वीकार करूँ। देवसिक में चिन्तन बिना, छठे आवश्यक में गुणधारण किया जाता है। यह भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक २ में वर्णित सर्वउत्तर गुण प्रत्याख्यान रूप होता है।

सर्व मूलगुण (५ महाव्रत), देश मूलगुण(५ अणुव्रत) व देश उत्तर गुण (३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत) चारित्र अथवा चारित्राचारित्र में आते हैं, जबकि देश मूल गुण तप में। उत्तराध्ययन की गाथा 'तप' का ही

कथन कर रही है, अतः देश मूल गुण प्रत्याख्यान प्राचीन काल से प्रचलित है।

सम्यक्त्व ग्रहण करने के लिए किसी भी प्रत्याख्यान का आगम में उल्लेख नहीं। वर्तमान में अरिहंत मेरे देव, सुसाधु गुरु के द्वारा बोध प्रदान कर उपासकदशांग आदि के वर्णन द्वारा पुष्ट, हिंसाकारी प्रवृत्ति में प्रवृत्त सरागी देवों से बचने व कुव्यसन त्याग का ही नियम कराया जाता है। सम्यग् श्रद्धान एवं जानकारी पूर्वक ही सुपच्चक्खाण होते हैं।

साधक दो प्रकार के होते हैं- त्रिकरण त्रियोग से आगार रहित पाँच आस्रव का त्यागकर पाँच महाव्रत लेने वाले अथवा भगवती शतक ८ उद्देशक ५ के अनुसार ४९ ही भाँगों में से किसी के द्वारा पाँच अणुव्रत ले उनकी पुष्टि में ७ देश उत्तर गुण स्वीकार करने वाले। अर्थात् व्रत स्वीकार करने पर उसके पूर्ण भंग से पूर्व तक की स्खलना/त्रुटि/दोष/विराधना जो कि प्रायः अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार तक की श्रेणि की है- उनकी शुद्धि हेतु या व्रत-छिद्रों को ढाँकने के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है। जिस प्रकार प्रतिक्रमण का सामायिक आवश्यक नवें व्रत की सामायिक से भिन्न है उसी प्रकार प्रत्याख्यान आवश्यक भी सामान्य प्रत्याख्यान (चारित्र अथवा चारित्राचारित्र) से भिन्न मात्र तपरूप ही है।

'नाणदंसणचारित्त (चारित्ताचारित्त) तव-अइयार-चिंतणत्थं करेमि काउस्सग्गं' 'देवसियपायच्छित्त-विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं' आदि से भी यही ध्वनित होता है कि पूर्व गृहीतव्रतों की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है। प्रथम आवश्यक में अतिचारों को ध्यान में ले, चौथे आवश्यक में मिथ्यादुष्कृत दें, व्रतों के स्वरूप को (श्रमण सूत्र या श्रावक सूत्र) पुनः स्मृति में ले, मिथ्यात्व, अव्रत को तिलांजलि देता हुआ दर्शन, ज्ञान, चारित्र (चारित्राचारित्र) में पुनः दृढ़ बनने का मनोबल जगाता हुआ छठे आवश्यक में अनशन आदि बाह्य तप स्वीकार करने के पूर्व पाँचवें आवश्यक में व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) रूपी आभ्यंतर तप करता है।

दसविध प्रायश्चित्त में तप के पश्चात् छेद, मूल का स्थान है, पर यहाँ तो वह प्रायश्चित्त रूपी तप भी नहीं, मात्र प्रथम के ३- आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभयरूपी प्रायश्चित्त में गुणधारण के रूप में तप अंगीकार किया जाता है। अतः मूलगुण के प्रत्याख्यान अलग समझ पूर्वक ग्रहण करने की व्यवस्था युक्तियुक्त है, जैसे अंतगड, अनुत्तरौपपातिक में सर्व मूलगुण व उपासकदशा में देश मूलगुण प्रत्याख्यान स्वीकार करने के दृष्टान्त हैं। मिथ्यात्व त्याग में खंधक जी (भगवती २/१), शकडालपुत्र जी (उपासक ७), परदेशी राजा (रायप्पसेणिय), सुमुख गाथापति आदि (सुखविपाक) के उदाहरण हैं, उन्हें बोधि प्राप्त हुई, तदनन्तर उन्होंने प्रत्याख्यान ग्रहण किये। अतः इस आवश्यक से मिथ्यात्व आदि के त्याग का संबंध नहीं, उनके छूटने पर ही सुपच्चक्खाण संभव है।

जिज्ञासा- प्रतिक्रमण में १८ पापों का पाठ बोला जाता है, किन्तु एक-एक पाप का स्मरण, अनुचिंतन और धिक्कार नहीं किया जाता। ऐसे किये बिना शुद्धि कैसे संभव है?

समाधान- प्रथम गुणस्थान में देशनालब्धि के अंतर्गत 'नवतत्त्व' की जानकारी उपलब्ध होती है। पाप, आस्रव बंध हेय हैं, जीव-अजीव ज्ञेय हैं और पुण्य, संवर, निर्जरा, मोक्ष उपादेय हैं। 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' अन्तर का सही श्रद्धान होने पर पापों का स्वरूप ध्यान में आ जाता है, तब जीव सम्यग्दृष्टि बनता है। स्वाध्याय के द्वारा उनकी हेयता को परिपुष्ट कर धर्म-ध्यान के अपाय व विपाक विचय में उन पर विस्तृत चिन्तन, अनुप्रेक्षा, भावना के साथ चित्त की एकाग्रता भी हो जाती है। प्रतिक्रमण मुख्यतः 'नाण-दंसण-चरित्त (चरित्ताचरित्त) तव अइयार' से संबंधित है। श्रावक ने सीमित पापों का परित्याग किया और साधु ने संपूर्ण पापों का। उस त्याग के दूषण/अतिचारों की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण है, जिनकी संख्या ९९, १२४ या १२५ है। भविष्य में पापों की हेयता ध्यान में रहे व भूल को भी सुधारूँ, इसलिए १८ पाप बोल दिये जाते हैं।

दूसरी अपेक्षा से देखें १८ पापों की व्यक्त प्रवृत्ति का प्रतिक्रमण करते हुए पापों का विस्तृत अनुप्रेक्षण ही तो किया जाता है। उदाहरणार्थ प्रारंभ के ५ पापों का तो व्रतों के अतिचारों में स्पष्ट विवेचन है ही। रोषवश गाढ़ा बंधन या क्रोधवश झूठ अतिचार कहने से छठा पाप (क्रोध) पहले अणुव्रत, दूसरे अणुव्रत में आ गया। लोभ का संबंध परिग्रह, उपभोग-परिभोग आदि में व लोभवश मृषा में स्पष्ट है। भाषा समिति में चारों कषाय, चौथे-पाँचवें महाव्रत में राग-द्वेष का संबंध पाठ से ही स्पष्ट है तो प्रतिक्रमण में भीतर के मिथ्यात्व से बचने के लिए 'अरिहन्तो महदेवो' का पाठ सर्वविदित है। नवमें व्रत में 'सावज्जं जोगं का पच्चक्खाण' और तीन बार 'करेमि भंते' का पाठ भी पाप से बचने, धिक्कारने का ही पाठ है।

प्राचीन काल में पाँचवें आवश्यक में लोगस्स के पाठ की अनिवार्यता ध्वनित नहीं होती। आज भी गुजरात की अनेक प्रतिक्रमण की पुस्तकों में धर्म-ध्यान के पाठ बोलने का उल्लेख मुम्बई में देखने को मिला। उत्तराध्ययन के २६वें अध्याय में तो 'सर्वदुःख विमोक्षक कायोत्सर्ग' करने का उल्लेख है फिर श्वास और उसकी गणना पूर्ति में लोगस्स का विधान सामने आया। हो सकता है 'अपाय-विपाक विचय' में वहाँ कृत पापों का पर्यालोचन होता हो। साधक प्रतिक्रमण के पूर्व अपने पापों को देख ले और उनसे संबंधित अतिचारों में उनकी आलोचना कर शुद्धि कर ले तभी भाव प्रतिक्रमण कर आत्मोत्थान कर सकता है। अतिचार प्रायः पाप का किसी स्तर तक अभिव्यक्त है। पाप सहित प्रतिक्रमण करने वाला उनका दुष्कृत करता, शुद्धि करता ही है। अनुयोगद्वार सूत्र में इसे ही भाव आवश्यक (निक्षेप) कहा है।

जिज्ञासा- पाप, अतिचार दोष सबके भिन्न होते हैं। अतः सामूहिक प्रतिक्रमण में उनकी आलोचना व्यक्तिगत रूप से संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में क्या सबको प्रतिक्रमण एकान्त में करना चाहिए?

समाधान- सर्वश्रेष्ठ तो यही है, इसीलिए महाव्रतधारी अपना-अपना प्रतिक्रमण अलग-अलग करते हैं। जिन श्रावकों को प्रतिक्रमण आता है उन्हें भी प्रायः यही प्रेरणा की जाती है। पूर्ण प्रतिक्रमण नहीं जानने वाले

ल स्वाध्याय के लिए पर्युषण में आने वाले नवीन बंधुओं में धर्मरुचि जागृत करने, व्रत ग्रहण की भावना ने के लिए जानकार भाई सामूहिक करा दें, विशेष जानकार अपना अलग प्रतिक्रमण करें, यह उचित है।

स्थान की समस्या होने पर सामूहिक करते हुए भी अपने-अपने अतिचारों के चिन्तन रूप प्रथम श्यक में मौन-ध्यान के साथ एकान्त हो ही जाता है। प्रथम आवश्यक में अपने-अपने ध्यान लिये हुए को चतुर्थ आवश्यक में सामूहिक उच्चारण में साधक अपनी जागृति के साथ तद्-तद् अतिचारों का र से मिथ्या दुष्कृत करता है और विस्मृत हो जाने से ध्यान नहीं रहे हुए शेष अतिचारों का भी मिच्छामि ङं करते शुद्धि करता है। स्तुति वंदना आदि में सामूहिक उच्चारण से वातावरण की पवित्रता के साथ ं में भी उत्कृष्टता आती है, प्रेरणा भी जगती है अतः आत्म-साधना की इस प्रणाली को भी अनुपादेय ा उचित नहीं। हाँ, पर सामूहिक पर ही एकान्त जोर दे, वैयक्तिक करने से रोकना युक्तिसंगत नहीं। संघ शोभा-गौरव के लिए एक सामूहिक प्रतिक्रमण हो व वैयक्तिक करने वालों को अपनी साधना करने की त्रता हो। अलग-अलग समूह में सामूहिक अधिक होने पर विडम्बना खड़ी हो सकती है।

ासा- प्रतिक्रमण में कुछ अणुव्रतों के अतिचार की भाषा में ऐसे शब्दों का प्रयोग जो अनाचार व्यक्त ी हैं, क्यों हुआ है? जैसे चौथे व्रत में 'इत्तरिय गमणे' 'अपरिग्गहिय गमणे' इत्यादि। इन शब्दों से ते न हो, इस हेतु इन शब्दों की जगह यह प्रयोग क्यों न किया जाय कि 'इत्तरिय गमणे' हेतु 'आलाप-प किया हो' 'अपरिग्गहिय गमणे' हेतु 'आलाप-संलाप किया हो।' इसी तरह अन्य पाठों में भी चार द्योतक शब्दों में सुधार/संशोधन क्यों न किया जाय?

ाधान- व्रत भंग की ४ अवस्थाएँ बताई जाती हैं-

अतिक्रम इच्छा जानिये, व्यतिक्रम साधन संग।
अतिचार देश भंग है, अनाचार सर्व भंग।।

अर्थात् एक ही कार्य/इरादा/प्रवृत्ति किस अभिप्राय से किस स्तर की है इससे व्रत भंग की अवस्था निर्णय होता है। महाबली जी (मल्ली भगवती का पूर्वभव) और शंखजी की क्रिया समान थी, पर परिणाम हुल भिन्न। महाबली जी माया के कारण संयम से गिरकर पहले गुणस्थान में चले गए और शंखजी ता के कारण भगवद् मुखारविन्द से प्रशंसित हुए।

प्रायः सभी व्रतों के अतिचार अभिप्राय पर निर्भर करते हैं। अन्यथा वे अनाचार भी बन सकते हैं- क में सामायिक जल्दी पारना तो अनाचार ही है।

अतिचार से भी बचने के लिये प्रेरणा देते हुए, जाणियव्वा न समायरियव्वा [illegible] यदि [illegible] भावना से बंधन या वध किया गया और वह जीव बच भी गया तो अनाचार ही [illegible] अनाचार में शब्द की अपेक्षा नहीं भाव की अपेक्षा भेद रहता है। [illegible]

अनाचार बन जाता है।

प्रमादवश लोक प्रचलित रूढ़ियों से जिन्हें अनैतिक नहीं माना जाता, ऐसी बातों को भी धार्मिक दृष्टि से अतिचारों में रखकर चेतावनी दी गई, जैसे- कन्या के अन्तःपुर में रखी जाने वाली कन्या सगाई होने पर भी अपरिगृहीत है(आज केयुग में धड़ल्ले से चल ही रहा है) अब यदि उसे छोड़ ही दिया जाता तो व्यक्ति को उसमें कुछ भी अनाचार-अतिचार ध्यान में नहीं आता। अतः उन-उन बिन्दुओं का समावेश करना, कितनी सुन्दर व्यवस्था है।

अनाचार का कथन स्पष्टतः तो है नहीं। व्यक्ति सामाजिक परिवेश में उसे गलत भी नहीं मानता जैसे- सस्ता माल खरीदना, रेल में बच्चे की उम्र कम बताना, आयकर में अन्यथा प्रतिवेदन देना आदि-आदि अतिचारों में सम्मिलित कर महर्षियों ने स्पष्ट रूपरेखा तो दिखा दी, संक्लिष्ट परिणामों से करने पर प्राय सभी अतिचार अनाचार हैं। नासमझी, भूल, विवशता आदि कारणों से ये अतिचार हैं, व्रत की शुद्धि के लिये भी त्याज्य हैं।

जिज्ञासा- बड़ी संलेखना में मात्र अपने धर्माचार्य को ही नमस्कार किया है, अन्य आचार्यों व साधु-साध्वियों को क्यों नहीं?

समाधान- शरीर की अशक्तता, रुग्णता, वृद्धावस्था, आकस्मिक उपसर्ग, आतंक आदि कारणों में संलेखना संथारा किया जाता है। उस समय भी 'नमोत्थुणं' सिद्ध-अरिहन्त को देकर अपने धर्माचार्य-धर्मगुरु के विशिष्ट उपकार होने से उन्हें यथाशक्य विधिपूर्वक वन्दना की जाती है। सभी साधुओं को वंदना कर पाने के सामर्थ्य की उस अवस्था में कल्पना करना कैसे युक्ति संगत समझा जा सकता है। किसी को करे किसी को नहीं तो क्या पक्षपात या रागद्वेष की संभावना नहीं। अब ५०० साधु, ५० साधु या १०-२०-२५ जितने भी हों, उन्हें वन्दना कैसे कर पायेगा, अतः समुच्चय सभी से क्षमायाचना माँग लेता है। प्रायः संथारा मृत्यु की सन्निकटता में पच्चक्खाया जाता है। अतः उतना समय भी नहीं है, इसलिये सामान्य व्यवस्था यही कर दी गई। सुदर्शन, अर्हन्नक आदि के समक्ष उपसर्ग उपस्थित है, अल्पावधि में भी सिद्ध-अरिहन्त को नमस्कार करके यथा शीघ्र पच्चक्खाण करते हैं। तब सभी साधुओं को वंदना कैसे संभव है। वर्तमान में अधिकतर संथारे के पच्चक्खाण में तो व्यक्ति मात्र लेटा-लेटा सुनता रहता है वो नमोत्थुणं या गुरुओं की वंदना भी विधिपूर्वक नहीं कर पाता है। वर्तमान व्यवस्था पर जाएँ, तीन वंदना कर लें तो भी उत्तम है।

जिज्ञासा- आवश्यक सूत्र को बत्तीस आगमों में सम्मिलित किया गया है। क्या हरिभद्रसूरि को आवश्यकसूत्र का रचयिता माना जाता है? यदि यह सही है तो उनसे पूर्व प्रतिक्रमण किस प्रकार किया जाता था?

समाधान- श्वेताम्बर परम्परा पूर्वधरों की रचना को आगम स्वीकार करती है। स्थानकवासी व तेरापंथी

परम्परा में १० पूर्वी तक की समस्त रचना (वि.नि.५८४ तक) तथा पश्चाद्वर्ती पूर्वी (वी.नि.१००० तक) की वह रचना जो १०पूर्वी तक की रचना की विरोधी नहीं है- आगम में स्वीकृत है। २४वें तीर्थंकर के शासनवर्ती साधु को उभयकाल प्रतिक्रमण अनिवार्य होने से आवश्यक सूत्र तीर्थंकर के समय में भी विद्यमान था।

हरिभद्रसूरि का समय वी.नि.१२२७ से १२९७ तक (वि.७५७ से ८२७) है। जबकि द्वितीय भद्रबाहु ने वी.नि.१०३२ में आवश्यक निर्युक्ति-जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने वी.नि. १०५५-१११५ में विशेष आवश्यक भाष्य व जिनदास महत्तर ने वी.नि. १२०३ में आवश्यक चूर्णि की रचना की। तत्पश्चात् हरिभद्रसूरि ने 'शिष्यहिता वृत्ति' नामक आवश्यक सूत्र की टीका लिखी, जिसमें निर्युक्ति, भाष्य व चूर्णि तीनों का उपयोग हुआ।

जिज्ञासा- प्रतिक्रमण का प्रथम आवश्यक सामायिक है। सामान्यतः सामायिक ग्रहण करने के पश्चात् ही प्रतिक्रमण की आज्ञा ली जाती है। इस स्थिति में पहले आवश्यक 'सामायिक' की क्या आवश्यकता है? यदि करेमि भंते के पाठ से भी सामायिक हो जाती है तो सामायिक लेते समय विधि करने की क्या उपयोगिता है?

समाधान- सामायिक की साधना नवमें व्रत की आराधना है, जबकि आवश्यक सूत्र की उपादेयता सामायिक सहित सभी व्रतों के लगे अतिचारों की शुद्धि करने में है। रेल की यात्रा में नवमें व्रत की आराधना अर्थात् १८ पाप के त्याग रूपी संवर साधना नहीं हो सकती जबकि आवश्यक सूत्र के सभी आवश्यक यानी सामायिक भी आवश्यक हो सकता है। वहाँ प्रथम आवश्यक में कायोत्सर्ग अर्थात् काया की ममता छोड़कर अतीत के अतिचारों का चिन्तन किया जाता है, उस कायोत्सर्ग की भूमिका में 'करेमि भंते' का पाठ बोल वर्तमान निर्दोषता में पूर्व के दोषों का आलोकन संभव होना ध्वनित किया जाता है। अतः सामायिक में विधि करना अनिवार्य है और कायोत्सर्ग की भूमिका में 'करेमि भंते' का पाठ बोल प्रथम सामायिक आवश्यक में सामायिक का पच्चक्खाण करने के लिए नहीं, अपितु 'समता की भूमिका में समस्त पापों की शुद्धि संभव' पर आस्था रखकर अतिचार खोजना उपयोगी है। दोनों अलग-अलग है।

जिज्ञासा- लोगस्स के पाठ के संबंध में दिगम्बर परम्परा के ग्रंथ में प्रतिपादित किया गया है कि लोगस्स की रचना कुन्दकुन्दाचार्य ने की है। उसको पढ़ने से ज्ञात होता है कि प्रथम पद को छोड़कर सभी पद एक-दो शब्दों के परिवर्तन के अलावा समान ही हैं। क्या आवश्यक सूत्र में प्राप्त लोगस्स का पाठ कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित है?

समाधान- दिगम्बर ग्रन्थों में शौरसेनी प्राकृत का उपयोग हुआ है जबकि श्वेताम्बर [illegible] अर्धमागधी भाषा

अनाचार बन जाता है।

प्रमादवश लोक प्रचलित रूढ़ियों से जिन्हें अनैतिक नहीं माना जाता, ऐसी बातों को भी धार्मिक दृष्टि से अतिचारों में रखकर चेतावनी दी गई, जैसे- कन्या के अन्तःपुर में रखी जाने वाली कन्या सगाई होने पर भी अपरिगृहीत है(आज के युग में धड़ल्ले से चल ही रहा है) अब यदि उसे छोड़ ही दिया जाता तो व्यक्ति को उसमें कुछ भी अनाचार-अतिचार ध्यान में नहीं आता। अतः उन-उन बिन्दुओं का समावेश करना, कितनी सुन्दर व्यवस्था है।

अनाचार का कथन स्पष्टतः तो है नहीं। व्यक्ति सामाजिक परिवेश में उसे गलत भी नहीं मानता। जैसे- सस्ता माल खरीदना, रेल में बच्चे की उम्र कम बताना, आयकर में अन्यथा प्रतिवेदन देना आदि-आदि अतिचारों में सम्मिलित कर महर्षियों ने स्पष्ट रूपरेखा तो दिखा दी, संक्लिष्ट परिणामों से करने पर प्रायः सभी अतिचार अनाचार हैं। नासमझी, भूल, विवशता आदि कारणों से ये अतिचार हैं, व्रत की शुद्धि के लिये ये भी त्याज्य हैं।

जिज्ञासा- बड़ी संलेखना में मात्र अपने धर्माचार्य को ही नमस्कार किया है, अन्य आचार्यों व साधु-साध्वियों को क्यों नहीं?

समाधान- शरीर की अशक्तता, रुग्णता, वृद्धावस्था, आकस्मिक उपसर्ग, आतंक आदि कारणों में संलेखना संथारा किया जाता है। उस समय भी 'नमोत्थुणं' सिद्ध-अरिहन्त को देकर अपने धर्माचार्य-धर्मगुरु के विशिष्ट उपकार होने से उन्हें यथाशक्य विधिपूर्वक वन्दना की जाती है। सभी साधुओं को वंदना कर पाने के सामर्थ्य की उस अवस्था में कल्पना करना कैसे युक्ति संगत समझा जा सकता है। किसी को करे किसी को नहीं तो क्या पक्षपात या रागद्वेष की संभावना नहीं। अब ५०० साधु, ५० साधु या १०-२०-२५ जितने भी हों, उन्हें वन्दना कैसे कर पायेगा, अतः समुच्चय सभी से क्षमायाचना माँग लेता है। प्रायः संथारा मृत्यु की सन्निकटता में पच्चक्खाया जाता है। अतः उतना समय भी नहीं है, इसलिये सामान्य व्यवस्था यही कर दी गई। सुदर्शन, अर्हन्नक आदि के समक्ष उपसर्ग उपस्थित है, अल्पावधि में भी सिद्ध-अरिहन्त को नमस्कार करके यथा शीघ्र पच्चक्खाण करते हैं। तब सभी साधुओं को वंदना कैसे संभव है। वर्तमान में अधिकतर संथारे के पच्चक्खाण में तो व्यक्ति मात्र लेटा-लेटा सुनता रहता है वो नमोत्थुणं या गुरुओं की वंदना भी विधिपूर्वक नहीं कर पाता है। वर्तमान व्यवस्था पर जाएँ, तीन वंदना कर लें तो भी उत्तम है।

जिज्ञासा- आवश्यक सूत्र को बत्तीस आगमों में सम्मिलित किया गया है। क्या हरिभद्रसूरि को आवश्यकसूत्र का रचयिता माना जाता है? यदि यह सही है तो उनसे पूर्व प्रतिक्रमण किस प्रकार किया जाता था?

समाधान- श्वेताम्बर परम्परा पूर्वधरों की रचना को आगम स्वीकार करती है। स्थानकवासी व तेरापंथी

परम्परा में १० पूर्वी तक की समस्त रचना (वि.नि.५८४ तक) तथा पश्चाद्वर्ती पूर्वी (वी.नि.१००० तक) की वह रचना जो १०पूर्वी तक की रचना की विरोधी नहीं है- आगम में स्वीकृत है। २४वें तीर्थंकर के शासनवर्ती साधु को उभयकाल प्रतिक्रमण अनिवार्य होने से आवश्यक सूत्र तीर्थंकर के समय में भी विद्यमान था।

हरिभद्रसूरि का समय वी.नि.१२२७ से १२९७ तक (वि.७५७ से ८२७) है। जबकि द्वितीय भद्रबाहु ने वी.नि.१०३२ में आवश्यक निर्युक्ति-जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने वी.नि. १०५५-१११५ में विशेष आवश्यक भाष्य व जिनदास महत्तर ने वी.नि. १२०३ में आवश्यक चूर्णि की रचना की। तत्पश्चात् हरिभद्रसूरि ने 'शिष्यहिता वृत्ति' नामक आवश्यक सूत्र की टीका लिखी, जिसमें निर्युक्ति, भाष्य व चूंर्णि तीनों का उपयोग हुआ।

जिज्ञासा- प्रतिक्रमण का प्रथम आवश्यक सामायिक है। सामान्यतः सामायिक ग्रहण करने के पश्चात् ही प्रतिक्रमण की आज्ञा ली जाती है। इस स्थिति में पहले आवश्यक 'सामायिक' की क्या आवश्यकता है? यदि करेमि भंते के पाठ से भी सामायिक हो जाती है तो सामायिक लेते समय विधि करने की क्या उपयोगिता है?

समाधान- सामायिक की साधना नवमें व्रत की आराधना है, जबकि आवश्यक सूत्र की उपादेयता सामायिक सहित सभी व्रतों के लगे अतिचारों की शुद्धि करने में है। रेल की यात्रा में नवमें व्रत की आराधना अर्थात् १८ पाप के त्याग रूपी संवर साधना नहीं हो सकती जबकि आवश्यक सूत्र के सभी आवश्यक यानी सामायिक भी आवश्यक हो सकता है। वहाँ प्रथम आवश्यक में कायोत्सर्ग अर्थात् काया की ममता छोड़कर अतीत के अतिचारों का चिन्तन किया जाता है, उस कायोत्सर्ग की भूमिका में 'करेमि भंते' का पाठ बोल वर्तमान निर्दोषता में पूर्व के दोषों का आलोकन संभव होना ध्वनित किया जाता है। अतः सामायिक में विधि करना अनिवार्य है और कायोत्सर्ग की भूमिका में 'करेमि भंते' का पाठ बोल प्रथम सामायिक आवश्यक में सामायिक का पच्चक्खाण करने के लिए नहीं, अपितु 'समता की भूमिका में समस्त पापों की शुद्धि संभव' पर आस्था रखकर अतिचार खोजना उपयोगी है। दोनों अलग-अलग है।

जिज्ञासा- लोगस्स के पाठ के संबंध में दिगम्बर परम्परा के ग्रंथ में प्रतिपादित किया गया हैं कि लोगस्स की रचना कुन्दकुन्दाचार्य ने की है। उसको पढ़ने से ज्ञात होता है कि प्रथम पद को छोड़कर सभी पद एक-दो शब्दों के परिवर्तन के अलावा समान ही हैं। क्या आवश्यक सूत्र में प्राप्त लोगस्स का पाठ कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित है?

समाधान- दिगम्बर ग्रन्थों में शौरसेनी प्राकृत का उपयोग हुआ है जबकि श्वेताम्बर वाङ्मय अर्धमागधी भाषा

में है। अतः दिगम्बर का लोगस्स मूल होने का प्रश्न ही नहीं और फिर कुन्दकुन्दाचार्य तो बहुत बाद में हुए, गणधर प्रणीत वाङ्मय अति प्राचीन है। लोगस्स ही क्या, कितने ही अन्यान्य सूत्र गाथाओं में समानता है, पर इससे उनका मौलिक और श्वेताम्बरों का अमौलिक नहीं कहा जा सकता है।

जिज्ञासा- खमासमणो का पाठ उत्कृष्ट वंदना के रूप में मान्य है। तिक्खुत्तो के पाठ को मध्यम वन्दना तथा 'मत्थएण वंदामि' को जघन्य वंदना कहा गया है, किन्तु आगम में जहाँ कहीं भी तीर्थंकर भगवन्तों और संतों को वन्दना का वर्णन आया है वहाँ तिक्खुत्तो के पाठ से वंदना का उल्लेख है। जब तीर्थंकर भगवन्तों को तिक्खुत्तो से वन्दना की जाती है तो उत्तम वन्दना किसके लिए? मत्थएण वंदामि का भी क्या औचित्य है?

समाधान- उत्कृष्ट वंदना, मध्यम वंदना और जघन्य वंदना- यह आगम में नहीं है। वहाँ तो द्रव्य-भाव आदि का भेद है। यह पश्चाद्वर्ती महापुरुषों की प्रश्नशैली की देन है। भावपूर्वक करने पर तीनों ही आत्महितकारी हैं। उत्कृष्ट वंदना उभयकाल होती है, जो प्रत्येक प्रतिक्रमण में ३६ आवर्तन सहित भाव विभोर करने वाली है। सामान्य रूप से भी यदि आप श्रमण सूत्र (उपाध्याय अमरमुनि जी) में इसका अर्थ व विवेचन पढ़ेंगे तो भाव विभोर हुए बिना नहीं रह सकते।

आवश्यक की वन्दना के लिए भी तीन बार तिक्खुत्तो से वंदना की जाती है, अस्तु उत्कृष्ट और मध्यम वंदना अपेक्षा से कहना अयुक्त नहीं।

नमस्कार सर्वपाप प्रणाशक है, वंदामि से वंदना गृहीत होती है, अतः नमस्कार को वंदना नहीं कहा। यूँ तो लोगस्स, नमोत्थुणं भी स्तुति, भक्ति, विनय के ही सूत्र हैं, पर वंदना में सम्मिलित नहीं। अस्तु नवकार, भक्ति, स्तुति को वंदना में नहीं कह, 'मत्थएण वंदामि' के शब्दों की अल्पता से जघन्य में कह दिया।

प्रायः 'नमंसामि वंदामि' एकार्थक भी हैं, साथ-साथ होने पर काया से नमस्कार व मुख से गुणगान अर्थ करना होता है। संस्कृत में मूलतः 'वदि-अभिवादनस्तुत्योः' (To Bow down and to praise) धातु से वंदामि शब्द बनता है। अतः इस एक में दोनों 'स्तुति और नमस्कार' सम्मिलित हैं। तिक्खुत्तो में भी दोनों बार अलग-अलग अर्थ कर इन दोनों को सूचित किया है। अतः बड़ी संलेखना में उसे 'नमोत्थुणं' शब्द से गुणगान सहित नमस्कार कह दिया गया।

जिज्ञासा- चत्तारि मंगलं का पाठ क्या गणधर भी बोलते थे?

समाधान- आवश्यक सूत्र के सभी पाठ आवश्यक के रचनाकार (सूत्रकार) की रचना होने चाहिए। जब वह गणधर प्रणीत है- छेदोपस्थापनीय चारित्र धारक को उभयकाल करना अनिवार्य है, तो गणधर भगवन्त भी दोनों समय आवश्यक (प्रतिक्रमण) करते समय मांगलिक भी बोलेंगे ही।

जिज्ञासा- श्रमण सूत्र के तैंतीस बोल के चौथे बोल में 'पडिक्कमामि चउहिं झाणेहिं' बोला जाता है तथा अन्त में मिच्छामि दुक्कडं दिया जाता है। आर्त्त-रौद्र ध्यान का मिच्छामि दुक्कडं तो समझ में आया, किन्तु धर्मध्यान और शुक्लध्यान का अतिचार कैसे?

समाधान- आर्त्त और रौद्र ध्यान के करने से तथा धर्म और शुक्ल ध्यान के न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण (मिच्छामि दुक्कडं) करता हूँ।

आगम की शैली है- जैसे श्रावक प्रतिक्रमण में- इच्छामि ठामि में- तिण्हं गुत्तीणं चउण्हं कसायाणं... का अर्थ भी तीन गुप्तियों के नहीं पालन व चार कषायों के सेवन का प्रतिक्रमण करना ही समझा जाता है।

इस ३३ बोल में ३ गुप्ति, ब्रह्मचर्य की नववाड़, ग्यारह श्रावक प्रतिमा, १२ भिक्षु प्रतिमा, २५ भावना, २७ अणगार गुण व ३२ योग संग्रह आदि में धर्म-शुक्ल ध्यान के समान नहीं करने से, नहीं पालने से का मिच्छामि दुक्कडं है, जबकि अनेक में उनके सेवन का व कइयों में श्रद्धान प्ररूपण विपरीतता का मिच्छामि दुक्कडं है।

जिज्ञासा- ब्रह्मचर्य की नववाड़ के सातवें बोल में दिन-प्रतिदिन सरस आहार नहीं करने की बात कही गई है। जबकि उत्तराध्ययन के १६वें अध्ययन तथा समवायांग के ९वें समवाय की जो गाथा दी गई है उसमें दिन-प्रतिदिन का उल्लेख नहीं है? इस परिवर्तन का क्या उद्देश्य हो सकता है? वैसे भी आगम की गाथा का तोड़-मरोड़ कर अर्थ नहीं करना चाहिये।

समाधान- उत्तराध्ययन सूत्र के १७वें अध्याय की १५वीं गाथा में 'दुद्ध-दही विगईओ, आहारेइ अभिक्खणं....' में प्रतिदिन विगय के सेवन करने वाले को पापी श्रमण कहा है। समवायांग सूत्र 'तित्थयराइं' गाथा ३१

उसभस्स पढमभिक्खा खोयरसो आसि लोगनाहस्स।
सेसाणं परमण्णं अभियरससरसोवम आसि।।

२३ तीर्थंकरों का प्रथम पारणक अमृतरस के समान खीर से होना बताया। अंतगड़ सूत्र के ८वें वर्ग में रानियों (साध्वियों) के तप में सर्वकामगुण अर्थात् विगयसहित प्रथम परिपाटी के पारणे कहे हैं और भी अनेकानेक आगम कथा साहित्य के दृष्टान्त भरे पड़े हैं। अतः अर्थ में आगमसम्मत उल्लेख समाविष्ट कर दिया गया। यह तोड़-मरोड़ कर अनुवाद करना नहीं, अपितु भावों का युक्तिसंगत प्रस्तुतीकरण है। अन्यथा तीर्थंकर सहित ये सभी महान् आत्माएँ विराधक सिद्ध हो जायेंगी। महान् अनर्थ हो जायेगा। अविनय आशातना से कर्मबंध हो जायेगा।

जिज्ञासा- ३३ बोल श्रमणसूत्र का ही एक भाग है उसके उपरान्त भी ३३ बोल के हिन्दीकरण करने की क्या आवश्यकता है?

समाधान- हिन्दी क्या अब तो अंग्रेजी में भी अनुवाद करना पड़ेगा। समय-समय पर प्रचलित भाषा में विवेचन करना अनुपयुक्त कैसे? पहले संस्कृत में था, आज गुजरात में गुजराती में है, शेष स्थानों पर हिन्दी में है। मूल सुरक्षित है, प्रतिक्रमण में उसे ही बोलते हैं, शेष विवेचन, मात्र उचित ही नहीं, उपादेय व उपयोगी भी है।

जिज्ञासा- भाव वन्दना में पहले पद में केवल तीर्थंकर भगवन्तों को वन्दना की गई है या केवली भगवन्तों का भी समावेश किया गया है। यदि पहले पद में केवली भगवान् का समावेश नहीं किया गया तो कौनसे पद में किया गया है? यदि पाँचवें पद में किया गया है तो वे साधु के समकक्ष नहीं होते हैं। यही कारण है कि शिष्य को केवलज्ञान होने पर उनके कंधे पर बैठे हुए गुरु को केवली की आशातना का पश्चात्ताप हुआ।

समाधान- इधर की परम्परा प्रथम पद में ही बोलती है, अतः शेष समाधान पाँचवें पद में बोलने वालों प्राप्त करना उचित होगा।

जिज्ञासा- 'वोसिरामि' के स्थान पर 'वोसिरे' शब्द का प्रयोग कहाँ तक उचित है?

समाधान- स्वयं को जब प्रत्याख्यान करना हो तो 'वोसिरामि' शब्द बोला जाता है तथा दूसरे को प्रत्याख्यान कराते समय 'वोसिरे' शब्द का प्रयोग किया जाता है। मान लीजिए, कोई उपवास माँग रहा है, कराने वा को तो करना नहीं, 'वोसिरामि' बोलने से 'मैं वोसराता हूँ'- स्वयं के त्याग हो जायेगा। अतः दूसरे को त्या कराने हेतु व्याकरण की दृष्टि से 'वोसिरे' शब्द का प्रयोग उचित है।

तीर्थंकर भगवन्त आदि दीक्षा का प्रत्याख्यान करते समय 'वोसिरामि' नहीं बोल सकते। स्वयं दीक्षा में 'वोसिरामि' बोलते हैं। जब दीक्षा प्रदाता तीर्थंकर भगवन्त सैकड़ों-हजारों मुमुक्षुओं को दीक्षा प्र कर सकते हैं तो पच्चक्खाण में 'वोसिरे' बोलने में क्या आपत्ति?

जिज्ञासा- स्थानकवासी परम्परा में दो प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में क्या धारणा है?

समाधान- प्रमुखतया तीन प्रकार की परिपाटी चल रही है- १. तीन चौमासी और एक संवत्सरी- इन दिवसों में दो प्रतिक्रमण करना। २. केवल कार्तिक चौमासी को दो प्रतिक्रमण करना। ३. दो प्रतिक्रमण क नहीं करना।

जिज्ञासा- इस विविधता का क्या हेतु है?

समाधान- ज्ञाताधर्मकथा के पाँचवें अध्याय में शैलक राजर्षि जी को पंथकजी ने कार्तिक चौमासी के दैवसिक प्रतिक्रमण में जागृति प्राप्त नहीं होने पर चातुर्मासी प्रतिक्रमण की आज्ञा ली, परिणामस्वरूप प्रमाद

परीहार कर शैलक जी शुद्ध विहारी बने।

जिज्ञासा- इससे तीन मत कैसे बने?

समाधान- १. प्रथम मत कहता है कि आगम में दो प्रतिक्रमण के विधि-निषेध का उल्लेख नहीं है। चरित्र के अन्तर्गत आए उल्लेख को स्वीकार कर कार्तिक चौमासी को दो प्रतिक्रमण करने चाहिए। चार माह तक एक स्थल पर रहने से प्रमाद (राग) विशेष बढ़ सकता है, उसके विशेष निराकरण के लिए दो प्रतिक्रमण करना चाहिए। शेष दो चौमासी व संवत्सरी का आगम में कहीं भी उल्लेख नहीं है, अतः उनमें नहीं करना चाहिए।

२. दूसरे मत का कथन है कि जब एक चौमासी को दो प्रतिक्रमण किये तो बाकी दो चौमासी को भी करना चाहिए और संवत्सरी चौमासी से बड़ी है, तब तो अवश्य करना चाहिए।

३. तीसरा मत कहता है कि आगम में विधिपूर्वक कहीं उल्लेख नहीं है। बीच के २२ तीर्थंकरों के शासन व महाविदेह क्षेत्र में सामायिक चारित्र होता है, अस्थित कल्प होता है। छेदोपस्थापनीय चारित्र व स्थित कल्पी प्रथम व अन्तिम जिन के शासन में ही चौमासा व प्रतिक्रमण आदि कल्प (मर्यादा) अनिवार्य होते हैं। बीच के तीर्थंकरों की व्यवस्था से अन्तिम तीर्थंकर के शासन की व्यवस्था भिन्न होती है, अतः एक ही प्रतिक्रमण करना चाहिए।

जिज्ञासा- तो दो प्रतिक्रमण करने में, अधिक करने में नुकसान क्या है ?

समाधान- नहीं, आगम के विधान से अधिक करना भी दोष व आगम आज्ञा का भंग है, प्रायश्चित्त का कारण है। अच्चक्खरं का दोष 'आगमे तिविहे' के पाठ में है और इसी प्रकार की क्रिया के सम्बन्ध में भी उल्लेख है।

दूसरी बात फिर कोई कह सकता है- पक्खी को भी दो प्रतिक्रमण होने चाहिए। चौमासी को देवसिय, पक्खी व चौमासी- ये तीन होने चाहिए। आगम (उत्तराध्ययन अ.२६) स्पष्ट ध्वनित कर रहा है कि पोरसी के चतुर्थ भाग (लगभग ४५ मिनिट) में प्रतिक्रमण हो जाना चाहिए। चौमासी-संवत्सरी को अधिक लोगस्स का कायोत्सर्ग होने से प्रायः कुछ समय अधिक हो जाता है।

जिज्ञासा- जब कुछ अधिक हो ही जाता है तो फिर ३० मिनिट और अधिक होने में क्या नुकसान है ?

समाधान- 'काले कालं समायरे' के आगम कथन का उल्लंघन होता है। साथ ही उत्तराध्ययन के २६वें अध्याय की टीका, यति दिनचर्या आदि से स्पष्ट है कि सूर्य की कोर खंडित होने के साथ प्रतिक्रमण (आवश्यक) की आज्ञा ले। सामान्य दिन इस विधान का पालन किया जाता है। विशिष्ट पर्व चौमासी और संवत्सरी को तो और अधिक जागृति से पालना चाहिए। पर उस दिन दो प्रतिक्रमण करने वालों का यह विधान कितना निभ पाता है, समीक्षा योग्य है।

जिज्ञासा- तो क्या दो प्रतिक्रमण करना आगम विरुद्ध है?

समाधान- पूर्वाचार्यों ने अनेक विवादास्पद स्थलों पर 'तत्त्वं तु केवलिनो विदन्ति' करके अपना बचाव किया है। हम भी किसी भी विवाद में उलझना नहीं चाहते।

जिज्ञासा- पर आपका कोई ना कोई दृष्टिकोण तो होगा ही?

समाधान- हाँ, वो तो रखना ही होगा। गुरु भगवन्तों की कृपा से, आगम वर्णन से- केशी गौतम संवाद।

कालास्यवेषिक अणगार आदि पार्श्वनाथ भगवान् के अनेक साधु, भगवान् महावीर के शासन में आए, उन्होंने ५ महाव्रत के साथ प्रतिक्रमण वाले धर्म को स्वीकार किया, ऐसा आगम स्पष्ट कर रहा है। अर्थात् २४वें तीर्थंकर के शासन की व्यवस्था मध्यवर्ती तीर्थंकरों के शासन से स्पष्ट अलग है, अतः मध्यवर्ती का कथानक यहाँ वर्तमान में लागू नहीं किया जा सकता।

शैलकजी को पंथकजी ने प्रतिदिन भी प्रमाद परिहरण के लिए प्रतिक्रमण कराया होगा, पर फिर भी वे सफल नहीं हो पाए। अतः चौमासी को उन्होंने विशेष प्रयास किया और उसमें सफलता मिल गई। इसी प्रकार विशेष दोष पर साधक अलग से आलोचन, प्रतिक्रमण आज भी करता है। पर सामान्य जीवन-चर्या में, साधना में एक प्रतिक्रमण की बात उचित प्रतीत होती है, अतः हम चौमासी व संवत्सरी को भी एक ही प्रतिक्रमण करते हैं।

परिशिष्ट

श्रमण प्रतिक्रमण में साधु-साध्वी के १२५ अतिचार

(क्रम संख्या भिन्न भी हो सकती है)

ज्ञान के १४ अतिचार

१. वाइद्धं - आगम पाठों में जो क्रम है उसे छोड़कर अर्थात् पद, अक्षर को आगे-पीछे करके पढ़ा हो।

२. वच्चामेलियं- एक सूत्र का पाठ अन्य सूत्र में मिलाकर पढ़ा हो।

३. हीणक्खरं- अक्षर घटा करके बोला हो।

४. अच्चक्खरं- अक्षर बढ़ा करके बोला हो।

५. पयहीणं- पद को कम करके पढ़ा हो।

६. विणयहीणं- विनयरहित होकर पढ़ा हो।

७. जोगहीणं- मन, वचन व काया के योगरहित पढ़ा हो।

८. घोसहीणं- उदात्त आदि के उचित घोष बिना पढ़ा हो।

९. सुट्ठुदिण्णं- शिष्य की उचित शक्ति से न्यूनाधिक ज्ञान दिया हो।

१०. दुट्ठुपडिच्छियं- दुष्ट भाव से ग्रहण किया हो।

११. अकाले कओ सज्झाओ- अकाल में स्वाध्याय किया हो।

१२. काले न कओ सज्झाओ- काल में स्वाध्याय न किया हो।

१३. असज्झाए सज्झाइयं- अस्वाध्याय के समय में स्वाध्याय किया हो।

१४. सज्झाइए न सज्झाइयं- स्वाध्याय के समय में स्वाध्याय न किया हो।

सम्यक्त्व (दर्शन) के ५ अतिचार

१५. शंका- श्री जिनवचन में शंका की हो।

१६. कंखा- परदर्शन की आकांक्षा की हो।

१७. वितिगिच्छा- धर्म के फल में संदेह किया हो।

१८. परपासंडपसंसा- परपाखण्डी (मिथ्यामतियों) की प्रशंसा की हो।

१९. परपासंडसंथवो- परपाखण्डी (मिथ्यामतियों) का परिचय किया हो।

संलेखना के ५ अतिचार

२०. इहलोगासंसप्पओगे - इस लोक में सुख व ऋद्धि की इच्छा करना।

२१. परलोगासंसप्पओगे- परलोक में देवता आदि के सुख की कामना करना।

२२. जीवियासंसप्पओगे- प्रशंसा फैलने पर जीवित रहने की आकांक्षा करना।

२३. मरणासंसप्पओगे- कष्ट होने पर शीघ्र मरने की इच्छा करना।

२४. कामभोगासंसप्पओगे- काम-भोग की अभिलाषा करना।

पाँच महाव्रतों की २५ भावनाएँ (इनका पालन न करने पर अतिचार लगता है)

पहले महाव्रत की ५ भावना

२५. ईर्या समिति

२६. मनः समिति

२७. भाषा समिति

२८. एषणा समिति

२९. आदान-भण्ड निक्षेपणा समिति

दूसरे महाव्रत की ५ भावना

३०. बिना विचारे नहीं बोले

३१. क्रोधवश नहीं बोले

३२. लोभवश नहीं बोले

३३. भयवश नहीं बोले

३४. हास्यवश नहीं बोले

तीसरे महाव्रत की ५ भावना

३५. अठारह प्रकार का निर्दोष स्थान स्वामी की आज्ञा लेकर भोगना

३६. तृण कंकरादि याचकर लेवे

३७. छः काया का आरम्भ करके स्थानक नहीं भोगवे

३८. पाँच प्रकार का अदत्त नहीं लेवे

३९. तपस्वी, ग्लान, रोगी, वृद्ध आदि की सेवा करे।

चौथे महाव्रत की ५ भावना

४०. स्त्री, पशु, नपुंसक सहित स्थानक में नहीं ठहरे।

४१. स्त्रीकथा/पुरुषकथा नहीं करे।

४२. स्त्री/पुरुष के अंगोपांग रागदृष्टि से नहीं देखे।

४३. पहले के काम-भोग याद नहीं करे।

४४. सरस आहार प्रतिदिन नहीं करे।

पाँचवें महाव्रत की ५ भावना

४५. इष्ट, अनिष्ट-शब्द पर राग-द्वेष नहीं करे।

४६. इष्ट, अनिष्ट-रूप पर राग-द्वेष नहीं करे।

४७. इष्ट, अनिष्ट-गंध पर राग-द्वेष नहीं करे।

४८. इष्ट, अनिष्ट रस पर राग-द्वेष नहीं करे।

४९. इष्ट, अनिष्ट स्पर्श पर राग-द्वेष नहीं करे।

रात्रि-भोजन के दो अतिचार

५०. दिन का लिया रात्रि में खाना।

५१. रात्रि का लिया दिन में खाना।

ईर्या समिति के चार अतिचार

५२. द्रव्य से- छः काया के जीवों को देखकर नहीं चले।

५३. क्षेत्र से- चार हाथ प्रमाण भूमि देखकर नहीं चले।

५४. काल से- दिन को देखकर रात्रि में पूँजकर नहीं चले।

५५. भाव से- उपयोग सहित नहीं चले।

भाषा समिति के दो अतिचार

५६. सावद्य भाषा

५७. मिश्र भाषा

एषणा समिति के ४७ अतिचार

उद्गम के १६ दोष

५८. आधाकर्म- साधु का उद्देश्य रखकर भोजन बनाना।

५९. औद्देशिक- सामान्य याचकों को उद्देश्य रखकर बनाना।

६०. पूतिकर्म- शुद्ध आहार को आधाकर्मादि से मिश्रित करना।

६१. मिश्रजात- अपने और साधु के लिए एक साथ बनाना।

६२. स्थापन- साधु के लिए दुग्ध आदि अलग रख देना।

६३. प्राभृतिका- साधु को पास के ग्रामादि में आया जान कर विशिष्ट आहार बहराने के लिए जीमणवार आदि का दिन आगे-पीछे कर देना।

६४. प्रादुष्करण- अंधकारयुक्त स्थान में दीपक आदि का प्रकाश करके भोजन देना।

६५. क्रीत- साधु के लिए खरीद कर लाना।

६६. प्रामित्य- साधु के लिए उधार लाना।

६७. परिवर्तित- साधु के लिए अट्टा-सट्टा करके लाना।

६८. अभिहृत- साधु के लिए दूर से लाकर देना।

६९. उद्भिन्न- साधु के लिए लिप्त-पात्र का मुख खोल कर घृत आदि देना।

७०. मालापहृत- ऊपर की मंजिल से या छींके वगैरह से सीढ़ी आदि से उतार कर देना।

७१. आच्छेद्य- दुर्बल से छीन कर देना।

७२. अनिसृष्ट- साझे की चीज दूसरों की आज्ञा के बिना देना।

७३. अध्यवपूरक- साधु को गाँव से आया जान कर अपने लिए बनाये जाने वाले भोजन में और बढ़ा देना।

उत्पादन के १६ दोष

७४. धात्री- धाय की तरह गृहस्थ के बालकों को खिला-पिला कर, हँसा-रमा कर आहार लेना।

७५. दूती- दूत के समान संदेशवाहक बनकर आहार लेना।

७६. निमित्त- शुभाशुभ निमित्त बताकर आहार लेना।

७७. आजीव- आहार के लिए जाति, कुल आदि बताना।

७८. वनीपक- गृहस्थ की प्रशंसा करके भिक्षा लेना।

७९. चिकित्सा- औषधि आदि बताकर आहार लेना।

८०. क्रोध- क्रोध करना या शापादि का भय दिखाना।

८१. मान- अपना प्रभुत्व जमाते हुए आहार लेना।

८२. माया- छल कपट से आहार लेना।

८३. लोभ- सरस भिक्षा के लिए अधिक घूमना।

८४. पूर्वपश्चात्संस्तव- दान-दाता के माता-पिता अथवा सास-सुसर आदि से अपना परिचय बताक भिक्षा लेना।

८५. विद्या- जप आदि से सिद्ध होने वाली विद्या का प्रयोग करना।

८६. मंत्र- मंत्र-प्रयोग से आहार लेना।

८७. चूर्ण- चूर्ण आदि वशीकरण का प्रयोग करके आहार लेना।

८८. योग- सिद्धि आदि योग-विद्या का प्रदर्शन करना।

८९. मूलकर्म- गर्भस्तंभ आदि के प्रयोग बताना।

गृहणैषणा के १० दोष

९०. शंकित- आधाकर्मादि दोषों की शंका होने पर भी लेना।

९१. म्रक्षित- सचित्त का संघट्टा होने पर आहार लेना।

९२. निक्षिप्त- सचित्त पर रखा हुआ आहार लेना।

९३. पिहित- सचित्त से ढका हुआ आहार लेना।

९४. संहृत- पात्र में पहले से रखे हुए अकल्पनीय पदार्थ को निकाल कर उसी पात्र से देना।

९५. दायक- शराबी, गर्भिणी आदि अनधिकारी से लेना।

९६. उन्मिश्र- सचित्त से मिश्रित आहार लेना।

९७. अपरिणत- पूरे तौर पर पके बिना शाकादि लेना।

९८. लिप्त- दही, घृत आदि से लिप्त होने वाले पात्र या हाथ से आहार लेना। पहले और पीछे धोने के कारण क्रमशः पुरःकर्म तथा पश्चात्कर्म दोष होता है।

९९. छर्दित- छींटे नीचे पड़ रहे हों, ऐसा आहार लेना।

ग्रासैषणा के ५ दोष

१००. संयोजना- रसलोलुपता के कारण दूध और शक्कर आदि द्रव्यों को परस्पर मिलाना।

१०१. अप्रमाण- प्रमाण से अधिक भोजन करना।

१०२. अंगार- सुस्वादु भोजन की प्रशंसा करते हुए खाना। यह दोष चारित्र को जलाकर कोयलारूप निस्तेज बना देता है, अतः अंगार कहलाता है।

१०३. धूम- नीरस आहर की निन्दा करते हुए खाना।

१०४. अकारण- आहार करने के छः कारणों के सिवाय बलवृद्धि आदि के लिए भोजन करना।

आदानभाण्ड मात्र निक्षेपणा समिति के दो अतिचार

१०५. भण्डोपकरण लेना- भण्डोपकरण वस्त्र, पात्र आदि बिना देखे, बिना पूँजे अयतना से लेना।

१०६. भण्डोपकरण रखना- भण्डोपकरण वस्त्र, पात्र आदि बिना देखे, बिना पूँजे अयतना से रखना।

उच्चार-प्रस्रवण-खेल-सिंघाण-जल्ल परिष्ठापनिका समिति के १० अतिचार (निम्नांकित का पालन न करने पर अतिचार लगता है)

१०७. अणवयसंलोए परस्स- जहाँ किसी का आना जाना न हो और न दृष्टि पड़ती हो।

१०८. अणुवघाए- जहाँ परठने से आत्मा, संयम और प्रवचन का उपघात न हो।

१०९. सम्मे- जहाँ ऊँची-नीची भूमि न हो अर्थात् समतल भूमि हो।

११०. अज्झुसिरे- जहाँ पोलार भूमि न हो।

१११. अचित्त कालकयम्मि- जहाँ थोड़े काल पहले अग्नि जली हो।

११२. विछिन्नो- जहाँ एक हाथ लम्बी चौड़ी भूमि हो।

११३. दूरमोगाढे- जहाँ कम से कम ४ अंगुल नीचे की भूमि अचित हो।

११४. णासन्ने- जहाँ ग्राम बगीचादि नजदीक न हो।

११५. बिलवज्जीए- जहाँ चूहे आदि का बिल नजदीक न हो।

११६. तसपाणावयरहिय- जहाँ बेइन्द्रिय त्रस जीव और शाल्यादि बीज न हो, वहाँ परठें।

मनोगुप्ति के ३ अतिचार

११७. संरम्भ

११८. समारम्भ

११९. आरम्भ

वचनगुप्ति के ३ अतिचार

१२०. संरम्भ

१२१. समारम्भ

१२२. आरम्भ

कायगुप्ति के ३ अतिचार

१२३. संरम्भ

१२४. समारम्भ

१२५. आरम्भ

श्रावक प्रतिक्रमण में ९९ अतिचार

ज्ञान के १४ (श्रमण अतिचारानुसार)

दर्शन के ५ (श्रमण अतिचारानुसार)

व्रत के ६० (नीचे दिए गए हैं)

कर्मादान १५ (नीचे दिए गए हैं)

संलेखना ५ (श्रमण अतिचारानुसार)

९९

व्रत के ६० अतिचार

१. बंधे- गाढ़े बंधन से बाँधा हो।

२. वहे- वध (मारा या गाढ़ा घाव घाला हो)।

३. छविच्छए- अंगोपांग को छेदा हो।

४. अइभारे- अधिक भार भरा हो।

५. भत्तपाण विच्छेद- भोजन पानी में रुकावट की हो।

६. सहसब्भक्खाणे- बिना विचारे किसी पर झूठा दोष देना।

७. रहसब्भक्खाणे- गुप्त बात प्रकट करना।

८. सदारमंतभेए- अपनी स्त्री(या पुरुष) की गुप्त बात प्रकट करना।

९. मोसोवएसे- झूठा उपदेश देना।

१०. कूडलेहकरणे- झूठा लेख लिखना

११. तेनाहडे- चोर की चुराई वस्तु ली हो।

१२. तक्करप्पओगे- चोर को सहायता दी हो।

१३. विरुद्धरज्जाइक्कमे- राज्य के विरुद्ध काम किया हो।

१४. कूडतुल्लकूडमाणे- खोटा तोल, खोटा माप किया हो।

१५. तप्पडिरूवगववहारे- वस्तु में भेल-संभेल (मिलावट) की हो।

१६. इत्तरियपरिग्गहियागमणे- अल्पवय वाली परिगृहीता के साथ गमन करना। अल्प समय के लिए रखी हुई के साथ गमन करना।

१७. अपरिग्गहियागमणे- परस्त्री या सगाई की हुई के साथ गमन करना।

१८. अनंगकीड़ा- काम सेवन योग्य अंगों के सिवाय अन्य अंगों से कुचेष्टा करना।

१९. परविवाहकरणे- दूसरों का विवाह करवाना।

२०. कामभोग तिव्वाभिलासे- काम-भोगों की प्रबल इच्छा करना।

२१. खेतवत्थुप्पमाणाइक्कमे- खुली भूमि (खेत आदि) और घर-दुकान आदि के परिमाण का अतिक्रमण करना।

२२. हिरण्ण सुवण्णप्पमाणाइक्कमे- चाँदी-सोने के परिमाण का अतिक्रमण करना।

२३. धन-धान्यप्पमाणाइक्कमे- रोकड़, धान्य-अनाज आदि के परिमाण का अतिक्रमण करना।

२४. दुप्पय चउप्पयप्पमाणाइक्कमे- नौकर, पशु आदि के परिमाण का अतिक्रमण करना।

२५. कुवियप्पमाणाइक्कमे- घर की सारी सामग्री-बर्तन, फर्नीचर आदि की मर्यादा का उल्लंघन किया हो।

२६. उड्ढदिसिप्पमाणाइक्कमे- ऊँची दिशा का परिमाण उल्लंघन किया हो।

२७. अहोदिसिप्पमाणाइक्कमे- नीची दिशा का परिमाण उल्लंघन किया हो।

२८. तिरियदिसिप्पमाणाइक्कमे- तिरछी दिशा का परिमाण उल्लंघन किया हो।

२९. खित्तवुड्ढी- एक दिशा का क्षेत्र घटाकर अन्य दिशा का बढ़ाया हो।

३०. सई अन्तरद्धा- क्षेत्र के परिमाण में संदेह होने पर आगे चला हो।

३१. सचित्ताहारे- सचित्त वतु का भोजन करना।

३२. सचित्तपडिबद्धाहारे- सचित्त (वृक्षादि) से संबंधित (लगे हुए गोंद, पके फल आदि खाना) वस्तु भोगना।

३३. अप्पउलि ओसहि भक्खणया- अचित्त नहीं बनी हुई वस्तु का आहार करना या जिसमें जीव के प्रदेशों का संबंध हो, ऐसी तत्काल पीसी हुई या मर्दन की हुई वस्तु का भोजन करना।

३४. दुप्पउलि ओसहि भक्खणया- दुष्पक्व-अधपके या अविधि से पके हुए उम्बी, भुट्टे आदि का आहार करना।

३५. तुच्छोसहि भक्खणया- तुच्छ औषधि (जिसमें सार भाग कम हो, उस वस्तु) का भक्षण करना।

३६. कंदप्पे- कामविकार बढ़ाने वाली कथा की हो।

३७. कुक्कुइए- भाँड की तरह मुँह आदि से कुचेष्टा की हो।

३८. मोहरिए- निरर्थक वचन बोला हो।

३९. संजुत्ताहिगरणे- हिंसा के साधन जोड़कर रखे हों।

४०. उवभोग परिभोगाइरित्ते- भोगोपभोग की चीजें अधिक बढ़ाई हों।

४१. मणदुप्पणिहाणे- मन से दुष्ट विचार किये हो।

४२. वयदुप्पणिहाणे- दुष्ट वचन बोले हों।

४३. कायदुप्पणिहाणे- काया से सावद्य क्रिया की हो।

४४. सामाइयस्स सइ अकरणया- सामायिक की स्मृति न की हो।

४५. सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया- सामायिक समय पूर्ण हुए बिना पूरी की हो।

४६. आणवणप्पओगे- मर्यादा किए हुए क्षेत्र से आगे की वस्तु को आज्ञा देकर माँगना।

४७. पेसवणप्पओगे- परिमाण किए हुए क्षेत्र से आगे की वस्तु को मँगवाने के लिए अथवा लेन-देन करने के लिए अपने नौकर आदि को भेजना या सेवक के साथ वस्तु बाहर भेजना।

४८. सद्दाणुवाए- सीमा से बाहर के मनुष्य को खाँसकर या और किसी शब्द के द्वारा अपना ज्ञान कराना।

४९. रूवाणुवाए- रूप दिखाकर सीमा से बाहर के मनुष्य को अपने भाव प्रकट किए हों।

५०. बहिया पुग्गल पक्खेवे- बुलाने के लिए कंकर आदि फेंकना।

५१. अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय सेज्जासंथारए- शय्या संथारा (वस्त्रादि) न देखा हो या अच्छी तरह से न देखा हो।

५२. अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय सेज्जासंथारए- शय्या संथारा पूँजा न हो या अच्छी तरह से न पूँजा हो।

५३. अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय उच्चारपासवण भूमि- मल-मूत्र आदि त्यागने-परठने की भूमि न देखी हो या अच्छी तरह न देखी हो।

५४. अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय उच्चारपासवण भूमि- मल-मूत्र आदि त्यागने-परठने की भूमि न पूँजी हो अथवा अच्छी तरह से न पूँजी हो।

५५. पोसहस्स सम्मं अणणुपालणया- पौषध का सम्यक् प्रकार से पालन न किया हो।

५६. सचित्त निक्खेवणया- साधु को नहीं देने की बुद्धि से अचित्त वस्तु को सचित्त जल आदि पर रखना।

५७. सचित्त पिहणया- अचित्त (निर्दोष-सूझती) वस्तु को सचित्त वस्तु से ढँक देना।

५८. कालाइक्कमे- भिक्षा का समय टाल कर भावना की हो।

५९. परववएसे- आप सूझता होते हुए भी दूसरों से दान दिलाया हो।

६०. मच्छरियाए- मत्सर (ईर्ष्या) भाव से दान दिया हो।

१५ कर्मादान

१. इंगालकम्मे- ईंट, कोयला, चूना आदि बनाना।

२. वणकम्मे- वृक्षों को काटना।

३. साडीकम्मे- गाड़ियाँ आदि बनाकर बेचना।

४. भाडीकम्मे- गाड़ियाँ आदि किराये पर देना।

५. फोडीकम्मे- पत्थर आदि फोड़ने का व्यापार करना।

६. दंतवाणिज्जे- दाँत आदि का व्यापार करना

७. लक्खवाणिज्जे- लाख आदि का व्यापार करना।

८. रसवाणिज्जे- शराब आदि रसों का व्यापार करना।

९. केसवाणिज्जे- दास-दासी, पशु आदि का व्यापार करना।

१०. विसवाणिज्जे- विष, सोमल, संखिया आदि तथा शस्त्रादि का व्यापार करना।

११. जंतपीलणकम्मे- तिल आदि पीलने के यंत्र चलाना।

१२. निल्लंछणकम्मे- नपुंसक बनाने का काम करना।

१३. दवग्गिदावणया- जंगल में आग लगाना।

१४. सरदहतलायसोसणया- सरोवर, तालाब आदि सुखाना।

१५. असईजणपोसणया- वेश्या आदि का पोषण कर दुष्कर्म से द्रव्य कमाना।

साधु के योग्य चौदह प्रकार का दान

(अतिथिसंविभाग व्रत से सम्बद्ध)

१. **अशन**- खाए जाने वाले पदार्थ, रोटी आदि।

२. **पान**- पीने योग्य पदार्थ, जल आदि।

३. **खादिम**- मिष्ठान्न, मेवा आदि सुस्वादु पदार्थ।

४. **स्वादिम**- मुख की स्वच्छता के लिए लौंग सुपारी आदि।

५. **वस्त्र**- पहनने योग्य वस्त्र।

६. **पात्र**- काष्ठ, मिट्टी और तुम्बे के बने हुए पात्र।

७. **कम्बल**- ऊन आदि का बना हुआ कम्बल।

८. **पादप्रोञ्छन**- रजोहरण, ओघा।

९. **पीठ**- बैठने योग्य चौकी आदि।

१०. **फलक**- सोने योग्य पट्टा आदि।

११. **शय्या**- ठहरने के लिए मकान आदि।

१२. **संथारा**- बिछाने के लिए घास आदि।

१३. **औषध**- एक ही वस्तु से बनी हुई औषधि।

१४. **भेषज**- अनेक चीजों के मिश्रण से बनी हुई औषधि।

ऊपर जो चौदह प्रकार के पदार्थ बताए गए हैं, इनमें प्रथम के आठ पदार्थ तो दानदाता से एक लेने के बाद फिर वापस नहीं लौटाए जाते। शेष छह पदार्थ ऐसे हैं, जिन्हें साधु अपने काम में लाकर लौटा भी देते हैं।

कायोत्सर्ग के उन्नीस दोष

घोडग[1] लया[2] य खंभे कुड्डे[3] माले[4] य सबरि[5] बहु[6] नियल[7]।
लंबुत्तर[8] घण[9] उड्ढी[10] संजय[11] खलिणे[12] य वायस[13] कविट्ठे[14]।।
सीसोकंपिय[15] मूई[16] अंगुलि-भमूहा[17] य वारुणी[18] पेहा[19]।
एए काउसग्गे हवंति दोसा इगुणवीसं।।

१. **घोटक दोष**- घोड़े की तरह एक पैर को मोड़कर खड़े होना।

२. **लता दोष**- पवन-प्रकंपित लता की तरह काँपना।

३. **स्तंभकुड्य दोष**- खंभे या दीवाल का सहारा लेना।

४. **माल दोष-** माल अर्थात् ऊपर की ओर किसी के सहारे मस्तक लगा कर खड़े होना।

५. **शबरी दोष-** नग्न भिल्लनी के समान दोनों हाथ गुह्य स्थान पर रखकर खड़े होना।

६. **वधू दोष-** कुलवधू की तरह मस्तक झुकाकर खड़े होना।

७. **निगड दोष-** बेड़ी पहने हुए पुरुष की तरह दोनों पैर फैला कर अथवा मिलाकर खड़े होना।

८. **लम्बोत्तर दोष-** अविधि से चोलपट्टे को नाभि के ऊपर और नीचे घुटने तक लम्बा करके खड़े होना।

९. **स्तन दोष-** मच्छर आदि के भय से अथवा अज्ञानता वश छाती ढककर कायोत्सर्ग करना।

१०. **उद्धिका दोष-** एड़ी मिलाकर और पंजों को फैलाकर खड़े रहना अथवा अँगूठे मिलाकर और एड़ी फैलाकर खड़े रहना, उद्धिका दोष है।

११. **संयती दोष-** साध्वी की तरह कपड़े से सारा शरीर ढँक कर कायोत्सर्ग करना।

१२. **खलीन दोष-** लगाम की तरह रजोहरण को आगे रखकर खड़े होना अथवा लगाम से पीड़ित अश्व के समान मस्तक को कभी ऊपर कभी नीचे हिलाना, खलीन दोष है।

१३. **वायस दोष-** कौवे की तरह चंचल चित्त होकर इधर-उधर आँखे घुमाना अथवा दिशाओं की ओर देखना।

१४. **कपित्थ दोष-** षट्पदिका (जूँ) के भय से चोलपट्टे को कपित्थ की तरह गोलाकार बना कर जंघाओं के बीच दबाकर खड़े होना अथवा मुट्ठी बाँधकर खड़े रहना, कपित्थ दोष है।

१५. **शीर्षोत्कम्पित दोष-** भूत लगे हुए व्यक्ति की तरह सिर धुनते हुए खड़े रहना।

१६. **मूक दोष-** मूक अर्थात् गूँगे आदमी की तरह 'हूँ हूँ' आदि अव्यक्त शब्द करना।

१७. **अंगुलिका भ्रू दोष-** आलापकों की अर्थात् पाठ की आवृत्तियों को गिनने के लिए अंगुली हिलाना तथा दूसरे व्यापार के लिए भौंह चला कर संकेत करना।

१८. **वारुणी दोष-** जिस प्रकार तैयार की जाती हुई शराब में से बुड़-बुड़ शब्द निकलता है, उसी प्रकार अव्यक्त शब्द करते हुए खड़े रहना अथवा शराबी की तरह झूमते हुए खड़े रहना।

१९. **प्रेक्षा दोष-** पाठ का चिन्तन करते हुए वानर की तरह ओठों को चलाना।

(प्रवचनसारोद्धार)

योग शास्त्र के तृतीय प्रकाश में श्री हेमचन्द्राचार्य ने कायोत्सर्ग के इक्कीस दोष बतलाए हैं। उनके मतानुसार स्तंभ दोष, कुड्य दोष, अंगुली दोष और भ्रू दोष चार हैं; जिनका ऊपर स्तम्भकुड्य दोष और अंगुलिका भ्रू दोष नामक दो दोषों में समावेश किया गया है।

तैंतीस आशातनाएँ

(आवश्यकसूत्र में अरिहन्त आदि से सम्बद्ध ३३ आशातनाएँ अलग हैं)

१. मार्ग में रत्नाधिक (दीक्षा में बड़े) से आगे चलना।

२. मार्ग में रत्नाधिक के बराबर चलना।

३. मार्ग में रत्नाधिक के पीछे अड़कर चलना।

४-६. रत्नाधिक के आगे, बराबर में तथा पीछे अड़कर खड़े होना।

७-९. रत्नाधिक के आगे, बराबर में तथा पीछे अड़कर बैठना।

१०. रत्नाधिक और शिष्य विचार-भूमि (जंगल में) गए हों वहाँ रत्नाधिक से पूर्व आचमन-शौच शुद्धि करना।

११. बाहर से उपाश्रय में लौटने पर रत्नाधिक से पहले ईर्यापथ की आलोचना करना।

१२. रात्रि में रत्नाधिक की ओर से 'कौन जागता है?' पूछने पर जागते हुए भी उत्तर न देना।

१३. जिस व्यक्ति से रत्नाधिक को पहले बातचीत करनी चाहिए, उससे पहले स्वयं ही बातचीत करना।

१४. आहार आदि की आलोचना प्रथम दूसरे साधुओं के आगे करने के बाद रत्नाधिक के आगे करना।

१५. आहार आदि प्रथम दूसरे साधुओं को दिखला कर बाद में रत्नाधिक को दिखलाना।

१६. आहार आदि के लिए प्रथम दूसरे साधुओं को निमंत्रित कर बाद में रत्नाधिक को निमंत्रण देना।

१७. रत्नाधिक को बिना पूछे दूसरे साधु को उसकी इच्छानुसार प्रचुर आहार देना।

१८. रत्नाधिक के साथ आहार करते समय सुस्वादु आहार स्वयं खा लेना अथवा साधारण आहार भी शीघ्रता से अधिक खा लेना।

१९. रत्नाधिक के बुलाये जाने पर सुना-अनसुना कर देना।

२०. रत्नाधिक के प्रति या उनके समक्ष कठोर अथवा मर्यादा से अधिक बोलना।

२१. रत्नाधिक के द्वारा बुलाये जाने पर शिष्य को उत्तर में 'मत्थएण वंदामि' कहना चाहिए। ऐसा न कहकर 'क्या कहते हो' इन अभद्र शब्दों में उत्तर देना।

२२. रत्नाधिक के द्वारा बुलाने पर शिष्य को उनके समीप आकर बात सुननी चाहिए। ऐसा न करके आसन पर बैठे ही बैठे बात सुनना और उत्तर देना।

२३. गुरुदेव के प्रति 'तू' का प्रयोग करना।

२४. गुरुदेव किसी कार्य के लिए आज्ञा देवें तो उसे स्वीकार न करके उल्टा उन्हीं से कहना कि 'आप ही कर लो।'

२५. गुरुदेव के धर्मकथा कहने पर ध्यान से न सुनना और अन्यमनस्क रहना, प्रवचन की प्रशंसा न करना।

२६. रत्नाधिक धर्मकथा करते हों तो बीच में ही टोकना- 'आप भूल गए। यह ऐसे नहीं, ऐसे है' इत्यादि।

२७. रत्नाधिक धर्मकथा कर रहे हों, उस समय किसी उपाय से कथा-भंग करना और स्वयं कथा कहने लगना।

२८. रत्नाधिक धर्मकथा करते हों उस समय परिषद् का भेदन करना और कहना कि - 'कब तक कहोगे, भिक्षा का समय हो गया है।'

२९. रत्नाधिक धर्मकथा कर चुके हों और जनता अभी बिखरी न हो तो उस सभा में गुरुदेव-कथित धर्मकथा का ही अन्य व्याख्यान करना और कहना कि 'इसके ये भाव और होते हैं।'

३०. गुरुदेव के शय्या-संस्तारक पर खड़े होना, बैठना और सोना।

३२. गुरुदेव के आसन से ऊँचे आसन पर खड़े होना, बैठना और सोना।

३३. गुरुदेव के आसन के बराबर आसन पर खड़े होना, बैठना और सोना।

ये आशातनाएँ हरिभद्रीय आवश्यकवृत्ति के प्रतिक्रमणाध्ययन के अनुसार दी हैं। समवायांग और दशाश्रुतस्कंध सूत्र में भी कुछ क्रम-भंग से ये ही आशातनाएँ हैं।

चरण सप्तति

वय समणधम्म, संजम वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ।
नाणाइतियं तवं, कोह-निग्गहाई चरणमेयं ।।-ओघनिर्युक्ति भाष्य

पाँच महाव्रत, क्षमा आदि दश श्रमण-धर्म, सतरह प्रकार का संयम, दश वैयावृत्य, नौ ब्रह्मचर्य की गुप्ति, ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप तीन रत्न, बारह प्रकार का तप, चार कषायों का निग्रह- यह सत्तर प्रकार का चरण है।

करण सप्तति

पिंड विसोही समिई, भावण पडिमा य इंदियनिरोहो।
पडिलेहण गुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं तु ।।-ओघनिर्युक्ति भाष्य

अशन आदि चार प्रकार की पिण्ड विशुद्धि, पाँच प्रकार की समिति, बारह प्रकार की भावना, बारह प्रकार की भिक्षु प्रतिमा, पाँच प्रकार का इन्द्रिय निरोध, पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना, तीन गुप्तियाँ और चार प्रकार का अभिग्रह- यह सत्तर प्रकार का करण है।

जिसका नित्य प्रति निरंतर आचरण किया जाय, वह महाव्रत आदि चरण होता है और जो प्रयोजन होने पर किया जाय और प्रयोजन न होने पर न किया जाय, वह करण होता है। ओघनिर्युक्ति की टीका में

आचार्य द्रोण लिखते हैं- "चरणकरणयोः कः प्रतिविशेषः? नित्यानुष्ठानं चरणं, यत्तुप्रयोजने आपन्ने क्रिय तत्करणमिति। तथा च व्रतादि सर्वकालमेव चर्यते, न पुनर्व्रतशून्यः कश्चित्कालः पिण्डविशुद्ध्यादि तु प्रयोजने आप क्रियते इति।"

प्रतिलेखना की विधि

१. **उड्ढं-** उकडू आसन से बैठकर वस्त्र की भूमि से ऊँचा रखते हुए प्रतिलेखना करनी चाहिए।

२. **थिरं-** वस्त्र को दृढ़ता से स्थिर रखना चाहिए।

३. **अतुरियं-** उपयोग-शून्य होकर जल्दी-जल्दी प्रतिलेखना नहीं करना चाहिए।

४. **पडिलेहे-** वस्त्र के तीन भाग करके उसको दोनों ओर से अच्छी तरह देखना चाहिए।

५. **पप्फोडे-** देखने के बाद यतना से धीरे-धीरे झड़काना चाहिए।

६. **पमज्जिज्जा-** झड़काने के बाद वस्त्र आदि पर लगे हुए जीव को यतना से प्रमार्जन कर हाथ में ले तथा एकान्त में यतना से परठना चाहिए।

(उत्तराध्ययन २६वाँ अध्यय

जिनवाणी

प्रतिक्रमण विशेषांक

में

प्रकाशित विज्ञापनों के

विज्ञापनदाताओं

के

प्रति हार्दिक आभार

विचार-कण

यदि आप यह चाहते हैं कि देश के नागरिक सात्त्विक हों, शुद्ध विचार वाले हों और धर्म-मार्ग का अनुसरण करें तो सबसे पहले आप अपने लिए एवं परिवार के लिए सोचिए, भावी पीढ़ी के लिए, देश के लिए सोचिए। इसको सोचने में सुविधा की तरफ न जाइये, सुन्दरता की तरफ न जाइये, भोजन के स्वाद की तरफ न जाइये, न पोशाक की तरफ जाइये।

जो भोजन बुद्धि में पवित्रता लाने वाला हो, वात्सल्य भावना भरने वाला हो, वही भोजन आपके लिए हितकारी व सुखकारी है और आपकी आत्मा को शान्ति देने वाला है।

आहार-शुद्धि ही आचार-विचार-शुद्धि का प्रमुख उपाय है।

—आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा.

जयगुरु हस्ती | जयगुरु हीरा | जयगुरु मान

अकेला है तो क्या और परिषद् में है तो क्या, यदि समता है तो धर्म है।

-आचार्य श्री हीरा

हार्दिक शुभकामनाओं के साथ

भंवरलाल पी बाफणा

सदस्य अभिकर्ताओं के लिए अध्यक्ष क्लब
नया माधुपुरा चौक,
फुलपुरा के सामने
अहमदाबाद-380004,
फोन : 22120442

ए व म्

सुमेर बाफणा जयन्ती बाफणा

संस्कृति हेड लिंक

45, ग्रा. फ्लोर हीराभाई मार्केट, दि.ब.रोड.
अहमदाबाद-380022 फोन : 91-79-25471823,
25471686-87 फैक्स : 91-79-25471822
103, 105 सरीफ देवजी स्ट्रीट (चकला) 19, प्रथम फ्लोर,
सुगरा मंजील, मुम्बई-400003, फोन : 22377855/56

जयगुरु हस्ती | जयगुरु हीरा | जयगुरु मान

डूबने के मार्ग की जरूरत नहीं, उन्हें आप जानते हैं। जरूरत है तिरने के रास्ते की।

-आचार्य श्री हीरा

With Best Compliments From :

K.H. Finance Company

AUTOFINANCIERS

Kanhaiyalal Devendra Kumar Hiran

16, Vanijya Bhawan, Ground Floor,
Diwan Ballubhai Marg, Kankaria, Ahmedabad-22
Ph.: 25453992, 22554991